राजस्थान का राजनैतिक
एवं
सांस्कृतिक इतिहास

डॉ. के. एस. गुप्ता
प्रोफेसर, इतिहास विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

डॉ. जे. के. ओझा
लेक्चरर, इतिहास विभाग
उदय जैन महाविद्यालय, कानोड़

राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर

प्रकाशक :

राजस्थानी ग्रंथागार
प्रकाशक व पुस्तक विक्रेता
सोजती गेट के बाहर
जोधपुर

प्रथम संस्करण—जुलाई, 1986

मूल्य : 95-00 (पचानवे रुपये मात्र)

मुद्रक :
प्रिंटिंग हाउस
मेड़ती गेट के बाहर
जोधपुर

प्राक्कथन

भारतीय इतिहास में इतिहास प्रसिद्ध राजस्थान का विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। यदि मध्यकालीन भारत के गौरवमय इतिहास को केवल राजस्थान का कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। फिर भी अब तक राजस्थान के इतिहास पर विशेष ध्यान नही दिया गया। निःसंदेह कर्नल जेम्स टॉड, कविराजा श्यामलदास, डॉ. गौ. ही. ओझा, पं. विश्वेश्वरनाथ रेऊ आदि इतिहासविदो ने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे है परन्तु ये ग्रन्थ विभिन्न राज्यों के विवरणात्मक इतिहास मात्र हैं। विगत कुछ वर्षो से कई इतिहासकार राजस्थान के इतिहास की ओर आकर्षित अवश्य हुए है किन्तु अधिकांशतः शोध-ग्रन्थ के रूप मे लिखने के कारण उन कृतियों मे समन्वय नही हो पाया है। अब तक भी समग्र रूप से राजस्थान का इतिहास लिखने का गम्भीर प्रयास नही हुआ है। अतएव प्रस्तुत पुस्तक मे इस कमी को दूर करने का प्रयास किया गया है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि राजनैतिक विवरण ही अन्य विभिन्न आयामो के आधार हैं। अतः राजनैतिक विवरण को दृष्टि से राजस्थान के इतिहास का भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में अध्ययन करते हुए राजस्थान का केन्द्रीय शक्ति से सम्बन्ध का भी विशेष ध्यान रखा गया है। मराठा युगीन संतप्त राजस्थान की शक्तियों ने अंततः अंग्रेजों से संधि कर ली जिसे स्पष्ट करते हुए 1857 के विद्रोह में राजस्थान के योगदान को दर्शाया गया है। साथ ही राजस्थान के सांस्कृतिक इतिहास की अविरल धारा में 'सांस्कृतिक परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न पहलुओ को लिया गया है।

ग्रन्थ की मौलिकता का दावा तो हम नहीं करते हैं किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि नवीनतम शोध का समावेश करने का भरसक प्रयत्न कर सामान्य पाठको, शोधकर्ताओं तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर (इतिहास) पाठ्यक्रम को ध्यान में रखते हुए छात्रों के लिए इसे उपयोगी बनाया गया है। यों काफी प्रयासो के बावजूद भी यत्र-तत्र त्रुटियां रह जाना स्वाभाविक है। अतः सुविज्ञ पाठकगण कृपया उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर अनुगृहीत करेंगे, जिससे अगले संस्करण मे यथोचित सुधार सम्भव हो सके।

उन विद्वान् लेखकों के प्रति, जिनकी कृतियों का सहारा लिया गया है, हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते है। पुस्तक के प्रकाशन में श्री राजेन्द्र सिंघवी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर ने जो रुचि एवं तत्परता दिखाई एतदर्थ वह धन्यवाद के पात्र है।

यदि यह पुस्तक अध्ययन एवं शोध मे यत्किंचित भी सहायक व प्रेरक रही तो हम अपना श्रम सफल समझेंगे।

डॉ. के. एस. गुप्ता
डॉ. जे. के. ओझा

विषय - सूची

सांस्कृतिक परम्परा

अध्याय 1

ऐतिहासिक स्रोत

इतिहास लेखन में सब से बड़ी कठिनाई साधन-सामग्री की है। किसी भी देश और जाति का सच्चा इतिहास लिखने मे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। सामग्री का संग्रह अथवा संकलन करना एक बहुत बड़ी समस्या होती है क्योंकि वह कई जगह बिखरी हुई मिलती है। उसकी खोज करना एवं एकत्रित करना परिश्रम लगन का कार्य है जो साधारण व्यक्ति नही कर सकता है। बिना आधार सामग्री के क्रमबद्ध, सच्चा, पूर्ण एवं निष्पक्ष इतिहास लिखना नितान्त असंभव है और फिर राजस्थान का इतिहास लिखना तो और भी दुष्कर है क्योंकि शुरू से ही शौर्य एवं शक्ति के प्रतीक राजस्थान राज्य निरंतर युद्धों मे व्यस्त रहे थे, अतः प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ऐतिहासिक सामग्री नष्ट होती गई। इस तरह से "राजस्थान, इतिहास प्रसिद्ध होते हुए भी इतिहास विहीन है।" राजस्थान के अधिकांश स्थानों मे काफी महत्वपूर्ण सामग्री अवस्थित तो है किन्तु उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। यत्र-तत्र बिखरे पर्याप्त ऐतिहासिक साधन हैं जिन्हे एकत्रित कर, इतिहास लिखा जा सकता है। इस दृष्टि से राजस्थान के इतिहास के स्रोतों को निम्नलिखित रूप मे समझ सकते है—

पुरातात्विक स्रोत—राजस्थान का प्राचीन इतिहास लिखने मे पुरातत्व सामग्री का बड़ा महत्व है। खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर तत्कालीन इतिहास को जानने मे कोई कठिनाई नही रह जाती है। कई स्थलो पर हुई खुदाई ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राजस्थान मे प्राचीनतम सिंधु घाटी की सभ्यता के कई केन्द्र-स्थल थे जिनमें आहाड़, गिलूंड, बागोर, नोह, कालीबंगा, पीलीबंगा आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकाव्य काल के अवशेष भी जयपुर के निकट वैराठ की खुदाई में प्राप्त हुए है। अतः राजस्थान में प्राचीन समृद्ध सभ्यता विकसित थी। प्राचीन नगर, कस्बे, गाव, दुर्ग, मंदिर, वापी, कुण्ड आदि ऐसे स्मारक चिन्ह हैं जिनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक जीवन के साथ-साथ वहा के निवासियों की कला में

अभिरुचि का भी बोध होता है। उत्खनन मे प्राप्त सामग्रियों के आधार पर तत्कालीन जन-जीवन को सहजरूप से समझने में काफी सहयोग मिलता है जैसे—आहाड, नगरी, बागोर, नोह आदि कई स्थलों से कटोरा, मृद भाड, छोटी-छोटी मूर्तियां, दीवट आदि दैनिक जीवन में काम आने वाली वस्तुएँ प्राप्त हुई है जिनके आधार पर हम उस समय का सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास जान सकते हैं।

इमारतें—प्राचीन इमारतें भी इतिहास लिखने में बड़ी सहायक होती है जैसे राजस्थान में यत्र-तत्र कई स्थलों पर दुर्ग एवं दुर्गों के अवशेष प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर हम उस काल की सैनिक स्थिति को समझ सकते है। चित्तौड, जालोर, रणथम्भोर, गागरोन, आमेर, जोधपुर आदि दुर्गों के साथ-साथ राणा कुम्भाकालीन दुर्गों में कुम्भलगढ व उत्तर-पश्चिमी सीमान्त भाग के दुर्ग विशेष महत्व के है। दुर्गों में निर्मित कई महल, मकानात, मंदिर, जलाशय आदि राजपरिवार एव साधारण जनता के रहन-सहन एवं धार्मिक दशा को स्पष्ट करते हैं। मकानों के आधार पर लोगों के जीवन-स्तर को समझने में कोई दिक्कत नही रह जाती है। साथ ही इनसे तत्कालीन शिल्प कला का बोध भी होता है। गोपीनाथ शर्मा का मानना है "तिथि-क्रम निर्धारित करने और राजनीतिक उथल-पुथल को समझने के लिए भी इन इमारतो का महत्व कुछ कम नही। पुरातत्ववेत्ताओ की दृष्टि में इन इमारतो के भग्नावशेषो के विविध-स्तर विभिन्न और विविध ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालने मे सहायक होते है।"

नगर—मध्यकालीन नगर-भग्नावशेषों से स्पष्ट होता है कि नगर समय और परिस्थिति के अनुरूप बसे, उन्नति की और उजड़ गये जैसे जावर सातवी शताब्दी से पन्द्रहवी शताब्दी तक चादी की खान के कारण एक समृद्ध नगर था किन्तु जब चांदी का निकालना बद कर दिया तो वह उजाड हो गया। महाराणा राजसिंह के काल में श्रीनाथजी की मूर्ति जब गोगुन्दा के पास घसार मे, तदुपश्चात सिहाड़ और बाद मे नाथद्वारा मे लाई गई, तब उत्तरोत्तर इन कस्बो ने मूर्ति के साथ-साथ उन्नति की और जब मूर्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाई गई तो वह रिक्तता वाला कस्बा उजड गया। इसी तरह से धुलेव एक छोटा-सा गाव था किन्तु ऋषभदेव का मन्दिर होने से आज यह 'ऋषभदेव' कस्बे के नाम से जाना जाता है। कच्छावो की राजधानी आमेर व राणा प्रताप की राजधानी चावण्ड थी। अतः ये बड़े प्रसिद्ध व महत्वपूर्ण स्थान रहे हैं किन्तु राजधानी परिवर्तन के

साथ ही उनकी महत्ता एवं गरिमा में निश्चित कमी आई है। ये कार्य न केवल धार्मिक केन्द्र के रूप में ही प्रसिद्ध हुए अपितु इनका स्वतन्त्र व्यापारिक एवं कला-कौशल सम्बन्धी महत्व भी रहा है जैसे--ऋषभदेव के पास पारेवा पत्थर होने की वजह से पत्थर की मूर्तियां, बर्तन व खिलौने अच्छे बनने लगे। नाथद्वारा रंगाई, छपाई, बंधाई, मीनाकारी, चित्रकारी आदि के लिए आज भी प्रसिद्ध है।

मन्दिर एवं मूर्तियां—प्राचीन काल से चली आ रही मन्दिर-निर्माण परम्परा से राजस्थान भी अछूता नहीं रहा है। बैराट के निकट बीजक की पहाड़ी में मिले एक गोलाकार मन्दिर के अवशेष, मुकुन्दरा में प्राप्त गुप्तकालीन मन्दिर आदि इस बात के द्योतक हैं कि यहां पर मन्दिर-निर्माण कार्य दीर्घकाल से चला आ रहा था जिनमें चित्तौड़-दुर्ग के कुछ मन्दिर, देलवाड़ा, रणकपुर के जैन मन्दिर, आमेर का जगतशिरोमणी का मन्दिर, नागदा का सास-बहू का मंदिर, उदयपुर का जगदीश मन्दिर, ओसियां, किराडू आदि के मन्दिर विशेष उल्लेखनीय हैं। यों राजस्थान में विभिन्न देवी-देवताओं से सम्बन्धित कई मन्दिरों का निर्माण हुआ जो तत्कालीन धार्मिक, सांस्कृतिक एवं कला की दृष्टि से बड़े महत्व के हैं। इन मन्दिरों में विशिष्ट देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त सभा मंडप, स्तम्भों, द्वारों, तोरण-द्वारों, छतों, बाह्य एवं आतंरिक भागों में उत्कीर्ण मूर्तियों में देवी-देवताओं, यक्ष, सुर, सुन्दरियों, गन्धर्व, नर्तक-नर्तकियों, पशु-पक्षियों आदि की मूर्तियां देखी जा सकती हैं। यदि तक्षणकला से अलंकृत इन मन्दिरों की मूर्तियों का गहन अध्ययन किया जाय तो हमें उस समय की वेश-भूषा, शृंगार के तौर-तरीकों, आभूषणों, विविध वाद्य-यन्त्रों, नृत्य की मुद्राओं का बोध होता है। 16 वीं शताब्दी के बीच एवं 17 वीं शताब्दी के मन्दिरों की तक्षणकला एवं मूर्तियों से यह ज्ञात होता है कि समाज के उच्च वर्ग पर मुगलिया प्रभाव था। मुगल-राजपूत समन्वय की दृष्टि से आमेर का जगतशिरोमणी का मन्दिर विशेष महत्वपूर्ण है।

सिक्के:—सिक्के भी इतिहास की जानकारी के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। इन पर अंकित शासकों के नाम, तिथि, उपाधि, राजचिन्ह आदि से हमें शासक का नाम, लिपि, धर्म व काल निर्धारण आदि में बड़ी सहायता मिलती है। सिक्कों के आधार पर हम राज्य की श्री-सम्पन्नता एवं समृद्धि के स्तर को निर्धारित कर सकते हैं। सिक्कों के तोल, धातु, आकार-प्रकार से उस काल विशेष की आर्थिक दशा की जानकारी होती है तथा सिक्कों के सुडोलपन व

बनावट से कला के स्तर को भी आंका जा सकता है। किसी भी शासक के अधिक सिक्के उसके शासन की स्थिरता का दिग्दर्शन कराते हैं तो कम सिक्के या तो उसके अल्पकाल को या उसके कठिनाइयों से ग्रस्त शासन-व्यवस्था का बोध कराते है। इसी तरह से सिक्कों के आधार पर हम शासक विशेष की राज्यसीमाओं का अनुमान भी लगा सकते है कि उसका राज्य कहाँ तक फैला हुआ था।

चूँकि राजस्थान के राज्यों मे कई वंशों का राज्य रहा था अतएव उनके अपने सिक्के रहे हों तो कोई आश्चर्य की बात नही। साथ ही विभिन्न वंशों के विभिन्न शासको ने अपनी रुचि एवं परिस्थिति के अनुसार सिक्कों मे हेर-फेर या बदलाव भी किया किन्तु 17वीं शताब्दी तक हमे यहाँ के सिक्कों पर मुगल प्रभाव भी परिलक्षित होता है और अंग्रेजों से संधि हो जाने के बाद तो यहाँ के सिक्कों में काफी परिवर्तन हो गया जैसे:—मेवाड़ के सिक्कों पर एक ओर 'दोस्ती लधन' व दूसरी ओर 'चित्रकूट-उदयपुर' लिखा जाने लगा। बाद मे तो सम्पूर्णतया अंग्रेजी सिक्कों का ही प्रचलन हो गया था और राजस्थान के करीब-करीब सभी राज्यो मे गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार 'कलदार' चलने लग गया था।

वैसे राजस्थान मे गुहिल, चौहान, राठौड़, कछावा, परमार, प्रतिहार, चालुक्य आदि के अपने सिक्के प्रचलित थे। मेवाड़ में सोना, चाँदी व तांबे के सिक्के चलते थे। गुहिल, बाप., शील आदि शासकों के सिक्के उनके युग के इतिहास को जानने के लिए महत्वपूर्ण साधन है। कुम्भा के काल में सोने, चाँदी व तांबे के गोल व चौकोर सिक्के प्रचलित थे। महाराणा अमरसिंह के काल मे मुगलों से संधि हो जाने के बाद यहाँ मुगलिया सिक्को का चलन शुरू हो गया था। बीकानेर, जोधपुर, प्रतापगढ के राज्यों मे भी इनकी अपनी टकसालें थी। बीकानेर में 'आलमशाही' नामक मुगलिया सिक्का खूब चला। जोधपुर में महाराजा गजसिंह तक 'गधिया' व 'फदिया' सिक्के चलते रहे। महाराजा विजयसिंह ने 1781 ई० मे शाह आलम के नाम के सिक्के प्रचलित किये जो 'विजयशाही' के नाम से जाने जाते थे। महाराजा तखतसिंह ने सम्राज्ञी विक्टोरिया के नाम के सिक्के चलाये। डूंगरपुर, बांसवाड़ा व कोटा राज्यों मे पहले परमारो के सिक्के चलते थे किन्तु मुगल प्रभाव के परिणाम-स्वरूप यहाँ पर मुगलिया सिक्कों का प्रचलन भी रहा और यहाँ 'सालिमशाही' सिक्के ढलने लगे। तत्पश्चात् राजस्थान के अन्य राज्यो की भाँति यहाँ पर भी 'कलदार' प्रचलित हो गये। प्रतापगढ़ मे प्राय: माडू व गुजरात के सिक्के

चलते थे। मुगलों के कारण यहाँ पर भी 'शाह आलमशाही' रुपया चला और जब 1818 ई० में अंग्रेजों से सुलह हो गई तब से यहाँ के सिक्कों पर 'लंदन' अंकित किया जाने लगा और बाद में तो यहाँ पर भी 'कलदार' ही चलने लग गया था।

शिलालेख:—राजस्थान का इतिहास जानने के साधनों में शिलालेखों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इन शिलालेखों में तत्कालीन शासन-प्रबंध तथा उस समय की राजनीतिक व सांस्कृतिक स्थिति का पूरा पता लगता है। मेवाड़ तथा आमेर के राज्यों में पर्याप्त शिलालेख मिलते हैं किन्तु जोधपुर व बीकानेर के भागों में शिलालेखों की संख्या बहुत कम है और जो मिलते हैं वे भी बाद के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पत्थरों के अभाव के कारण शिलालेखों का बनना व लगाना संभव नहीं होता होगा।

शिलालेख इतिहास जानने के अत्यधिक विश्वसनीय साधन नहीं कहे जा सकते हैं। अधिकांश शिलालेख राजकीय आश्रय में निर्मित किये गये और इनमें राजा विशेष की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करना स्वाभाविक ही लगता है। अतएव ऐतिहासिक घटनाओं की सत्यता के बारे में तो हम बहुत अधिक निर्भर नहीं रह सकते किन्तु इनमे आई हुई तिथिक्रम के बारे मे सहसा विश्वास कर सकते हैं। उदयपुर के मंदिरों में उत्कीर्ण शिलालेख विशेषतः जगदीश-मंदिर की प्रशस्ति में, प्रताप व अकबर के बीच युद्ध एवं औरंगजेब के आक्रमण के बारे मे वर्णन मिलता है। हालांकि यह वर्णन एक पक्षीय हो सकता है किन्तु फारसी पक्षपातपूर्ण वर्णन के साथ दूसरा पक्षपातपूर्ण पहलू भी हमारे सामने इन शिलालेखों द्वारा रखा गया है। इस आधार पर फारसी लेखों का और भी अधिक आलोचनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

यों तो शिलालेखों की संख्या इतनी अधिक है कि उन पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं किन्तु यहाँ पर हम कुछ प्रमुख शिलालेखों का ही वर्णन करेंगे—

1169 ई० का बिजोलिया-शिलालेख चौहानों का इतिहास जानने का एक प्रमुख साधन है। यह 92 श्लोकों से युक्त संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण लेख है जिससे यह पता चलता है कि चौहानों की उत्पत्ति ब्राह्मणों से हुई थी। उदयपुर से कोई आठ मील उत्तर में स्थित चीरवा नामक गाँव मे 1273 ई० का संस्कृत भाषा में लिखा 51 श्लोकों मे युक्त शिलालेख है जिसमे मेवाड़ के राणा समरसिंह के काल तक की जानकारी मिलती है। साथ ही उस गाँव

की स्थिति, मदिर की स्थापना, सामाजिक, धार्मिक दशा, सती प्रथा, टाँटेड जाति के तलारक्षो की भूमिका आदि का वर्णन मिलता है । लेखक पार्श्वचन्द्र, प्रशस्तिकार रत्नप्रभसूरि, खोदने वाला केलिसिंह व शिल्पी देल्हण के नाम अंकित है ।

1434 ई० के देलवाड़ा शिलालेख मे 18 पंक्तियाँ हैं जिसमें आठ पंक्तियाँ सस्कृत भाषा मे है । इस लेख के अन्तर्गत तत्कालीन बोलचाल की मेवाड़ी भाषा भी प्रयुक्त की गई है । इससे हमे 15 वी शताब्दी की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक दशा का ज्ञान होता है । 1439 ई० की रणकपुर प्रशस्ति मे हमे राणा कुंभा तक वर्णन मिलता है किन्तु इसमें अंकित मेवाड के वश वृक्ष मे कई भूलें रह गई है । अत: वंशावली जानने की दृष्टि से तो यह प्रशस्ति अधिक महत्वपूर्ण नही है किन्तु कुम्भाकालीन इतिहास जानने मे यह बडी सहायक है जैसे कुम्भा ने बूंदी, गागरोन, सारंगपुर, नागौर, चाटसू, अजमेर, मण्डोर व मांडलगढ आदि विजय किये उसका वर्णन मिलता है । साथ ही सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक स्थिति को जानने के लिए भी यह प्रशस्ति बड़े काम की है ।

मुनि जैता विरचित 1593 ई० की रायसिह की प्रशस्ति बीकानेर के महाराजा रायसिंह ने बीकानेर के किले के सूर्यपोल दरवाजे पर लगवाई थी । इसकी भाषा सस्कृत है । इसमें रायसिंह तक की वंशावली दी गई है किन्तु रायसिंह कालीन वर्णन प्रमुख है जैसे उसकी काबुलियो, सिंधियो और कच्छियो पर विजय, मुगलो के साथ सबंध तथा शिक्षा की प्रगति विशेष उल्लेखनीय है । 1612 ई० का सस्कृत व नागरी लिपि मे बद्ध आमेर-लेख कच्छावा-इतिहास लिखने मे बड़ा सहायक है । इसके अंतर्गत कच्छावा शासको को 'रघुवंश तिलक' कहा गया है तथा पृथ्वीराज, भारमल, भगवतदास व मानसिंह का वर्णन है । साथ ही इसी के अतर्गत मानसिंह को भगवंतदास का पुत्र तथा मानसिंह द्वारा जमुआरामगढ के प्राकार वाले दुर्ग-निर्माण का वर्णन किया गया है ।

रणछोड़ भट्ट प्रणीतम राजप्रशस्ति महाकाव्य 1676 ई० का है । यह महाकाव्य महाराणा राजसिंह की आज्ञा से लिखा गया था किन्तु इसको खुदवाने का आदेश महाराणा जयसिंह ने दिया था । छठी शिला मे इसकी खुदाई का संवत् 1744 दिया हुआ है । यो यह ग्रन्थ लिख लिये जाने के कोई छः वर्ष पश्चात् शिलाओ पर उत्कीर्ण किया गया । यह पच्चीस बड़ी-बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर राजसमुद्र झील के नौ चौकी बाध पर ताको में लग-

वाया गया जिन्हें आज भी देखा जा सकता है। यह भारत में सबसे बड़ा शिलालेख है। काले पत्थर का प्रत्येक शिलाखंड 3 फुट लंबा व 2½ फुट चौड़ा है। प्रथम शिला मे दुर्गा, गणेश, सूर्य आदि देवी-देवताओं की स्तुति है और शेष शिलाओं में प्रत्येक पर एक-एक सर्ग होने से कुल 24 सर्ग है तथा 1106 श्लोक हैं। यों देखा जाय तो यह प्रशस्ति संस्कृत भाषा में हैं। किंतु इसमे अन्य भाषाओं विशेषकर अरबी, फारसी एवं लोक भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः झलकता है। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इसकी भाषा, "प्रवाहयुक्त, व्यवस्थित तथा विषयानुकूल है। पर कुछ ऐसे स्थलों पर जहां कवि ने अपना काव्य-कौशल बताने की चेष्टा की है वहां शब्द योजना कुछ जटिल, वस्तु व्यंजना कुछ अस्पष्ट एवं वर्णन-शैली कुछ अटपटी हो गई है।" प्रथम पांच सर्गों मे मेवाड़ का प्रारंभिक इतिहास हैं। मुख्य वर्ण्य-विषय महाराणा राजसिंह के जीवन-चरित्र एवं उपलब्धियों के साथ-साथ हमें इसमें 17 वीं शताब्दी की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक दशा के बारे मे भी काफी रोचक वर्णन मिलता है।

"राजप्रशस्ति महाकाव्य प्रधानतया इतिहास का ग्रंथ है और कविता उसका गौण विषय है। महाराणा राजसिंह के चरित्र से संबंधित जिन घटनाओं का वर्णन कवि ने इसमें किया है, वे उसकी आंखो देखी है और वास्तविकता पर आधारित है। विशेषकर राजसमुद्र के निर्माण कार्य की दुष्करता का, उस पर हुए खर्च का, उसकी प्रतिष्ठा आदि का इसमें यथातथ्य वर्णन हुआ है। इसके साथ-सा" तत्कालीन मेवाड़ की संस्कृति, वेशभूषा, शिल्प-कला, मुद्रा, दान-प्रणाली, युद्ध नीति, धर्म-कर्म इत्यादि अनेकानेक अन्य वृत्तों पर भी इससे अच्छा प्रकाश पड़ता है। राणा राजसिंह के पूर्ववर्ती राजाओं का इतिहास इसमें कुछ संदिग्ध अथवा अर्द्ध ऐतिहासिक सूत्रों के आधार पर लिखा गया जान पडता है, पर सत्य से बहुत दूर वह भी नही है।"[1]

अरबी-फारसी शिलालेख :— राजस्थान के इतिहास को लिखने मे अरबी एवं फारसी शिलालेखो का भी अत्यधिक महत्व है। मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद भारतवर्ष मे अरबी एवं फारसी भाषा के शिलालेख भी उत्कीर्ण किये जाने लगे। राजस्थान भी इसमें अपवाद स्वरूप नही है। ये फारसी व अरबी के लेख प्रायः दरगाहो, मस्जिदो, सरायों, तालाबों, कब्रो आदि स्थानों पर लगाये जाते थे। इन शिलालेखों से राजस्थान का इतिहास लिखने मे इस तरह से मदद मिलती है कि जैसे जिन नगरों, स्थानो पर ये

1. राजप्रशस्ति महाकाव्यम् (सं. मोतीलाल मेनारिया), पृ. 43

शिलालेख अधिक है उससे स्पष्ट है कि वहाँ पर मुस्लिम या मुगल प्रभाव था, राजपूतों व मुस्लिम सुल्तानों या मुगल बादशाहों के संबंधों को समझने मे सहायता मिलती है तथा स्थान, भवन विशेष किसने, कब और क्यों बनवाया आदि के बारे में भी जानकारी मिलती हैं। यों अरबी व फारसी के शिलालेखों से भी तत्कालीन राजस्थान की राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को समझ सकते हैं। राजस्थान मे अरबी व फारसी के शिलालेख अधिकांशतः अजमेर, नागौर, जालोर, साभर, अलवर, मेड़ता, टोंक, जयपुर आदि क्षेत्रों में लगे हुये है जिससे स्पष्ट है कि मुस्लिम सुल्तानों अथवा मुगल शासकों का इन इलाको में राजनैतिक प्रभुत्व था। इस सदर्भ में प्राचीनतम लेख अजमेर में मिला है। अजमेर के ढाई दिन के झोपडे में बीच के मेहराब के वहाँ अरबी भाषा का शिलालेख है जिससे पता लगता है कि यह मस्जिद (ढाई दिन का झोपड़ा) जून 20, 1198 ई० को बनाई गई तथा एक अन्य शिलालेख जो कि दूसरे गुम्बद की छत के नीचे (बीच से उत्तर की ओर) लगा हुआ है उससे पता लगता है कि यह मस्जिद सितम्बर 1200 ई० में अबू बक बिन अहमद के नेतृत्व मे बन कर तैयार हुई तथा इल्तुतमिश के समय अप्रेल-मई 1226 ई० मे सात मेहराब और जोड़े गये थे।[2] हजरत ख्वाजा गरीब नवाज मुईनुद्दीन चिश्ती के समाधि-स्थल की उत्तरी दीवार पर (आँगन से 7' 8" की ऊँचाई) सुनहरी अक्षरो मे जो प्रशस्ति लिखी हुई है उससे ज्ञात होता है कि ख्वाजा सा. के गुम्बद की सजावट 1532 ई० मे की गई थी। चित्तौड मे सुल्तान गयासुद्दीन का लेख मिला है जो ओझा के अनुसार 1321-25 ई० का होना चाहिये। चित्तौड़ में ही मिले धाईबी पीर की दरगाह के 1325 ई के एक फारसी के शिलालेख में चित्तौड़ का नाम 'खिज्राबाद' लिखा है। अकबर के समर का 1570 ई. का फारसी शिलालेख अजमेर की कलंदरी मस्जिद में तथा 1571 ई. का तारागढ़ पर गंज शहीदा के प्रवेश द्वार पर लगा हुआ है। इसी तरह से पुष्कर मे तालाब के किनारे जोधपुर घाट पर अनूपराय द्वारा निर्मित जहाँगीरी महल पर 1615 ई० की फारसी प्रशस्ति मे जहाँगीर की मेवाड़ के राणा अमरसिंह पर की गई विजय का पता लगता है। इस बात का उल्लेख ख्वाजा साहब की दरगाह में बनी शाहजहाँनी मस्जिद के 1637 ई० के लेख में भी मिलता है कि जब

2. इपिग्राफिया इण्डो मुस्लिमिका, 1911-12, पृ. 15-30, एम. ए. आई. तिरमिजी, अजमेर थ्रू इनस्क्रिपशन्स 1532-1852, पृ. 15.

शहज़ादा खुर्रम मेवाड के राणा को पराजित करके ख्वाजा सा. की दरगाह की जियारत करने आया तभी उसने यहां पर एक मस्जिद बनाने का निश्चय कर लिया था और जब वह बादशाह बना तो उसने इस मस्जिद का निर्माण कराया। दरगाह शरीफ अजमेर के ही शाहजहांनी गेट जिसे तीन नामो से कलमी दरवाजा, शाहजहांनी दरवाजा, नक्कारखाना के नाम से भी जाना जाता है। फर्श से कोई 18 फुट की ऊँचाई पर संगमरमर की 1654 ई० की फारसी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने मूर्तिपूजा के अधकार को समाप्त कर दिया। इससे उसकी धर्म के प्रति कट्टरता का सहज ही मे बोध होता है। साथ ही इसी प्रशस्ति से उसकी राजपूताना विजय की जानकारी भी मिलती है।[3] इन फारसी प्रशस्तियों से मुस्लिम या मुगल शासन व्यवस्था की जानकारी भी मिलती है। इनमें वर्णित विभिन्न पदों, अधिकारियों, कर्मचारियों आदि का पर्याप्त वर्णन मिलता है जैसे अजमेर मे सदाबहार पहाड़ी पर बने ख्वाजा सा. के चिल्ले की प्रशस्ति से पता लगता है कि तब खानेखाना अजमेर का गवर्नर बनाया गया था, दौलतखां रेवेन्यू कलक्टर था। अकबर एवं जहांगीर के समय के प्रशस्तिकारों मे दरवेश मुहम्मदल हाजी इलियासत रमजी, मुहम्मद बकर और मीर अब्दुल्लाह तिरमिजी के नाम विशेष उल्लेखनीय है। एस० ए० आई० तिरमिजी के शब्दों में हम यह कह सकते है कि भारतवर्ष में स्त्रियों द्वारा निर्मित मस्जिद का उदाहरण केवल अजमेर में ही मिलता है जिसमें पहली मस्जिद 1643 ई० में मायाबाई (औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसा की धाय) ने (दरगाह बाजार मे मोती कटला के ठीक सामने लाल बलुआ पत्थर मे बनी मस्जिद) तथा 1651 ई० मे तानसेन की पुत्री त्रिलोक देवी कलावंत ने दूसरी मस्जिद (यह दरगाह बाजार में पुलिस स्टेशन के सामने बनी हुई है.) बनवाई थी। यह जानकारी इन मस्जिदों में लगी फारसी के शिलालेखों से मिलती है।[4] अजमेर में ही तारागढ स्थित सैय्यद हुसैन सा. की दरगाह की 1813 ई० की फारसी-प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि राव गुमानजी सिंधिया ने दरगाह के दालान को बनवाया था इससे मराठों की धार्मिक सहिष्णुता को समझा जा सकता है। 1679 ई० के शाहबाद (कोटा जिला) के फारसी शिलालेख से औरंगजेब के काल मे लिये गये विभिन्न प्रकार के करों के बारे में जानकारी मिलती है। यों राजस्थान के इतिहास को लिखने में अरबी एवं फारसी के शिलालेख भी काफी उपयोगी हैं।

---

3. वही, पृ. 51, 4. वही

ताम्र-पत्र :— राजस्थान-इतिहास स्रोत के रूप में ताम्र-पत्रों का भी एक स्थान है। ये ताम्र-पत्र प्रायः राजा अथवा ठिकाने के सामन्तों द्वारा प्रदान किये जाते थे। प्रायः ईनाम-इकराम, दान-पुण्य, जागीर आदि अनुदानों को ताम्र-पत्रों पर खुदवाकर अनुदान प्राप्तकर्ता को दे दिया जाता था जिसे वह संभाल कर सुरक्षित रखता था। अधिकांशतः ताम्र-पत्र भूमि अनुदान से सबंधित रहे हैं फिर भी इनसे तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व राजनीतिक अवस्था की जानकारी उपलब्ध होती है, क्योंकि इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसने, किसको, किस खुशी में अथवा अवसर पर ताम्र-पत्र दिया था।

सनद, रुक्के, फरमान :—ताम्र-पत्रों, ख्यातों एवं शिलालेखों से भी अधिक महत्वपूर्ण साधन सनद, रुक्के, फरमान आदि हैं। ये समसामयिक साधन होने के साथ-साथ मूल रूप में उपलब्ध हो सकते हैं। भाटी के अनुसार काव्य ग्रन्थों, ख्यातों, शिलालेखों आदि अन्य साधनों की अपेक्षा इनकी प्रामाणिकता श्रेष्ठ होने के तीन कारण हैं—

(i) यह साधन ऐतिहासिक घटनाओं के समसामयिक है।

(ii) यह उन व्यक्तियों द्वारा लिखे या लिखाये गये हैं जो स्वयं उन घटनाक्रम में कार्यरत थे।

(iii) इनमें परिस्थितियों का यथातथ्य वर्णन है।

ख्यातों व काव्य ग्रंथों की कल्पना इनमें प्रवेश पाने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रखता है। अतः इनका महत्व अन्य साधनों से कहीं अधिक बढ कर है। इनमें एक ओर समसामयिक व राजनीतिक परिस्थितियों का पता चलता है वहाँ घटनाक्रम को मोड़ देने वाले तर्कों और घटनाओं से उत्पन्न परिस्थितियों पर भी प्रकाश पड़ता है। खडगावत के अनुसार अन्य साधनों से हमें केवल घटनाओं का ही वर्णन मिलता है परंतु रुक्के, सनद व फरमान से हमें ये घटनायें क्यों और कैसे, किन परिस्थितियों में घटी उनका वर्णन भी मिलता है क्योंकि अधिकांश पत्र नीति निश्चित करने के पूर्व विभिन्न शासकों द्वारा विचारों के आदान-प्रदान को दर्शाते है। राजनैतिक घटनाओं के लिये ही नहीं अपितु धार्मिक विश्वासों, सैनिक अभियानों, युद्ध के तौर-तरीकों, राज्य-व्यवस्था, लगान-कर, सामाजिक दशा, राजाओं को मिलने वाले शाही खिताब आदि के लिये भी महत्वपूर्ण संकेत मिलते है। अतः वे इतिहास के बहुत बड़े प्रामाणिक साधन हैं।

राजकीय पुरा संग्रहालय :—राजकीयपुरा संग्रहालय में भी यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है, इसमे राष्ट्रीय पुरा अभिलेखागार नई

दिल्ली में आधुनिक राजस्थान के इतिहास से संबंधित काफी साधन-सामग्री सुरक्षित है।

फॉरेन डिपार्टमेन्ट कन्सलटेशन्स :—ईस्ट इण्डिया कम्पनी के फॉरेन डिपार्टमेंट की दो शाखाएँ–सीक्रेट पोलिटिकल में विभिन्न देशी राज्यों से संबंधित पत्र–व्यवहार और प्रतिवेदन सुरक्षित है जिनसे तत्कालीन राजस्थान की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक स्थिति के बारे मे विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

राजकीय पुरा संग्रहालय बीकानेर :—भूतपूर्व राजस्थानी राज्यों के अपने-अपने पुरालेख विभाग थे। राजस्थान निर्माण के कुछ वर्षों पश्चात् इन सब को एकत्रित कर बीकानेर में केन्द्रित कर दिया गया, परन्तु अब भी इन विभिन्न राज्यों की पुरालेख सामग्री यहाँ उनके अलग-अलग अनुभागों के रूप में व्यवस्थित है। राजस्थान के विभिन्न निजी संग्रहों से आई हुई सामग्री नॉन आर्काइब्ल रिकॉर्डस् के अंतर्गत आती है। यहाँ पर सुरक्षित सामग्री में फर्मान, निशान, सनद, अखबारात, वकील रिपोर्ट, खतूत, मन्तफरीक, खरीता, ड्राफ्ट-खरीता, परवाना, अर्जदाश्त, फर्द, बकाया, दस्तूर कौमवार, सियाह हजूर, हस्वल हुकम, आमेर रिकॉर्ड, बहियाँ, फाईलें आदि मुख्य हैं। वास्तव में ये रिकॉर्डस् राजस्थान के इतिहास जानने के अत्यन्त विश्वसनीय साधन हैं। बी. एस. भटनागर के अनुसार ये रिकॉर्डस् 'ऐतिहासिक तथ्यों को जानने के लिए एक विशाल खान है और रिकॉर्डस् का गहन अध्ययन निश्चित रूप से राजस्थान के इतिहास की अनेक भूलों को सुधारने में सहायक हो सकता है। बीकानेर में अवस्थित राजकीय पुरा संग्रहालय 'राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार बीकानेर' के नाम से जाना जाता है। इसके विभाग जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, भरतपुर, कोटा, अलवर, अजमेर, टोंक आदि कई स्थानों पर 'रिकॉर्ड-दफ्तर' हैं, जहाँ पर अधिकतर स्थानीय संबंध के कागजात आदि सुरक्षित हैं।

खरीता :—खरीता उन पत्रों को कहते हैं जो एक शासक द्वारा दूसरे शासक को लिखे गये हैं। ये पत्र यद्यपि पुरानी राजस्थानी लिखावट की शैली में है तथापि प्रत्येक राज्य की लिखावट, संबोधन एवं प्र.रूप मे काफी अंतर है। इन पत्रों से शासकों की नीति, उनका मुगलों, मराठों से संबंध, राजाओं के गुप्त समझौते आदि के बारे मे ज्ञान होता है। साथ ही इन खरीतों से राजस्थान के राज्यों के आपसी संबंधों पर भी विस्तृत प्रकाश पड़ता है। चूंकि पत्र काफी पुराने हो चुके हैं, अतः उनकी सुरक्षा हेतु बीकानेर पुरा-अभिलेखागार में उनकी माईक्रो फिल्म रीलस बनाली गई है।

ड्राफ्ट खरीता एण्ड परवाना :— जयपुर के शासक द्वारा भेजे गये खरीतों व परवानों की प्रतिलिपियाँ ड्राफ्ट खरीता एण्ड परवाना के नाम से जानी जाती है। ये पत्र तत्कालीन राजनीतिक स्थिति, विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंधों, सैनिक कार्यवाहियों, संधियों आदि के बारे में बोध कराते हैं।

अर्जदाश्त :—विभिन्न राज्यों के सामन्तो व अधिकारियों द्वारा जयपुर के शासक को लिखे गये पत्र व अर्जियां 'अर्जदाश्त' कहलाते हैं। राजनीतिक दृष्टि से एक दूसरे को अवगत रखने एवं सहायता आदि प्राप्त करने की दृष्टि से इनके मध्य पत्रों का आदान-प्रदान बराबर होता रहता था। अतएव तत्कालीन स्थिति का अवलोकन करने हेतु ये पत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं।

अखबारात :—अखबारात अन्य महत्वपूर्ण साधन है। ये मुगल दरबार द्वारा प्रकाशित दैनिक बुलेटिनों का संग्रह है। इसके द्वारा मुगल दरबार की महत्वपूर्ण नियुक्तिया व राज्य दरबार की कलाकृतियों आदि का ज्ञान होता है।

वकील रिपोर्टस् :—मुगल दरबार में जयपुर राज्य के हित को सुरक्षित रखने के लिए वहां का राजदूत रहता था। मुगल दरबार में होने वाली घटनाओं का ज्ञान वह पत्रों द्वारा अपने शासक को प्रायः देता था। दूत द्वारा लिखे गये पत्रों को वकील रिपोर्टस् कहते है। इन पत्रों से मुगल दरबार में होने वाले घटनाक्रमों का तो वर्णन होता ही था साथ ही साथ राजस्थान के शासकों की गतिविधियों का भी इसमें समावेश किया गया है। ये रिपोर्टस् फारसी व राजस्थानी दोनों ही भाषाओं में लिखी मिलती है।

परवाना :—शासक जो पत्र अपने अधीन कर्मचारियों को व अन्य कर्मचारियों को भेजते थे वे 'परवाना' कहलाते हैं। इन पत्रों में राजस्थान के विभिन्न राज्यों की राजनीतिक दशा का विस्तृत वर्णन है। जयपुर के अतिरिक्त अन्य अनुभागों तथा मेवाड़, जोधपुर एव कोटा में भी यथेष्ट सामग्री मिलती है।

कोटा-अनुभाग के रिकार्डस् वि.सं. 1935 से आरम्भ होते हैं, इसमें कोई 6 हजार बस्ते हैं और प्रत्येक बस्ते में लगभग 300 पत्रों की संख्या है। ये सभी पत्र तिथि क्रम से जमे हुए है। हम इन्हें मुख्यतः चार भागों में बांट सकते हैं—

(i) **दोवर्की** :—दोवर्की से तात्पर्य दो परतों वाले दस्तावेजों से है। ये तथिवार व विषयवार जमे हुए हैं। इन पत्रों मे मुख्य रूप से दैनिक प्रशा-

सन, युद्ध की तैयारियों का खर्चा, कच्चे माल का एक स्थान से दूसरे स्थान भेजना, युद्ध स्थल में घायलो के उपचार आदि विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

(ii) **जमाबंदी** :—ये राजस्व सम्बन्धी पत्र है और अधिकांश पत्रों मे मासिक तथा वार्षिक चुंगी व जंगलात का हिसाब है। इन पत्रों मे अनेक नये व पुराने करों के बारे में वर्णन मिलता है। इन पत्रों मे हिसाब बड़ा विस्तृत रूप से रखा जाता था। राज्य की आर्थिक दशा जानने हेतु ये बहुत ही महत्वपूर्ण पत्र है।

(iii) **मुल्की** :—इनमें वहियों के रूप मे तीन वर्ष से लेकर 10 वर्ष तक का हिसाब मिलता है। इसमे राज्य की आमदनी, परगने, युद्ध अभियान, कर्मचारियों के वेतन आदि कार्यो में किये गये खर्चे का वर्णन मिलता है।

(iv) **तलकी** :—इन पत्रों में राजाओं की आज्ञाये व अन्य राज्य के शासकों, सामन्तो व अन्य कर्मचारियों को भेजे हुए पत्रो की नकलें है। अधिकतर पत्र कूटनीतिक या राजनीतिक घटनाओं से सम्बन्धित है और समकालीन घटनाओं से सम्बन्धित अच्छा वर्णन मिलता है। मथुरालाल शर्मा का कहना है कि "दैनिक हिसाबी कागजो मे समाविष्ट होने के कारण कोटा राज्य की सग्रहितता निर्विवाद है।"

आमेर रिकॉर्ड :—यह जयपुर पुरालेख अनुभाग से सम्बन्धित रिकार्ड है। यद्यपि इसमे जयपुर-राजस्व से सम्बन्धित सामग्री अधिक है तथापि अन्य राज्यो के राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक इतिहास के लिखने मे इसका बड़ा महत्व है। इसमें कई प्रकार के पत्र है जिनमें विभिन्न राज्यों के सामन्तों एवं अधिकारियो द्वारा जयपुर के दीवान, सामन्त एवं अधिकारियों को लिखे गये पत्र विशेष महत्वपूर्ण हैं।

दस्तूर कौमवार :—जयपुर राज्य से सम्बन्धित आय-व्यय, भेट, उपहार, युद्धादि मे काम आये व्यक्तियो को दी गई इज्जत आदि का वर्णन दस्तूर कौमवार मे मिलता है। ये वर्णानुक्रम से वर्ष के अनुसार जिल्दो में उपलब्ध हैं। इनसे तत्कालीन गहनो, वस्त्रों, उत्सव-पर्वों आदि के बारे में समुचित सामग्री मिलती है।

हकीकत बही :—इनमें जोधपुर महाराजा के दैनिक क्रियाकलापों व उनसे मिलने वाले राजनैतिक व्यक्तियों का वर्णन है। इनमे राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि घटनाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है। ये बहियां 15वी शताब्दी से यहां के अन्तिम शासक हनुमन्तसिंह तक मिलती है। प्रत्येक बही मे पांच से दस वर्ष तक के समय का वर्णन मिलता है।

ओहदा बही :—इनकी सख्या सात है। इनमे जोधपुर के शासकों की आज्ञायें लिखी हुई है। साथ ही राज्य के भ्रष्ट कर्मचारियो के वारे मे भी वर्णन मिलता है।

खासरूक्का बही:—इनमे मारवाड़ के राजाओं का अपने अधीन पदाधिकारियो को दिये गये आदेश व निर्देशों का समावेश है।

अर्जी बही :—इनकी संख्या सात है इनमें जोधपुर से विभिन्न मराठा सरदारो को लिखे गये पत्र तथा अधीन कर्मचारियों द्वारा अपने उच्च पदाधिकारी व शासकों को भेजे हुये पत्रो का समावेश हैं।

खरीता बही :- जोधपुर रिकार्ड की खरीता वहियो की संख्या 17 है। जोधपुर-महाराजा द्वारा राजस्थान के विभिन्न शासको एवं मराठों के नाम भेजे गये पत्र एवं कई जगहों से उनके नाम आये हुए पत्रों की नकलें है।

इनके अतिरिक्त अजमेर-रिकार्ड में दरगाह रिकार्ड, इस्तमरारी रिकॉर्ड व एजेन्सी रिकॉर्ड प्रमुख है। उदयपुर-रिकॉर्ड मे देवस्थान की बहिया, सिलहखाना के कागजात, बख्शीखाना-वहियां, मेहता संग्राम सिंह सग्रह के बस्ते, श्यामलदास सग्रह के वस्ते आदि प्रमुख है। बीकानेर रिकॉर्ड के अतर्गत भी कई बहियाँ एवं फाइलें हैं जैसे-जमाखर्च-वहियाँ, हासिल-वहियाँ, पुण्यार्थ वहियाँ, कमठाना की वहियाँ, मोदीखाना की वहियाँ, कागदा री बहियाँ, जगात री बहियाँ, मालरी वहियाँ, खालसा के गांवों की बहियाँ आदि से भी तत्कालीन इतिहास लिखने मे बड़ी सहायता मिलती है। यो राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार, वीकानेर मे सुरक्षित सामग्री के आधार पर 17वी शताब्दी से 20वी शताब्दी के इतिहास को जानने में बड़ी सहायता मिलती है।

अन्य राज्यों के पुरालेख विभाग :— पड़ौसी राज्यो के सग्रहालय भी राजस्थान के इतिहास के लिए वड़े महत्वपूर्ण है। राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली में 1818 ई० से लेकर अब तक का राजस्थान के विभिन्न राज्यो से संबंधित रिकॉर्ड उपलब्ध है। इसी भांति महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात और पंजाव के पुरालेख विभाग भी वडे महत्व के है। मुगल साम्राज्य के पतन के वाद व मराठों के उत्तरी भारत मे उत्कर्ष के युग में मराठी भाषा का साहित्य राजस्थान के इतिहास के लिये महत्व का हो गया था। समकालीन मराठी भाषा के हजारो पत्रों में राजस्थान का वर्णन आता है। इन ेका संग्रह या तो व्यक्तियों के पास निजी रूप मे है या महाराष्ट्र राज्य

के बम्बई पुरालेख विभाग व पूना के संग्रहालयों में है। इन पत्रों में राजस्थान व मराठों के संबंध के अतिरिक्त मुगल राजनीति, इसकी राजस्थान में प्रक्रिया व राजस्थान के शासकों की गतिविधियाँ, उनकी चारित्रिक विशेषतायें आदि बातों पर विस्तृत वर्णन मिलता है। मध्यप्रदेश के राजकीय संग्रहालयों मे मुख्यतः ग्वालियर व इंदौर राज्यों के संग्रहालयों में राजस्थान के बारे मे यथेष्ट ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। इसी तरह दक्षिण-पूर्व में गुजरात और उत्तर में पंजाब, राजस्थान का पड़ौसी होने के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः इन राज्यों के संग्रहालयों मे राजस्थान के इतिहास से संबंधित सामग्री उपलब्ध होती है।

व्यक्तिगत संग्रह :—राजस्थान के भूतपूर्व जागीरदारों के पास भी ऐतिहासिक सामग्री का एक विस्तृत संकलन है। ऐसे जागीरदारों की संख्या महाराज कुमार रघुबीरसिंह के अनुसार सैकड़ों में होगी। इनके अलावा पंडों, पुजारियों, सेठ-साहूकारों आदि के पास भी कई महत्वपूर्ण पुरालेख संग्रहीत हैं। साथ ही कई निजी संस्थाओं में भी ऐतिहासिक सामग्री सुरक्षित पड़ी है जिनमें रघुबीरसिंह का श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ; साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर; अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर; पुस्तक प्रकाश जोधपुर, चोपासनी शोध संस्थान जोधपुर आदि विशेष उल्लेखनीय है।

साहित्यिक स्रोत :—राजस्थान का इतिहास जानने में साहित्य की भूमिका भी कोई कम नही है। हमें संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, उर्दू व फारसी मे लिखा साहित्य बहुलता के साथ मिलता है जिसमें ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त-मात्रा में भरी पड़ी है। इतना ही नही हम तत्कालीन चित्रित ग्रन्थों व चित्रों से भी इतिहास की सामग्री प्राप्त करते है। हाँ इतना अवश्य ध्यान रहे कि साहित्यिक साधनो मे घटनाओ को प्रायः बढ़ा-चढ़ा कर या तोड़ मोड़ कर लिख दिया हो, उन्हें अपनी पैनी दृष्टि से संतुलित करने के बाद ही उपयोग मे लावें। क्योंकि अधिकांशतः साहित्य सृजन स्वतन्त्र रूप से नही हुआ अपितु राज्याश्रयों मे लिखा गया है। अतः ऐसे साहित्य में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों का मिलना कोई अस्वाभाविक नहीं है। यहां पर हम साहित्यिक स्रोतो का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार कर सकते हैं—

संस्कृत :— ऐतिहासिक जानकारी के लिये संस्कृत साहित्य का बड़ा महत्व है। राजस्थान के प्राचीन एवं प्रारम्भिक इतिहास के लिए पुराण, रामायण व महाभारत से बड़ी सहायता मिलती है।

राजस्थान के इतिहास के लिए भी कई ग्रन्थ हैं जो अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर, पुस्तक प्रकाश जोधपुर, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर, उदयपुर साहित्य संस्थान उदयपुर, में सुरक्षित हैं। 12वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जयानक विरचित 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' से हमें चौहानों की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन मिलता है। जयचन्द्र सूरि कृत 1403 ई० का 'हम्मीर महाकाव्य' चौहानों के इतिहास की जानकारी तो उपलब्ध कराता ही है तथा अलाउद्दीन खल्जी की रणथंभोर विजय एवं उस समय की सामाजिक, धार्मिक अवस्था का बोध कराने में भी बड़ा सहायक है। 15वीं शताब्दी में मंडन ने 'राजवल्लभ' की रचना की। यह ग्रन्थ स्थापत्य कला को समझने की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। कुंभा द्वारा रचित 'एकलिंग महात्म्य' से गुहिल-शासकों की वंशावली तथा मेवाड़ के सामाजिक संगठन को तथा 'राजविनोद' से बीकानेर के 16वीं शताब्दी के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झांकी मिलती है। इसी तरह से 'भट्टिकाव्य' से जैसलमेर के सम्बन्ध मे जानकारी मिलती है। रणछोड़ भट्ट कृत 'अमर काव्य वंशावली' तथा जीवधर लिखित 'अमरसार' मे महाराणा प्रताप व अमरसिंह के समय का वर्णन मिलता है। सदाशिव रचित 'राजरत्नाकर' मे महाराणा राजसिंह कालीन दिग्दर्शन होते हैं तो जगजीवन भट्ट कृत 'अजितोदय' मे मारवाड़ के अजीतसिंह के युग की घटनाओं एवं उस समय की दशा का अच्छा वर्णन मिलता है। सीताराम भट्ट कृत 'जयवंश महाकाव्यम्' तथा श्रीकृष्ण भट्ट रचित 'ईश्वरविलास महाकाव्यम्' में जयपुर के जयसिंह एवं ईश्वरीसिंह के बारे मे तथा उस समय की राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक अवस्था का परिचय मिलता है। इस भांति कई संस्कृत ग्रन्थों से हमे उस युग के इतिहास को जानने एवं समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

राजस्थानी :—राजस्थानी साहित्य भी इतिहास-परक साधन-सामग्री जुटाने मे पर्याप्त योग देते है। गाडण शिवदास रचित वि.स. 1490 की 'अचलदास खीची री वार्ता' गागरोन के खीची शासकों को समझने के लिए, वि.सं. 1512 का पद्मनाभ द्वारा लिखा 'कान्हडदेप्रबंध' से अलाउद्दीन खल्जी के जालोर आक्रमण, तुर्कों की युद्ध-पद्धति, राजपूतों की सैनिक-व्यवस्था, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दशा का बोध होता है। बीकानेर के महाराजकुमार दलपतसिंह ने 'दलपत-विलास' की रचना की। हालांकि यह ग्रन्थ पूर्ण रूप से प्राप्त नही हुआ है फिर भी इससे हमे कई ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायता मिलती है जैसे—

अकबर ने हेमू का वध नहीं किया था, इस बात की जानकारी के लिए यही एक मात्र साधन है। रतलाम के रतनसिंह के दरबार का सुप्रसिद्ध कवि महेशदास का पुत्र खिड़िया जगा था। उसने जो वचनिका लिखी (वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी री महेसदासौत री खिड़िया जगा री कही) उसमें धरमत के युद्ध का सजीव वर्णन मिलता है। 'वेलिक्रिसण रुकमणी री' की रचना कुंवर पृथ्वीराज राठौड़ ने की। यों देखा जाय तो यह एक भक्ति प्रधान काव्य है किन्तु उस समय के रीति-रिवाज, वेश-भूषा, रहन-सहन आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है। जोधपुर महाराजा अभयसिंह के समय में चारण कवि वीरभाण ने 'राज रूपक' ग्रंथ की रचना की। इसमें अभयसिंह एवं सरबुलन्दखां के मध्य हुए अहमदाबाद के युद्ध का आखो देखा वर्णन है। कविया करणीदान विरचित 'सूरजप्रकाश' महाराजा अभयसिंह के युग में ही लिखा गया था। इसमें महाराजा जसवन्तसिंह, अजीतसिंह एवं अभयसिंह के समय की घटनाओं का बड़ा मनोहारी वर्णन है। साथ ही तत्कालीन रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, विवाह, उत्सव, शिकार, दान, पुण्य, यज्ञादि पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। महाराणा राजसिंह कालीन ऐतिहासिक स्रोत के रूप में मानकवि द्वारा लिखा 'राजविलास' एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

वंश भास्कर :—इस ग्रन्थ का लेखक सूर्यमल्ल मिश्रण है। सर्वप्रथम लेखक के बारे में जानना आवश्यक है—

जीवन परिचय :—सूर्यमल्ल मिश्रण का जन्म कार्तिक कृष्णा प्रथम, विक्रम संवत् 1872 को हुआ था। दशरथ शर्मा के अनुसार, "सूर्यमल्ल मिश्रण का जिस समय जन्म हुआ राजपूत युग की छाया ढल चुकी थी। दुर्गादास का समय बीत चुका था। सवाई जयसिंह, अजीतसिंह, अभयसिंह आदि भी कुछ जगमगा कर और कुछ टिमटिमा कर अस्त हो चुके थे। मराठों के आक्रमणों, अमीरखा जैसे व्यक्तियो के दुराचारों, पारस्परिक वैमनस्यों और राजाओ के धर्म से, अनियमित व्यवहारो से जर्जरित होकर राजस्थान त्राहि-त्राहि कर रहा था। इसी अवसर से लाभ उठाकर अंग्रेजो ने दो तीन वर्ष में ही समस्त राजस्थान पर अपना आधिपत्य जमा लिया। अपने आपको सर्वथा भूलने में भी राजाओं और सरदारों को कुछ विशेष समय नही लगा।" सूर्यमल्ल की माता का नाम भवानीबाई तथा पिता का नाम चंडीदान था जो अपने समय का प्रकाण्ड पंडित और प्रतिभाशाली कवि था। बूंदी का शासक महाराव रामसिंह उसका बडा सम्मान करता

था। चंडीदान द्वारा रचित तीन ग्रंथ बड़े महत्व के हैं—(i) बलविग्रह, (ii) सार सागर, (iii) वंशाभरण। सूर्यमल्ल ने स्वरूपानन्द से योग, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक साहित्यादि के ज्ञान की प्राप्ति की। आशानंद ने उसे व्याकरण, कोश, ज्योतिष, छन्दः शास्त्र, काव्य, अश्ववैधक और चाणक्य-शास्त्र की शिक्षा दी। मुहम्मद से कवि ने फारसी और एक अन्य यवन से वीणा-वादन सीखा। साथ ही कवि ने जिन पंडितो एवं अपने इष्ट मित्रों के नाम दिये है उनसे भी कवि का महान् पाडित्य प्रदर्शित होता है।[5] यों सूर्यमल्ल मिश्रण को बाल्यकाल से ही साहित्यिक और ऐतिहासिक वातावरण प्राप्त हुआ। वह स्वयं कुशाग्र बुद्धि एवं अपूर्व स्मरण शक्ति से सम्पन्न था। उसमे विद्या विवेक और वीरत्व का सुन्दर संगम था। उसके जीवनकाल मे ही उसकी कीर्ति का प्रसार राजस्थान एवं मालवा मे दूर-दूर तक हो चुका था। तत्कालीन बुद्धिजीवी समाज में वह एक महाकवि एव सत्यवक्ता मानव के रूप मे प्रतिष्ठित था। राजदरबार में उसका अपूर्व सम्मान था। उसकी गणना बूंदी के पाच रत्नों मे थी। राजा महाराजा उससे प्रेरणा ग्रहण करते थे और जनसाधारण उसके द्वारा रचित गीत गा-गा कर वीरो के कार्यों का स्मरण करता हुआ गौरवान्वित होता था। बड़े-बडे भू-पति, प्रतिष्ठित कवि और विद्वान उसके दर्शनार्थ लालायित रहते थे। चारणी आदर्शो का वह मूर्त रूप था। उसकी यह कीर्ति, उसकी सत्यता पर आधारित थी। वह स्तुति परक नही था। 'इतिहास मे प्रशंसा नही होती' इस सिद्धान्त से प्रेरित रहते हुये उसने सदैव सत्य का ही समर्थन किया और जब सत्यता पर आँच आते देखी तो बडे से बडे लोभ को भी उसने ठुकरा दिया। फलतः 'वंशभास्कर' ग्रन्थ भी अधूरा रह गया। इस ग्रन्थ के बीसवें मयूख मे कवि की मृत्यु-तिथि आषाढ़ शुक्ला एकादशी वि. सं. 1925 दी है, जो संभवतया बाद में किसी कवि ने जोड़ दी है।

रचनायें :— जब सन् 1857 ई० मे स्वतंत्रता संघर्ष शुरू हुआ तो राजस्थान के चारण कवियो की ओजस्वी वाणी मुखरित हो उठी। सूर्यमल्ल मिश्रण उनमें सब से आगे रहा है। उसकी रचनायें निम्नांकित हैं—

1. वंशभास्कर
2. वीर सतसई
3. धातु रूपावली
4. बलवद् विलास

परम्परा, भाग 30, पृ. 76-77

5. छंदोभमूल
6. राम रंजाट
7. सतीरासो आदि।

महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की विद्वता को तो इसी से समझा जा सकता है कि उसने दस वर्ष की अल्पायु में ही (वि. सं. 1882) 'राम रंजाट' खण्ड काव्य की रचना कर दी थी। सूर्यमल्ल की तमाम रचनाओं में मुख्यतः वंशभास्कर और वीर सतसई पर चारण काव्य-परम्पराओं की छाप स्पष्ट विद्यमान है। वंशभास्कर उसकी कीर्ति का आधार स्तम्भ है। यह राजस्थान का अत्यन्त मान्य एवं यशस्वी ग्रन्थ है। कानूनगो के अनुसार तो यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से पृथ्वीराज रासो से भी अधिक महत्वपूर्ण है और साहित्यिक दृष्टि से 19वीं शताब्दी के महाभारत की गणना में रखा जा सकता है।

यह बहुत ही विस्तृत ग्रन्थ है। संभवतया इससे बडा ग्रन्थ हिन्दी में कोई नहीं है। अधूरा होते हुए भी यह लगभग तीन हजार मुद्रित पृष्ठों में समाया हुआ है। आश्चर्य इस बात का है कि उत्साह के साथ वंशभास्कर प्रारम्भ हुआ फिर भी यह अपूर्ण रह गया। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब रामसिंह ने सूर्यमल्ल से अपने वंश का इतिहास लिखने को कहा तो उसने इसी शर्त पर यह कार्य हाथ में लिया था कि जो सही बात होगी उसे लिखने को ही वह बाध्य होगा। राव राजा के इस शर्त को स्वीकार कर लेने पर ग्रन्थ का निर्माण वैशाख शुक्ला तृतीया, संवत् 1897 के दिन प्रारम्भ हुआ। परन्तु महाराव के दोषों का वर्णन करने के फलस्वरूप दोनों में मन-मुटाव हो गया और यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, जिसे बाद में सूर्यमल्ल के दत्तक पुत्र मुरारीदान ने पूरा किया। खान के अनुसार ग्रन्थ की मूल योजना के विचार से मुरारीदान की पूर्ति के उपरान्त भी वंशभास्कर अपूर्ण ही है। यों कवि होते हुए भी सूर्यमल्ल का दृष्टिकोण प्रधानतः इतिहासकार का रहा है। उसका यह ग्रन्थ क्रमानुसार ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करता है तथा विचार प्रतिपादन, घटना लेखन आदि में सूर्यमल्ल में इतिहासकार के सभी गुण विद्यमान थे। सामग्री की खोज करना और निष्पक्षता के साथ उपस्थित करना यह उसका मुख्य उद्देश्य था। यहाँ तक कि आश्रयदाता के दोष बताने में भी वह पीछे नहीं रहा।

ग्रन्थ का क्षेत्र—वंशभास्कर में वर्णित इतिहास का क्षेत्र विस्तृत है। निःसंदेह चौहान वंश, मुख्यतः बूंदी के हाड़ा वंश का ही इतिहास लिखना

ही नही वरन् समस्त भारतवर्ष का इतिहास समाया हुआ है। अग्निवंशीय क्षत्रियो की प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चौहान चारों शाखाओं की अग्निकुंड से उत्पत्ति, वंशावलियो सहित उनकी विभिन्न राज्यो की स्थापना आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए चौहानवंश को शाखाओं, उप-शाखाओं के परिचय के बाद कवि बूंदी के राजवंश का चित्रण करता है। सन् 1857 के स्वतत्रता संग्राम का सक्षिप्त किन्तु सारगर्भित उपयोगी आँखो देखा वर्णन भी है।

यो एक वृहद् इतिहास की रचना कवि ने की है जिसमे सृष्टि रचना से लेकर भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक का ऐतिहासिक ब्यौरा आ गया है। मिश्रण का मुख्य उद्देश्य तो बूंदी के राजवंश का क्रमानुसार इतिहास प्रस्तुत करना था। अतः उसके लिये यह आवश्यक था कि वह भारतीय प्रदेश के अन्य नरेशो के इतिहास पर प्रकाश डालता हुआ बूंदी राज्य से उनके पारस्परिक सबधो को भी स्पष्ट करता चले। यही कारण है कि वशभास्कर मे समस्त भारतवर्ष का इतिहास आ गया है।

वंशभास्कर की सामग्री —दशरथ शर्मा के अनुसार, "मुख्य रूप से वंशभास्कर का विषय रामसिंह और उसके पूर्वजों का कीर्तिगायन है। किन्तु, इसके साथ अवान्तर विषय इतने जुड़ गए कि इसे विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ नही कहा जा सकता।" वशभास्कर में इस व्यापक ऐतिहासिक सामग्री के सकलनार्थ कवि ने अपने समय मे उपलब्ध कई ऐतिहासिक साधनो का उपयोग किया है। उसका क्षेत्र वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थो से लेकर संस्कृत भाषा के नाटक व अन्य कृत्यो, बड़वा, भाटों की पोथियो, रास, ख्यातो, वातो एवं विभिन्न राजघरानों की दफ्तर बहियो तथा फारसी तवारीखो तक व्यापक है। कानूनगो के शब्दों मे, "वशभास्कर का सबसे अधिक महत्व ऐतिहासिक सामग्री का विशाल संकलन है।" परन्तु गहलोत का कहना है कि वंशभास्कर कर्नल टॉड के 'राजस्थान का इतिहास' के आधार पर और अंग्रेज सरकार की रिपोर्टों के सहारे लिखा गया है। उसमे भी आधुनिक खोज से काम नही लिया गया है। वास्तव मे इतिहासकार के रूप मे मिश्रण के सम्बन्ध मे दो प्रकार की धारणायें प्रचलित हैं—एक धारणा के अनुसार उसके जैसा इतिहासवेत्ता नही हुआ और अब होना भी कठिन है। दूसरी धारणा के अनुसार वह कवि और अच्छा विद्वान है, परन्तु इतिहासवेत्ता नही। आलमशाह खान के अनुसार इन दोनों धारणाओं मे ...रानी और नई पीढियों के साथ ही नये और पुराने दृष्टिकोणों का अन्तर

है। पुरानी पीढ़ी का इतिहास-विषयक दृष्टिकोण परम्परागत पुराणों के इतिहास की शैली पर ही आधारित है। इसके विपरीत नई पीढ़ी उसे ही इतिहास मानती है जिसमें वैज्ञानिक पद्धति से तथा तथ्य का विश्लेषण कर शुद्ध सत्य का प्रतिपादन किया गया हो।

निष्पक्ष विवरण :—जहाँ तक तथ्य कथन और सत्य प्रतिपादन का प्रश्न है सूर्यमल्ल पर हम अंगुली भी नहीं उठा सकते हैं। इसके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उसने निष्पक्ष भाव से अपने आश्रयदाताओं के राजवंशीय दोषों का निर्देशन किया है। और तो और अपने स्वामी रामसिंह के वर्णन का जब अवसर आया तब भी सत्य की संरक्षकता से वह विमुख नहीं हुआ। उसने वंशभास्कर जैसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना छोड़, उसे अपूर्ण रखना स्वीकार किया पर तथ्यों की हत्या कर रावराजा रामसिंह का कोरा स्तुति परक इतिहास लिखना स्वीकार नहीं किया। दशरथ शर्मा ने ठीक ही लिखा है कि सूर्यमल्ल ने सभी घटनाओं का निष्पक्षता से वर्णन किया है। जयसिंह की कहीं प्रशंसा तो कहीं निन्दा भी की है। बूंदी के महाराव बुधसिंह के आलसी और कामी आचरण का भी वंशभास्कर में सजीव वर्णन है। कवि की सत्यनिष्ठा को देखकर कृष्णसिंह बारहठ ने उसे शपथपूर्वक इतिहासवेत्ता कहा है परन्तु विश्लेषणवादी प्रतिभा का वंशभास्कर में अभाव है।

वंशभास्कर की उपयोगिता—मोतीलाल गुप्ता को यह ग्रन्थ शुद्ध उपयोगी लगा। मथुरालाल शर्मा ने ऐतिहासिक शोध की दृष्टि से इस ग्रन्थ के प्रथम दो भागों को विशेष महत्व के नहीं माने परन्तु तृतीय व चतुर्थ भाग को ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही उपयोगी माना है। यह भाग बूंदी, कोटा अथवा राजस्थान के इतिहास के लिये ही नहीं अपितु भारतीय इतिहास के लिये भी उपयोगी सामग्री से परिपूर्ण है।

वंशभास्कर के इन ऐतिहासिक वृत्तांतों से आज के अनेक इतिहासकारों ने अपने इतिहास ग्रन्थों के निर्माण हेतु बहुत कुछ लिया है। और आगे भी मध्यकालीन राजपूत इतिहास का लेखक इनकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा। कानूनगो ने बहुत दुःख प्रकट किया है कि मथुरालाल शर्मा के अलावा किसी भी राजस्थानी इतिहासकार ने इस ग्रन्थ का अब तक उचित मूल्य नहीं समझा। राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ वंशभास्कर का महत्व सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास जानने के रूप में भी है। इसमें मध्यकाल की परिधि में आने वाले छात्र जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है। इस क्रम में अकेले हाड़ा वंश के लगभग दो सौ नरेशों का चित्रण वंशभास्कर में हुआ है।

धार्मिक विश्वास, सामाजिक रीति-रिवाज, मनोरंजन के साधनों, उत्सव व त्योहारों का भी विस्तृत वर्णन इसमें है। मध्यकाल की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि मध्यकाल में मूर्ति भंजकों के डर से मूर्तियां भंडारों में रखी जाती थीं। अकबर के समय में भी मूर्तियों का तोड़ा जाना जारी था। औरंगजेब के काल में मूर्ति और मन्दिर विध्वंस बहुत बढ़ गया था। इस समय हजारों की संख्या में हिन्दुओं ने धर्म परिवर्तन कर लिया था। तत्कालीन सैन्य सज्जा, अभियान नीति आदि की विस्तृत सामग्री इस ग्रन्थ में है। यों ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ अनुपम है।

वंशभास्कर की मूल कृति सूर्यमल्ल के दत्तक पुत्र मुरारीदान के पास सुरक्षित थी किन्तु अब वह अप्राप्य है। कृष्णसिंह बारहठ द्वारा रचित वंशभास्कर की टीका मूल सहित कोटा स्थित उनके पुस्तकालय में सुरक्षित है। सम्पूर्ण वंशभास्कर की कृति और कहीं देखने में नहीं आई है। उसके अंश 'उम्मेदसिंह चरित्र' और 'बुद्ध चरित्र' की प्रतियां राजस्थानी काव्य रसिकों के पास मिल जाती है। यह बूंदी से प्रकाशित हो चुकी है। इनकी कुछ हस्तलिखित प्रतियां राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में सुरक्षित हैं। इस पर विस्तृत टीका रामकृष्ण आसोपा ने की जिसको प्रताप प्रेस जोधपुर ने चार बड़े खण्डों में प्रकाशित किया और इसी टीका के रूप में आज वंशभास्कर जीवित है।

आलोचना :—सूर्यमल्ल मिश्रण को जहां से भी सामग्री मिली, उसने बिना ऐतिहासिक परख किये ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। इस बात को लक्ष्य करते हुए ओझा ने कहा है कि मिश्रण ने इतिहास लिखने में विशेष खोज की हो ऐसा नहीं पाया जाता है। मध्य युग में इतिहास लिखने की दो परम्परायें समानान्तर रेखाओं की तरह चल पड़ी थी—एक तो अबुल-फजल, फरिश्ता, मनुची की परम्परा को लेकर पनप रही थी। इसी के समानान्तर चलने वाली दूसरी परम्परा राजस्थान में राजाश्रित लेखकों, इतिहासकारों और विचारकों ने तैयार की थी। राजप्रशस्ति, अमरकाव्य आदि ग्रंथ इसी प्रवृत्ति को लेकर लिखे गये थे। कुछ एक का मानना है कि मिश्रण ने दूसरी भाट परम्परा को अपना आधार बनाया था। 19 वीं शताब्दी में इतिहास को लिखते समय अतुल साहित्य सामग्री लेखक के सामने आती रही है। इतिहासवेत्ता का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह समस्त सामग्री को पढ़कर ही इतिहास लिखने की बात करे। उसे ऐति-

हासिक सामग्री का मूल्यांकन करना चाहिए। सूर्यमल्ल मिश्रण ने इस प्रकार का कोई प्रयास नही किया। उसने केवल वंशो का इतिहास लिखा है और उसे व्यापकता देने में असफल रहा है। ओझा का मानना है कि कवि का लक्ष्य केवल कविता की ओर ही रहा है न कि प्राचीन इतिहास की शुद्धि की ओर। यद्यपि वंशभास्कर का लक्ष्य कविता करना रहा किन्तु इतिहासकार के उत्तरदायित्व की उसने अवहेलना नहीं की है। जहां तक इतिहास की शुद्धि का प्रश्न है उसने जो ऐतिहासिक सामग्री दी है उससे अधिक की आशा उससे हम कर भी नही सकते हैं क्योंकि उस युग मे इतिहास के साधन आज की तरह प्रचुर मात्रा मे नहीं थे और न उस दिशा मे विशेष खोज हो हो पाई थी। उसने उपलब्ध सामग्री के अध्ययन के आधार पर ही मत निर्धारित करने का प्रयास किया है। मिश्रण ने स्पष्ट लिखा है कि प्राप्त सामग्री मे एक ही तथ्य के बीसों रूपान्तर मिलते है और अन्य साधन उपलब्ध न होने के कारण उन्ही को समावेश कर लिया है। अत. पाठकों को नीर, क्षीर, विवेक से जो उसमे सार है उसे ही ग्रहण करना चाहिये। यो यह कहा जा सकता है कि यह सूर्यमल्ल की कमी न होकर उसके युग की इतिहास लेखन प्रक्रिया की कमी है।

दशरथ शर्मा के शब्दो में, "वंशभास्कर न शुद्ध इतिहास है और न केवल काव्य या नीति का ही ग्रंथ। जहां तक कवि को ज्ञात था कवि ने घटनाओं को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया है; यद्यपि तत्कालीन वर्णन-परिपाटी मे कुछ अतिशयोक्ति की पुट प्रायः रही है। किन्तु यह अतिशयोक्ति भयवश या प्रतिग्रहार्थ नही दी गई है। सभी घटनाओं को क्रमवार जमा लिया जाय तो सातवी और आठवी रश्मियों में शोधार्थी विशुद्ध इतिहास का भी संग्रह कर सकता है। तर्क की अग्नि में प्रक्षिप्त करने मे उसका जो शुद्ध स्वरूप हो उसे शोधार्थी, जो रसमय हो उसे कवि, जो उचितानुचित का उपदेशक हो उसे धर्म जिज्ञासु और जो सर्वत्र स्वतन्त्र हो वह समस्त वंशभास्कर का अनुशीलन करे। सूर्यमल्ल का वैदुष्य एकांगी न था, और न एकांगी विद्वानों के लिए यह ग्रंथ लिखा गया है।"

वंशभास्कर की भाषा के सम्बन्ध मे भी विद्वान एकमत नही हैं। अधिकांश की यह मान्यता है कि इसकी भाषा बड़ी ही कठिन है। मोतीलाल मेनारिया के शब्दो में, "इनकी (सूर्यमल्ल मिश्रण) भाषा बहुत कठिन है.... एक साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति के लिए इनके ग्रंथो को समझना तो दूर रहा उनको हाथ में लेने का साहस ही कम होता है।" मिश्र बंधु इसकी भाषा को राजपूतानी मिश्रित ब्रज भाषा कहते है।

साराश मे हम यह कह सकते है कि सूर्यमल्ल मे इतिहास-बुद्धि का अभाव हो परन्तु उसने इस बात के प्रति बराबर सतर्कता बरती है कि उसकी रचना मे असत्य और अकथ्य का मेल न हो और इसी आधार पर यदि हम उसे पुराने खेमे का इतिहासकार कहते हुए वंशभास्कर को ऐतिहासिक ग्रंथ कहे तो अनुचित न होगा। आलमशाह खान के अनुसार, "वशभास्कर राजस्थान का अत्यन्त ही मान्य एवं यशस्वी ग्रंथ है। हिन्दी के रीति कालीन कवि जब अपनी कला साधना और शृंगार आराधना मे व्यस्त थे तभी वशभास्कर का उदय हुआ। उससे जो रश्मियाँ विकीर्ण हुई, उनसे जहाँ एक ओर रण-धवल राजस्थान का अतीत आलोकित हुआ वही उसका बांका वीरत्व और पराक्रमी शौर्य प्रदीप्त वाणी में मुखरित हो उठा, जो राजस्थानी जन मानस को दूर तक प्रभावित करने मे समर्थ हुआ। युवा मरु-वीरो ने उसमे रक्त का रंग देखा तो रमणियों ने जौहर की ज्वाला के दर्शन किये। वृद्ध-जनो ने मूंछो पर हाथ धरे और बाल-वृन्द केसरिया रंग का जादू समझने लगा। राजाओ ने उनके परायण से राजत्व समझा, पंडित-शास्त्रियों ने नीति और शास्त्र गुना, कलावंतों ने कलाएँ जानी, कवि-आचार्य साहित्य की परख मे समर्थ बने और राजस्थान के इतिहास प्रणेताओ ने तो उसे आधार मानकर चलने मे ही सिद्धि देखी।"

ख्यातें :—सभी महत्वपूर्ण सामग्री जिनसे इतिहास जाना जा सकता है उसमे ख्यातें अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ख्याति मे प्रायः प्रसिद्ध राजपूत राजवंशों की स्थापना, राजाओ का वंशक्रम, राज्यक्रम आदि का वर्णन होता है। ख्यात को पीढियावली व वंशावली का विकसित रूप कह सकते है। कही कही ख्यातकारों ने अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा कर दी है। ख्यातें इतिहास परक, वारता परक, व्यक्ति परक व स्फुट प्रकार की हो सकती है। मुख्यतः अकबर के समय की लिखी ख्यातें मिलती है। अकबर के शासनकाल मे जब अबुलफजल के 'अकबरनामा' के लिए सामग्री एकत्रित की गई उस समय विभिन्न राजपूत राजाओ को अपने अपने राज्यों और पूर्वजो का ऐतिहासिक विवरण भेजने का आदेश मुगल बादशाह की ओर से दिया गया। अतः उस समय लगभग हर एक राज्य मे ख्यातें लिखी गई। अकबर के पूर्व का इतिहास ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थों, सिक्को, शिलालेखों, विदेशी भाषाओ के कुछ ग्रंथों के आधार पर लिखा गया था। परन्तु अकबर के बाद इन राज्यों ने अपना-अपना इतिहास ख्यातो के रूप मे लिखवाया जिसमे इतिहास की बहुतसी कठिनाइयाँ हल हो जाती है।

इस समय वंशावलियों की भी रचना की गई और ऐतिहासिक बातें भी लिखी गई। भूतपूर्व राज्यों में कम-से-कम एक ख्यात तो अवश्य मिल जाती है। अधिकांश ख्यातें 16 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लिखी गई थीं परन्तु इनमें 15 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से ही ऐतिहासिक वर्णन है। कुछ ख्यातें जो मूल रूप में मिलती हैं उनमें नैणसी की ख्यात विशेष उल्लेखनीय है। अधिकतर ख्यातें मूल रूप मे नहीं मिलती हैं, उन्हें दुबारा सुधारा गया व उनमें अनेक प्रसंग जोड़ कर बाद के काल का इतिहास भी लिख दिया गया है। ये ख्यातें अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन से ओतप्रोत हैं। इनमे अपने अपने राज्य का महत्व बतलाने की पूर्ण चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। ऐसी ख्यातें ओझा के अनुसार जोधपुर राज्य में विस्तृत रूप से मिलती हैं।

नैणसी की ख्यात—राजस्थान में सबसे प्राचीन 275 वर्ष पुरानी और विश्वसनीय ख्यात नैणसी द्वारा लिखी हुई मानी जाती है। मुहणोत नैणसी का जन्म शुक्रवार, नवम्बर 9, 1610 ई. को जोधपुर के ओसवाल परिवार मे हुआ था। नैणसी के पिता का नाम जयमल और माता का नाम स्वरूप देवी था। जयमल जोधपुर का दीवान था। स्वयं नैणसी ने महाराजा गजसिंह के समय में राजकीय सेवा में प्रवेश किया और वह कोई बीस वर्ष तक विभिन्न परगनों का हाकिम रहा था। नैणसी कलम और तलवार दोनो का ही धनी था। राजकाज में वह अपने पिता जयमल के समान ही योग्य, एक कुशल कार्य-कर्त्ता, प्रबंधक और वीर पुरुष था। उसके कार्य निश्चित ही विलक्षण एवं परिणाम-सूचक होते थे।[6] अपने अधीन परगनों में उसने शांति और सुव्यवस्था बनाये रखी थी। महाराजा जसवन्तसिंह उसके कार्यों से बहुत प्रभावित हुआ था। अतः मई 18, 1658 ई. के दिन उसने नैणसी को जोधपुर राज्य का देश-दीवान के पद पर नियुक्त किया। परन्तु, फिर भी नैणसी के अन्तिम दिन अच्छे नहीं बीते। महाराजा जसवन्तसिंह उससे किन्हीं कारणों से रुष्ट हो गया था। फलतः नैणसी अपने भाई सुन्दरदास के साथ बन्दी बना लिया गया। महाराजा की अप्रसन्नता का ठीक कारण ज्ञात नहीं है। जनश्रुति के अनुसार नैणसी ने अपने रिश्तेदारों को बड़े-बड़े पदों पर नियुक्त कर दिया था और वे लोग अपने स्वार्थ के लिये प्रजा पर अत्याचार किया करते थे। इसी से महाराजा उससे अप्रसन्न हो रहा था। महाराजा ने एक लाख रुपया दण्ड स्वरूप लगा कर दोनों भाइयों को छोड़ दिया परन्तु उन्होंने एक पैसा तक देना स्वीकार नहीं किया। ओझा के अनुसार दोनों ने

6 वही, भा. 39-40, पृ. 101

प्रकृति के पुरुष होने के कारण इन्होंने महाराजा के छोटे आदमियों की सख्तियां सहन करने की अपेक्षा वीरता से मरना उचित समझा और इन्होंने फूलमरी गाँव में बुधवार, अगस्त 3, 1670 ई. को अपने पेट में कटार मार कर शरीरांत कर दिया। सौभाग्यसिंह शेखावत की मान्यता है कि नैणसी और सुन्दरदास के बढ़ते हुए प्रभाव से रुष्ट होकर कायस्थों और ब्राह्मणों ने उन दोनो ही भाइयो की शिकायतें महाराजा जसवंतसिंह को की। फलतः महाराजा जसवंतसिंह ने 1666 ई. में नैणसी और सुन्दरदास को औरंगाबाद बुलवा कर एक लाख रुपये का जुर्माना किया और जुर्माना अदा न करने पर बंदी बना कर औरंगाबाद से जोधपुर भेजते समय मार्ग में (भादवा वदी 13, वि. स. 1727) उन दोनो भाइयों को मरवा डाला।

नैणसी के ग्रन्थ—मुहणोत नैणसी जैसा वीर प्रकृति का पुरुष था वैसा ही विद्यानुरागी, इतिहास-प्रेमी और वीर कथाओं पर अनुराग रखने वाला नीति-निपुण पुरुष था। नैणसी की एक कृति 'मारवाड़ रा परगना री विगत' है तथा उसका मुख्य ऐतिहासिक ग्रन्थ 'नैणसी री ख्यात' है। इसमें राजस्थान के विभिन्न राज्यों के अतिरिक्त गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, बघेलखंड, बुन्देलखंड और मध्यभारत के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है।

ख्यात की सामग्री—नैणसी की इतिहास में बड़ी रुचि होने के कारण अपनी ख्यात का संग्रह कई प्रकार की सामग्री से किया। भाटी के अनुसार, "उसने इस प्रकार की बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करने की ओर ध्यान दिया और जोधपुर के दीवान पद पर नियुक्त होने पर तो उसके पास साधन-सुविधाएँ भी उपलब्ध हो गई थी, जिनका उपयोग कर उसने अनेक स्रोतों से सामग्री संकलित करवाई जिसमे मौखिक साधन भी एक था। उसने अपनी प्रसिद्ध ख्यात का निर्माण भी इसी सामग्री से किया। उसकी ख्यात में न केवल राजस्थान के राजवंशों का इतिहास संकलित है अपितु अनेक पड़ौसी राज्यो और राजवंशो संबंधी बहुमूल्य सामग्री को भी उसमे स्थान दिया गया है।" ओझा का कहना है कि नैणसी का इतिहास देखने से विदित होता है कि वह जगह-जगह के चारणों, भाटों आदि से भिन्न-भिन्न वंशों या राज्यो का इतिहास मंगवाकर संग्रह करता था। कहीं भी जाता तो वहाँ के कानूनगो से पुराना हाल मालूम कर के लिख लेता था। इसी तरह से वह अपने रिश्तेदारों से भी संग्रह कराया करता था। नैणसी ने भाटों की पुस्तकों से भी अनेक वंशावलियों की नकल की है परंतु वह एक वंश की एक ही वंशावली से संतुष्ट न होकर जितनी तरह की वंशावलियां या वृत्तान्त मिले, न सबका संग्रह कराया था। उसने प्राचीन ग्रन्थो का अध्ययन कर तत्स-

म्बन्धी विवरण दिया है। उसने जैसलमेर के भाटियों की उत्पत्ति का विवरण हरिवंश पुराण और यादवों के वंश का विवरण श्रीमद्भागवत के आधार पर दिया है। उसने अनेकों उपयोगी काव्य-ग्रन्थों, विभिन्न शासकों से संबंधित गीत, दोहे, छन्द व कवित्त आदि काव्य का भी संग्रह कर उन्हें संबंधित शासकों के विवरण शासकीय दस्तावेजों के आधार पर ही लिखा होगा।[7] निःसंदेह "नैणसी स्वयं कवि था और देश-दीवान होने के नाते उसे मारवाड़ के चारण कवियों के सम्पर्क मे आने की सुविधा थी। इसलिए अनेक चारणों से सुन-सुन कर न केवल उन बातों का उपयोग उसने अपनी ख्यात मे किया परन्तु उन बातों के प्रमाण स्वरूप प्राचीन काव्य का संकलन भी उसने किया।"[8]

ख्यात की उपयोगिता—नैणसी की ख्यात मुख्यत: राजस्थान और सामान्यरूप से उपरोक्त लिखित अन्य राज्यो के इतिहास का एक बड़ा संग्रह है। ख्यात मे विभिन्न राजपूत जातियों व इनकी भिन्न-भिन्न शाखाओं के साथ-साथ नदियों पहाड़ों और अनेक शहरों का विस्तृत वर्णन है। इतना ही नही इस ग्रन्थ मे अनेक लड़ाइयों, महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो, योद्धाओं, तिथियों और संवत आदि का वर्णन विस्तृत रूप से मिलता है। इसमें उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ के गुहिलोत या सिसोदिया, हाड़ा, देवडा, कांपलिया आदि चौहानों के साथ-साथ जैसलमेर के भाटियों, जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ़ के राठोड़ों तथा बुंदेलों, बघेलो आदि का इतिहास मिलता है। इस ख्यात में चौहानों, राठोड़ो, कछवाहों और भाटियों का इतिहास तो इतने विस्तार के साथ दिया गया है कि अन्यत्र कही मिलना सर्वथा असंभव है। ओझा का यह कहना अनुचित न होगा कि नैणसी जैसे वीर प्रकृति के पुरुष ने अनेक वीर पुरुषों के स्मारक अपनी पुस्तक मे सुरक्षित किये हैं। विक्रम सवत् 1300 के बाद से नैणसी के सम्य तक के राजपूतों के इतिहास के लिये तो मुसलमानों की लिखी हुई फारसी तवारीखों से भी नैणसी की ख्यात कहीं अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। राजस्थान के इतिहास में कई जगह जहां प्राचीन शोध से प्राप्त सामग्री इतिहास की पूर्ति नहीं कर सकती, वहां नैणसी की ख्यात ही कुछ सहारा देती है। यह इतिहास का एक अपूर्व संग्रह है। ओझा का कहना है कि अगर कर्नल टॉड को यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाता

---

7 मनोहरसिंह राणावत, इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ, पृ. 83-87

8 परम्परा, भा. 39-40, पृ. 85

तो उसके ग्रन्थ में जो अनेक अशुद्धियां आ गई थी वह नहीं रह पाती। आज भी नैणसी की ख्यात देखे बिना कोई राजस्थान का इतिहास लिखने का प्रयास करे तो उसका ग्रन्थ कभी सफल नहीं हो सकता। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि दीवान होने के कारण उसको साधन संग्रह करने में काफी सरलता हुई। इस साधन संग्रह का प्रयोग आलोचनात्मक ढंग से किया और इसीलिए कानूनगो ने नैणसी की प्रत्येक बात को इतिहास के रूप में मान्यता दी है। दीवान के पद पर होते हुए भी यह ग्रन्थ राजकीय संरक्षण मे लिखा हुआ नही माना जा सकता है क्योकि ग्रन्थ में लेखक की स्वतन्त्रता व निर्भीकता का परिचय देखने को मिलता है। उसने बिना किसी भय और हिचकिचाहट के अपने वंश, स्वामी व जाति की कमजोरियों का वर्णन किया है।

उसका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ जिसको 'राजस्थान का गजेटियर' कह सकते हैं, लिखा। इसमे पर्याप्त ऐतिहासिक वर्णन मिलता है। कानूनगो का मत है कि इस गजेटियर मे जो वर्णन मिलता है वह ब्रिटिश काल के गजेटियर में भी नहीं मिलता है। परमात्मा शरण ने तो इसे कई रूपो मे 'आईने अकबरी' व 'मिराते अहमदी' से भी बढ़कर माना है। भाटी के अनुसार "यह ग्रन्थ नैणसी की ख्यात से अधिक व्यवस्थित है और उन लोगो के लिये एक चुनौती है जो यह विश्वास करते हैं कि भारतीय लेखकों में वैज्ञानिक इतिहास-लेखन की दृष्टि का अभाव रहा है।" इस ग्रन्थ में विशेषतः जोधपुर राज्य के परगनों का निरीक्षण किया गया है और ऐसा माना जाता है कि इस गजेटियर को लिखने की उसकी विशेष योजना थी। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य जोधपुर राज्य का विस्तृत इतिहास, परगनों की स्थापना, जोधपुर राज्य में मिलने की तिथि, परगनों की स्थिति, महत्वपूर्ण गांवो का वर्णन करने का था। परन्तु अपने इस कार्य को वह समाप्त नही कर सका और यह सारा कार्य अधूरा ही रह गया। ये दोनों ही ग्रन्थ जो मूल रूप से पाये गये हैं, मारवाडी भाषा मे लिखे गये हैं जिसका काशी नागरी प्रचारिणी सभा व राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान ने संपादन कर, प्रकाशित कराया है। नैणसी की ख्यात का महत्व केवल राजनैतिक ही नही अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक दशा को जानने के लिये भी है। इस ग्रन्थ में तत्कालीन सामाजिक जीवन पर विस्तारपूर्ण वर्णन मिलता है। उस समय के उत्सव, त्यौहार आदि का सुन्दर वर्णन किया है। राजनैतिक दशा के अन्तर्गत राजदरबार, प्रशासनिक पदाधिकारियों के नाम, पदों का वर्णन और मुख्यतः ... व्यवस्था का वर्णन इसमें है।

इस ग्रन्थ की महत्ता को स्वीकार करते हुए स्व. मुंशी देवीप्रसाद ने नैणसी को राजस्थान का अबुलफजल कहा है। ख्यात की भाषा 275 वर्ष पूर्व की मारवाड़ी है जिसका इस समय ठीक-ठीक समझना भी सुलभ नहीं है।

आलोचना—नैणसी की ख्यात को समझने की सबसे बड़ी कठिनाई इसकी भाषा है। अनेक प्राचीन गीत एवं दोहों का समावेश किया गया है जिनका अर्थ निकालना आसान नहीं है। कानूनगो का कहना है कि आधुनिक इतिहासकारों को नैणसी की ख्यात बहुत सम्भव है अधिक रुचिकर न लगे क्योंकि इसकी लेखन प्रणाली मे वह परिपक्वता व शुद्धता नजर नहीं आती जिसको ढूंढने का प्रयास आधुनिक इतिहासकार करता है। किन्तु जिस युग में यह लिखी गई वह पराक्रम व शौर्य का युग था। अत: उसमे वास्तविकता, स्पष्टता पर अधिक ध्यान दिया गया है। फिर भी दोनों ही स्थानों के सम्पादन से इस कठिनाई का हल निकालना सम्भव हो सका है।

वि. सं. 1500 के पूर्व की वंशावलियां बहुधा भाटों आदि की ख्यातों से उद्धृत की गई हैं, इसलिये उनमे दिये हुए नामों आदि में से थोड़े ही शुद्ध हैं। रघुवीरसिंह के शब्दों में, "उसकी ख्यात में संग्रहीत विभिन्न राज्यों अथवा राजघरानों के विवरणों के अधिकतर प्रारम्भिक अंश मुख्यतया बड़वा-भाटों की पोथियों अथवा परम्परागत अनुश्रुतियों पर आधारित होने के कारण प्रामाणिक या विश्वसनीय नहीं हैं। वंशावलियों के प्रारंभिक अंश जहां पूर्णतया कपोलकल्पित हैं वहां बाद के भागों मे भी यत्र-तत्र भूलें पाई जाती हैं।" उसने एक ही विषय के सम्बन्ध की जितनी भिन्न-भिन्न बातें मिल सकीं वे सब दर्ज की हैं जिनमें कुछ ठीक हैं तो कुछ नहीं। कहीं-कहीं संवतों में भी अशुद्धियां हो गई हैं।

नैणसी की ख्यात जिस क्रम से इस समय उपलब्ध है, उससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि नैणसी ने प्रारम्भ से किसी क्रम से नहीं, किन्तु ज्यों-ज्यों जो कुछ भी वृत्तांत मिलता गया वह एक पुस्तक रूप में संग्रहीत करता गया हो। मुंशी देवीप्रसाद ने नैणसी को राजस्थान का अबुलफजल कहा है। यद्यपि नैणसी अबुलफजल की तरह विद्वान नहीं था और न उसके पास उतना समय ही था तथापि उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण अबुलफजल की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक और प्रभावशाली था। अबुलफजल ने अपने ग्रन्थ मे साधनों का कहीं नाम नहीं लिखा है जबकि नैणसी ने महत्वपूर्ण स्रोतों के नाम लिखे हैं। नैणसी ने राजकीय संरक्षण से दूर रह कर अपने ग्रन्थ की रचना की और इसीलिए वह अपने स्वामी के गुण-दोषों का स्पष्ट रूप से वर्ण-

सका है जबकि अबुलफजल ने दरबारी इतिहासकार होने के कारण प्रशंसात्मक अधिक लिखा है।

कुछ भी हो नैणसी की ख्यात कुछ त्रुटियों के उपरान्त भी राजस्थान का इतिहास जानने के लिये एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

जोधपुर राज्य की ख्यात—यह ख्यात महाराजा मानसिंह के समय में लिखी गई थी। इसमें प्रारम्भ से लेकर मानसिंह की मृत्यु तक का हाल है। यह विशाल ग्रन्थ चार जिल्दो में समाप्त हुआ है। इसकी प्रतिलिपि श्री नटनागर शोध सस्थान, सीतामऊ के अधीन श्री रघुवीर लायब्रेरी मे सग्रहीत है। यह स्व. गौरीशंकर हीराचंद ओझा की प्रति की नकल है। ओझा ने इस ख्यात के बारे मे लिखा है, "लेखक ने विशेष छानबीन न करके जनश्रुति के आधार पर बहुतसी बातें लिख डाली हैं, जो निराधार होने के कारण काल्पनिक ही ठहरती है, साथ ही राजा के आश्रय में लिखी जाने के कारण इसमे दिये हुए बहुत से वर्णन पक्षपातपूर्ण एवं एकांगी हैं।" फलस्वरूप उनमें कई घटनाओं पर वास्तविक प्रकाश नही पडता है, फिर भी जोधपुर राज्य का विस्तृत इतिहास इसी ख्यात से जाना जा सकता है।

दयालदास की ख्यात—यह ख्यात जोधपुर का प्रारम्भिक इतिहास जानने के लिए अत्यधिक उपयोगी है। बीकानेर राज्य की सबसे पहले क्रमवार सिढायत महाराजा रतनसिंह के आदेश से दयालदास ने लिखी थी जिसमे राव बीका से लेकर महाराजा सरदारसिंह के राज्यारोहण तक का सविस्तार इतिहास दिया गया है।

दयालदास बडा ही योग्य व विद्वान व्यक्ति था। उसे इतिहास से बड़ा प्रेम था। उसने बडे परिश्रम से पट्टे, बहियो, वंशावलियो, शाही फरमानो और राजकीय पत्र-व्यवहारों आदि के आधार पर अपनी ख्यात की रचना की। इसमें बीकानेर की दृष्टि से उपयोगी सामग्री का समावेश मिलता है। इसके अलावा बांकीदास की ऐतिहासिक बात नामक ग्रन्थ में भी बीकानेर राज्य का इतिहास मिलता है परन्तु यह ग्रन्थ भी पूर्ण विश्वसनीय नही माना जा सकता है क्योंकि लेखक ने अपने आश्रयदाता का अत्यधिक प्रशंसात्मक वर्णन किया है।

मुण्डियार ठिकाने की ख्यात—मुण्डियार ठिकाना नागोर से दस मील दक्षिण में है। यह गांव राठौड़ शासकों द्वारा चारणों को दिया हुआ था। इसे 'राठोडो की ख्यात' भी कहा जाता है। इस ख्यात की नकल जोधपुर दस्तरी ऑफिस में थी। इसकी एक प्रति श्री नटनागर शोध सस्थान, सीतामऊ मे भी सुरक्षित है। इसके रचयिता एवं रचना काल के बारे में अब तक कोई

निश्चित जानकारी नहीं मिली है किन्तु मारवाड़ में राठौड़ राज्य की स्थापना से लेकर महाराजा जसवन्तसिंह प्रथम की मृत्यु तक का हाल इस ख्यात में है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस की रचना जसवतसिंह के काल मे हुई थी। मारवाड़ के प्रत्येक राजा के जन्म, राज्याभिषेक तथा मृत्यु की तारीखें इसमें मिलती है। मुगलो और मारवाड़ के राजाओं के बीच जो वैवाहिक सबंध हुए, उनका वर्णन भी इसमे है। वी. एस. भार्गव के मतानुसार इस ख्यात का महत्व नैणसी की ख्यात से कम नही।

कविराजा की ख्यात—आज से कोई 90 वर्ष पूर्व जोधपुर शहर की एक दीवार खोदने के बाद कविराजा को ख्यात की प्रति उपलब्ध हुई। इसमें महाराजा जसवंतसिंह प्रथम के शासन-काल तक का ऐतिहासिक वर्णन है। इसकी प्रतिलिपि श्री नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ मे उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त आमेर, मेवाड़ आदि राज्य के इतिहास के संदर्भ को लेकर ख्यातें मिलती हैं। इन ख्यातों को राजकीय संरक्षण मिला है, इसलिए वे अधिक विश्वसनीय नहीं कही जा सकती। यद्यपि ख्यातों मे दोष-बाहुल्य है तथापि उनकी उपयोगिता से नकारा नही जा सकता। ख्यात-लेखक को 'इतिहासकार' नही कहा जा सकता किन्तु उन्होने तत्कालीन सामग्री का जो सकलन किया, वह ऐतिहासिक दृष्टि से अद्यतन उपयोगी है।

फारसी ग्रन्थ—भारतवर्ष में मुस्लिम राज्य स्थापित होने के साथ ही इतिहास लेखन प्रक्रिया मे भी नवीनता आई और मुस्लिम शासको के दरबार में रह रहे इतिहास लेखको ने फारसी में तवारीखें लिखी। यह प्रक्रिया मुगल-काल में और भी बढती हुई नजर आती है। कुछ बादशाहो द्वारा लिखी आत्मकथाओं में तथा कुछ की जीवनियों में भी राजस्थान-इतिहास से संबंधित सामग्री मिलती है। हसन निजामी कृत 'ताज-उल-मआसिर' में मुस्लिम विजय, पृथ्वीराज चौहान के अंतिम दिनों का वर्णन है। नागोर, जालोर व अजमेर आदि स्थानों पर मुस्लिम प्रभाव के वर्णन हेतु मिनहाज-उस-सिराज कृत "तबकात-एं- नासिरी" विशेष महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। अलाउद्दीन खल्जी की चित्तौड़ व रणथंभोर विजय के लिए हजरत अमीर खुसरो को 'तारीख-ए-अलाई', 'देवलरानी', 'खजायनुलफुतूह' ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है। चित्तौड़-अभियान के समय अमीर खुसरो स्वय सुल्तान के साथ थे। 'खजायनुल फुतूह' मे सुल्तान को विजयो के साथ-साथ उसके आर्थिक-सुधारो एव बाजार नियंत्रण का बड़ा अच्छा वर्णन है। जियाउद्दीन बरनी की 'तारीख-ए-फीरोजशाही' एवं अफीफ की 'तारीख-ए-मुबारकशाही' में खल्जी एवं तुगलक वंश के शासकों के साथ-साथ राजस्थान-इतिहास से संबंधित महत्वपूर्ण

सामग्री भी इनमें मिलती है। लोदी वंश के उत्तरार्द्ध में रिजकुल्ला मुश्ताकी रचित 'वाकियात-ए-मुश्ताकी' से हमें उस समय की सरायों, मस्जिदों, कुओं आदि के बारे मे जानकारी मिलती है। साथ ही आगरा से अजमेर-चित्तौड़, जोधपुर व बयाना के मार्गों की जानकारी भी मिलती है।

इसी तरह से बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' जो मूलतः तुर्की भाषा में लिखी गई थी तथा बाद में फारसी भाषा में अनुवाद किया गया था, राजस्थान के इतिहास के लिये सामग्री देता है। बाबर ने राजस्थान के उत्तर-पूर्वी भाग की जलवायु, रेगिस्तान, सिंचाई के साधन, वर्षा आदि का मनोहारी जिक्र किया है। इस ग्रन्थ मे बाबर-सांगा संबंधों के बारे में भी जानकारी मिलती है। 'तुजुक-ए-जहांगीरी' स्वयं बादशाह जहांगीर द्वारा लिखा गया आत्म चरित्र है। इससे भी राजस्थान-इतिहास के क्षेत्र में विशेषतः अजमेर के बारे मे तथा मुगल आक्रमणों, मेवाड़-मुगल सधि एवं इसके बाद के संबंधों, हिन्दू त्योहारो, राजपूत सुकुमारियो के मुगलों के साथ हुये वैवाहिक संबंधों आदि के बारे मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध होती है। हुमायूं की बहन गुल-बदन वेगम कृत 'हुमायूंनामा' से हुमायूं के मारवाड़ व मेवाड़ के साथ संबधो आदि के बारे मे पता लगता है। जौहर आफताबची विरचित 'तजकिरात-उल-वाकेयात' से भी यह जानकारी मिलती है कि मालदेव से मिलने के लिये हुमायूं किन रास्तों से होकर गया तथा मरु-देशीय दिक्कतों का भी वर्णन किया गया है। अब्बासखां सरवानी की 'तारीख-ए-शेरशाही' से शेरशाह-मालदेव संबंधों के अतर्गत विशेषतः सुमेल-युद्ध, शेरशाह-उदयसिंह आदि के बारे में ज्ञात होता है। नियामतुल्ला कृत 'मखजान-ए-अफगानी' से लोदीवंश कालीन उत्तर-पश्चिमी राजस्थान, सिकंदर लोदी के नागोर-अभियान के संदर्भ में जानकारी मिलती है। मुहम्मद कासिम हिन्दूशाह के 'तारीख-ए-फरिश्ता' से राणा कुंभा, रायमल के समय की घटनाओं, ईडर व मेवाड संबंध, अकबर-कालीन अजमेर में निर्मित इमारतों आदि के बारे में प्रचुर सामग्री मिलती है। अबुलफजल का 'अकबरनामा' व 'आईन-ए-अकबरी' से राजपूत राजकुमारियों के साथ किये गये विवाह, यहां की भौगोलिक स्थिति, मेवाड़ के साथ सम्बन्ध, राजस्थानी त्योहार, वेश-भूषा, शासन-व्यवस्था आदि के बारे में जानकारी मिलती है। इसी तरह से ख्वाजा निजामुद्दीन अहमद की 'तवकाते अकबरी', अब्दुलकादिर बदायूनी कृत 'मुन्तखब-उत-तवारीख', मोतमिदखां के 'इकबालनामा', लाहौरी विरचित 'पादशाहनामा', इनायतखां के 'शाहजहांनामा', मुहम्मद साकी मुस्तैदखां द्वारा लिखित 'मआसिर-ए-आलमगीरी', खाफीखां के 'मुन्तखब-उल-लुबाब', मुहम्मद काजिम का लिखा

'आलमगीरनामा', सुरजनराय खत्री के 'खुलासुत-उल-तवारीख', ईसरदास नागर कृत 'फुतूहाते आलमगीरी', भीमसेन बुरहानपुरी का 'नुस्का-ए-दिलखुश' आदि फारसी ग्रन्थों में राजस्थान संबंधी कई प्रसंग आये हैं। उनमें कई एक तो आँखों देखे हैं।

यों फारसी तवारीखें राजस्थान के इतिहास को जानने एवं समझने में बड़ी सहायक है। इनमे क्रमबद्ध वर्णन के साथ-साथ तिथियों का सही उल्लेख मिलता है। वी. एस. भार्गव के अनुसार, "मुगलो के दरबार में राजपूत राजाओं की स्थिति, उनकी नियुक्ति, पदोन्नति इत्यादि का उल्लेख इन साधनों में मिलता है।"

चित्रकला—चित्रकला एवं चित्रित ग्रन्थों मे भी बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। इनसे तत्कालीन चित्रकला को तो समझते ही है किन्तु चित्रो के आधार पर उस समय की वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यवसाय, तौर-तरीके, स्थापत्य आदि को सहज ही में समझा जा सकता है। महाराणा का निजी संग्रह उदयपुर, प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर, पुस्तक प्रकाश, जोधपुर, सरस्वती भण्डार, कोटा, पेलेस म्युजियम, जयपुर, नवलगढ़ कुँवर संग्रामसिंह, जयपुर, खजांची संग्रह, बीकानेर आदि मे ढेर सारे चित्र एवं चित्रित ग्रन्थ संग्रहीत हैं।

अन्य साधन—मध्यकालीन राजस्थान के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के संबंध में हमें जैन मुनियों द्वारा लिखे साहित्य से एवं विदेशी यात्रियो के वर्णन से भी पर्याप्त सामग्री मिलती है। जैन भण्डारों मे हस्तलिखित साहित्य प्रचुर मात्रा में है। अधिकांश जैन साहित्य संस्कृत व राजस्थानी भाषा में लिखा काव्य रूप में मिलता है। विदेशी यात्रियों में बर्नियर, मनुची, टेवर्नियर, पिटरमंडी आदि प्रमुख हैं। इन्होने यहाँ के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति के साथ-साथ रीति-रिवाजों, उत्सवो, त्योहारों आदि का वर्णन किया है। वैसे इन यात्रियों के वर्णन से हमें एक ओर आँखों देखी स्थिति का पता लगता है वही दूसरी ओर जिन्हें वे समझ नही सके उनका वर्णन बिल्कुल ही उल्टा देखने को मिलता है। ऐसी स्थिति में सतर्क एवं निष्पक्ष दृष्टि के साथ तत्कालीन राजस्थानी पृष्ठभूमि को मद्येनजर रखते हुए ही उस वर्णन का आकलन करना उचित एवं उपयोगी है।

अध्याय 2

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान

हर्षोत्तर काल मे भारतीय राजनीति के रंगमंच पर हमें पुन: विकेन्द्रीकरण की स्थिति नजर आती है, जिसमें कि अलग-अलग वशो के कई छोटे-छोटे राज्यो का निर्माण हुआ। राजस्थान भी इसमे अपवाद न था। यहाँ पर विभिन्न वंशो के नेतृत्व में कई राज्यों का अभ्युदय हुआ, जिनमे चौहान वंशीय शासको का अपना महत्व था।

चौहानों का अभ्युदय—चौहानों का अभ्युदय बड़ा विवादास्पद है। चारण, भाट एव ख्यातो के अनुसार अग्नि कुण्ड[1] से उत्पन्न चार कुलो में से एक चहमान जाति थी, जो चौहान राजपूत कहलाये। किन्तु यह मत स्वीकार्य नही है क्योंकि अग्नि से पुरुष की उत्पत्ति असंभव है। ऐसा प्रतीत होता है कि जब हमारे देश पर बाह्य आक्रमण बढ़ते जा रहे थे तब आबू पर्वत पर यज्ञ वेदो के समक्ष क्षत्रियो ने सुरक्षा का भार अपने ऊपर लेने की शपथ ली होगी जिसे बाद मे चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' मे क्षत्रियों की महत्ता प्रकट करने के लिए अग्निकुंड से उत्पत्ति के रूप में स्वीकार कर लिया। 'पृथ्वीराज विजय', 'हम्मीर महाकाव्य' और 'हम्मीर रासो' के अनुसार चौहान, चाहमान नाम के व्यक्ति के वंशज, सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। गोत्रोच्चार में इन्हें चन्द्रवशी बताया गया है। गौरीशकर हीराचंद ओझा ने भी इन्हें सूर्यवंशी क्षत्रिय ही माना है किन्तु गोपीनाथ शर्मा इससे सहमत नहीं हैं। स्मिथ व क्रुक ने कर्नल जेम्स टॉड की बात स्वीकार करते हुये चौहानों को विदेशी माना है। भंडारकर ने भी इन्हे विदेशी जातियो की संतान कहा है परन्तु दशरथ शर्मा ने मेवाड़ राज्य के बिजौलियाँ-लेख के आधार पर चौहानों को ब्राह्मण वंशीय संतान माना है जिसे गोपीनाथ शर्मा ने भी स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में चौहानों के अभ्युदय के बारे में किसी मत को निश्चित रूप से स्वीकार तो नही किया जा सकता है किन्तु इसमें कोई संदेह नही है कि चौहान भी राजपूतों की अन्य महत्वपूर्ण शाखाओं के अनुरूप ही थे।

---

1 कान्हडदे प्रबंध, प्रथम खंड, पृ. 2, दोहा सं. 7 में चौहानो को अग्निकुल का माना है।

चौहानों का अभ्युदय सर्व प्रथम कहां हुआ इस संदर्भ में इतिहासकार एक मत नहीं हैं। 'दी क्लासीकल एज' में चौहानों को मोरियवंश से सम्बन्धित चित्तौड़ का माना है। इसी तरह 756 ई. के एक शिलालेख के अनुसार इन्हें भड़ौंच का माना गया है किन्तु गोपीनाथ शर्मा का यह कहना है कि उस समय प्रतिहार भी वहीं के शासक थे, इस दृष्टि से यदि "छठी या सातवीं शताब्दी में भड़ौंच-प्रान्त मे चहमान थे तो वे प्रतिहारों के सामन्त थे।" कुछ ग्रन्थों एवं शिलालेखों में चौहानों का जांगलदेश (बीकानेर, जयपुर व उत्तरी मारवाड़ का भाग), सपादलक्ष[2] (सांभर) व अहिछत्रपुर[3] (नागोर) का बताया है। वि. सं. 1030 (973 ई.) के हर्ष-शिलालेख के अनुसार चौहानों का मूल स्थान अनंत प्रांत (सीकर का निकटवर्ती क्षेत्र) था। मंडोर के प्रतिहार शिलालेख वि. सं. 894 से भी यह विदित होता है कि चौहानों ने नागोर के पास स्थित मेड़ता को लेकर अपनी राजधानी बनाई।[4] गोपीनाथ शर्मा ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि चहमान जागलदेश के रहने वाले थे, सपादलक्ष उनके राज्य का प्रमुख भाग था और उनकी राजधानी अहिछत्रपुर थी।

प्रारम्भिक चौहान शासकों का उत्कर्ष—सपादलक्ष पर शासन करने वाले चौहान शासकों में वासुदेव पहला व्यक्ति था जिसने 551 ई. में वहां पर राज्य किया। बिजोलिया-लेख से यह ज्ञात होता है कि उसने सांभर झील का निर्माण कराया था। वह एक वीर एवं प्रतापी शासक था जिसने साम्राज्य-विस्तार की नीति को अपनाया, जो बाद के चौहान शासकों में भी नजर आती है। उसके उत्तराधिकारियों में सामन्त, नृप, जयराज, विग्रहराज प्रथम, चन्द्रराज, गोपेन्द्रराज, दुर्लभराज प्रथम, गोविन्दराज प्रथम, चन्दनराज द्वितीय, गोविन्दराज द्वितीय, वाक्पतिराज, विग्रहराज द्वितीय, दुर्लभराज द्वितीय आदि विशेष उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने साम्राज्य को बढ़ाने का प्रयास किया। चौहान-शासकों की इस वंश-परम्परा के अन्तर्गत दुर्लभराज

---

2 पृथ्वीराज विजय, (गौ. ही. ओझा व चन्द्रधर शर्मा गुलेरी द्वारा संपादित) सर्ग 4, 5

3 बिजोलिया-शिलालेख वि. सं. 1226 (1169 ई.); ओझा एवं हरबिलास शारदा ने अहिछत्रपुर को नागोर के पास बताया है किन्तु एच. सी. राय ने (डायनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नदर्न इंडिया, जि. 2, पृ. 1053-54) इसे उत्तर प्रदेश में बताया है।

4 आर. बी. सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 3

तृतीय के बाद उसका भाई विग्रहराज तृतीय जिसे बीसल भी कहते हैं, गद्दी पर बैठा और 1105 ई. में इसका पुत्र पृथ्वीराज प्रथम चौहान-शासन को बढ़ाने में लगा हुआ था। कहा जाता है कि पृथ्वीराज प्रथम ने रणथम्भोर के जैन मंदिर पर स्वर्ण-कलश चढ़ाया।[5] यों साम्राज्य-विस्तार की जिस नीति का अब तक परिपालन हो रहा था, उसे 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र अजयराज के समय में सुदृढ़ता प्राप्त हुई। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, "हम अजयराज के काल को चाहमानों के साम्राज्य-निर्माण का काल मानते हैं।" चौहान-शासकों में वह एक अच्छे विजेता के रूप में जाना जाता है। उसने कोई 1113 ई. में अजयमेरू (अजमेर) नगर की स्थापना की और सांभर के स्थान पर पहाड़ियों से घिरे इस सुरक्षित स्थान को अपनी राजधानी बनाया। वास्तव में वह एक शक्तिशाली शासक था। उसके समय में 'अजयप्रिय द्रम्म' नामक सिक्के थे।[6] 'उसने अधिकांशत. ताम्बे के सिक्के चलाये किन्तु कुछ सिक्के चाँदी के भी मिलते हैं जिन पर उसकी रानी सोमलदेवी का नाम अंकित है। 1133 ई. में अजयराज का पुत्र अर्णोराज एक शक्तिशाली शासक था। उसने अजमेर में अनासागर तालाब बनवाया। अर्णोराज का द्वितीय पुत्र बीसलदेव या विग्रहराज चतुर्थ 1158 ई. के लगभग गद्दी पर बैठा। वह एक कुशल सेनाध्यक्ष व विजेता के साथ-साथ विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके समय में पर्याप्त साहित्य-सृजन हुआ। सुयोग्य शासको की इस परम्परा में पृथ्वीराज द्वितीय व सोमेश्वर के नाम भी गिनाये जा सकते है जिनके काल मे साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ सहिष्णुता की नीति का पालन भी होता रहा। उनका साम्राज्य अजमेर व शाकम्भरी के अलावा पंजाब तथा मेवाड़ के जहाजपुर व चित्तौड़ के निकट फैला हुआ था।

इस प्रकार से पृथ्वीराज तृतीय के पूर्व तक चौहान-शक्ति काफी विस्तृत हो उत्तरी भारत एवं राजस्थान में फैल चुकी थी।

पृथ्वीराज चौहान तृतीय का जीवन—पृथ्वीराज के जन्म की तिथि के बारे में भी इतिहासकारों में मतभेद है। इसके पीछे सबसे बड़ा कारण यह है कि 'पृथ्वीराज विजय'[7] ने जन्म की तिथि ज्येष्ठ मास की द्वादशी तो दी

---

5 सी. वी. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मेडाइवल हिन्दू इण्डिया, जि. 3, पृ. 148

6 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 5, श्लोक 87-89

7 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 8, श्लोक 50

है किन्तु वर्ष नहीं दिया है। दशरथ शर्मा[8] ने वि. सं. 1123 स्वीकार किया है किन्तु आर. बी. सोमानी[9] इससे सहमत नही है। उसने 'पृथ्वीराज विजय' में दी गई पृथ्वीराज के जन्म के समय के नक्षत्रों की स्थिति एवं चूड़ाकर्म संस्कार के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि पृथ्वीराज का जन्म वि. सं. 1218 से 1224 के बीच निश्चित किया जा सकता है। पृथ्वीराज विजय[10] से यह ज्ञात होता है कि बाल-सुलभ सुरक्षा के सभी प्रयास पृथ्वीराज के लिये भी किये गये थे। उसकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध किया गया तथा उसे छः तरह की भाषा सिखाई गई थी। वह प्रति दिन व्यायाम किया करता था।[11] स्पष्ट है कि उसे भली भाँति शिक्षित एवं प्रशिक्षित किया गया था।

पृथ्वीराज अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद कोई नो-दस वर्ष की अल्पायु में सिंहासन पर बैठा। तब उसकी माता कर्पूरदेवी ने संरक्षिका के रूप मे शासन-भार संभाला। उसने योग्य एव विश्वसनीय अधिकारियो को नियुक्त कर शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने का प्रयास किया किन्तु पृथ्वीराज स्वयं बड़ा महत्वाकांक्षी था। अतः वह अधिक दिनों तक अपनी माता के नेतृत्व में नही रह सकता था। इसलिए कोई तीन वर्ष बाद ही अपने विश्वास के अधिकारियों की सहायता से शासन-कार्य स्वयं ने संभाल लिया। उधर पृथ्वीराज के सिंहासन पर बैठने के कोई एक वर्ष बाद ही 1178 ई. में गुजरात अभियान के समय मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज को नाबालिगी तथा राज्य-संरक्षिका के रूप में कर्पूरदेवी को निर्बल मानते हुये 'कर' देने के लिये आदेश भिजवाया किन्तु कर्पूरदेवी की योग्यता के कारण गोरी के आदेश की पालना नहीं की गई। अतः गोरी को गुजरात से असफल हो, पुनः गोर लौटना पड़ा, इसलिये 1191 ई. तक दोनों के बीच कोई विवाद नही हुआ। दोनों ही शासक अपने-अपने राज्य विस्तार की होडाहोड़ मे पहली बार करनाल जिले के तराइन के मैदान मे आमने-सामने युद्धार्थ मिले। राजस्थान के इतिहास में पृथ्वीराज का काल अंतिम हिन्दू सम्राट का काल कहा जा सकता है। उसके काल को हम इस भाँति समझ सकते हैं—

---

8 दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 80-81
9 आर. बी. सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 27-29
10 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 8, श्लोक 31-45, सर्ग 9, श्लोक 45-64
11 खतरगच्छ पट्टावली, पृ. 28-30

तृतीय के बाद उसका भाई विग्रहराज तृतीय जिसे वीसल भी कहते हैं, गद्दी पर बैठा और 1105 ई. मे इसका पुत्र पृथ्वीराज प्रथम चौहान-शासन को बढ़ाने में लगा हुआ था। कहा जाता है कि पृथ्वीराज प्रथम ने रणथम्भोर के जैन मंदिर पर स्वर्ण-कलश चढ़ाया।[5] यों साम्राज्य-विस्तार की जिस नीति का अब तक परिपालन हो रहा था, उसे 12वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे पृथ्वीराज प्रथम के पुत्र अजयराज के समय में सुदृढ़ता प्राप्त हुई। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, "हम अजयराज के काल को चाहमानों के साम्राज्य-निर्माण का काल मानते हैं।" चौहान-शासकों मे वह एक अच्छे विजेता के रूप मे जाना जाता है। उसने कोई 1113 ई. में अजयमेरु (अजमेर) नगर की स्थापना की और सांभर के स्थान पर पहाड़ियों से घिरे इस सुरक्षित स्थान को अपनी राजधानी बनाया। वास्तव में वह एक शक्तिशाली शासक था। उसके समय में 'अजयप्रिय द्रम्म' नामक सिक्के थे।[6] 'उसने अधिकांशतः ताम्बे के सिक्के चलाये किन्तु कुछ सिक्के चाँदी के भी मिलते हैं जिन पर उसकी रानी सोमलदेवी का नाम अंकित है। 1133 ई. मे अजयराज का पुत्र अर्णोराज एक शक्तिशाली शासक था। उसने अजमेर मे अनासागर तालाब बनवाया। अर्णोराज का द्वितीय पुत्र वीसलदेव या विग्रहराज चतुर्थ 1158 ई. के लगभग गद्दी पर बैठा। वह एक कुशल सेनाध्यक्ष व विजेता के साथ-साथ विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके समय मे पर्याप्त साहित्य-सृजन हुआ। सुयोग्य शासको की इस परम्परा में पृथ्वीराज द्वितीय व सोमेश्वर के नाम भी गिनाये जा सकते हैं जिनके काल मे साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ सहिष्णुता की नीति का पालन भी होता रहा। उनका साम्राज्य अजमेर व शाकम्भरी के अलावा पंजाब तथा मेवाड़ के जहाजपुर व चित्तौड़ के निकट फैला हुआ था।

इस प्रकार से पृथ्वीराज तृतीय के पूर्व तक चौहान-शक्ति काफी विस्तृत हो उत्तरी भारत एवं राजस्थान मे फैल चुकी थी।

पृथ्वीराज चौहान तृतीय का जीवन—पृथ्वीराज के जन्म की तिथि के बारे में भी इतिहासकारो मे मतभेद है। इसके पीछे सबसे बडा कारण यह है कि 'पृथ्वीराज विजय'[7] ने जन्म की तिथि ज्येष्ठ मास की द्वादशी तो दी

---

5 सी. वी. वैद्य, हिस्ट्री ऑफ मेडाइवल हिन्दू इण्डिया, जि. 3, पृ. 148

6 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 5, श्लोक 87-89

7 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 8, श्लोक 50

है किन्तु वर्ष नहीं दिया है। दशरथ शर्मा[8] ने वि. सं. 1123 स्वीकार किया है किन्तु आर. वी. सोमानी[9] इससे सहमत नहीं है। उसने 'पृथ्वीराज विजय' में दी गई पृथ्वीराज के जन्म के समय के नक्षत्रों की स्थिति एवं चूड़ाकर्म संस्कार के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि पृथ्वीराज का जन्म वि. सं. 1218 से 1224 के बीच निश्चित किया जा सकता है। पृथ्वीराज विजय[10] से यह ज्ञात होता है कि बाल-सुलभ सुरक्षा के सभी प्रयास पृथ्वीराज के लिये भी किये गये थे। उसकी शिक्षा का अच्छा प्रबंध किया गया तथा उसे छः तरह की भाषा सिखाई गई थी। वह प्रति दिन व्यायाम किया करता था।[11] स्पष्ट है कि उसे भली भाँति शिक्षित एवं प्रशिक्षित किया गया था।

पृथ्वीराज अपने पिता सोमेश्वर की मृत्यु के बाद कोई नौ-दस वर्ष की अल्पायु में सिंहासन पर बैठा। तब उसकी माता कर्पूरदेवी ने संरक्षिका के रूप में शासन-भार संभाला। उसने योग्य एवं विश्वसनीय अधिकारियों को नियुक्त कर शासन कार्य को सुचारु रूप से चलाने का प्रयास किया किन्तु पृथ्वीराज स्वयं बड़ा महत्वाकांक्षी था। अतः वह अधिक दिनों तक अपनी माता के नेतृत्व में नहीं रह सकता था। इसलिए कोई तीन वर्ष बाद ही अपने विश्वास के अधिकारियों की सहायता से शासन-कार्य स्वयं ने संभाल लिया। उधर पृथ्वीराज के सिंहासन पर बैठने के कोई एक वर्ष बाद ही 1178 ई. में गुजरात अभियान के समय मुहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज की नाबालिगी तथा राज्य-संरक्षिका के रूप में कर्पूरदेवी को निर्बल मानते हुये 'कर' देने के लिये आदेश भिजवाया किन्तु कर्पूरदेवी की योग्यता के कारण गौरी के आदेश की पालना नहीं की गई। अतः गौरी को गुजरात से असफल हो, पुनः गौर लौटना पड़ा, इसलिये 1191 ई. तक दोनों के बीच कोई विवाद नहीं हुआ। दोनों ही शासक अपने-अपने राज्य विस्तार की होड़ाहोड़ में पहली बार करनाल जिले के तराइन के मैदान में आमने-सामने युद्धार्थ मिले। राजस्थान के इतिहास में पृथ्वीराज का काल अंतिम हिन्दू सम्राट का काल कहा जा सकता है। उसके काल को हम इस भाँति समझ सकते हैं—

---

8 दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 80-81
9 आर. वी. सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ. [illegible]
10 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 8, श्लोक 31-45, सर्ग 9, श्लोक [illegible]
11 [illegible], पृ. 28-30

साम्राज्य-विस्तार

विद्रोही रिश्तेदारों का दमन—पृथ्वीराज चूंकि बड़ा महत्वाकांक्षी शासक था, अतः शासन भार अपने हाथों में लेने के बाद उसने अपने राज्य को निष्कंटक करने के लिये अपने विरोधियों का सफाया करने की सोची। इस क्षेत्र में उसके निकट के रिश्तेदार ही उसके लिये विकट समस्या के रूप में उभर कर आये। पृथ्वीराज के काका अपरगांग्य ने उसकी अल्पवयस्कता का लाभ उठा, राज्य हस्तगत करने हेतु विद्रोह कर दिया किन्तु पृथ्वीराज की सूझबूझ से यह विद्रोह शीघ्र ही कठोरता पूर्वक दबा दिया गया। अपरगांग्य अपने साथियों सहित कैद कर लिया गया तथा पृथ्वीराज के आदेश से उसे मृत्यु दड दिया गया। तब अपने भाई को दिये गये मृत्यु दण्ड से क्रोधित हो, अपरगाग्य के अनुज नागार्जुन ने विद्रोह कर दिया। उसने पृथ्वीराज के विरुद्ध शक्ति बढाने के लिये गुड़गांव पर अधिकार भी कर लिया। तब पृथ्वीराज ने उसके विरुद्ध जयानक के अनुसार, विशाल चतुरंगिणी सेना भेजी। अपने विरुद्ध विशाल-सेना को आई हुई देखकर, नागार्जुन अपने परिवार को देवभट्ट नामक विश्वसनीय साथी को सौंप कर, स्वयं भाग गया। देवभट्ट ने कुछ समय तक तो गुडगांव की साहसपूर्वक रक्षा की किन्तु जब वह वीरगति को प्राप्त हो गया तब गुडगाव पर चौहान-सेना ने अपना अधिकार कर लिया और वहाँ हजारों विद्रोहियो को मौत के घाट उतार दिया तथा कई बंदी बना लिये गये जिनमे नागार्जुन का परिवार भी था। बंदी विद्रोहियों को अजमेर मे लाकर मृत्यु दण्ड दिया गया और भविष्य में ऐसा विद्रोह न हो इसके लिये नगर के प्रमुख स्थानो पर विद्रोहियों के मुण्ड लटका दिये गये।

भण्डानकों का दमन—1182 ई. के करीब गुड़गांव की ओर भण्डानक नामक जाति ने उपद्रव करना प्रारम्भ कर दिया, इसलिए पृथ्वीराज ने उनके विरुद्ध बढकर अपने राज्य की उत्तरी सीमा की रक्षा करनी चाही। इस जाति का प्रभाव मथुरा, भरतपुर व अलवर आदि क्षेत्रों के निकट बढता जा रहा था। पृथ्वीराज उनकी बढती हुई शक्ति को रोकना चाहता था, अतः योजनाबद्ध तरीके से उन्हें जा घेरा और दशरथ शर्मा के अनुसार जो कार्य विग्रहराज चतुर्थ द्वारा पूर्णरूपेण नही किया जा सका उसे पृथ्वीराज ने कर दिखाया। भण्डानको की उपद्रवी प्रवृत्ति को समूल नष्ट कर, उन्हें आत्मसमर्पण हेतु विवश कर दिया। इसके पश्चात् भण्डानकों का कोई भी विद्रोह पृथ्वीराज के शासनकाल में नहीं हुआ। यो भण्डानको के आत्मसमर्पण से आधुनिक हरियाणा, पूर्वी राजस्थान तथा दिल्ली व उसका दक्षिणी क्षेत्र अजमेर के अधीन हो गये। साथ ही उसे एक लड़ाकू जाति का सैन्य सहयोग

भी प्राप्त हो गया जिससे अब पृथ्वीराज का ध्यान दिग्विजय की ओर गया।

दिग्विजय-नीति

चन्देल राज्य पर विजय—पृथ्वीराज तृतीय ने अपने साम्राज्य-विस्तार की महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये दिग्विजय की नीति को अंगीकार करते हुए सर्वप्रथम उसने चौहान-राज्य के पूर्व में स्थित महोबा के चंदेलों को परास्त करने का बीड़ा उठाया। तब चदेल राज्य के अंतर्गत बुन्देलखंड, जैजाकभुक्ति तथा महोबा के भू-खण्ड सम्मिलित थे। यहाँ पर चंदेल शासक परमारदी शासन कर रहा था। इस राज्य की मध्यवस्था का लाभ उठाकर पृथ्वीराज ने 1182 ई. में आक्रमण किया। जिनपाल के अनुसार आधुनिक नराना के स्थान पर उसने अपना सैनिक पड़ाव डाला। परमारदी ने अपने दो रुष्ट सेनानायक आल्हा और ऊदल जो कन्नौज राज्य के संरक्षण में चले गये थे, को इस विकट एवं शोचनीय स्थिति का मुकाबला करने के लिए आमंत्रित किया। साथ ही उसने पृथ्वीराज को संधि-वार्ता में उलझाये रखा। दोनों ही सेनानायक पहले की सारी बात को भुलाकर कर्त्तव्य और देश सेवा से अनुप्राणित हो, ससैन्य उसकी सहायतार्थ आ गये तभी परमारदी ने युद्ध की घोषणा करा दी। पृथ्वीराज एवं परमारदी की सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसमें आल्हा व ऊदल अपने कई साथियों के साथ वीरगति को प्राप्त हुए तथा पृथ्वीराज को मिली विजयश्री में विस्तृत भू-भाग हाथ लगा। इस भू-भाग पर अपने एक सामन्त पञ्जुनराय को प्रशासक नियुक्त कर, पृथ्वीराज अजमेर लौट गया।[12] हालांकि चन्देल-राज्य को अपने संरक्षित राज्य के रूप में पृथ्वीराज द्वारा सम्मिलित कर लिया गया था किन्तु 1183 ई. तक चंदेलों ने पूर्ण स्वतंत्रता का उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था। निःसंदेह पृथ्वीराज की चंदेल-विजय नीति चंदेलो पर चौहानों के सत्ता प्रभाव को परिलक्षित करती है न कि चंदेलो की शक्ति पराभव को। आर. बी. सिंह अपनी पुस्तक 'दी हिस्ट्री ऑफ दी चौहान्स' में लिखते है कि चौहान इस विजय का स्थायी लाभ नहीं उठा सके किन्तु चंदेलों ने पृथ्वीराज के डर से गहड़वालों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लिये जिससे चंदेल-गहड़वाल संगठन पृथ्वीराज के लिये सैनिक व्यय का निमित्त बन गया था। इस प्रकार से यदि यों कह दिया जाय कि पृथ्वीराज के लिये यह महत्वाकांक्षित सफलता, राजनीतिक, आर्थिक असफलता में आबद्ध थी तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

---

12 दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 75

चालुक्य-राज्य पर अभियान—पृथ्वीराज चौहान ने अपनी सफलताओं से प्रेरित हो दिग्विजय के क्षेत्र मे चालुक्यों से निपटना चाहा। चालुक्य शासक भीमदेव द्वितीय के अधीन गुजरात प्रदेश के साथ ही राजस्थान के नाडोल तथा आबू के राज्य भी थे। दोनों ही राज्यों पर क्रमशः चौहान तथा परमार वंश के शासक थे जो भीमदेव द्वितीय के सामन्त थे। यो भी देखा जाय तो चालुक्य-चौहान वैर काफी पुराना था, किन्तु पृथ्वीराज के काल मे यह और अधिक बढ गया। कहा जाता है कि आबू नरेश की पुत्री इच्छिनी से पृथ्वीराज ने भीमदेव द्वितीय की अभिलाषा के विरुद्ध विवाह कर, उसे नाराज कर दिया। किन्तु गौरीशकर हीराचंद ओझा ने इस कारण को स्वीकार नही किया है। चालुक्य-चौहान संघर्ष का एक अन्य कारण यह भी बताया जाता है कि पृथ्वीराज के पिता की हत्या भीमदेव ने कर दी थी। अतः प्रतिशोध की भावना से पृथ्वीराज ने भीमदेव पर आक्रमण कर उसे मार दिया। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार यह मान्यता भी तिथि-क्रम से सही नही उतरती है। मारवाड के विस्तृत क्षेत्र को अजमेर (शाकम्भरी) राज्य मे मिलाने की महत्वाकाक्षा ने पृथ्वीराज को भीमदेव के विरुद्ध युद्ध हेतु प्रेरित किया था। यह अभियान 1184 ई से 1187 ई. तक निरन्तर आक्रमण, प्रतिक्रमण, संधि अथवा वार्तालाप के द्वारा घटते-बढते रहे थे क्योंकि 1184 ई. का चालूं गाँव का शिलालेख,[18] खतरगच्छपट्टावली तथा पृथ्वीराजरासो के अनुसार 1184 व 1187 ई. मे युद्ध और सधि दोनो का वर्णन आता है। रासो में 1184 ई. के नागोर-युद्ध का वर्णन मिलता है। 1187 ई. मे जगदेव प्रतिहार के बीच-बचाव कराने से दोनो राज्यों के मध्य सधि हो गई। यो चालुक्य राज्य पर पृथ्वीराज के आक्रमण अपनी शक्ति को बतलाना मात्र था न कि शक्ति को प्रतिष्ठित करना। अतः इस नीति से पृथ्वीराज को कोई लाभ नही हुआ और न ही भीमदेव द्वितीय को किन्तु भावी तुर्क आक्रमण के विरुद्ध दोनो का संगठन सफल हो सकता था वहां विघटन तुर्कों के लिए हितकारी रहा।

चौहान गहड़वाल शत्रुता एवं कन्नौज-आक्रमण—चौहान-गहडवाल शत्रुता विग्रहराज चतुर्थ तथा विजयचन्द्र के समय से चली आ रही थी। विग्रहराज ने विजयचंद्र को युद्ध में परास्त किया था। उत्तराधिकारी जयचन्द इसका बदला लेने हेतु किसी अवसर की ताक मे था। पृथ्वीराज ने जब चन्देलों को पराजित किया तो कन्नौज ने उनकी ओर अपनी मित्रता का हाथ बढ़ाया।

---

13 वही, पृ. 99

फलतः पृथ्वीराज कन्नौज को भी सबक सिखाना चाहता था। दशरथ शर्मा के अनुसार दोनों ही महत्वाकांक्षी शासक एक-दूसरे के राज्य को अपने राज्य में मिलाने की प्रबल आकांक्षा रखते थे। यही दोनों के बीच शत्रुता एवं वैमनस्य का स्वाभाविक कारण था। तात्कालिक कारण के रूप में पृथ्वीराजरासो में वर्णित संयोगिता-स्वयंवर कथा को माध्यम माना जा सकता है। संयोगिता के हरण तथा वरण के अनन्तर दोनो राज्यों के जन-धन की अपार क्षति हुई किन्तु पृथ्वीराज की दिग्विजय योजना की अन्तिम पुष्टि अवश्य हो गई।

बहुचर्चित संयोगिता-स्वयंवर की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—जयचंद ने राजसूय यज्ञ किया तब अपनी पुत्री संयोगिता के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन भी किया जिसमें पृथ्वीराज के अलावा कई राजा महाराजाओं को आमंत्रित किया गया था। सोमानी[14] का कहना है कि पृथ्वीराज को भी बुलाया गया था किन्तु अपना स्वतंत्र अस्तित्व एवं बराबरी का शक्तिशाली होने के कारण वह नही गया। वि. सं. 1239 मे जब पृथ्वीराज ने जेजाकभुक्ति पर आक्रमण किया तब जयचंद ने पृथ्वीराज के विरुद्ध चंदेलों को सहायता दी थी। स्पष्ट है कि जयचंद व पृथ्वीराज के शत्रुतापूर्ण संबंध थे। तब पृथ्वीराज को अपमानित करने के लिये जयचंद ने स्वयवर-स्थल के बाहर द्वारपाल के रूप में पृथ्वीराज की मूर्ति रख दी। संयोगिता एवं पृथ्वीराज एक-दूसरे को मन से चाहते थे। अतः संयोगिता वरमाला लेकर एक-एक को देखती हुई आगे बढ़ती जा रही थी। पृथ्वीराज को न पाकर वह मन-ही-मन बड़ी दुःखी थी किन्तु जब वह दरवाजे तक पहुँची तो उसे द्वारपाल के रूप मे अपने प्रेमी की मूर्ति नजर आई। वास्तविक प्रेम कोई आगे-पीछे नही देखता है। उसने माला उस मूर्ति के गले में डाल दी। उस समय तक पृथ्वीराज भी वहाँ पहुँच चुका था। अतः संयोगिता को घोड़े पर बैठाकर अजमेर ले आया और साथ के चौहान सैनिक गहड़वालों का सामना करते रहे। सोमानी[15] ने लिखा है कि संयोगिता द्वारा पृथ्वीराज की मूर्ति को हार पहिना देने से जयचंद काफी क्रुद्ध हुआ और संयोगिता को गंगा के किनारे एकांत महल में बंदी रूप में रखा गया। जब पृथ्वीराज को यह समाचार ज्ञात हुआ तो उसने कन्नौज पर आक्रमण किया और एक भयंकर युद्ध के बाद वह संयोगिता का अपहरण करने में सफल रहा।

उपर्युक्त कथा की सत्यता एवं ऐतिहासिकता के संबंध में विद्वान इतिहास-

---

14 आर. वी. सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 60
15 वही।

कार एक मत नहीं हैं। ओझा ने इसे भाटों की कपोल कल्पना मानते हुये कहा है कि प्रबन्ध कोष, हम्मीर महाकाव्य, पृथ्वीराज प्रबन्ध एवं प्रबन्ध चिन्तामणि जैसे समकालीन ग्रन्थों में इस घटना का कोई जिक्र नहीं है। नयनचन्द्र सूरी द्वारा सपादित 'रंभामंजरी' नाटक में कही पर भी सयोगिता की कथा का वर्णन नही मिलता है। रोमिला थापर एवं आर. एस. त्रिपाठी ने भी इसे सही नही माना है। त्रिपाठी[16] का कहना है कि पृथ्वीराज के समय मे यज्ञ तथा स्वयंवर की प्रथा समाप्त-सी हो गयी थी। साथ ही जयचद ने कोई इतनी अधिक विजयें भी नही की थीं कि उसे राजसूय यज्ञ करने की आवश्यकता पड़ी हो। 'पृथ्वीराज विजय'[17] ग्रन्थ मे संयोगिता का उल्लेख भले ही नही आया हो किन्तु उसमें दी गई राजकुमारी तिलोत्तमा की जो कहानी है वह पूर्णतः सयोगिता से मिलती है। इसी तरह से 16 वीं शताब्दी के 'सुर्जन चरित्र महाकाव्य' मे भी जो वर्णन मिलता है उससे संयोगिता की कथा की पुष्टि होती है। इसमें केवल नाम का फर्क अवश्य है, संयोगिता की जगह कमलावती नाम दिया गया है। समकालीन फारसी तवारीखो में भले ही इस घटना का वर्णन न हो किन्तु अबुलफजल ने इसका वर्णन अवश्य किया है। दशरथ शर्मा ने स्पष्टतः बताया है कि 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'रंभामंजरी' मे ढेर सारी गलतियां हैं तथा इनमें वर्णन न मिलने से सारी घटना को ही काल्पनिक मान लिया जाय यह उचित नहीं है। उन्होने इसकी सत्यता को स्वीकार करते हुये बताया कि प्रेम जीवन का एक अंग है और वह सत्य और वास्तविक है। अतः यह घटना घटी हो तो कोई आश्चर्य नही। सी. वी. वैद्य एवं गोपीनाथ शर्मा ने भी इसे स्वीकार किया है।

यो संयोगिता अपहरण की घटना मे कोई संदेह नही रह जाता है। सदियों से चली आ रही इस कथा में समय के साथ उतार-चढाव या अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णनों का आना स्वाभाविक है किन्तु इससे इस घटना की सत्यता पर संदेह करना ठीक नही है।

पृथ्वीराज तृतीय की दिग्विजय योजनाओ को कई इतिहासकारो ने समयोचित, न्यायोचित तथा आवश्यक वतलाया है। सी. वी. वैद्य ने पृथ्वीराज के यश को बढाने मे इन दिग्विजयों को स्वीकार किया है किन्तु गोपीनाथ शर्मा के अनुसार यह दिग्विजय योजना दूरदर्शिता से शून्य थी। यदि पृथ्वीराज द्वारा थोडी-सी सूझ-बूझ से काम लिया जाता तो पड़ोसी राज्य परस्पर

---

16 आर. एस. त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ. 325-26

17 पृथ्वीराज विजय, सर्ग 10, श्लोक 2, सर्ग 12, श्लोक 1-33

अनाक्रमण संधि में बँध कर भविष्य के विदेशी आक्रमण के विरुद्ध संगठित हो सकते थे। किन्तु भारतीय इतिहास में पारस्परिक विद्वेष-परंपरा का जन्म इसी काल में हुआ हो ऐसी बात नहीं है, यह तो एक रूढ़ि के रूप में शासकीय आचरण बन गया था। अतः पृथ्वीराज तथा उसके पड़ोसी शासक उससे मुक्त कैसे हो सकते थे ?

तुर्क-विरोध—शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी एवं पृथ्वीराज चौहान के बीच हुए युद्ध के निम्नांकित कारण थे—

1 तत्कालीन भारत की दशा शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को भारत आक्रमण के लिए प्रेरित कर रही थी। धन-धान्य से परिपूर्ण भारत को महमूद गजनवी ने खूब लूटा ही था। अतः मुहम्मद गोरी भी धन प्राप्त करने का इच्छुक था ताकि ए. बी. पांडे के अनुसार, "भारत से प्राप्त धन तथा सामरिक साधन उसे अपने वंश के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में भी सहायक होंगे।" राजनैतिक दृष्टि से तब भारत में कोई भी सार्वभौम सम्राट नहीं था। गुर्जर प्रतिहारों का प्रभुत्व लुप्त-सा हो गया था। पंजाब पर गजनवी-शासक था तो मुलतान पर इस्लामिया शियाओं का शासन था। इन राज्यों के पूर्व तथा दक्षिण में कई छोटे-छोटे राजपूत राज्य थे। उत्तरी भारत में तब सोलंकी, चौहान, गहड़वाल व सेन वंश प्रबल तो थे किन्तु उनमे पारस्परिक मेल-जोल का पूर्ण अभाव था। इनकी पारस्परिक फूट ने मोहम्मद गोरी के लिये भारत विजय का मार्ग साफ कर दिया था।

2 मुहम्मद गोरी के सामने सबसे बड़ा प्रश्न गोर साम्राज्य की रक्षा का था। साथ ही ए. बी. पाडे के अनुसार, "वह यह भी समझता था कि लाहौर के गजनवी सुलतान, गोरी शासकों के संकट के समय उन पर हमला करके फिर से गजनी लेने की चेष्टा करेंगे। इसी भांति मुलतान के इस्माइलिया शियाओं से भी विरोध की ही आशा की जा सकती थी।" अतः मुहम्मद गोरी के पास भारत-विजय के अलावा और कोई विकल्प नहीं था। यों भी वह अपने वंश का गौरव बढ़ाने के लिए काफी व्याकुल था। इसके लिए आवश्यक था कि वह 'गोर' की तनावपूर्ण राजनीति से दूर कहीं नया साम्राज्य स्थापित करे। उसकी इस आवश्यकता की पूर्ति भारत-विजय से ही सुलभ हो सकती थी।

3 शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी भारत में मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। यद्यपि इस संदर्भ में उससे पूर्व अरबों व तुर्कों ने भी प्रयास किये तथापि भारत में स्थायी रूप से मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना नहीं हो पाई थी। यह कमी मुहम्मद गोरी को बराबर खटक रही थी जिसे

वह दूर कर भारत में स्थायी मुस्लिम साम्राज्य स्थापित करना चाह रहा था। अत. वह पृथ्वीराज चौहान को पराजित करके ही दिल्ली व अजमेर को अपने अधीन ला सकता था।

4 मुहम्मद गौरी धर्म-प्रचार के उद्देश्य से भी भारत पर आक्रमण करना चाहता था। ए. बी. पांडे के अनुसार, "वह यह भी जानता था कि भारतीयों पर विजय प्राप्त करने में वह मुसलमानों के धार्मिक जोश का लाभ उठा सकेगा तथा बहुत से लोगों की दृष्टि में पुण्य का भागी होगा।" आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने पृथ्वीराज चौहान व मुहम्मद गौरी के बीच संघर्ष का मूल कारण ही धार्मिक कट्टरता को माना है। गौरी भारत में इस्लाम का प्रचार करना चाहता था और दशरथ शर्मा के अनुसार पृथ्वीराज चौहान ने 'मुसलमानों का विनाश' अपना प्रमुख लक्ष्य बना लिया था। पृथ्वीराज हिन्दू धर्म व संस्कृति का संरक्षक था। ऐसी स्थिति में दो विरोधी विचारधाराओं के बीच संघर्ष अवश्यंभावी था।

5 मुहम्मद गौरी अपने को महमूद गजनवी का उत्तराधिकारी ही नहीं मानता था अपितु उसके द्वारा जीते हुए प्रदेशों पर भी वह अपना ही अधिकार समझता था। अत: जब महमूद की मृत्यु के उपरान्त उसके दोनों पुत्रों (मुहम्मद व मसूद) के बीच उत्तराधिकार-युद्ध हुआ तो दिल्ली के हिन्दू राजा ने स्थिति का लाभ उठाते हुए हांसी, थानेश्वर व सिंध मुसलमानों से ले लिये थे। उधर मुहम्मद गौरी ने गजनवी पर अधिकार करने के साथ ही गजनवी के भारत स्थित राज्यों पर भी अपना अधिकार करना चाहा। यों तब अपने खोये हुए राज्य को पुन: प्राप्त करने मे पृथ्वीराज से युद्ध अनिवार्य हो गया था।

6 पृथ्वीराज चौहान बड़ा महत्त्वाकांक्षी सम्राट था। उसने अपनी विविध विजयों से अपने ही पड़ोसियों को अपना शत्रु बना लिया था। उसने चंदेलों की शक्ति को काफी कम कर दिया था। 1181 ई. के ललितपुर शिलालेख के अनुसार पृथ्वीराज ने महोबा को भी अपने अधीन कर लिया था। पृथ्वीराज का दिल्ली पर अधिकार हो जाने से तथा संयोगिता वाली घटना से जयचंद उसका परम शत्रु हो गया था और वह उससे बदला लेना चाहता था। नि.सदेह पृथ्वीराज के शौर्य एवं साहस को उसके पड़ोसी स्वीकार तो कर रहे थे किन्तु वे मन-ही-मन उससे जलते भी थे और इस ताक मे थे कि उसकी शक्ति का पूर्ण वध हो। मुहम्मद गौरी के आक्रमणों मे उन्हें पृथ्वीराज का पतन नजर आ रहा था। यही कारण है कि चितौड़ के रावल समरसी के अतिरिक्त पृथ्वीराज का तब कोई समर्थक भी नहीं था। यों

मुहम्मद गौरी के लिए यह अति उत्तम अवसर था। तभी टॉड के अनुसार कन्नौज के जयचंद ने कई छोटे-छोटे राजाओं को मिलाकर अनहिलवाड़ा पट्टम, मंदोर व धार के राजाओं से विचार-विमर्श करके एक योजना बनाई जिसके अनुसार वह शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी के हाथों पृथ्वीराज का सर्वनाश करना चाहता था। यों जयचंद की यह योजना पृथ्वीराज चौहान एवं मुहम्मद गौरी के बीच एक तात्कालिक कारण बनी।

7 पृथ्वीराज चौहान अपनी दिग्विजयों में लगा हुआ था तब उधर शहाबुद्दीन मुहम्मद गौरी भारतवर्ष में तुर्क साम्राज्य फैलाने मे व्यस्त था। कर्नल टॉड के अनुसार पृथ्वीराज चौहान का राज्य सतलज नदी से बेतवा तक और हिमालय के नीचे के भागों से लेकर आबू तक फैला हुआ था। इस प्रकार से पृथ्वीराज के साम्राज्य की बढती हुई सीमा उसे तुर्कों के राज्य की सीमा के निकट ले जा रही थी। अतएव दोनों ही शक्तियो के बीच संघर्ष अवश्यंभावी प्रतीत हो रहा था। वैसे पृथ्वीराजरासो में इक्कीस बार, हम्मीर महाकाव्य मे सात बार, पृथ्वीराज प्रबंध मे आठ बार तथा प्रबध कोष, प्रबंध चिन्तामणि, पुरातन-प्रबध संग्रह में बीस बार तुर्कों का पृथ्वीराज के हाथों पराजित होना लिखा है जो सीमान्त क्षेत्रो मे हुये छुट-पुट आक्रमण को बताता है क्योकि इनका वर्णन मुस्लिम इतिहासकारों ने भी नही किया है। उन्होने दो बार हुये चौहान-तुर्क निर्णायक संघर्ष का वर्णन अवश्य किया है जो निम्न प्रकार से है—

तराइन का प्रथम युद्ध (1191 ई.)—मुहम्मद गौरी ने 1186 ई. तक पंजाब पर अधिकार कर लिया तब उसके लिये यह आवश्यक हो गया था कि भारत-प्रवेश हेतु वह पृथ्वीराज से प्रथमतः समर-साक्षात्कार करे। इसके लिए उसने तीन वर्ष तक लगातार युद्ध की तैयारी कर 1189 ई. मे चौहान सीमाओं के द्वार भटिण्डा-दुर्ग पर धावा किया। उसने इस दुर्ग पर लम्बा घेरा डाला। पृथ्वीराज की उदासीनता अथवा चौहान-गहड़वाल वैमनस्य में उलझे रहने के कारण दुर्ग को केन्द्र से सहायता समय पर नही पहुँच सकी फलतः दुर्ग गौरी के हाथ लगा। गौरी अपने विश्वस्त सेनानायक जियाउद्दीन तुगलक के अधीन बारह हजार सैनिकों के संरक्षण मे दुर्ग-प्रबंध का कार्य सौंप कर, अगले वर्ष दिल्ली आक्रमण की तैयारी करने गजनी की ओर चल पड़ा किन्तु गौरी मार्ग मे ही था कि उसे पृथ्वीराज द्वारा भटिण्डा पर अभियान की सूचना मिली। अतः वह मार्ग से ही पुनः लौट आया। 1191 ई. मे तराइन के मैदान में दोनो ही सेनाओं का शक्ति-परीक्षण शुरू हुआ। इस युद्ध में राजपूत सेना द्वारा तुर्की सेना के दोनो पार्श्व परास्त कर दिये गये।

आक्रमण की भीषणता से घबरा कर तुर्क सैनिक रण-क्षेत्र छोड़कर भाग निकले। गौरी ने सेना के मध्य भाग का नेतृत्व करते हुये प्रत्याक्रमण का एक प्रयास भी किया किन्तु उसे दिल्ली के गोविन्दराज ने विफल कर दिया। इस युद्ध में गौरी घायल हो गया था और एक खिलजी सैनिक द्वारा उसकी प्राण रक्षा संभव हो सकी। गौरी तथा उसकी सेना का राजपूतों ने कोई चालीस मील तक पीछा किया तथा भटिण्डा का घेरा आरम्भ किया। तब यों कोई तेरह मास के दीर्घ घेरे के पश्चात् भटिण्डा पुनः पृथ्वीराज के अधिकार में आ गया।[18] राजस्थानी साधनों के आधार पर उधर तराइन के प्रथम युद्ध में ही पृथ्वीराज ने एक बार गौरी को बंदी भी बना लिया था और बाद में माफी मागने पर उसे छोड़ दिया गया।[19]

तराइन का प्रथम युद्ध हिन्दू विजय का अंतिम तथा गौरवान्वित अध्याय था, वहाँ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार इस युद्ध में की गई भूल भारतीय भ्रम का एक कलंकित पृष्ठ है। गौरी को इतना दु.ख गुजरात पराजय से भी नहीं हुआ जितना कि तराइन की हार से। वर्ष भर वह अपनी शक्ति बटोरने, सुदृढ़ करने तथा योजनाबद्ध तरीके से आक्रमण करने की तैयारी में लगा रहा। इधर पृथ्वीराज तो निश्चिन्त हो प्रमाद व विलास मे डूबा रहा। दशरथ शर्मा ने अपनी पुस्तक 'राजस्थान थ्रू दी एजेज' में लिखा है कि पृथ्वीराज की भयानक भूल यह थी कि उसने शत्रु को परास्त करने के बाद उसे पूर्णतया नष्ट करने की ओर ध्यान नही दिया।

तराइन का द्वितीय युद्ध (1192 ई.)—1192 ई. में मुहम्मद गौरी एक विशाल सेना लेकर अपनी पराजय का बदला लेने के लिए पुनः तराइन के मैदान में आ डटा। इसके पूर्व उसने अपना एक दूत पृथ्वीराज के पास भेज कर, उसे अपनी अधीनता स्वीकार करने हेतु कहलवाया किन्तु पृथ्वीराज ने कहा कि वह अपने देश लौट जाय अन्यथा उसकी भेंट युद्ध-स्थल में होगी। इसके बाद भी गौरी ने पृथ्वीराज से वार्ता चलाये रखी जिसके पीछे गौरी का उद्देश्य पृथ्वीराज को भ्रम में रखते हुए अपनी सैन्य-व्यवस्था को ठीक करते हुए आगे बढ़ते रहना था। गौरी ने कहलवाया कि वह पृथ्वीराज से युद्ध नही अपितु संधि करना चाहता है किन्तु इस संधि का पूर्ण ब्यौरा अपने भाई द्वारा स्वीकृत कराने के पश्चात् पृथ्वीराज के सामने रखेगा, इस हेतु उसने एक दूत गजनी भेजा है। गजनी से संधि का आदेश प्राप्त करने के

---

18 तबकात-ए-नासिरी, भा. 1, पृ. 459-64

19 आर. वी. सोमानी, पृथ्वीराज चौहान एण्ड हिज टाइम्स, पृ. 67-71

पश्चात् यह स्वदेश लौट जायेगा। गौरी की इस सामरिक चाल समझने में पृथ्वीराज असमर्थ रहा तथा तुर्क शक्ति को निर्बल मान कर थोड़ी-सी सेना के साथ तराइन के मैदान में आया। तभी सोमेश्वर नामक सेनानायक को उसके युद्धोचित सद्-परामर्श पर पृथ्वीराज द्वारा दण्ड दिया जाना जहां गौरी के लिए अनुकूल रहा वहां राजपूत शक्ति के लिये प्रतिकूल सिद्ध हुआ। वह तुर्कों का मुखबिर बन गया। पृथ्वीराज के दो सेनानायक क्रमशः स्कन्द तथा उदयराज भी अपनी सेना के साथ नहीं ले जाये गये। संधि-वार्ताओं के भुलावे में चौहान सेना निश्चिन्त थी। उधर गौरी ने पीछे लौटने का अभियान किया। रात को अपने सैनिकों को मशालें देकर लौटने का प्रदर्शन करवाना और रास्ते में मशालें बुझा कर उन्हें तराइन मे लौटने का आदेश देना था। इससे राजपूत सैनिक, तुर्क सेना के स्वदेश प्रयाण से भ्रमित हो निष्क्रिय हो गये थे। तभी एक दिन सुबही-सुबह के समय राजपूत सैनिक शौचादि कर्म मे व्यस्त थे कि तुर्कों ने यक-ब-यक तीन ओर से उन पर आक्रमण कर दिया। इस अप्रत्याशित आक्रमण से राजपूत सेना हक्की-बक्की रह गई और तुर्कों के जोरों के दबाव से बिखरने लग गई। यों दिन भर युद्ध करने के बाद सायंकाल गौरी ने सुरक्षित सेना का नेतृत्व करते हुए उग्र आक्रमण किया, लड़ते-भागते राजपूत सैनिक इतने अधिक थक चुके थे कि वे अधिक समय तक लड़ने की स्थिति में नहीं रहे और पृथ्वीराज की स्पष्टतः पराजय हो गई। पृथ्वीराज भी अपने सेनानायकों के परामर्श पर घोड़े पर बैठकर अजमेर की ओर भाग निकला किन्तु मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार वह राह मे ही कहीं बन्दी बना लिया गया तथा मार डाला गया। फरिश्ता भी इस कथन की पुष्टि करता है। पृथ्वीराजरासो के अनुसार उसको गजनी में ले जाया गया तथा वहाँ उसका आश्रित कवि चन्दबरदाई भी पहुँच गया था। तब वहाँ शब्द भेदी बाण से गौरी को मार दिया गया तथा पृथ्वीराज एवं चन्दबरदाई ने परस्पर आत्म हत्या करली। किन्तु इस कथन में सत्य की कोई गुंजाइश नजर नहीं आती है। यूफी और हसननिजामी (तत्कालीन इतिहासकार) पृथ्वीराज को बंदी बनाकर अजमेर लाने की बात कहते हैं और वहां किसी षडयंत्र में भाग लेने की वजह से उसे मार दिया गया। पृथ्वीराज प्रबंध तथा हम्मीर महाकाव्य भी इस बात की पुष्टि करते हैं। गौरी द्वारा अपने नाम के सिक्कों पर पृथ्वीराज का नाम अंकित कराना भी सुस्पष्ट प्रमाणित ... कि पृथ्वीराज को अजमेर तो निश्चित ही लाया गया था। ... का मानना है कि "यह भी सम्भव है कि शब्द भेदी बाण की ... में न होकर अजमेर मे हुई हो, जिसमे गौरी तो लोहे की मूर्ति के

गया हो और पृथ्वीराज को इस प्रकार के षड्यंत्र में भाग लेने का दोषी ठहराकर मरवा दिया गया हो।" इस युद्ध में प्रथम तराइन-युद्ध का वीर नायक गोविन्दराज भी खेत रहा। गौरी ने हांसी, सिरसा, समाना, कोहराम, अजमेर, दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया।

तराइन के द्वितीय युद्ध ने राजपूताने के विशाल प्रान्त पर गौरी का प्रभाव स्थापित कर दिया तथा राजपूत शक्ति की फूट तथा निर्बलता को भी प्रकट कर दिया जिससे गौरी ने अन्य राज्यों की विजय तथा भारत में तुर्क साम्राज्य की स्थापना का उद्देश्य निश्चित कर लिया। उसने अजमेर का शासन पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को वार्षिक कर देने, नये गढ़ न बनवाने तथा गौरी के प्रति निष्ठावान रहने की शर्तों पर सौंप दिया। विजय के उपरान्त गौरी ने दिल्ली तथा अन्य जीते हुये प्रदेशों का भार अपने विश्वस्त नायक कुतुबुद्दीन ऐबक को देकर वह गजनी लौट गया।

1195 ई. मे पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने तुर्क-गहड़वाल संघर्ष काल मे गोविन्दराज को अजमेर से खदेड़ कर पुन: स्वतंत्र राजपूत राज्य की स्थापना का प्रयास किया किन्तु ऐबक की युद्ध-कुशलता ने हरिराज को ही समाप्त नही किया अपितु चौहानों के केन्द्र अजमेर को एक मुस्लिम हाकिम के अधीन कर दिया गया। इसके बाद गोविन्दराज को रणथंभोर का प्रान्तपति बनाया गया। इस वर्ष गौरी द्वारा ग्वालियर अभियान हेतु गजनी से आने पर राजस्थान का पूर्वी प्रदेश बयाना आदि को परास्त कर मुस्लिम अधिशासन में सम्मिलित कर लिये गये।

पृथ्वीराज को हार के कारण—जो पृथ्वीराज चौहान तराइन के प्रथम युद्ध मे विजयी रहा वही द्वितीय युद्ध में पराजित हुआ जिसके निम्नांकित कारण हो सकते है—

पृथ्वीराज की पराजय के कारणों में प्रमुखतम कारण पृथ्वीराज ने गौरी की शक्ति का सही मूल्यांकन नही किया था। उसने गौरी को एक लुटेरे से अधिक नही समझा था। जबकि गौरी की पैनी दृष्टि ने तराइन के प्रथम युद्ध के समय ही पृथ्वीराज की शक्ति को आंक लिया था। अत: अगले वर्ष ही अपनी सेना को सुव्यवस्थित कर पृथ्वीराज के विरुद्ध ले आया। मूलत: यह युद्ध अव्यवस्थित और सुव्यवस्थित सैन्य संगठन का युद्ध था। मिनहाज इस युद्ध के बारे में लिखता है कि गौरी द्वारा अपने सैनिकों को किसी भी प्रकार की परिस्थितियों में अनुशासित युद्ध करना, तकनीक द्वारा येन-केन-प्रकारेण युद्ध जीतना अथवा मरने की शिक्षा देने के बाद ही उन्हें भारत लाया गया था। गौरी ने अपनी सेना को सुनियोजित रूप से कई भागो में विभक्त कर

दिया था ताकि अवसर आने पर शत्रुओं को चारों ओर से सहज रूप में घेरा जा सके। उसने कोतल सेना का एक अलग ही विभाग रख छोड़ा जो संकटावस्था में सहायता कर सके। इसके अतिरिक्त जगह-जगह छोड़े गये सैनिकों की छावनियों से संचार की द्रुतगामी व्यवस्था तथा सहायतार्थ तत्पर दस्तों की संरचना आदि भी मुहम्मद गोरी की विजय व पृथ्वीराज चौहान की पराजय का कारण थी। मिनहाज के अनुसार गोरी ने राजपूत सेना तथा तुर्की घुड़सवारों के बीच दस हजार धनुर्धारियों को इस तरह से जमाया कि वह शत्रु के हाथियो पर बैठे नायकों पर आक्रमण करें जिससे हाथी भड़कते रहें व तुर्की घुड़सवार राजपूतों की पैदल सेना में भगदड़ मचा दें। यों गोरी द्वारा चौहानों को छकाने-दबाने, अव्यवस्था उत्पन्न कर विघटित करने की जो योजना बनाई गई वह पूर्णतया सफल रही।

उक्त सुनियोजित योजना के दूसरी ओर पृथ्वीराज युद्ध-राजनीति की चली आ रही रूढ़ियों से चिपका हुआ था। वह युद्ध-कूटनीति के दाँव-पेचों से अनभिज्ञ था और राजपूत वीरत्व तथा क्षमादान के अहंकार में निश्चिन्त था। यों देखा जाय तो राजपूतों की सैनिक संख्या तुलनात्मक दृष्टि से तुर्की सैनिकों से कहीं अधिक थी जिसमें कोई 150 सामन्तों के अधीन उनके अपने सैनिक विभिन्न सैन्य दलों के रूप में थे। ये दल केन्द्र-संचालन व्यवस्था से अलग निज-संचालन व्यवस्था पर आधारित थे। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण सेना में विकेन्द्रीकरण प्रणाली विद्यमान थी। वे अपने-अपने सामन्तों के नेतृत्व में उन्हीं में विश्वास करते हुए लड़ रहे थे, जबकि तुर्क-सेना में युद्ध केन्द्र-व्यवस्था पर आधारित था। सभी सैनिक अपने एक ही सेनानायक में विश्वास रखते हुए लड़ रहे थे।

पृथ्वीराज चौहान ने सुरक्षात्मक युद्ध लड़ा जबकि गोरी ने आक्रमणात्मक युद्ध लड़ा। इसलिए दूरदर्शी मुहम्मद गोरी द्वारा संधि-वार्ता में उलझाये रखने की चाल में अदूरदर्शी पृथ्वीराज चौहान आ गया तब उसने यह जानने का प्रयास भी नहीं किया था कि गोरी की असली मंशा क्या है? राजपूत और तुर्की सेना का यह युद्ध भी धर्म-युद्ध था किन्तु दोनों के धर्म-विश्लेषण में पर्याप्त अन्तर था। राजपूतों का धर्म केवल उन्हें परास्त कर छोड़ देने अथवा खदेड़ देने तक था जबकि तुर्कों का अन्तिम लक्ष्य मरो या मारो पर आधारित था। तुर्क येन-केन-प्रकारेण छल-बल से विजय हासिल करने पर आमदा थे जबकि राजपूत नियमों से लड़ रहे थे।

पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति भी उसके लिए बड़ी महँगी पड़ी क्योंकि चालुक्य, चंदेल व गहड़वाल उससे रुष्ट थे। अतः उन्होंने तराइन के युद्ध में

तटस्थता की नीति को अंगीकार करते हुए पृथ्वीराज की पराजय का इन्तजार करते रहे। इसके साथ ही पृथ्वीराज को उसकी स्वयं की भूलों की वजह से भी पराजय का मुख देखना पड़ा था। पृथ्वीराज अपने जीवन के पिछले दिनों में कई दुर्गुणों का शिकार हो गया था जैसे—आलस्य, शैथिल्य, विलासिता आदि। ऐसी स्थिति में गोरी के समक्ष टिकना असंभव-सा था।

परिणाम—तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणाम जहाँ एक ओर भारतीयों के लिए हानिकारक रहे वहीं दूसरी ओर तुर्कों के लिए लाभकारी सिद्ध हुए। स्मिथ का कहना है कि "1192 ई. का तराइन का दूसरा युद्ध एक निर्णायक संघर्ष माना जा सकता है, जिसने मुसलमानों के आक्रमण की विजय को सुनिश्चित कर दिया।" चौहानों का कोई 250 वर्ष पुराना साम्राज्य समाप्त हो गया और इस विजय से प्रोत्साहित होकर गोरी तथा उसके सेनानायकों ने थोड़े समय में ही समस्त उत्तरी भारत पर अपना आधिपत्य जमा लिया। आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार, "तराइन का दूसरा युद्ध भारतीय इतिहास की एक युग-परिवर्तनकारी घटना है।" इस युद्ध ने उत्तरी भारत में मुस्लिम साम्राज्य की नींव डाल दी। चौहान शक्ति का पराभव हो गया था। अतः मंदिर तोड़े गये और उनकी जगह मस्जिदें बनवाई गईं। अजमेर का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा इसका ज्वलंत उदाहरण है कि वहाँ पर विग्रहराज चौहान द्वारा स्थापित संस्कृत विद्यालय था जिसे तुड़वाकर मस्जिद बनवाई गई। अब हमारे देश में दिनों-दिन इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार तेजी से बढ़ता गया। इस युद्ध ने राजपूतों की शक्ति को तहस-नहस कर दिया। हजारों की संख्या में वीर योद्धा मारे गये तथा हताहत रहे। साथ ही यहां की संचित विपुल धन राशि भी तुर्कों के हाथ लगी। परिणामतः पराधीनता के युग की शुरुआत यदि यहीं से स्वीकार कर लें तो कोई कठिनाई नहीं होगी।

आर. सी. मजूमदार ने ठीक ही कहा है कि, "तराइन के दूसरे युद्ध में पृथ्वीराज की पराजय ने केवल चौहानों की राज्य शक्ति का ही नाश नहीं किया, अपितु पूरे हिन्दू धर्म पर विनाश ला दिया। राजपूतों का साहस पूरी तरह टूट गया और सारा देश आतंक से जकड़ गया।"

इस युद्ध का परिणाम बौद्ध धर्म के लिये भी घातक सिद्ध हुआ। उत्तरी भारतवर्ष में बौद्ध धर्म एक संगठित धर्म के रूप में था किन्तु शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के आने के बाद इसका पटाक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। गोरी के ही एक सेनापति ने सारनाथ के बौद्ध शिक्षा विहार को तहस-नहस कर दिया था। स्मिथ ने भी स्वीकार किया है कि पृथ्वीराज की पराजय ने बौद्ध धर्म का विनाश कर दिया।

कर्नल जेम्स टॉड ने पृथ्वीराज की इस पराजय में भी विजय को देखा है। वह लिखता है कि, "पृथ्वीराज की युद्ध में हार हुई किन्तु उसका नाम सदैव के लिए इस देश के इतिहास में अमर हो गया।" फिर भी यह युद्ध एक युगान्तकारी परिवर्तन के रूप मे सदैव स्मरण रहेगा जिसके कारण इसके बाद का काल भारतीय राजनीति मे मुस्लिम-राज्य की स्थापना का युग कहा जा सकता है।

पृथ्वीराज का व्यक्तित्व—अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान में योग्य प्रशासक, वीर एवं साहसी योद्धा व सेनानायक तथा विद्यानुरागी आदि गुण विद्यमान थे। चूंकि वह एक महत्वाकांक्षी शासक था अत: उसने अपनी दिग्विजयों को संगठित कर, वहां पर सुशासन व्यवस्था स्थापित की जो उसके योग्य व कुशल प्रशासक के गुणों को स्पष्ट करती है। 11 वर्ष की अल्पायु में वह गद्दी पर बैठा तब से उसे निरन्तर युद्धों का सामना करना पड़ा तथा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में उसे दिग्विजयों के दौरान भी कई युद्ध लड़ने पड़े जिसमें 1192 ई. के तराइन-युद्ध के अलावा वह सभी युद्धों मे विजयी रहा। इस दृष्टि से वह एक योग्य, साहसी सेनानायक व अचूक तीरन्दाज व युद्ध-कुशल वीर था।

पृथ्वीराज चौहान विद्यानुरागी, विद्वान व विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके काल में हुई साहित्यिक प्रगति प्रशंसनीय थी। विद्यापति गौड़, वागीश्वर, जयानक, विश्वरूप, जनार्दन, चन्द्रबरदाई व पृथ्वीभट्ट जैसे लेखक व कवि उसके दरबार को सुशोभित कर रहे थे। दशरथ शर्मा ने पृथ्वीराज चौहान को उसके गुणों के आधार पर एक योग्य व रहस्यमय शासक कहा है।

पृथ्वीराज के व्यक्तित्व में जहां हमें एक ओर गुणों का भण्डार नजर आता है वहीं दूसरी ओर उसमें कुछ कमियां भी थी। इस दृष्टि से हम उसे एक अदूरदर्शी शासक भी कह सकते है। उसने अपने विजय-अभियान में अधिकांशत: पड़ोसी राज्यों से युद्ध किया। परिणामस्वरूप उनसे उसकी शत्रुता गहरी हो गई और जब वाह्य आक्रमणकारी के रूप में तुर्क शक्ति से जूझना पड़ा तब वह अकेला पड़ गया और किसी ने भी उसका साथ नही दिया। उसने समय व परिस्थिति को देखते हुए अपनी दकियानूसी सैन्य पद्धति में कोई परिवर्तन नही किया। उसके जीवन के अन्तिम दिनों में तो उसके व्यक्तित्व में कई बुराइयों ने प्रवेश कर लिया था। आलस्य व प्रमाद ने उसे चारों तरफ से घेर लिया। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार उसमें न तो सच्चे साथियों को चुनने की क्षमता थी और न ही शत्रु की शक्ति को परखने की

क्षमता ही । वह वीर होते हुए भी कूटनीति तथा धोखेबाजी के बीच संतुलन स्थापित नही कर सका । दशरथ शर्मा ने भी ठीक ही कहा है कि उसको सैनिक भूलों के लिए कभी क्षमा नही किया जा सकता है ।

पृथ्वीराज चौहान के बाद राजस्थान—तराइन के दूसरे युद्ध के बाद राजस्थान की शक्ति विकेन्द्रित हो गई । पृथ्वीराज के विशाल राज्य का एक छोटा-सा भाग उसके पुत्र गोविन्दराज को दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने रणथंभोर के रूप में प्रदान किया । जालोर में चौहानों की अन्य शाखा सोनगरा, वागड़ तथा आबू-चन्द्रावती मे परमार वंश, जैसलमेर मे भाटी, मेवाड़ मे गुहिल वंश, आदि जो कि तराइन-युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज तृतीय के सामन्त शासक के रूप में शासन करते थे, आमेर के कछवाहों के अनुरूप स्व-तंत्र शासक बन गये । यों 1192 ई. के बाद राजनीतिक दृष्टि से विशेषत: दो वंशो ने अपनी शक्ति मे वृद्धि करने के साथ-साथ नवोदित मुस्लिम शक्ति को राजस्थान मे स्थायी नही होने दिया । प्रथम मेवाड़ का शासक रावल जैत्रसिंह तथा दूसरा जालोर का शासक उदयसिंह सोनगरा था । अजमेर, पाली तथा नागौर में दिल्ली के सुरतान कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा सैनिक छावनियाँ स्थापित कर दी गईं किन्तु इल्तुतमिश को उन्हे यथावत रखने के लिए दोनों शासकों से युद्ध करने पड़े थे । सुल्तान इल्तुतमिश ने गुजरात अभियान हेतु जालोर तथा मेवाड़ राज्य के अन्दर से जाने वाले मार्ग पर लगभग 1222 ई. में प्रस्थान किया किन्तु दोनों ही शासकों द्वारा उसे सैनिक-क्षति उठानी पड़ी । वह इन दोनो राज्यो पर अपना प्रभुत्व नही रख सका ।

यदि दोनो शासक एक जुट होकर इल्तुतमिश का विरोध करते तो दिल्ली सल्तनत का वैधानिक संस्थापक परिस्थितियो से विवश होकर उत्तरी भारत के स्थान पर पूर्वी भारत की ओर प्रयाण कर जाता । किन्तु दोनों शासक अपनी-अपनी शक्ति के विस्तार के प्रलोभन में सदेह से ग्रसित रहे थे । परिणामस्वरूप इल्तुतमिश ने राजस्थान के पूर्वी भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर, राजस्थान मे मुस्लिम प्रशासन की नीव की स्थापना कर दी ।[20]

रणथंभोर के शासक गोविन्दराज के उत्तराधिकारियो ने इल्तुतमिश के उत्तराधिकारियो की निर्बलता का लाभ उठाकर स्वतंत्रता का उपभोग करना प्रारम्भ कर दिया । फलत: सुल्तान नासिरुद्दीन (1246 ई.-1265 ई) के

---

20 एम. एस. आहलूवालिया, मुस्लिम एक्सपान्सन इन राजस्थान, पृ. 61-62

काल में तत्कालीन शासक वाग्गभट्ट के विरुद्ध गयासुद्दीन बलबन द्वारा आक्रमण किये गये परन्तु मिनहाज के अनुसार सभी आक्रमण असफल रहे तथा मुस्लिम सेना को काफी हानि पहुँची। इसी भाँति बूंदी तथा चित्तौड़ पर किये गये आक्रमणों को भी रावल जैत्रसिंह के उत्तराधिकारी तेजसिंह ने सफल नहीं होने दिया था।

राजपूतों द्वारा उत्थान के प्रयास—जालौर के उदयसिंह तथा मेवाड़ के जैत्रसिंह के बीच पौत्री-पुत्र का विवाह दोनों शासकों की शक्ति को गुजरात के विरुद्ध एक सूत्र में बांधने में अधिक सहायक नहीं रहा। किन्तु जब सुल्तान इल्तुतमिश एवं उसके उत्तराधिकारी सुल्तान नासिरुद्दीन ने जालौर एवं मेवाड़ पर आक्रमण किया तब दोनों ने इसका विरोध अलग-अलग किया था। मेवाड़ की शक्ति को निर्बल करने तथा वागड़ के प्रान्तों को पुनः हस्तगत करने हेतु 1242-43 ई. में गुजरात के त्रिभुवनपाल तथा मालवा के जयतुगीदेव द्वारा संयुक्त आक्रमण को रावल जैत्रसिंह द्वारा विफल करने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राजस्थान मे मेवाड़ की राजनीतिक शक्ति का अभ्युदय हो रहा था। इसकी पुष्टि 1261 ई. में कमलचन्द्र द्वारा लिखी एक जैन पट्टिका से भी होती है जबकि गुजरात के शासक वीसलदेव ने वागड़ का गुजराती प्रदेश हस्तगत करने हेतु रावल तेजसिंह पर प्रबलतम आक्रमण किया किन्तु अन्ततः उसे असफल लौटना पड़ा। यों रावल तेजसिंह के पुत्र रावल समरसिंह ने भी राज्य की शक्ति-वृद्धि तथा विस्तार की योजनाओं को क्रियान्वित करने हेतु जालौर-मेवाड़ संधि को आंशिक रूप में पुनर्जीवित किया था। इस संधि के कारण दोनों ही राज्यों की संयुक्त सेनाओं ने गुजरात के आबू चन्द्रावती को मेवाड़ राज्य मे प्रतिष्ठित कर दिया किन्तु रणथंभोर के शासक हम्मीर चौहान की दिग्विजय-अभियान से भयभीत होकर दोनों की यह संधि विच्छिन्न होकर अपनी-अपनी आत्मरक्षा के अन्दर समाविष्ट हो गई।

हम्मीर चौहान की दिग्विजय—हम्मीरदेव, रणथंभोर राज्य के गोविंदराज की सातवीं पीढ़ी का शासक था। 1282 ई. में वह अपने पिता जैत्रसिंह की जीवितावस्था में ही गद्दी पर बिठा दिया गया था। हम्मीर एक महत्वाकांक्षी शासक था, तत्कालीन राजनैतिक स्थिति भी उसकी कामना को पूर्ण करने के लिए उपयुक्त थी। उसके गद्दी पर बैठने के कुछ वर्षों पश्चात ही बलबन की मृत्यु हो गई थी। अतः सल्तनत में अराजकता फैली हुई थी। तब दिल्ली से निश्चिन्त होकर हम्मीर ने अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ की। उसने 1291 ई. से पूर्व तक दिग्विजय करके अपनी सीमा व शक्ति में अभिवृद्धि

कर ली थी। इस संदर्भ में उसने दोहरी नीति अपनाते हुये कई राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य का अंग बनाया तो कई राज्यों से केवल कर ही लिया। सर्वप्रथम हम्मीर ने भीमरस के शासक अर्जुन को पराजित किया तथा मांडलगढ से कर वसूल किया। इसके बाद उसने धार के परमार शासक भोज को परास्त किया। मेवाड़ के शासक समरसिंह को पराजित करके हम्मीर ने राजस्थान मे अपना दबदबा स्थापित कर दिया। मेवाड़ के बाद वह आबू, वर्धनपुर (काठियावाड़), पुष्कर, चम्पा, त्रिभुवनगिरी होता हुआ स्वदेश लौटा। इस विजय ने राजस्थान मे जालोर के स्थान पर रणथभोर के चौहानों की राजनीतिक पद-प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठापित कर दिया। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी। जलालुद्दीन खलजी ने सल्तनत पर अधिकार कर लिया और यों तब खलजी वंश की स्थापना की। गद्दी पर बैठते ही स्वाभाविक रूप से उसका ध्यान रणथंभोर की ओर गया। अतः रणथंभोर की शक्ति को नष्ट करने के लिए उसने 1291 ई. में जाइन के दुर्ग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण मे चौहान सेना का नायक गुरदास सैनी खेत रहा और खलजी सेना ने दुर्ग पर अधिकार कर लिया। सुल्तान ने दुर्ग का निरीक्षण किया तथा उसके मंदिरों और दुर्ग की शिल्प कला को नष्ट कर दिया। इसके पश्चात सुल्तान रणथभोर को हस्तगत करने बढ़ा जहां हम्मीर ने दुर्ग में रसद आदि का प्रबन्ध कर सुरक्षात्मक रणनीति द्वारा सुल्तान का प्रतिशोध किया। अमीरखुसरो के अनुसार हम्मीर ने एक अति-रिक्त सेना दुर्ग से निकाल कर जलालुद्दीन की सेना के पृष्ठ भाग पर आक्रमण को भेजी। अत: दोनों ओर आक्रमण से तंग आकर जलालुद्दीन को युद्ध बन्द कर लौटना पड़ा था। इस युद्ध में वस्तुत: सफलता हम्मीर को प्राप्त हुई थी। ज्योंही सुल्तान दिल्ली लौटा त्योंही हम्मीर ने जाईन पर पुन: अधिकार कर लिया। 1292 ई. मे सुल्तान ने रणथंभोर पर फिर आक्रमण किया किन्तु उसका यह प्रयास भी निष्फल ही रहा।

यद्यपि हम्मीर जलालुद्दीन के आक्रमण का सफलतापूर्वक सामना कर सका तथापि विपत्ति से छुटकारा अभी भी नही मिला था। अलाउद्दीन खलजी ने अपने चाचा तथा श्वसुर जलालुद्दीन की हत्या कर गद्दी पर बैठा, उसके साथ ही सल्तनत-प्रसार का नया युग प्रारम्भ हुआ। अलाउद्दीन खलजी भी एक महत्वाकांक्षी शासक था। वह विश्व-विजय के सपने देखने लगा परन्तु वह यथार्थवादी भी था। अत: उसको यह स्पष्ट भान था कि जब तक अपने राज्य के आस-पास की शक्तियों को कुचल न दिया जाय तब तक उसका राज्य-विस्तार तो क्या सुरक्षा भी संभव नही है। उत्तरी भारत

में उसको सब से बड़ी चुनौती राजस्थान से ही मिल सकती थी। अतः राजस्थान-विजय को योजनाबद्ध तरीके से शुरू किया और उसका ध्यान सर्वप्रथम जैसलमेर की ओर गया।

जैसलमेर-आक्रमण—जैसलमेर पर आक्रमण कब और कितने हुए इसके बारे में विभिन्न साधन एकमत नहीं है। चारण गाथाओं ने दो आक्रमणों का वर्णन किया है परन्तु उनमें दी हुई तारीखें बहुत विश्वसनीय प्रतीत नहीं होती है। समकालीन मुस्लिम ग्रन्थों में भी इन आक्रमणों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु के. एस. लाल ने चारण साहित्य तथा एक फारसी ग्रन्थ तारीख-ए-मासूमी के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि अलाउद्दीन खलजी का जैसलमेर पर आक्रमण 1299 ई. में हुआ होगा और तब इसमें वह दुर्ग पर अधिकार करने में सफल हो गया था किन्तु अलाउद्दीन की राजस्थान में सबसे प्रथम महत्वपूर्ण विजय रणथंभोर की रही।

रणथम्भोर-आक्रमण के कारण—अलाउद्दीन द्वारा रणथंभोर पर आक्रमण करने के कई कारण हैं जो इस भांति हैं—

1 रणथम्भोर चौहान-शक्ति का केन्द्र था इसलिए अलाउद्दीन इसे समाप्त करना चाहता था।

2 के. एस. लाल के अनुसार एक कारण तो दिल्ली से रणथम्भोर की निकटता थी। अलाउद्दीन खलजी को अपने राज्य के पास हम्मीर जैसे शक्तिशाली शासक का रहना असह्य था। इससे उसके राज्य की सुरक्षा भी खतरे में हो सकती थी इसलिए चौहानों की शक्ति को समाप्त करना उसके राज्य के हित मे अनिवार्य था।

3 एक अन्य कारण बदले की भावना भी माना जाता है। जलालुद्दीन खलजी को यहां असफलता मिली इसलिए उस अपमान को दूर करने हेतु अलाउद्दीन खलजी ने इसको अधिकृत करना आवश्यक समझा।

4 हम्मीर महाकाव्य के अनुसार तो नव मुस्लिमों को अपने यहां आश्रय देना आक्रमण का प्रमुख कारण था। 1298 ई. मे जब उसकी सेनायें गुजरात-विजय कर लौट रही थीं तब लूट के माल को बांटने के प्रश्न को लेकर खलजी सैनिक और सेनानायक उलुगखां में मत-भेद हो गया। विद्रोही सैनिकों ने उलुगखां की हत्या का भी प्रयास किया परन्तु वह बच गया और शीघ्र ही विद्रोहियों को पराजित कर दिया। विद्रोही नेताओं में मुहम्मदशाह आदि ने हम्मीर के यहां शरण ली। तब हम्मीर ने उनको अपने यहां आश्रय ही नहीं दिया बल्कि अपने भाई के अनुरूप उनका सम्मान भी किया। हम्मीर महाकाव्य के अनुसार अलाउद्दीन खलजी ने इन शरणार्थियों की मांग की

किन्तु हम्मीर ने इन्कार कर दिया। अतः रणथम्भोर-आक्रमण उसके लिए अनिवार्य हो गया।

5 सबसे प्रमुख कारण अलाउद्दीन की साम्राज्य-प्रसार की भावना थी। अलाउद्दीन एक महत्वाकांक्षी व साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का शासक था। वह समस्त भारत को अपने अधीन करने की इच्छा रखता था। उत्तरी भारत में स्वतंत्र शक्ति का अस्तित्व असह्य था इसलिए रणथम्भोर पर आक्रमण अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता था। रणथम्भोर की विजय राजस्थान-विजय की प्रथम आवश्यकता थी। अतः 1299 ई. में उसने अपने दो प्रमुख सेनानायक उलुगखां और नुसरतखां को ससैन्य आक्रमण करने के आदेश दिये।

आक्रमण—उलुगखां और नुसरतखां के नेतृत्व में भेजी गई सेना ने रास्ते में झाईं पर अधिकार कर लिया और उसे लूटा। रणथंभोर पहुंचने के पूर्व हम्मीर के पास यह समाचार भेजा गया कि यदि वह शरणार्थियों को सुल्तान को सौंप दे या उनको मार दे तो सेना पुनः दिल्ली चली जावेगी। तब हम्मीर ने यह कहलाया कि वह सुल्तान से न तो शत्रुता मोल लेना चाहता है और न ही इतना डरता भी है कि वह अपनी राजपूती परंपरा को तोड़ कर शरणार्थियों की हत्या में सहायक हो। ऐसी स्थिति में युद्ध होना निश्चित हो गया। राजपूतों ने किले के अन्दर रहते हुये रक्षात्मक युद्ध लड़ा जबकि उलुगखा व नुसरतखां ने तत्परता के साथ घेरा डालते हुये पाशेब व गरगच (पत्थर फेंकने का यंत्र) बनाने का आदेश दिया। बरनी के अनुसार राजपूत किले से अनवरत रूप से प्रक्षेपास्त्र फेंकते रहे तभी एक दिन नुसरतखां घायल हो जाने से मर गया और राजपूतों ने किले से बाहर आकर जोर का आक्रमण कर दिया जिससे उलुगखां को झांई तक पीछे हटना पड़ा।

उधर सुल्तान को यह समाचार मिले तो वह स्वयं रणथंभोर की ओर बढ़ा किन्तु मार्ग में ही वह शिकार खेलने के लिये ठहर गया। तब सुल्तान के भतीजे सुलेमानशाह जो अकतखां के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, षडयंत्र कर के राजगद्दी प्राप्त करने की विफल चेष्टा की। अकतखां से निपटने के बाद सुल्तान रणथंभोर पहुंचा। अलाउद्दीन के आने से घेरे में तेजी तो आई किन्तु किसी निर्णायक स्थिति पर पहुंचने से पूर्व ही उसके दो भानजों उमरखां व मंगूखां (बदायूं व अवध के हाकिम) के विद्रोह की सूचना मिली। तब शीघ्र ही विद्रोह दबा दिया गया और उन्हें बंदी बना कर रणथंभोर भेजा गया, जहां उनकी आंखें निकलवा दी गईं। इस बीच शाही पड़ाव में दिल्ली के एक भयंकर षड्यंत्र का समाचार जो हाजी मौला द्वारा किया गया था, पहुंचा। अलाउद्दीन ने अपनी सूझ-बूझ से इसे भी निष्फल कर दिया।

यों विभिन्न विद्रोहों एवं कठिनाइयों के बावजूद भी रणथम्भोर का घेरा निरंतर चलता रहा तब राजपूतों का साहस टूट जाना स्वाभाविक ही था। साथ ही किले के अन्दर युद्ध-सामग्री एवं खाद्य-सामग्री का भी अभाव हो गया "और शीघ्र ही इतना अकाल फैल गया कि चावल का एक दाना सोने के दो दानों के बदले मे खरीदा जा सकता था।" ऐसी स्थिति मे हम्मीर ने संधि-वार्ता हेतु अपने मंत्री रणमल को सुल्तान के पास भेजा। तब अलाउद्दीन द्वारा दिये गये लोभ से न केवल रणमल अपितु रतनपाल व उसके कुछ साथी भी छोड़ा कर के सुल्तान के साथ हो गये। इससे राजपूतों में निराशा छा गई। तब अन्तिम रूप से खुला युद्ध करने का निश्चय कर किले पर स्त्रियों ने रानी रंगदेवी के नेतृत्व में जौहर किया और राजपूत वीर केसरिया बाना धारण कर किले से बाहर आ गये। युद्ध में हम्मीर तथा उसके वंशज खेत रहे। मंगलवार, जुलाई 11, 1301 ई. को अलाउद्दीन का रणथम्भोर पर अधिकार हो गया और वहां पर कई मूर्तियां, मंदिर व भवन ध्वंस कर दिये गये। उलुगखां को रणथम्भोर का शासक नियुक्त कर सुल्तान दिल्ली आ गया। लाल का कथन है कि "हम्मीर ने अलौकिक साहस के साथ युद्ध किया और जिस जाति का वह था उस वीर जाति की पुनीत परम्पराओं का उसने पालन किया।" रणथम्भोर-विजय के उपरान्त सुल्तान अलाउद्दीन खलजी का ध्यान मेवाड़ की ओर गया।

अलाउद्दीन खलजी का चित्तौड़-अभियान—अलाउद्दीन खलजी को मिल रही निरन्तर सफलताओं ने आगे की विजयों के लिये उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया। गुजरात-विजय के बाद रणथम्भोर की सफलता से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने सोमवार, जनवरी 28, 1303 ई० को चित्तौड़-विजय के लिये एक विशाल सेना के साथ प्रयाण किया। तब इधर मेवाड़ के सिंहासन पर समरसी का पुत्र रतनसिंह कोई एक साल से आसीन था। जब उसे अलाउद्दीन के चित्तौड़-अभियान के समाचार ज्ञात हुये तो वह भी अपनी सैनिक तैयारी में पीछे नही रहा। अब प्रश्न उठता है कि अलाउद्दीन के चित्तौड़ पर आक्रमण करने के कारण क्या थे ? इस संदर्भ में तत्कालीन इतिहासकारों ने तो कोई स्पष्ट कारण नहीं बताये हैं किन्तु बाद के इतिहासकारों ने जो कारण बताये हैं वे इस प्रकार हैं—

आक्रमण के कारण—1 अलाउद्दीन एक महत्वाकांक्षी शासक था। वह सिकन्दर सानी बनना चाहता था। अतः बर्नी के अनुसार उसे इस क्रम में यह सलाह दी गई कि सर्वप्रथम वह हिन्दुस्तान विजय करे। इस विजय के प्रथम चरण मे रणथम्भोर, चित्तौड़, चन्देरी, मालवा, धार, उज्जैन जैसे राज्यों का

नाम था। गुजरात-विजय के बाद उसने राजस्थान की ओर ध्यान दिया और रणथम्भोर को जीत लेने के पश्चात् सुल्तान चित्तौड़ के सुप्रसिद्ध दुर्ग को जीतना चाहता था।

2 यों भी देखा जाय तो चित्तौड़ की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति सामरिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण थी। गुजरात और रणथंभोर पर अधिकार किया जाय अन्यथा दोनो विजयें निरर्थक हो सकती थी।

3 रायचौधरी के अनुसार सुल्तान दक्षिण भारत की विजय-योजना बिना मेवाड़ की विजय के पूर्ण नही कर सकता था। तब राजपूत शक्ति के मुख्यत: दो केन्द्र बिन्दु थे—रणथम्भोर व मेवाड। अत: रणथम्भोर-विजय के बाद मेवाड़ पर अधिकार किये बिना दक्षिण भारत की विजय हेतु जाना सल्तनत के लिये खतरा ही था, इसलिए शेष राजपूत शक्ति का पतन मेवाड़-विजय द्वारा ही संभव था।

4. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार व्यापारिक दृष्टि से भी मेवाड की विजय आवश्यक थी क्योंकि मालवा, गुजरात, मध्यप्रदेश तथा सिंध आदि भागों में चित्तौड़ तथा आहाड होकर व्यापारिक मार्ग जाते थे। ये दोनों ही मेवाड़ राज्य में थे, अतएव सल्तनत के व्यापार को निर्बाध करने हेतु मेवाड़-विजय आवश्यक थी।

5. शर्मा के ही मतानुसार, "राजनीतिक विचार से तथा विस्तारवादी नीति के अनुसार अलाउद्दीन राजस्थान की स्वतन्त्रता को अपने मार्ग में कांटा समझता था। उधर चौहानों की शक्ति का संगठन रणथम्भोर, जालौर, सिवाना आदि दुर्गों में हो रहा था और इधर गुहिलों की शक्ति का प्रमुख केन्द्र चित्तौड़ बन गया था। वह जानता था कि जब तक इन किलों की अभेद्य स्थिति को चुनौती नहीं दी जा सके तब तक खलजी विस्तार-नीति का पक्ष प्रबल नहीं हो सकता।"

6. कर्नल जेम्स टॉड, सुल्तान के आक्रमण का मुख्य कारण रावल रतनसिंह की अत्यन्त सुन्दर रानी पद्मिनी को प्राप्त करने की अभिलाषा मानता है। यों अलाउद्दीन के लिए मेवाड़ पर आक्रमण करना राजनैतिक, सामरिक, व्यापारिक तथा प्रतिष्ठा की दृष्टि से महत्वपूर्ण था।

आक्रमण—सुल्तान अलाउद्दीन खलजी ने जनवरी 1303 ई. में दिल्ली से रवाना हो कर अपना पडाव बयाना में किया और इसके बाद वह रणथम्भोर आया। यहां से चम्बल नदी को पार कर बून्दी, मांडलगढ़ होता हुआ वह दक्षिण-पूर्व की ओर से चित्तौड़ पहुंचा। चित्तौड़ की तलहटी (मैदान) में [illegible]िरो व बेड़च नदियों के मध्य अपने सैनिक-शिविरों को लगाया। इधर

अमीर खुसरो के अनुसार चित्तौड़ का राणा सारे हिन्दू राजाओं में श्रेष्ठ था और हिन्दुस्तान के सब शासक उसकी श्रेष्ठता मानते थे। उसने रक्षात्मक पद्धति से सुल्तान का सामना करने का निश्चय कर तलहटी की जनता को दुर्ग में बुलवा लिया तथा दुर्ग के द्वारों को बन्द करा दिया। सुल्तान के निर्देशन में सेना ने दुर्ग को बांये पक्ष से घेरना प्रारंभ किया और यह घेरा-बंदी कोई दो माह तक चलती रही। राजपूतों ने दुर्ग से कोई कार्यवाही नहीं की तब विवश होकर अलाउद्दीन ने मजनिकों से दुर्ग की दीवारों को तोड़ने का आदेश दिया। यों राजपूतों के समक्ष भी प्रतिरोध के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। अतः उन्होंने भी रक्षात्मक नीति से युद्ध करते हुये दुर्ग से आग, पत्थर, तीर आदि की बौछार शुरु कर दी। राजपूत योद्धा इतने अधिक सक्रिय थे कि दिन में युद्ध करते थे और रात में क्षतिग्रस्त प्राचीरों की मरम्मत करते थे। यों कोई चार माह तक निरंतर प्रतिरक्षा और किलेबंदी के कारण दुर्ग में खाद्य-सामग्री का अभाव होने लगा। साथ ही दुर्ग के बाहर से आने वाली रसद-पंक्ति को सुल्तान के सैनिकों ने काट दिया था। ऐसी स्थिति में राजपूतों ने खुला युद्ध करना अधिक श्रेयष्कर समझा। अतः राजपूती परंपरा के अनुसार अंतिम युद्ध से पूर्व पद्मिनी के साथ हजारों राजपूत-ललनाओं ने अपने बाल-बच्चों सहित जौहर की धधकती ज्वाला में कूद कर अपने सतीत्व की रक्षा की और इधर वीर राजपूत योद्धाओं ने केसरिया बाना धारण कर दुर्ग के फाटक खोल दिये। दुर्ग में हुई यह जौहर की घटना इतिहास में चित्तौड़ के प्रथम साका के नाम से जानी जाती है। यों सात माह के घेरे के बाद सोमवार, अगस्त 26, 1303 ई. को चित्तौड़ ने एक खुले युद्ध के पश्चात समर्पण कर दिया। राजपूतों की वीरता से अलाउद्दीन ने क्रुद्ध होकर कत्ले-आम की आज्ञा दे दी। 'खजायनुलफुतूह' में अमीर खुसरो कहते हैं कि एक ही दिन में तीस हजार हिन्दू सूखी घास के समान काट डाले गये। उसने चित्तौड़ के मंदिर तथा भवनों को ध्वस्त कर बर्बरतापूर्वक विनाश किया।[21] विजय के कुछ दिनों बाद वह अपने ज्येष्ठ पुत्र खिज्रखां को चित्तौड़ दुर्ग सौंपकर दिल्ली चला गया। उसने चित्तौड़ का नाम बदल कर अपने शहजादे के नाम पर ही खिज्राबाद रखा।

रतनसिंह के अन्त के बारे में इतिहासकार एक मत नहीं हैं। नैणसी की ख्यात के अनुसार तो रतनसिंह अलाउद्दीन से युद्ध करते हुए खेत रहा। टॉड भी इसी मत का समर्थन करता है परन्तु अमीर खुसरो जो स्वयं युद्ध-भूमि में

21 टॉड, जि. 1, पृ. 219

उपस्थित था, 'खजायनुलफुतूह' में कहता है कि चित्तौड पर अधिकार हो जाने के बाद राणा ने अलाउद्दीन खलजी के शिविर में शरण ली और उसको जीवन दान दे दिया गया। इसामी भी खुसरो का ही समर्थन करता है किन्तु के. एस. लाल के अनुसार राणा के अन्तिम दिनों और उसके अन्त के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नहीं है।

उधर खिज्रखाँ कुछ वर्षों तक चित्तौड़ पर शासन करता रहा किन्तु राजपूतो ने उसे शांति से नही रहने दिया। वे बराबर चित्तौड़ पर अपना अधिकार करने के प्रयास करने लगे लेकिन चौहान मालदेव की सहायता से तुर्कों का चित्तौड पर प्रभुत्व बना ही रहा। तब मालदेव का पक्का दुश्मन सीसोद के राजा हम्मीर ने चित्तौड़ प्राप्त करने हेतु निरन्तर युद्ध किया। के. एस. लाल के शब्दो मे "मालदेव ने उसे शान्त करने का प्रयत्न किया। उसने अपनी पुत्री का विवाह हम्मीर से कर दिया और उसे चित्तौड़ के कुछ भाग दे दिये किन्तु साहसी राणा चित्तौड़ को पुनः प्राप्त करने के लिए कृत-संकल्प था। अन्त में उसके प्रयत्नों को सफलता का सेहरा मिला और लगभग सन् 1321 मे मालदेव की मृत्यु के पश्चात् हम्मीर सम्पूर्ण मेवाड़ का स्वामी हो गया और उसने महाराणा की पदवी धारण की।" राजपूत-शक्ति अब इतनी अधिक बढ गई कि भविष्य के मुगल आक्रान्ताओं के लिए एक भारी कठिनाई हो गई थी।

आक्रमण का प्रभाव—चित्तौड़-विजय के बाद राजस्थान में कोई भी राजपूत-शक्ति नही बची जो सल्तनत का विरोध कर सके। किन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह युद्ध असफल युद्ध ही था क्योकि चार-पाच वर्षों में ही सुल्तान को इसे राजपूत प्रशासक को सौंपना पड़ा। खलजी वंश के पतन के साथ ही मेवाड़ पर नाम-मात्र का सल्तनत-शासन भी समाप्त हो गया। राजपूतों की इस पराजय ने मेवाड़ को भविष्य के लिये अधिक सतर्क व शक्तिशाली बनने के लिए प्रेरित किया।

सामाजिक दृष्टि से मेवाड़ में मुस्लिम बसने प्रारम्भ हो गये। अतः हिन्दू समाज के साथ-साथ मुस्लिम समाज की संस्कृति भी इस राज्य मे विकसित होने लगी। यों दो सम्प्रदायो का सह-अस्तित्व इस युद्ध का ही परिणाम था।

इस युद्ध में जन-धन की भी अत्यधिक हानि हुई थी। साथ ही यहा की संस्कृति की अमूल्य कला ध्वस्त की गई और यहां से वार्षिक कर दिल्ली जाने लगा।

अलाउद्दीन खलजी को इस विजय से बहुत बड़ा लाभ यह हुआ कि दक्षिण-अभियानों के लिए वह राजपूत-शक्ति के प्रति निश्चिन्त हो गया और

मध्यकाल मे पहली बार उत्तर-दक्षिण का आधिपत्य एक केन्द्र के अधीन सम्भव हुआ।

पद्मिनी प्रसंग कथा की ऐतिहासिकता—सिंहल द्वीप के राजा गधर्वसेन की पुत्री का नाम पद्मिनी था। उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था जो एक बार पिंजरे से निकल कर उड़ गया और व्याध के हाथ लगा। व्याध ने उसे एक ब्राह्मण को और ब्राह्मण ने उसे चित्तौड़ के राजा रतनसेन (रतनसिंह) को बेच दिया। एक दिन तोते ने रतनसिंह के सामने पद्मिनी की सुन्दरता का बखान किया। फलतः रतनसिंह ने उसे प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर, योगी के रूप में सिंहलद्वीप गया। 12 वर्ष तक योगी रतनसिंह पद्मिनी को प्राप्त करने के प्रयास करता रहा। अंततः गंधर्वसेन ने अपनी पुत्री का विवाह रतनसिंह के साथ कर दिया और वह उसे लेकर चित्तौड़ आ गया। तब राघवचेतन नामक व्यक्ति एक विद्वान् के रूप मे रतनसिंह की सेना मे आया। किन्तु जब रावल को यह पता लगा कि वह विद्वान के स्थान पर जादू-टोने में निपुण व्यक्ति है, तब उसे चित्तौड़ से निकाल दिया। अपमानित राघवचेतन ने प्रतिशोध की भावना से चित्तौड़ से दिल्ली अलाउद्दीन के पास पहुंच कर, पद्मिनी के सौंदर्य-लावण्य का वर्णन करते हुए सुल्तान को इस बात के लिए पक्का तैयार कर लिया कि वह पद्मिनी को अपने हरम में ले आये। परिणामस्वरूप अलाउद्दीन आठ माह तक चित्तौड़ का घेरा डाले रहा किन्तु जब उसे कोई बात बनती नजर नही आई तो रतनसिंह के साथ मैत्री का हाथ बढ़ाया। अलाउद्दीन दिल्ली जाने से पूर्व दुर्ग पर गया और वहां दर्पण में पद्मिनी की एक झलक देखने के बहाने पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार छलपूर्वक रतनसिंह को बदी बना लिया और यह कहलाया कि पद्मिनी को सौपे बिना रावल को मुक्त नही किया जायेगा। तब गोरा, बादल व पद्मिनी ने रावल को छुड़ाने का एक तरीका निकाला और सदेश भेजा कि पद्मिनी अपनी सहेलियों सहित आ रही है। 1600 सशस्त्र सैनिक पद्मिनी की सहेलियों के भेष में पालकियों मे सुल्तान के पड़ाव की ओर भेजे गये, जहां सुल्तान को यह कहलाया कि पद्मिनी पहले अपने पति से मिलकर फिर आपकी सेवा में हाजिर हो रही है। पडाव पर पहुंच कर पालकियो मे से सशस्त्र सैनिक बाहर निकले और अलाउद्दीन से युद्ध कर रतनसिंह को छुड़ा लाये किन्तु तुर्कों की फौज ने उनका पीछा किया और रतनसिंह अपने कई सैनिकों सहित दुर्ग की रक्षा करता हुआ खेत रहा। उधर पद्मिनी भी हजारो स्त्रियों के साथ जौहर की ज्वाला में कूद पड़ी। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ तो ले लिया किन्तु पद्मिनी को नही ले सका।

उपर्युक्त कथानक मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' में मिलता है। इसके ग्राधार पर फरिश्ता, हाजीउद्दबीर व ग्रबुलफजल ने भी पद्मिनी की कथा को कुछेक गौण अंतरों के साथ स्वीकार किया है। राजस्थान के चारण व भाटों के साहित्य में भी यह रोचक वर्णन मिलता है जिसे ग्राधार बनाकर कर्नल टॉड ने भी इसे स्वीकार किया है किन्तु ग्रोझा, के. एस. लाल, कानूनगो, बनारसीप्रसाद ग्रादि इतिहासकार पद्मिनी की ऐतिहासिकता में संदेह व्यक्त करते हैं। ग्रोझा के ग्रनुसार, "इतिहास के ग्रभाव में लोगों ने 'पद्मावत' को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया, परन्तु वास्तव में यह ग्राजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की-सी कवितावद्ध कथा है, जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रतनसेन चित्तौड़ का राजा, पद्मिनी उसकी राणी ग्रौर ग्रलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था, जिसने रतनसेन से लड़कर चित्तौड़ का किला छीना था। ग्रधिकांश बातें कथा को रोचक बनाने के लिये कल्पित की गई हैं। क्योंकि रतनसिंह एक बरस भी राज्य करने नहीं पाया, ऐसी दशा में योगी बन कर उसका सिंहलद्वीप (लंका) तक जाना ग्रौर वहाँ की राजकुमारी को ब्याह लाना कैसे संभव हो सकता है? उसके समय सिंहलद्वीप का राजा गंधर्वसेन नहीं ग्रपितु राजा कीर्तिनिश्शंकदेव पराक्रमबाहु (चौथा) या भुवनेकबाहु (तीसरा) होना चाहिए। सिंहलद्वीप में गंधर्वसेन नाम का कोई राजा ही नहीं हुग्रा। उस समय तक कुम्भलनेर (कुम्भलगढ़) ग्राबाद भी नहीं हुग्रा था, तो देवपाल वहाँ का राजा कैसे मान लिया जाय? ग्रलाउद्दीन ग्राठ माह तक चित्तौड़ के लिये लड़ने के बाद निराश होकर दिल्ली को नहीं लौटा, किन्तु ग्रनुमानतः छः महीने लड़कर उसने चित्तौड़ ले लिया था। वह एक ही बार चित्तौड़ पर चढ़ा था, इसलिये दूसरी बार ग्राने की कथा कल्पित ही है।" ग्रोझा ने तो फरिश्ता व टॉड के कथनों का भी खंडन करते हुए लिखा है कि, "फरिश्ता का लेख कोई प्रामाणिक नहीं है क्योंकि पद्मिनी के दिल्ली जाने की बात ही निर्मूल है ग्रौर ग्रलाउद्दीन की कैद से भागा हुग्रा रतनसिंह बच जाय ग्रौर देश को उजाड़ता रहे तथा सुलतान उसे सहन करता हुग्रा ग्रपने पुत्र को चित्तौड़ खाली करने को कहे, ग्रसंभव-सा प्रतीत होता है। 1304 ई. में खिज्रखाँ द्वारा चित्तौड का किला खाली किया जाना व मालदेव को देना भी उचित नजर नहीं ग्राता है। फरिश्ता तो यह भी तय नहीं कर पाया कि पद्मिनी रतनसिंह की पुत्री थी या पत्नी। टॉड ने पद्मिनी का सम्बन्ध भीमसिंह से मिलाया ग्रौर उसे लखमसी के समय की घटना मान ली। ऐसे ही लखमसी का सक ग्रौर मेवाड़ का राजा होना भी लिख दिया, परन्तु लखमसी न तो मेवाड़

का कभी राजा हुआ और न बालक था, अपितु सीसोदे का सामन्त था, और उस समय वृद्धावस्था को पहुंच चुका था। इसी तरह भीमसी, लखमसी का चाचा नहीं किन्तु दादा था। ऐसी दशा में टॉड का कथन भी विश्वास के योग्य नहीं हो सकता।" के. एस. लाल ने भी इस कथा को कवि की कल्पना से अधिक स्वीकार नहीं किया है। जायसी का पद्मावत 1580 ई. में अर्थात् चित्तौड़ के घेरे के 237 वर्ष बाद लिखा गया था। यों 'पद्मावत' कोई सम-सामयिक नहीं था अतः इसमें ऐतिहासिक तथ्य ढूंढना ठीक नहीं है। "जायसी के महाकाव्य में अनेक हास्यास्पद और अशुद्ध बातें स्पष्टतः प्रदर्शित करती हैं कि यह एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है।"

फरिश्ता का कथन भी असंगतियों से भरा पड़ा है, जिसने जायसी के 70 वर्ष बाद लिखा था और हाजीउद्दवीर का पद्मिनी का वर्णन तो और भी अधिक संदेह उत्पन्न कर देता है। "वह कभी रतनसिंह के नाम का उल्लेख नहीं करता और पद्मिनी का उल्लेख कुछ विशेष गुणों वाली स्त्री के रूप में करता है, किसी व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं। फिर वह मुक्ति की युक्ति का श्रेय राय की योजनात्मक बुद्धि को देता है, पद्मिनी के चातुर्य को नहीं। इतिहासकार निश्चयपूर्वक यह नहीं कहता कि पद्मिनी की मांग चित्तौड अधिकृत किये जाने के पश्चात् की गई थी या सुल्तान के हाथों रतनसिंह के बंदी हो जाने के पश्चात्। सर्वाधिक कौतूहलजनक बात यह है कि वह खिज्रखा के नाम का उल्लेख नहीं करता।"

जायसी अंत में लिखता है कि, "इस कथा में चित्तौड़ देह का, राजा रतनसिंह मस्तिष्क का, सिंघल द्वीप हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का और सुल्तान अलाउद्दीन माया का प्रतीक है। बुद्धिमान जन समझ सकते हैं कि इस प्रेम-कथा का तात्पर्य क्या है ?" जायसी की इस टीका से लाल के अनुसार "यह स्पष्ट है कि वह एक दृष्टान्त-कथा लिख रहा था, कोई सत्य ऐतिहासिक घटना नहीं।"

यदि इस कथा को मेवाड़ की परम्परा में भी स्वीकार करलें तो भी लाल का यही कहना है कि "परम्परा इतिहास का अधिक प्रामाणिक स्रोत नहीं होती और यह कहना सरल नहीं है कि मेवाड़ की परम्परा कितनी प्राचीन है और वस्तुतः जायसी के 'पद्मावत' से अधिक प्राचीन है या नहीं।" "परम्परा निःसंदेह इतिहास का एक स्रोत है किन्तु यह स्रोत निश्चिततः निर्बलतम होता है और जब तक इसका समर्थन समकालीन साहित्यिक, ऐतिहासिक, शिलालेख सम्बन्धी और मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्यों से नहीं होता,

उसे सच्चे इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।"[22]

ग्रमीरखुसरो ने, जो स्वयं सुल्तान के साथ चित्तौड़ था, निर्भयता एवं ग्रतिशयोक्ति के साथ घेरे का विस्तृत वर्णन किया है। किन्तु पद्मिनी की घटना का कोई वर्णन नही किया। इतनी बड़ी घटना को खुसरो टाल दे, यह उचित प्रतीत नही होता है। स्पष्ट है कि पद्मिनी को लेकर कोई घटना ही नहीं घटी।

"बरनी, इसामी, इब्नबतूता ग्रौर 'तारीख-ए-मुहम्मदी' ग्रौर 'तारीख-ए-मुबारकशाही' के लेखको जैसे समकालीन इतिहासकारों, यात्रियो के साक्ष्य हैं, जो पद्मिनी के मामले की ग्रोर इंगित भी नही करते। इन सभी पर चित्तौड़ की घटना पर चुप्पी साधने का षडयंत्र करने का ग्रारोप नही लगाया जा सकता।" के. एस. लाल ग्रन्त मे टिप्पणी करता हुग्रा लिखता है कि "कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात नग्न सत्य ये है कि सुल्तान ग्रलाउद्दीन ने सन् 1303 में चित्तौड़ पर ग्राक्रमण किया ग्रौर ग्राठ माह के विकट संघर्ष के पश्चात उसे ग्रधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा ग्राक्रान्ताग्रों से युद्ध करते हुए खेत रहे ग्रौर वीर राजपूत स्त्रियां जौहर की ज्वाला मे समाधिस्थ हो गयीं। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुईं, उनमे संभवतः रतनसिंह की एक रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यो के ग्रतिरिक्त ग्रौर सब कुछ एक साहित्यिक रचना है, ग्रौर उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नहीं है।"

बनारसीप्रसाद[23] ने भी इस कथा को स्वीकार नही किया है। कानूनगो ने भी पद्मिनी की कथा को ग्रनैतिहासिक बताने का प्रयास किया है। पद्मिनी कोई नारी विशेष नही थी ग्रपितु यह तो काम शास्त्र मे जो चार प्रकार की स्त्रियां बताई गई हैं उनमे से एक जातिवाचक के रूप मे थी। मेवाड़ का विस्तृत इतिहास उद्धृत करने वाली 'कुम्भलगढ प्रशस्ति' में तथा खुसरो के फारसी पद्य मे कही पर भी पद्मिनी का उल्लेख नही मिलता है।

पक्ष के तर्क—एम. हबीब, एस. राय, एस. सी. दत्त, दशरथ शर्मा, ग्राशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, मुनि जिनविजय, गोपीनाथ शर्मा ग्रादि इतिहासकारों ने पद्मिनी की कथा को स्वीकार किया है। दशरथ शर्मा ने कुछ विशिष्ट ऐतिहासिक प्रमाणो के ग्राधार पर 'पद्मिनी-ग्रन्तर्कथा' को तथ्यात्मक

---

22 के. एस. लाल, खिलजी वंश का इतिहास, पृ. 106-7
23 कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ग्रॉफ इण्डिया, जि. 5, पृ. 370

प्रकट किया है।[24]

1 अलाउद्दीन के समकालीन स्रोत व लेखकों (बरनी, इसामी, इब्नबतूता और तारीख-ए-मुहम्मदी व तारीख-ए-मुबारकशाही) द्वारा पद्मिनी का उल्लेख नही करना कोई प्रबल प्रमाण नही है। यों भी फारसी तवारीखो मे चित्तौड़ का अति संक्षिप्त वर्णन ही मिलता है।

2 'पद्मावत' मे कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व लिखित 'छिताई चरित' मे इस घटना का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार अज्ञात कवि द्वारा बनाये गये 'गोरा-बादल चरित' विषयक कवित्त उपलब्ध हुए हैं जो भाषा की दृष्टि से जायसी से पहले के लगते हैं।

3 के. एस. लाल द्वारा उद्धृत पद्मावत की अंतिम पंक्तियाँ मालाप्रसाद तथा वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' की पांडुलिपि मे नही मिलती है जो कि वैज्ञानिक ढंग से सम्पादित है।

4 राघव भिखारी की कथा ऐतिहासिक है क्योकि आचार्य शुक्ल ने भी अपनी कृतियों मे इसका उल्लेख किया है।

5 अलाउद्दीन ने पद्मिनी को प्राप्त करने की इच्छा से ही चित्तौड़ पर आक्रमण किया था और जब चित्तौड़ तो उसे मिल गया किन्तु पद्मिनी नही मिली तो एक प्रेमी के रूप मे अलाउद्दीन पद्मिनी की भस्मी हाथ मे लेकर ही सन्तुष्ट हुआ।

मुनि जिन विजय ने भी 'पद्मिनी-अन्तर्कथा' को स्वीकार करते हुये कहा है कि अमीर खुसरो एक कवि था और इतिहासकार बाद में, इसीलिए इलियट व डाउसन, पीटर हार्डी आदि आंग्ल विद्वान, हबीब तथा रिजवी जैसे भारतीय विद्वानों द्वारा खुसरो के ग्रन्थ का अनुवाद भिन्न-भिन्न प्राप्त होता है जिसका मुख्य कारण खुसरो द्वारा प्रयुक्त अलंकारिक भाषा है। फिर समकालीन इतिहासकारो में बरनी तथा खुसरो द्वारा उल्लिखित बयानों में भी भिन्नता है—प्रथम साक्ष्य चित्तौड़ अभियान मे सुल्तान की अपार क्षति बताता है, वहीं दूसरा साक्ष्य इस संदर्भ मे कुछ भी नही लिखता।

मुनि अपने मत की पुष्टि करता हुआ लिखता है कि खुसरो द्वारा लिखित 'खजायनुलफुतूह', 'देवलरानी' और 'खिज्रखा' मे भी वर्णन की भिन्नता है। एक में युद्ध का समय 6 माह है तो दूसरे में 2 माह का जबकि 'खजायनुल-

---

24 दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ. 664-65; राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस, सेशन 3, (उदयपुर), 1969 ई., दशरथ शर्मा का अध्यक्षीय भाषण।

फुतूह' के अनुसार चित्तौड़ पहुंचने पर सुल्तान की सेना दो माह तक कुछ भी नही कर सकी थी। अतः फाकनगो का अमीरखुसरो, बरनी आदि मुस्लिम लेखकों के कथनों को विशेष प्रामाणिक मानना सर्वथा असहीन है।

चारण, भाट तथा अन्य कवियों को अपने पूर्वजों की वंश-परम्परागत श्रुतियों और स्मरणों के द्वारा मूल बात तो अच्छी तरह ज्ञात रहती थी किन्तु समय के साथ-साथ कतिपय अपवाद आने भी स्वाभाविक हैं। समकालीन उल्लेखों एवं प्रमाणों में भी जब परस्पर विसंगतियां मिलती हैं तो सैकड़ों वर्षों से चली आई सत्य घटनाओं में यदि कल्पना का आभास हो तो असंगत नही है किन्तु इसी दृष्टि से मूल घटना को कल्पित मान लेना नवीन अन्वेषण के प्रति उदासीनता दिखलाना है।

अन्त मे स्वयं मुनि द्वारा सम्पादित ग्रन्थ हेमरतन कृत 'गोरा-बादल चौपाई' के ऐतिहासिक वर्णन को सिद्ध करते हुए जिन विजय लिखता है कि प्रथम श्रेणी के स्रोतों के अभाव में द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के मूल्यांकन पर भी तथ्य-घटना को निरूपित किया जाता है। प्राप्य काव्य-कृतियों मे काव्य-कल्पना को बिना कसौटी पर कसे पूर्णतः काल्पनिक कहना इतिहास के प्रति अन्याय है।

आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव एवं गोपीनाथ शर्मा ने इस कथा मे कुछ वास्तविकता का अनुभव किया है—

1 लब्धोदय के 'पद्मिनी चरित्र' मे, हेमरतन के गोरा बादल चौपाई में तथा फरिश्ता व अबुलफजल के पद्मिनी व अलाउद्दीन संबंधी वर्णन 'पद्मावत' पर आधारित न होकर लोक वार्ता पर आधारित है। उसे निरा काल्पनिक कह कर नही टाला जा सकता है। "यह कथा एक राजपूत प्रणाली के अनुरूप विशुद्ध तथा स्वस्थ परम्परा के रूप में चली आई है, उसे सहज मे अस्वीकार करना ठीक नही।"

2 चित्तौड़-दुर्ग स्थित पद्मिनी के महल, गोरा-बादल की हवेली के अवशेष आदि उनके अस्तित्व के ज्वलंत उदाहरण हैं।

3 पद्मिनी को दर्पण मे दिखाने की घटना तो राजपूती मर्यादा के प्रतिकूल है किन्तु पद्मिनी द्वारा अपने पति को छुड़ाने का प्रयास व जौहर करना मध्य युगीन सामाजिक परम्पराओं के अनुकूल है।

4 रतनसिंह के बारे में तो यह भी कहा जाता है कि वह उस समय चित्तौड़ का शासक ही नही था किन्तु गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि इस संदर्भ के तर्क निराधार है। "वास्तव मे रतनसिंह समरसिंह का पुत्र था जो अलाउद्दीन के आक्रमण के समय मौजूद था।"

5 श्रीवास्तव के अनुसार 'खजायनुलफुतूह' में सुलेमान व सीबा तथा हुदहुद का उल्लेख पद्मिनी की कथा से संबंधित आख्यान का प्रतीक है। इसी तरह अमीरखुसरो लिखता है कि फतह होने पर राय भाग गया, परंतु पीछे वह स्वयं शरण में आया और तलवार की बिजली से बच गया। "ये वाक्य रतनसिंह के कैद होने तथा गोरा-बादल की युक्ति से कैद से निकलने के द्योतक हैं। कवि ने छिपाकर अलंकृत भाषा में इस वार्ता को लिखा है जिसको उसने स्वयं आँखों देखा था।"

6 वि. सं. 1422 में सम्यक्त्वकौमुदी की निवृत्ति में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सुल्तान ने राघवचेतन का सम्मान किया था। इसकी पुष्टि कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र की एक प्रशस्ति से भी होती है। बुद्धि-विलास से भी राघवचेतन के बारे में ज्ञात होता है। स्पष्ट है कि राघवचेतन भी एक ऐतिहासिक व्यक्ति था और उसका शुरू में चित्तौड़ तथा बाद में दिल्ली जाना भी ठीक ही प्रतीत होता है।[25]

पद्मिनी-अन्तर्कथा के संदिग्ध होने का सबसे बड़ा कारण जायसी का 'पद्मावत' है जो कि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों एवं काल्पनिक उड़ानों से समृद्ध है। वस्तुतः जायसी एक सूफी-संत था तथा उसका उद्देश्य भारतीय लोक मानस में सूफी-मत की प्राण-प्रतिष्ठा करना था। इसीलिये उन्होंने पद्मिनी की कथा को काव्य-आधार बनाया। यद्यपि 'पद्मावत' की समस्त घटनायें सत्य नहीं हैं तथापि सूत्र रूप से किसी एक घटना की सत्यता निर्विवाद है।

सिवाना आक्रमण—अलाउद्दीन का ध्यान तीन वर्ष बाद पुनः राजस्थान की ओर गया और जुलाई 2, 1308 ई.[26] में उसने सिवाना पर आक्रमण किया। यह दुर्ग कान्हड़देव के भतीजे शीतलदेव के पास था। फुतहातेफिरोज-शाही के अनुसार यह घेरा काफी लम्बा चला। खलजी सेनाओं ने इसको लेने के कठोर प्रयास किये जिनमें उन्हें काफी नुकसान भी हुआ किन्तु दशरथ शर्मा के अनुसार अलाउद्दीन इनसे निराश होने वाला नहीं था। उसने दुगने

---

25 सोमानी, वीर भूमि चित्तौड़, पृ. 36-40

26 के. एस. लाल, खलजी वंश का इतिहास, पृ. 112, पाद टिप्पणी सं. 3, लाल ने इलाहाबाद विश्व विद्यालय की खजायनुलफुतूह (पाण्डु-लिपि), फलक 34 के आधार पर यह तारीख बताई है किन्तु हबीब के संग्रह में सुरक्षित खजायनुलफुतूह की पाण्डुलिपि में 1310 ई. है। दशरथ शर्मा ने भी इसी को स्वीकार किया है। द्रष्टव्य—राजस्थान थ्रू दी एजेज, पृ. 642-43

वेग से आक्रमण किया। शीतलदेव ने डटकर मुकाबला किया। नैणसी की ख्यात और कान्हड़दे-प्रबन्ध के अनुसार विश्वासघात के कारण अंत में अलाउद्दीन को सफलता मिली। दशरथ शर्मा का मत है कि हार का वास्तविक कारण पानी का अभाव था और इसलिये स्त्रियों ने जौहर किया व राजपूत सैनिकों ने अंत तक खलजी-सेना का सामना कर अपना जीवन उत्सर्ग किया। अमीर-खुसरो ने भी सिवाना के सैनिकों की वीरता और शौर्यता की बहुत प्रशंसा की है। अंत में नवम्बर में अलाउद्दीन को दुर्ग लेने में सफलता मिली और यहाँ का शासक शीतलदेव मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को वहाँ का प्रशासक नियुक्त कर, अलाउद्दीन अपनी राजधानी लौट गया। इस दुर्ग का नाम उसने खैराबाद रख दिया। परन्तु राजस्थान का अंतिम और महत्वपूर्ण संघर्ष उसका जालोर से हुआ।

जालोर-आक्रमण—जालोर में भी चौहान वंश का शासन था। दशरथ शर्मा का मानना है कि हिन्दू जीवन पद्धति को सुरक्षित रखने के लिये जालोर के चौहान-शासकों ने गंभीर संघर्ष किया। इस राज्य की स्थापना 1178 ई. में की गई। अलाउद्दीन खलजी के समय यहाँ का शासक कान्हड़देव था जिसने जालोर को एक नई प्रशासनिक व्यवस्था दी। अलाउद्दीन खलजी के जालोर-आक्रमण के निम्नांकित कारण थे—

1 जालोर का दुर्ग मारवाड़ से गुजरात व मालवा जाने वाले मार्ग पर केन्द्र में स्थित होने से इसका सैनिक एवं व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्व था।

2 "अलाउद्दीन खलजी जालोर के राय की बढ़ती हुई शक्ति को सहन नहीं कर सकता था।"[27]

3 अलाउद्दीन अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति में कई राज्यों को अपने अधीन कर चुका था और दक्षिण जाने के लिए जालोर मार्ग में पड़ता था। अत. इस दुर्ग की स्वतन्त्रता अलाउद्दीन खलजी के लिए असह्य थी।

4 कान्हड़देव एक वीर एवं योग्य शासक था अतएव स्वाभाविक रूप से उसका संघर्ष अलाउद्दीन खलजी से अवश्यंभावी था।

1298 ई. में अलाउद्दीन से उसके संबंध बिगड़ने लग गये। उस वर्ष अपने गुजरात-अभियान के लिए अलाउद्दीन की सेनाएं मारवाड़ होकर जाना चाहती थीं परन्तु कान्हड़देव प्रबन्ध के अनुसार जालोर के मार्ग से होकर

---

27 ए कम्प्रेहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (संपादक—मुहम्मद हबीब), जि. 5, पृ. 627

अलाउद्दीन की सेना के जाने का कान्हड़देव ने विरोध करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि सेना को उधर से जाने की आज्ञा देना उसके धर्म के विरुद्ध है। निःसंदेह कान्हड़देव का यह रुख अलाउद्दीन को पसद नही हो सकता था परन्तु उसने तब जालोर के खिलाफ तुरन्त कोई कार्यवाही नही की और अपनी सेनायें मेवाड़ के मार्ग से भेज दी। कान्हड़देव प्रबंध के अनुसार अलाउद्दीन खलजी की गुजरात-विजय से लौटती हुई सेना पर, जो जालोर से करीब 18 मील दूर थी, तब जालोर-सेना ने आक्रमण कर दिया और सैकड़ों हिन्दू स्त्री-पुरुषों को उसकी कैद से मुक्त कराया। कान्हड़देव प्रबंध ग्रन्थ में तो यह भी मिलता है कि सोमनाथ की मूर्ति के टुकड़ो को भी उससे अपने अधिकार में कर अनेक स्थानो पर प्रतिष्ठित किया। दशरथ शर्मा ने भी लिखा है कि जनमानस ने इस घटना को कान्हड़देव की एक महान उपलब्धि माना है। अगले सात वर्षों तक अलाउद्दीन मंगोल-समस्या, रणथभोर, चित्तौड़ और अन्य विजयो मे व्यस्त रहा किन्तु उसका ध्यान 1305 ई मे पुनः जालोर की ओर गया।

1305 ई. मे सुल्तान ने अपने सेनानायक ऐन-उल-मुल्क मुल्तानी को ससैन्य जालोर भेजा। तब किसी प्रकार का युद्ध नही हुआ और वह कान्हड़देव को समझा-बुझा कर दिल्ली ले आया। दिल्ली-दरबार का वातावरण कान्हड़देव के स्वाभिमान के विरुद्ध था और एक दिन फरिश्ता के अनुसार सुल्तान ने स्पष्टतः हिन्दू-शासको की शक्ति को चुनौती दी जिसे कान्हड़देव सहन न कर सका और सुल्तान के विरुद्ध लड़ने हेतु जालोर आकर युद्ध की तैयारी मे लग गया। यों कान्हड़देव की इस धृष्टता का प्रत्युत्तर देने के लिये अलाउद्दीन ने उसके विरुद्ध सेना भेज दी।[28]

नैणसी के अनुसार दिल्ली-दरबार में कान्हड़देव का पुत्र वीरमदेव भी था। तब हरम की एक राजकुमारी फिरोजा का उससे प्रेम हो गया। इस बात की खबर जब सुल्तान को मिली तो उसने राजकुमारी को काफी समझाया-बुझाया भी था किन्तु वह किसी भी दशा मे अपने विचार को त्यागने वाली नही थी, तब वीरमदेव को विवाह कर लेने हेतु काफी जोर देकर कहा गया। वीरमदेव ने तुर्क-कन्या के साथ विवाह करना ठीक नही समझा और वह जालोर आ गया। यों वीरमदेव का जालोर लौट आना अलाउद्दीन को अखरा और उसने इसे अपना अपमान समझते हुए जालोर पर आक्रमण करना चाहा। कान्हड़देव प्रबन्ध के अनुसार स्वयं राजकुमारी जालोर के दुर्ग

---

28 दशरथ शर्मा, दी अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 162-63

में गई जहाँ कान्हड़देव ने उसका स्वागत तो किया किन्तु अपने पुत्र के साथ विवाह की बात स्वीकार नहीं की। तब राजकुमारी तो पुनः दिल्ली लौट गई किन्तु सुल्तान ने फिरोजा की एक धाय को आक्रमण के लिए भेजा जिसमें तुर्कों की विजय हुई और वीरमदेव मारा गया। धाय ने उसका सिर दिल्ली भेजा जहां फिरोजा उसके साथ सती होना चाहती थी किन्तु अन्ततः उसका दाह-संस्कार कर, वह स्वयं यमुना में कूद गई। के. एस. लाल ने इन घटनाओं को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इनका उल्लेख फारसी ग्रन्थों में नहीं मिलता है। गोपीनाथ शर्मा, लाल के मत से सहमत नहीं हैं क्योंकि सभी घटनाओं को फारसी तवारीख में ढूंढ़ना भी ठीक नहीं है। अतः "इस प्रकार की घटनाएं घटना अस्वाभाविक भी नहीं कहा जा सकता। उपाख्यान के बहाने ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया जाना उस समय की लेखन-शैली का एक रूप था।"

लाल के अनुसार, "आक्रमण का वास्तविक कारण निश्चिततः जालोर की स्वतन्त्रता को समाप्त करने का सुल्तान का निश्चय था, जैसा राजपूताना के अन्य राज्यों के साथ किया गया था।"

आक्रमण—उधर सिवाना-दुर्ग का पतन हो जाने पर भी कान्हड़देव ने अधीनता स्वीकार नहीं की इसलिए अलाउद्दीन खलजी ने जालोर आक्रमण के लिए पुनः अपनी सेनायें भेजी परन्तु इस सेना को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। लाल ने लिखा है कि, "राजपूतों ने शाही पक्ष को अनेक मुठभेड़ों में पराजित किया और उन्हें अनेक बार पीछे ढकेल दिया। एक बात निश्चित है कि जालोर का युद्ध भयानक था और संभवतः दीर्घ-कालीन भी।" मेड़ता के पास तो राजपूतों ने खलजी-सेना पर इतना भयंकर आक्रमण किया कि खलजी सेनानायक शम्सखां तथा उसकी पत्नी को भी राजपूतों ने बन्दी बना लिया। इन असफलताओं ने जालोर-विजय को चुनौती के रूप में स्वीकार किया इसलिए उसने मारवाड़ की ओर एक बार और सुसज्जित सेना भेजी।

इस बार अनुभवी मलिक कमालुद्दीन गुर्ग के नेतृत्व में सैनिक आये और जालोर-दुर्ग को घेर लिया। कान्हड़देव ने यद्यपि दुर्ग की सुरक्षा के लिये हर संभव प्रयास किये तथापि तुर्कों ने कूटनीति का सहारा लेते हुये बीका नामक एक दहिया राजपूत को जो स्वयं जालोर का शासक बनने के मंसूबे रखता था, अपनी ओर मिला लिया। बीका ने शत्रु पक्ष को उस स्थान तक पहुंचवा दिया जहाँ सुरक्षा पूरी नहीं थी। उधर किले में भी रसद आदि की कमी हो गई थी। अतः राजपूत स्त्रियों ने 'जौहर' किया तथा कई वीर राजपूतों के साथ

कान्हड़देव भी आक्रमण करता हुआ काम आया और रेऊ व लाल के अनुसार 1311 ई. में जालोर पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। निःसंदेह कान्हड़देव में अपार साहस, शौर्य एवं देशाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था।

राजपूतों की हार के कारण—यों 1300 से 1311 ई. तक निरन्तर युद्ध करता हुआ अलाउद्दीन खलजी राजस्थान को अपने प्रभाव में लाने में सफल हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न स्थानों पर किये गये युद्धों में खलजी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अधिकांश दुर्गों पर अधिकार करने के लिये उसे कड़ा संघर्ष देखना पड़ा। यदा-कदा उसे हार का भी सामना करना पड़ा परंतु अंततः उसको सफलता प्राप्त हुई। जौहर व अंतिम सैनिक तक युद्ध क्षेत्र में वीर गति प्राप्त करने की नीति से राजस्थान में नारी वर्ग तथा सैनिकों का भयंकर विनाश हुआ, साथ ही विजेता ने विस्तृत पैमाने पर नर-संहार कर भूमि को अत्यधिक हानि पहुंचाई। आश्चर्य इस बात का है कि अलाउद्दीन के समय में राजस्थान में कई महत्वपूर्ण शासक थे, उनमें वीरता तथा शौर्य भी कूट-कूट कर भरा हुआ था। हम्मीर, कान्हड़देव व रतनसिंह को युद्ध करने का विस्तृत अनुभव भी था फिर भी इन सब की हार हुई। इस-हार के अनेक कारण बताये जाते हैं —

एकता का अभाव—लाल ने ठीक ही लिखा है कि "पराधीनता से घृणा करने वाले राजपूतों के पास शौर्य था किन्तु एकता की भावना न थी।" एकाकी शासकों ने खलजी का प्रबल प्रतिरोध किया परंतु सैनिक दृष्टि से इतने बलशाली न थे कि खलजी को अकेले हरा सकें। अगर चित्तौड़, जालोर तथा रणथंभोर की शक्तियां संगठित होकर आक्रमणकारी सेना का प्रतिरोध करती तो निश्चित रूप से परिणाम दूसरा होता। सिवाना के आक्रमण के समय जालोर तत्काल अपनी समस्त सेना सहित यथासमय सहायता देता तो अलाउद्दीन का अधिकार न तो सिवाना पर होता और न जालोर की स्वतंत्रता ही समाप्त होती।

कूटनीति का अभाव—अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का विश्लेषण करें तो यह अभाव और स्पष्ट हो जाता है। तत्कालीन इन तीनों शासकों ने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये पड़ोसी राज्य की स्वतन्त्रता का हनन किया। उनसे अपने सम्बन्ध बिगाड़े। अतः जब इनको उनकी आवश्यकता महसूस हुई तो उन्होंने भी उदासीनता बरती। हम्मीर ने कोटियज्ञ किया, उसकी दिग्विजय का लक्ष्य पड़ोसी राजपूत राज्य ही रहे और इन सब का परिणाम राजस्थान के लिये अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। दशरथ शर्मा का यह कहना उचित प्रतीत होता है

कि इन शासकों की असफलता किसी व्यक्ति विशेष की न होकर समस्त समाज की है। ऐसा समाज जिसके सदस्यों मे व्यक्तिगत गुणों का अभाव नही है परन्तु राजनैतिक दूरदर्शिता नही थी और ऐसे आक्रमणकारी का जो अलग-अलग से लड़ रहा था, उसके विरुद्ध सगठित होते। कतिपय इतिहासकारो ने हम्मीर की हार का कारण नव मुस्लिम को अपने यहां आश्रय देना बताया परन्तु लाल, दशरथ शर्मा आदि ने इस मत को स्वीकार नही किया है। दशरथ शर्मा का तो यह मानना है कि अगर ऐसी दूरदर्शिता का परिचय हम्मीर औरों के साथ व्यवहार में भी बताता तथा चित्तौड़ व जालोर के शासक भी मित्रता बढ़ाने की नीति को क्रियान्वित करते तो राजस्थान के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होती। दशरथ शर्मा ने आगे लिखा है कि अलाउद्दीन से हम्मीर का युद्ध अवश्यंभावी था। उसमे देरी हो सकती थी परन्तु उसे टाला नही जा सकता था। दुश्मन के दुश्मन को मित्र समझकर अपनी ओर मिलाना एक बहुत उपयुक्त नीति थी। अगर इस नीति का अनुकरण हम्मीर व अन्य शक्तियो के सबध मे भी करता तथा अन्य राजस्थानी शासक भी इस प्रकार की नीति को क्रियान्वित करते तो निश्चित रूप से उनको आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हो सकती।

सैनिक दोष—राजपूत शासक युद्धो की पुरानी पद्धति पर ही आश्रित थे। इस क्षेत्र मे इर्द-गिर्द होने वाले परिवर्तनों से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। अर्रादा, गरगच, मंजनिक जैसे युद्ध के यत्रो का राजपूतो को ज्ञान नही था। उनकी अपनी कोई निजी स्थाई सेना भी नही थी। इसमे कोई सदेह नही कि सामाजिक व्यवस्था,व्यवस्थित सामतवादके कारण सैनिको का कमी अभाव नही रहा परंतु इस व्यवस्था में कई दोष थे। अप्रशिक्षित सैनिक तथा सामतो के प्रति भक्ति-भावना इन सब के कारण सेना मे जो अनुशासन तथा एकता होनी चाहिये थी उसका हमेशा अभाव रहा। विभिन्न सामन्तो की सेनायें शासक के प्रति वफादार होकर नही लड़ी अपितु उन्होंने अपने जागीरदार-प्रभु के संरक्षण में युद्ध करना उचित समझा। फलत: विभक्त स्वामी-भक्ति सैन्य-निर्बल का कारण बन गई। अतएव इस प्रकार की सेना से लबे समय तक के संघर्षमय सफलता की सभावना नहीं रहती और खासतौर से ऐसी सेना से लड़ना हो जिसमे दृढ़ता, व्यवस्था और धर्मान्धता विद्यमान हो।

दुर्गों पर निर्भरता भी अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। इन दुर्गों में मुख्यत: दो दोष पाये जाते हैं—पहला, पानी व अन्य खाद्य-सामग्री के अभाव और दूसरा दुर्गों पर पहुंचने के गुप्त मार्गों का होना। युद्ध के दौरान आस-पास के क्षेत्र की समस्त असैनिक जनता भी दुर्ग मे आश्रय ले लेती थी। सेना के साथ-

साथ उनकी खाद्य-सामग्री का प्रबंध भी एक समस्या होती। चित्तौड़-आक्रमण के समय तीस हजार से भी अधिक असैनिक जनता दुर्ग में विद्यमान थी। अलाउद्दीन चित्तौड़, रणथंभोर व अन्य स्थानों पर लंबे समय तक घेरा डाले रहने से ही सफलता प्राप्त कर सका। छः-छः महीने तक इन स्थानों पर घेरा डाले रहने के कारण बाहर रसद सामग्री का जाना बंद कर दिया जाता था और यों सामग्री के अभाव के कारण दुर्गों का पतन हुआ। चित्तौड़ के रतनसिंह को इसी वजह से अंततः खलजी की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

दूसरे दोष के कारण विश्वासघात होने की हमेशा संभावनायें बनी रहीं। प्रलोभन में आकर दुर्ग के व्यक्ति इन गुप्त मार्गों का पता आक्रमणकारी शत्रुओं को बता देते थे जहां से वे अपनी सेनायें चुपचाप भेज कर, दुर्ग को अपने अधिकार में लाने में सफल होते जैसे—रणथम्भोर को हस्तगत करने में सफल हो सका।

दुर्गों को अपना प्रमुख शरण-स्थल बनाने से शत्रु पक्ष सहज ही दुर्ग के बाहरी स्थानों पर अपना अधिकार जमा लेता था जिससे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सैनिकों का उत्साहित होना स्वाभाविक ही था। वे दुर्ग को चारो ओर से घेर लेते। ऐसी स्थिति में दुर्ग के रक्षको के लिए बाह्य सहायता प्राप्त करना असंभव हो जाता।

राजपूतों को रक्षात्मक लड़ाई की अपेक्षा छापामार युद्ध प्रणाली के आधार पर तुर्कों के लिए विकट समस्या उत्पन्न करनी चाहिए थी। किन्तु रक्षात्मक पद्धति से उन्होंने अपनी पराजय को युद्ध के पूर्व ही निश्चित कर लिया था।

रक्षात्मक पद्धति ने भी युद्ध करते हुए राजपूतों ने दुर्ग के अतिरिक्त इधर-उधर कही पर भी अपने सैनिकों को नियुक्त नहीं किया था जो शत्रु पक्ष को पीछे से घेर ले अथवा उनकी रसद-व्यवस्था को भंग कर सके।

अलाउद्दीन का राजस्थान में प्रभाव अल्पकालीन ही रहा। उसके अन्तिम दिनों में ही एक-एक कर के ये राज्य पुनः स्वतंत्र होने लगे। उसकी मृत्यु से उत्पन्न अराजक परिस्थितियों का लाभ राजपूतो ने पूरा उठाया। चित्तौड के सिसोदिया भी इसमें अपवाद नही रहे। चित्तौड़ हस्तगत करने के बाद दुर्ग को अलाउद्दीन ने अपने पुत्र खिज्रखां को सौंपा और इसका नाम खिज्राबाद कर दिया परन्तु मुस्लिम सेनाओं को राजपूतो ने निरन्तर भयाक्रान्त रखा इसी कारण तथा दिल्ली की राजनैतिक घटनाओं के कारण खिज्रखां अधिक समय तक चित्तौड़ नही रह सका। अतः 1313 ई. के आस-पास

जालोर के सोनगरा मालदेव को इस शर्त पर चित्तौड़ दिया गया कि वह निरन्तर खलजी शासक को वार्षिक कर देता रहेगा। नैणसी के अनुसार अगले सात वर्ष तक चित्तौड़ मालदेव के कब्जे में रहा और उसके पश्चात् ही सिसोदिया वंश के हम्मीर ने इस पर अपना अधिकार कर लिया। इस पर अधिकार कब और किस प्रकार किया इस संदर्भ के ऐतिहासिक साधन एक मत नहीं है परन्तु यह निश्चित है कि मेवाड़ का प्रसार युग पुनः उसके समय में प्रारम्भ हो गया और शीघ्र ही उत्तरी भारत का वह एक महत्वपूर्ण शासक हो गया और अपने उत्तराधिकारी के लिए वह एक विस्तृत और सुव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ गया। उसका करीब 28 वर्ष का शासन काल प्राचीन गौरव को प्रतिष्ठित करने में सहायक हुआ। उसके उत्तराधिकारी क्षेत्रसिंह ने अजमेर, मांडलगढ़ और जहाजपुर को विजय कर राज्य को अधिक दृढ़ करते हुए फैलाया और कुम्भा के काल में तो मेवाड़ अपनी प्रतिष्ठा की चरम सीमा पर पहुंच गया।

अध्याय 3

उत्कर्ष काल

महाराणा कुम्भा—अपने पिता मोकल की हत्या के बाद अट्ठारह वर्षीय कुम्भा 1433 ई. में मेवाड़ के राजसिंहासन पर आसीन हुआ।[1] तब मेवाड़ में प्रतिकूल परिस्थितियां थीं। अनेक समस्यायें सिर उठाये खड़ी थी जिनका प्रभाव कुम्भा की विदेश नीति पर पड़ना स्वाभाविक था। ऐसे विकट समय में जबकि कुम्भा अल्पवयस्क था, युद्ध की प्रतिध्वनि गूंजती दिखाई दे रही थी। उसके पिता के हत्यारे चाचा, मेरा (महाराणा खेता की उप-पत्नी के पुत्र) व उनका समर्थक महपा पंवार स्वतंत्र थे और विद्रोह का झण्डा खड़ा कर चुनौती दे रहे थे। मेवाड़ दरबार भी सिसोदिया व राठौड़ दो गुटों में बंटा हुआ था। कुम्भा का छोटा भाई खेमा की महत्वाकांक्षा मेवाड़ राज्य प्राप्त करने की थी और इसकी पूर्ति के लिये वह मांडू पहुंच वहां के सुल्तान की सहायता प्राप्त करने के प्रयास में लगा हुआ था। उधर फिरोज तुगलक के पश्चात् दिल्ली सल्तनत कमजोर हो गई और सन् 1398 ई. में तैमूरी-आक्रमण से केन्द्रित शक्ति पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गई थी। दिल्ली के तख्त पर कमजोर सैय्यद आसीन थे जिनके लिए विरोधी तत्व सक्रिय हो गये थे। परिणामस्वरूप दूरवर्ती प्रदेश जिनमें जौनपुर, मालवा, गुजरात, ग्वालियर व नागौर आदि स्वतंत्र हो, शक्ति एवं साम्राज्य प्रसार में जुट गये थे।

उपर्युक्त वातावरण को अनुकूल बनाने के लिये कुम्भा ने अपना ध्यान सर्वप्रथम आंतरिक समस्याओं के समाधान की ओर केन्द्रित किया और जैसा कि डे ने लिखा है कि मालवा और गुजरात के शक्तिशाली मुस्लिम राज्यों से अपने शासन के प्रथम तीन-चार वर्षों में मेवाड़-आक्रमण के प्रति आक्रमण-पूर्ण नीति न अपनाने के कारण कुम्भा अपनी स्थिति को मजबूत करने की ओर ध्यान लगा सका। उसके लिये अपने पिता के हत्यारों को सजा देना आवश्यक था। अतः इस कार्य में कुम्भा को मारवाड़ के राव रणमल्ल राठौड़

---

1 यू. एन. डे, मेवाड़ अन्डर महाराणा कुम्भा, पृ. 29-30

की ओर से पूरी मदद मिली। परिणामस्वरूप चाचा व मेरा को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा और चाचा के लड़के एक्का तथा महपा पंवार को मेवाड़ छोड़ कर मालवा के सुल्तान के यहां शरण लेनी पड़ी। यों कुम्भा ने अपने प्रतिद्वन्दियों से मुक्त होकर अपने सीमांत-सुरक्षा की ओर ध्यान देकर आकर्षित किया। उसका उद्देश्य उन सभी क्षेत्रों को जो महाराणा मोकल की मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठा कर मेवाड़ से अलग हो गये थे, पुनः मेवाड़ की अधीनता मे लाना था। अतः उसने अपना विजय-अभियान प्रारम्भ किया।

बून्दी-अभियान—बून्दी के हाड़ा शासकों का मेवाड़ से तनावपूर्ण सबध हो गया था। उस समय राव बैरीसाल अथवा भाण वहां का शासक था। उसने मांडलगढ दुर्ग सहित ऊपरमाल के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था। अतः कुम्भा ने इन स्थानों को पुनः हस्तगत करने के लिये 1436 ई. मे बून्दी के विरुद्ध सैनिक अभियान प्रारम्भ किया। वंशभास्कर के अनुसार इस अभियान मे मेवाड़ की सेना को असफलता मिली और यहां तक कि अपनी हार की खबर सुन कर महाराणा बहुत शर्मिन्दा हुआ और दो महीने बाद ही उसकी मृत्यु हो गई। परन्तु ओझा को यह सारी कहानी कल्पित प्रतीत होती है। कुम्भा की मृत्यु बून्दी-अभियान के दो महीने बाद न होकर करीब बीस वर्ष बाद में हुई और वह भी ग्लानि के कारण से नही बल्कि उसके बड़े पुत्र ऊदा या उदयसिंह के कारण हुई। निःसंदेह जहाजपुर के पास दोनों ही सेनाओ मे गंभीर युद्ध हुआ जिसमे बून्दी की पराजय हुई[2] और भाण ने पुनः मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कर ली। मांडलगढ़, बिजौलिया, जहाजपुर व पूर्वी-पठारी क्षेत्र भी मेवाड़-राज्य में मिला लिये गये।

गागरौन-अभियान—इसी समय कुम्भा ने मेवाड़ के दक्षिण-पूर्वी भाग में स्थित गागरौन-दुर्ग पर आक्रमण कर, उसे अपने अधिकार में कर लिया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दुर्ग 6 वर्ष तक उसके अधिकार मे रहा और उसके बाद मालवा और मेवाड़ के बीच यह भी एक झगड़े का कारण हो गया था, जिसका विवरण मालवा सबध के संदर्भ मे दिया जा रहा है।

सिरोही-अभियान—तब सिरोही का शासक शेषमल था। उसने भी मोकल की मृत्यु से उत्पन्न अव्यवस्था का लाभ उठा मेवाड़-राज्य की सीमा के अनेक गांवो पर अपना कब्जा कर लिया। महाराणा ने उन्हें पुनः अपने अधिकार मे करने के लिये डोडिया नरसिंह के सेनापतित्व में सेनायें भेजी। ऐसा लगता है कि सिरोही पर आक्रमण करने का प्रमुख कारण आबू तथा

---

2 कुम्भलगढ़ प्रशस्ति, वि. सं. 1517, श्लोक 253, 264

उसके आस-पास के प्रदेशों को जीतकर वहाँ एक सुदृढ़ सीमा चौकी स्थापित करना था ताकि गुजरात की ओर से होने वाले आक्रमणों को वहीं पर रोका जा सके। नरसिंह ने अचानक आक्रमण कर (1437 ई.) आबू तथा सिरोही राज्य के कई हिस्सों को जीत लिया। शेषमल ने आबू को पुन: जीतने का बहुत प्रयत्न किया। उसने गुजरात के सुल्तान से भी सहायता ली परन्तु असफलता ही हाथ लगी। कुम्भा की आबू-विजय का बड़ा महत्व है। गोड़वाड़ मेवाड़ मे पहले से ही था, अत: इसकी रक्षा के लिये बसंतगढ़ और आबू को मेवाड़ में मिलाना जरूरी था।

मारवाड़ से संबंध—जैसा कि पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि कुम्भा की बाल्यावस्था को देख मारवाड़ (मंडोर) का रणमल मेवाड़ चला आया था। कुम्भा के प्रतिद्वन्दियों को समाप्त करने में उसका विशेष योगदान था। इसीलिये उसका प्रभाव यहाँ दिन-प्रति-दिन बढ़ने लगा। डे का मानना है कि मेवाड़ की परिस्थितियों का लाभ उठाकर उसने अपने आपको यहाँ पर प्रतिष्ठित करना चाहा। इसके लिए उसने अपनी बहिन और कुम्भा की दादी माँ हंसाबाई के प्रभाव का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहा। उसने विभिन्न राठौडों को यहाँ महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया जिससे चित्तौड़ के कई सामंत उसके विरोधी हो गये। महाराणा भी उसके प्रभाव से मुक्त होना चाहता था। चूँडावत राघवदेव का जिस अमानुषिक तरीके से उसने वध करवाया उसके कारण महाराणा के मन मे भी, जैसा कि ओझा ने लिखा है रणमल के प्रति संदेह उत्पन्न हो गया परन्तु अपने पिता का मामा होने के कारण वह उसे कुछ कहने की स्थिति में नहीं था। मेवाड़ से चले जाने वाले सामंतों को महाराणा कुम्भा ने धीरे-धीरे पुन: मेवाड़ में आश्रय देना शुरू किया ताकि रणमल के बढ़ते हुए प्रभाव को संतुलित कर सके। महपा पंवार और चाचा के पुत्र एक्का के अपराधों को भी क्षमा कर अपने यहाँ शरण देदी। राघवदेव का बड़ा भाई चूंडा जो इस वक्त मालवा में था, वह भी पुन: मेवाड़ लौट आया। रणमल ने बहुत प्रयास किया कि मेवाड़-दरबार मे उसका प्रवेश न हो परन्तु कुम्भा ने धीरे-धीरे रणमल के विरुद्ध ऐसा व्यूह तैयार किया कि उसकी हत्या तक करदी। जैसे ही रणमल की हत्या के समाचार फैले, उसका पुत्र जोधा अन्य राठौड़ो के साथ मारवाड़ की तरफ भागा। तब चूण्डा ने भागते हुये राठौड़ों पर आक्रमण किया। मारवाड़ की ख्यात के अनुसार जोधा के साथ 700 सवार थे और मारवाड़ पहुँचने तक केवल सात ही शेष रहे। मेवाड़ की सेना ने आगे बढ़कर मंडोर पर अधिकार कर लिया किन्तु महाराणा की दादी हंसाबाई के बीच-बचाव करने के कारण जोधा इसको वापस लेने में सफल हुआ।

कुम्भा ने डूंगरपुर पर भी आक्रमण किया और वहां बिना विशेष कठिनाई के उसको सफलता मिली। इस प्रकार वागड़ प्रदेश की विजय के फलस्वरूप जावर मेवाड़ राज्य में मिला लिया गया। इसी प्रकार से मेरों के विद्रोह को दबाने में भी वह सफल रहा। बदनोर के आस-पास मेरों की बड़ी बस्ती थी। ये लोग सदैव विद्रोह करते रहते थे। कुम्भा के समय में भी इन्होंने विद्रोह किया। कुम्भलगढ़-प्रशस्ति के अनुसार महाराणा ने इनके विद्रोह का दमन कर विद्रोही नेताओं को कड़ा दण्ड दिया।

पूर्वी राजस्थान का संघर्ष—यह भू-भाग मुसलमानों की शक्ति का केन्द्र बनता जा रहा था। बयाना व मेवात में इनका राज्य बहुत पहले ही हो चुका था। रणथंभोर की पराजय के बाद चौहानों के हाथ से भी यह क्षेत्र जाता रहा। इस क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए कछावा और मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त मेवाड़ और मालवा के शासक भी प्रयत्नशील थे। फरिश्ता के अनुसार कुम्भा ने इस क्षेत्र पर आक्रमण करके रणथम्भोर पर अधिकार कर लिया था। साथ-ही-साथ चाटसू वगैरह के भाग को भी उसने जीत लिया था।

अन्य विजयें—कुम्भलगढ़-प्रशस्ति के अनुसार कुम्भा ने कुछ नगरों को भी जीता था जिनकी भौगोलिक स्थिति और नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि स्थानीय नाम को संस्कृत में रूपान्तरित करके इस प्रशस्ति में अंकित किया है जैसे—नारदीय नगर, वायसपुर आदि। इस प्रकार से अपनी विजय के माध्यम से कुम्भा ने मेवाड़ के लिये एक वैज्ञानिक सीमा निर्धारित की जो आगे जाकर मेवाड़ के प्रमुत्व को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई।

मालवा-गुजरात से संबंध—कुम्भा की प्रसारवादी नीति के कारण मालवा-गुजरात से संघर्ष अवश्यभावी थे। वैसे गुजरात व मालवा राज्य के स्वतंत्र अस्तित्व के बाद से ही एक त्रिकोणात्मक संघर्ष इन राज्यों में बराबर चल रहा था। मालवा के लिये एक शक्तिशाली मेवाड़ सब से बड़ा खतरा था। मेवाड़ और मालवा के संघर्ष के और भी कई कारण थे। मूल कारण दिल्ली सल्तनत की निर्बलता थी। परिणामस्वरूप प्रांतीय शक्तियों को अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता का विकास करने की चिन्ता थी। मेवाड़ और मालवा दोनों ही ऐसे राज्य थे और जब दोनो की सीमायें आपस में मिलती हों तो संघर्ष अनिवार्य हो गया।

दूसरा कारण, मालवा के उत्तराधिकार-संघर्ष में कुम्भा का सक्रिय भाग लेना था। 1435 ई. में मालवा के शासक हूशंगशाह की मृत्यु हो गई थी। उसके बाद उसका लड़का मुहम्मदशाह मालवा का सुल्तान बना जिसे उसके

जोर महमूदखां ने पदच्युत करके 1436 ई. में सिंहासन को हड़प लिया। गंगशाह के दूसरे लड़के उमरावखां ने कुम्भा से सहायता मांगी और उसने से पर्याप्त सैनिक सहायता भी दी। इस बीच महमूद ने अचानक आक्रमण रके उमरावखां को मरवा डाला परंतु कुम्भा के इस कार्य ने महमूद को सका शत्रु बना दिया। तीसरा कारण, मेवाड़ के विद्रोही सामंतो को ालवा में शरण देना था। मोकल के हत्यारे महपा पंवार तथा मेवाड़ विद्रोही सामन्त चूंडा, सेमकरण आदि को मालवा मे शरण दे दी। ये ामंत मेवाड़ के विरुद्ध योजनायें बनाने मे सुल्तान को प्रोत्साहित करते हते थे। कुम्भा द्वारा इन्हें लौटाने की मांग को सुल्तान ने अस्वीकार कर दिया था। इसलिए दोनों राज्यों के बीच संबंध तनावपूर्ण हो गये किन्तु दोनों ाज्यों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण दोनों ही राज्यो की विस्तारवादी ीति थी।

मेवाड़-मालवा : प्रथम संघर्ष—मेवाड़ व मालवा के मध्य प्रथम संघर्ष 437 ई. में हुआ जो सारंगपुर के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है।[3] युद्ध का ारण बताते हुए श्यामलदास, शारदा व ओझा आदि ने बताया है कि विद्रोही हपा जिसको मालवा के सुल्तान ने शरण दे रखी थी वापस करने की मांग ी किन्तु सुल्तान ने मना कर दिया। तब सन् 1437 ई. में एक लाख वारों, 14 सौ हाथियो की विशाल सेना लेकर मन्दसौर, जावरा आदि थानों को जीतता हुआ कुम्भा सारंगपुर पहुंचा। जहाँ सुल्तान महमूद खलजी उसका सामना किया और उसमें सुल्तान की पराजय हुई। मेवाड़ की सेना भागती हुई मालवी सेना का पीछा किया। सुल्तान को माण्डू के दुर्ग में कड़ लिया तथा उसे चित्तौड़ लाया गया, जहाँ वह छः महीने तक रहा। हाराणा ने उसके साथ उचित व्यवहार किया और बिना किसी दंड के उसे ुक्त भी कर दिया।

यू. एन. डे राजस्थानी इतिहासकारों से सहमत नही है क्योंकि महमूद खलजी को गद्दी पर बैठे हुए अधिक समय नही हुआ था। उसका विरोध भी ल रहा था। यदि ऐसे समय में उसकी निर्णायक हार हो जाती और अपने राज्य से छः महीने बाहर रहना पड़ता तो उसकी गद्दी कभी भी सुरक्षित नही रह सकती थी। जिस काल मे (1437-1440 ई.) उसको चित्तौड़ में बंदी के रूप मे रखे जाने की बात कही जाती है, उस वक्त महमूद मालवा

3 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 51; श्यामलदास (वीर विनोद, भा. 2, पृ. 319) ने 1439 ई. में यह युद्ध बताया है जो ठीक नही है।

में ही मिलता है। उसकी कभी भी 6 महीने की अनुपस्थिति मालवा से नहीं मिलती। इस काल में यह या तो अपने विरुद्ध होने वाले विद्रोह के दमन में लगा हुआ था या गुजरात के सुल्तान अहमदशाह के आक्रमण का सामना कर रहा था। डे का तो यह मानना है कि राजपूत-चारण महमूद खलजी प्रथम और द्वितीय में भेद नहीं कर सके हैं। राणा सांगा के समय महमूद खलजी द्वितीय को बंदी बनाया था। दोनों के नाम की समानता होने से उसको प्रथम मान लिया और कुम्भा के काल का होने से उसका नाम जोड़ दिया। डे को तो इस बात का भी आश्चर्य है कि बिना किसी तरह का मुआवजा लिये हुए उसे छोड़ दिया।

डे का यह मानना कि 1437 से लेकर 1440 ई. के बीच सारंगपुर का कोई युद्ध ही नहीं हुआ, उपयुक्त नहीं लगता है। शिलालेखों[4] तथा यहां तक कि फारसी ग्रन्थों[5] से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संघर्ष हुआ था। कारण संभवतः दूसरे रहे हों। मालवा के शासक हुशंगशाह के बाद महमूद खलजी ने मालवा को हस्तगत कर लिया था। उसके पौत्र मसूदखां ने गुजरात के शासक अहमदशाह से अपना पैतृक राज्य प्राप्त करने के लिए सहायता मांगी और हुशंगशाह का पुत्र उमरावखां ने कुम्भा से राज्य प्राप्त करने के लिए मदद चाही। राणकपुर-शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि गुजरात और दिल्ली के सुल्तानों ने कुम्भा को हिन्दू सुरताण की उपाधि से विभूषित किया था। इससे यह प्रतीत होता है कि मालवा में गोरी वंश को पुनः स्थापित करने के लिए कोई समझौता हुआ हो और दोनों ने योजनाबद्ध तरीके से मालवा पर आक्रमण किया। मिराते सिकन्दरी के अनुसार गुजरात के सुल्तान ने माडू को घेर लिया तो दूसरी तरफ कुम्भा रणथम्भोर, नरवर, चंदेरी होता हुआ सारंगपुर पहुँचा। तब खलजी की भयावह स्थिति हो गई थी किन्तु वह घबराया नहीं और दोनों ही आक्रमणकारी सेनाओं को न मिलने देने की योजना बनाई। माडू की रक्षा का भार अपने पिता को सौंप कर वह सारंगपुर की ओर बढ़ा। उधर उमरावखां मेवाड़ की सेना की सफलताओं के कारण उत्साहित हो, अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा के प्रति उदासीन हो गया और जब वह सेना से कुछ दूर अपने कुछ साथियों के साथ इधर-उधर घूम रहा था तब

---

4 राणकपुर-शिलालेख, पंक्ति 17-18; कुम्भलगढ़-प्रशस्ति, श्लोक 268-70

5 मासिर-ए-मुहम्मदशाही, पृ. 33; फरिश्ता, तारीख-ए-फरिश्ता (अनु. ब्रिग्स) जि. 4, पृ. 204

महमूद खलजी ने उस पर आक्रमण कर मार डाला। जिस उद्देश्य से कुम्भा आया था, वह उमरावखां की असावधानी के कारण समाप्त हो गया। अतः महाराणा कुम्भा सारंगपुर से गागरौन, मंदसौर आदि स्थानों पर अधिकार करता हुआ मेवाड़ लौट आया। इस प्रकार दोनों के बीच में युद्ध होने के बारे मे कोई संदेह नही है। सुल्तान महमूद खलजी को बन्दी बनाने की घटना के सत्य होने में संदेह हो सकता है। नि.संदेह कुम्भा के कीर्तिस्तम्भ का निर्माण सारंगपुर के युद्ध के बाद शुरू किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसका सम्बन्ध मालवा-विजय से नहीं है। संभवतः यह स्तम्भ कुम्भा ने अपने उपास्यदेव विष्णु के निमित्त ही बनवाया हो।

इस युद्ध से मेवाड़ की गिनती एक शक्तिशाली राज्य के रूप मे की जाने लगी परन्तु महमूद खलजी उसका स्थायी रूप से दुश्मन हो गया और दोनों राज्यों के बीच में एक संघर्ष की परम्परा चली। शारदा का तो यह मानना है कि सारंगपुर में हुए अपमान का बदला लेने के लिए उसने मेवाड़ पर पाच बार आक्रमण किये।

महमूद का इस श्रृंखला में पहला आक्रमण 1442-43 ई. में होता है। वास्तव में सुल्तान ने यह समय काफी उपयुक्त चुना क्योंकि इस समय महाराणा बून्दी की ओर व्यस्त था। उधर महमूद खलजी सारंगपुर से नवम्बर 1442 ई. में रवाना होकर केलवाड़ा पहुंचा और कुम्भलगढ़ लेने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मंदिरों को नष्ट किया। इस अभियान के बारे में सुनकर कुम्भा भी चित्तौड़ लौट आया और मालवा, यहाँ तक कि मांडू के आस-पास अपनी सेनायें भेज दी। अतः सुल्तान महमूद चित्तौड़ की ओर आया और अपने पिता व ताजखां आदि को मालवा की रक्षा के लिये कहा किन्तु चित्तौड़ में उसको कोई सफलता नहीं मिली और जैसा कि फरिश्ता ने लिखा है अगले वर्ष चित्तौड़-दुर्ग विजय करने के लिये आने की घोषणा कर वह वहाँ से अपनी राजधानी की ओर चला गया। परन्तु इसके विपरीत राजस्थानी साधनों से यह स्पष्ट होता है कि सुल्तान असफल होकर लौट गया। ओझा ने यह मत प्रकट किया है कि फरिश्ता के कथन से भी यह झलकता है कि सुल्तान को निराश होकर लौटना पड़ा क्योंकि "अपनी विजय के गीत गाना और साथ ही एक साल बाद आने का विचार कर बिना सताये मांडू को लौट जाना, ये सब बातें स्पष्ट बतला देती हैं कि सुल्तान को हार कर लौटना पड़ा हो और मार्ग मे वह सताया भी गया हो तो आश्चर्य नहीं। ऐसे अवसरों पर मुसलमान लेखक बहुधा इसी प्रकार की शैली का अवलंबन किया करते है।"

जब मालवा के सुल्तान ने देखा कि कुम्भा की शक्ति को तोड़ना आसान नहीं है तब वह मेवाड़ में आक्रमण करने के स्थान पर सीमावर्ती दुर्गों पर अधिकार करने की चेष्टा करने लगा। इसी दृष्टि से उसने नवम्बर 1443 ई. में गागरौन पर आक्रमण किया। गागरौन खीची चौहानों के अधिकार में था। मालवा और हाड़ौती के मध्य होने से मेवाड़ और मालवा के लिए इसका बड़ा महत्व था अतएव खलजी ने आगे बढ़ते हुए 1444 ई. में इस दुर्ग को घेर लिया। राजपूतों ने भी दुर्ग की रक्षा के बहुत प्रयास किये किन्तु सात दिन के संघर्ष के बाद सेनापति दाहिर की मृत्यु हो जाने से राजपूतों का मनोबल गिर गया और तब गागरौन पर खलजी का अधिकार हो गया। वहां गयासुद्दीन को नियुक्त किया गया था। यद्यपि गागरौन मेवाड़ का हिस्सा नहीं था तथापि डे का मानना है कि इसका मालवा के हाथ मे चला जाना मेवाड़ की सुरक्षा को खतरा था। इसको आधार बना कर हाड़ौती और पूर्वी मेवाड़ की सीमाओं पर आक्रमण करना खलजी के लिए और अधिक आसान हो गया। महमूद खलजी का उद्देश्य मांडलगढ को अपने अधिकार मे करना था और गागरौन की सफलता ने उसको मांडलगढ पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया।[6] कुम्भा ने इसकी रक्षा का पूर्ण प्रबंध कर रखा था और तीन दिन के कड़े संघर्ष के बाद खलजी को करारी हार का सामना करना पड़ा किन्तु फरिश्ता आदि ने इस बार भी यह वर्णन किया है कि राजपूतों को जब असफलता मिली तो बहुत-सा धन देकर महमूद से संधि की। मआसिरे-मुहम्मदशाही में लिखा है कि चूंकि गर्मी आ चुकी थी और वर्षा ऋतु करीब थी अतः महमूद ने लौटना ही उपयुक्त समझा। उसने यह भी घोषणा की थी इस से कुम्भा अपनी विजय समझ कर गर्व करेगा किन्तु वह अगले वर्ष फिर आयेगा। डे इस युद्ध में मालवा के सुल्तान की विजय नही मानता है। परंतु उसका यह भी मानना है कि कुम्भा को भी कोई निर्णायक विजय नही मिली किन्तु श्यामलदास, ओझा व शारदा का मत है कि जिस ढंग से फारसी इतिहासकारो ने यहाँ से डेरा उठाने का विवरण दिया है उनसे उनकी हार स्पष्ट है।

मांडलगढ़ का दूसरा घेरा—अक्टूबर 1446 ई. मे महमूद खलजी मांडलगढ अभियान के लिये रवाना हुआ। रणथंभोर पहुंच कर उसने वहाँ के प्रशासकों मे परिवर्तन किया तथा दुर्ग की रक्षा का पूरा प्रबंध किया। अपनी सेना के एक वर्ग को हाड़ौती की तरफ भेजा और स्वयं मांडलगढ की ओर गया

6 यू. एन. डे, मेडायवल मालवा, पृ. 176-78

किन्तु इस बार भी उसको कोई सफलता नहीं मिली। मआसिरे-मुहम्मदशाही के अनुसार सुल्तान ने गाजीखां को आक्रमण के लिये तैनात किया और कुम्भा ने यह देखा कि इस बार उसको सफलता नही मिलेगी, अतः युद्ध में क्षतिपूर्ति के रूप में धन देकर युद्ध समाप्ति के लिए कहा। सुल्तान के सलाहकारों ने भी गर्मी अधिक होने से युद्ध समाप्त करने का आग्रह किया जिसको स्वीकार कर, उसने मांडलगढ़ का घेरा उठा लिया। फारसी इतिहासकार का यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण और सुल्तान की असफलता को छिपाने का प्रयास मात्र है, जैसा कि डे ने लिखा है कि सुल्तान के लिये मांडलगढ पर अधिकार नितांत आवश्यक था। अगर विजय निश्चित थी तो सुल्तान के सलाहकारों को धन स्वीकार कर लौटने की सलाह देने की कोई आवश्यकता नही थी। इस से स्पष्ट है कि इस बार भी जैसा कि शारदा ने लिखा है कुम्भा की विजय हुई। ओझा का भी मानना है कि यदि महाराणा ने संधि करली थी तो सुल्तान के लिए ताजखां को चित्तौड़-आक्रमण पर भेजने की क्या आवश्यकता थी? अतः निश्चित रूप से माना जा सकता है कि इस बार भी कुम्भा का पलड़ा भारी रहा था और अगले सात-आठ वर्ष तक महमूद खलजी मेवाड़ पर आक्रमण करने का साहस नही कर सका।

चित्तौड़-आक्रमण—जब सुल्तान दक्षिणी मालवा में व्यस्त था तो कुम्भा ने रणथम्भोर को पुनः जीत लिया। सुल्तान ने शाहजादा गयासुद्दीन को रणथम्भोर-विजय के लिये भेजा और स्वयं 1454 ई. मे चित्तौड़ की तरफ आया, पर इस बार भी उसे असफलता ही मिली। यद्यपि फरिश्ता और निजामुद्दीन ने कुम्भा द्वारा भारी मात्रा में धन देने का वर्णन किया है जो केवल कपोल कल्पित है क्योंकि वह स्वयं आगे लिखता है कि अगले ही वर्ष वह (सुल्तान खलजी) पुनः अजमेर, मांडलगढ़ आदि स्थानों पर आक्रमण करने के लिये आया।

अजमेर मांडलगढ़-अभियान—पूर्व की हार का बदला लेने के लिये अगले ही वर्ष 1455 ई. में सुल्तान ने कुम्भा के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ किया। मंदसोर पहुंचने पर उसने अपने पुत्र गयासुद्दीन को रणथम्भोर की ओर भेजा और स्वयं सुल्तान ने जाहन का दुर्ग जीत लिया। इस विजय के पश्चात् सुल्तान अजमेर की ओर रवाना हुआ जैसा कि मआसिरे-मुहम्मदशाही में लिखा है कि अजमेर के निवासियों द्वारा सुल्तान से सहायता की याचना करने पर वह उधर गया। तब अजमेर कुम्भा के पास में था और उसके प्रतिनिधि के रूप में राजा गजधरसिंह वहां की प्रशासनिक व्यवस्था को देख रहा था। मआसिरे-मुहम्मदशाही के अनुसार सुल्तान को यहां विजय हुई और

सेफ़ख़ां को यहां का सूबेदार बनाकर वह स्वयं मांडलगढ की ओर मुड़ा। परन्तु इस बार भी उसको असफलता का सामना करना पड़ा और यों तब उसे हार कर ही मांडू लौटना पड़ा था। निजामुद्दीन और फरिश्ता ने भी माना है कि सुल्तान की सेना की स्थिति और यात्रा के सामान की कमी के कारण वह माडू लौटा। इससे स्पष्ट है कि सुल्तान की हार हुई और उधर अजमेर पर कुम्भा ने पुनः अपना अधिकार कर लिया। 1457 ई. में वह मांडलगढ लेने के लिए फिर और इधर आया। ऐसा प्रतीत होता है कि तब कुम्भा गुजरात से युद्ध करने में व्यस्त था जिससे वह यथेष्ट सहायता न दे सका। परिणामस्वरूप अक्टूबर 1457ई. में उसका मांडलगढ़ पर अधिकार हो गया। वह तब यहां करीब बीस दिन ठहरा और उसके बाद वह चित्तौड़ की ओर बढा। सुल्तान ने अपनी सना के एक भाग को कुम्भलगढ़ की ओर तथा दूसरे को बून्दी की तरफ भेजा परन्तु इन क्षेत्रों में उसे सफलता नहीं मिली और वह पुनः अपनी राजधानी की ओर लौट गया। महाराणा ने कुछ समय पश्चात् ही मांडलगढ़ वगैरह को पुनः हस्तगत कर लिया।

इस प्रकार निरन्तर असफलता के कारण मालवा ने गुजरात के साथ मिल करके आक्रमण करने की सोची। चांपानेर में यह समझौता हुआ कि दोनों मिलकर मेवाड़ से विभिन्न दिशाओं से आक्रमण करें और जीते हुए भाग को आपस में बांट लें। गोडवाड़, चित्तौड़ सहित दक्षिण-पश्चिमी मेवाड़ गुजरात को मिले तथा मध्य मेवाड़, अजमेर, ऊपरमाल, हाड़ौती आदि मालवा को मिले। संधि-पत्र पर खलजी की ओर से निजामुद्दीन ने व कुतुबुद्दीन की ओर से काजी हिसामुद्दीन ने हस्ताक्षर किये। संधि के बाद अगले वर्ष दोनो ने मेवाड पर विभिन्न दो दिशाओ से आक्रमण किया। मालवा के सुल्तान ने चित्तौड़ की ओर कूच किया परन्तु कुम्भा ने इस कठिन परिस्थिति मे भी अडिग साहसी योद्धा की तरह अपने रणचातुर्य का पूर्ण प्रदर्शन किया और मालवा के सुल्तान को करारी हार का सामना करना पड़ा। मालवा के सुल्तान ने 1459 ई. में कुम्भलगढ़ लेने का असफल प्रयास किया। इसी प्रकार से 1467 ई. में एक बार और सुल्तान जावर तक पहुंचा परन्तु इस बार भी कुम्भा ने उसको यहां से जाने को बाध्य कर दिया। वास्तव मे 1459 ई. के पश्चात् ही सुल्तान का मेवाड में दबाव कम हो गया था इसलिए 1467 ई. में वह जावर तक पहुँचा तब उसको आसानी से खदेड़ दिया गया।

मेवाड़-गुजरात संबंध—मालवा के अनुरूप ही कुम्भा का गुजरात से भी संघर्ष होता है और नागोर-प्रश्न ने दोनों को आमने-सामने ला दिया। कुम्भा का ध्यान एक लम्बे समय से नागोर की ओर लगा हुआ था क्योंकि इस

राज्य की सीमा गुजरात से लगी हुई थी। अतः गुजरात के शासकों की साम्राज्यवादी भावना के मेवाड़-विरोधी रुख को शान्त करने के लिए इस प्रदेश का मेवाड़ या मेवाड़ के मित्र के अधीन होना आवश्यक था। भाग्यवश कुम्भा को नागोर में अपना प्रभाव स्थापित करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। नागोर के तत्कालीन शासक फिरोजखां की मृत्यु होने पर और उसके छोटे पुत्र मुजाहिदखां द्वारा नागोर पर अधिकार करने पर, बड़े लड़के शम्स-खां ने नागोर प्राप्त करने में कुम्भा से सहायता मांगी। कुम्भा को इस से अच्छा अवसर और क्या मिलता! वह एक बड़ी सेना लेकर नागोर पहुंचा। मुजाहिद को वहां से हटाकर महाराणा ने शम्सखां को गद्दी पर बिठाया परन्तु गद्दी पर बैठते ही शम्सखां अपने सारे वादे भूल गया और उसने संधि की शर्तों का उल्लंघन करना शुरू कर दिया। स्थिति की गम्भीरता को समझ कर कुम्भा ने शम्सखां को नागोर से निकाल कर उसे अपने अधिकार में कर लिया। शम्सखां भाग कर गुजरात पहुंचा और अपनी लड़की की शादी सुल्तान से कर, गुजरात से सैनिक सहायता प्राप्त की और महाराणा की सेना के साथ युद्ध करने को बढ़ा परंतु विजय का सेहरा मेवाड़ के सिर पर बंधा। गुजरात के सुल्तान कुतुबुद्दीन ने पराजय का समाचार पाकर, [illegible] सेना लेकर मेवाड़ पर आक्रमण किया। अपने सेनापति [illegible] को आबू की ओर भेजा तथा स्वयं ने कुम्भलगढ़ पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान किया। इस दोहरे आक्रमण का भी महाराणा ने डट कर मुकाबला किया। अन्त में गुजराती सेना परास्त हुई तथा [illegible] की ओर भागी। इसका विवरण देते हुए फरिश्ता ने लिखा है कि, "कुतुबुद्दीन के साथ राणा ने मुसलमानों पर कई हमले किये परन्तु [illegible] और बहुत-सा रुपया व रत्न देने पर कुतुबुद्दीन संधि करके [illegible]।" [illegible] व मिराते सिकन्दरी में भी लिखा है कि कुतुबुद्दीन का आक्रमण इतना भयंकर था कि अत्यधिक जन-क्षति हुई। [illegible] पुनः नागोर पर आक्रमण न करने का आश्वासन तथा अच्छी [illegible] मेवाड़ की मुक्ति [illegible] विचार एकपक्षीय हैं क्योंकि सुल्तान की विजय के समाचार [illegible] मिलते हैं। सुल्तान की हार [illegible] ने लिखा है कि सुल्तान कुतुबुद्दीन ने [illegible] ही यह आक्रमण किया था [illegible] कुम्भा को हराने [illegible] नागोर की ओर जाना [illegible] वास्तविक स्थिति यह है कि [illegible] इस आशा से [illegible]

हो जायेगा। ओझा का मानना है कि यदि कुतुबुद्दीन नजराना लेने पर संधि कर के लौटा हो तो मालवा और गुजरात के दोनों सुल्तानों को परस्पर मिल कर मेवाड़ चढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

मेवाड़ पर पुनः आक्रमण—चापानेर-समझौता के तुरंत बाद गुजरात ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। मिरातेसिकन्दरी के अनुसार सुल्तान कुतुबशाह जब सिरोही की ओर आया तब राजपूत सेना से युद्ध हुआ। इसके बाद कुतुबशाह आगे बढ़ा और एक अच्छी रकम मिल जाने के कारण वापस गुजरात गया। परंतु कीर्तिस्तम्भ-प्रशस्ति व अन्य राजस्थानी साधनों से यह स्पष्ट है कि इस बार भी गुजरात के सुल्तान को हार का सामना करना पड़ा। ओझा व शारदा भी राणा की विजय मानते हैं। इस की पुष्टि इस बात से होती है कि वह शीघ्र ही पुनः गुजरात से कुम्भलगढ़ पर आक्रमण करने को आया। इस नये आक्रमण में भी कुतुबुद्दीन को कोई सफलता नहीं मिली और इस बार भी उसे खाली हाथ लौटना पड़ा जिसका कारण मालवा के सुल्तान का गुजरात पर आक्रमण करना लिखा है। फरिश्ता व निजामुद्दीन राणा द्वारा क्षमा मांगने का वर्णन करते हैं जो सही प्रतीत नहीं होता है। वास्तव में वह हार कर ही लौटा था। इस प्रकार से खलजी की तरह वह भी अनेक बार मेवाड़ पर आक्रमण करने आया और हर बार हार कर के लौटा। यों कुम्भा ने अपनी सैनिक शक्ति द्वारा सम्पूर्ण राजपूताने पर अपना अधिकार ही स्थापित नहीं किया, अपितु मेवाड़ की राज्य-सीमा का विस्तार कर अपनी कीर्ति में चार चांद लगाये जिसका प्रमाण चित्तौड़ की धरती पर खड़ा कीर्ति-स्तम्भ है, जिसके उच्च शिखरों से कुम्भा के महान व्यक्तित्व की रश्मियाँ प्रस्फुटित हो रही हैं। कुम्भा ने अपने रण-चातुर्य एवं कूटनीति के द्वारा मेवाड़ में आन्तरिक शान्ति व समृद्धि की ही स्थापना नहीं की वरन् मेवाड़ की बाह्य शत्रुओं से रक्षा भी की। अनेक दुर्गों का निर्माण किया, वीर-भूमि मेवाड़ को वैज्ञानिक एवं सुरक्षित सीमायें प्रदान की और अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इसी कारण दिल्ली व गुजरात के सुल्तानों ने उसे 'हिन्दू सुरत्राण' जैसे विरुद से विभूषित किया। यही नहीं, शारदा ने तो उसे राणा प्रताप व सांगा से भी अधिक प्रतिभावान् माना है और लिखा है कि महाराणा कुम्भा ने मेवाड़ के गौरवशाली भविष्य का मार्ग प्रशस्त किया।

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ—महाराणा कुम्भा केवल एक सफल शासक और विजेता ही नहीं था अपितु उसके व्यक्तित्व में साहित्य, संगीत और कला की त्रिवेणी का अद्भुत समन्वय भी था। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह काल मेवाड़ के इतिहास का स्वर्णयुग था। वह एक अच्छा निर्माता, साहित्यकार था,

साथ-ही-साथ कलाकारों और साहित्यकारों का आश्रयदाता भी था। पैंतीस वर्ष के लम्बे काल में महाराणा कुम्भा निरन्तर अनवरत रूप से युद्धों में लगा रहा फिर भी कुम्भा के युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों का महत्व सर्वाधिक है। वह केवल तलवार का धनी ही नहीं था अपितु सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उसकी पर्याप्त अभिरुचि थी। जी. एन. शर्मा के अनुसार इतिहास में महाराणा कुम्भा का जो स्थान विजेता के रूप में है उससे भी महत्वपूर्ण स्थान उसका स्थापत्य और विद्या-उन्नति के सम्बन्ध में है। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी वास्तुकला का महत्व सर्वाधिक है।

वास्तुकला—कुम्भा वास्तु या स्थापत्य कला का मर्मज्ञ था। उसकी स्थापत्य कला को निम्नांकित भागों में बांट सकते हैं—मंदिर, दुर्ग एवं भवन।

मेवाड़ में मन्दिर-निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन व गौरवपूर्ण रही है जिसको महाराणा कुम्भा ने एक नई दिशा दी। वी. के. श्रीवास्तव के अनुसार कुम्भा के निर्माण-कार्य के तीन प्रमुख केन्द्र थे—कुम्भलगढ़, चित्तौड़गढ़ और अचलगढ़। कुम्भाकालीन मंदिरों का निर्माण नागर शैली के शिखरों से अलंकृत तथा "ऊंची प्रसाद-पीठ पर अवस्थित है। इनमें प्राय: भूरे रंग का बलुहा पत्थर का प्रयोग हुआ है। उनमें सादे गर्भ-गृह, अर्द्ध-मण्डप, सभा-मण्डप, प्रदक्षिणा पथ एवं आमलक युक्त शिखर पाये जाते हैं। गर्भ-गृह के द्वार-खण्डों, मण्डप की छतों एवं स्तम्भों पर सुन्दर मूर्तियां तथा कला के अन्य शुभ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। वाह्य भाग में भी प्रासादपीठ एवं मंडोवर पर सुन्दर कलाकृतियां प्राप्त होती हैं। बाहर की प्रधान ताकों में विष्णु के विविध रूपों को अंकित करने वाली भव्य मूर्तियां हैं जो तत्कालीन कला-समृद्धि की परिचायक हैं।"[7] उसके राजकीय सूत्रधार मण्डन ने स्पष्ट कहा है कि पाषाण के मन्दिर बनाने से अनन्तफल की प्राप्ति होती है। कुम्भा के मन्दिरों में कुम्भस्वामी, शृङ्गार चंवरी के मन्दिर प्रमुख हैं। कालक्रम की दृष्टि से चित्तौड़ दुर्ग स्थित कुम्भस्वामी का मन्दिर इनमें सबसे पुराना है। यह मंदिर कीर्ति-स्तम्भ के पास है। ऐसा माना जाता है कि कीर्ति-स्तम्भ इसी मन्दिर का ही एक भाग है। इसका निर्माण 1445-46 ई. के आस-पास का है। श्रीवास्तव ने इस मंदिर को मध्यकालीन मंदिर-स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण माना है। वास्तव में वह संसार का किरीट और चित्तौड़ दुर्ग का तिलक है। इसी प्रकार महाराणा कुम्भा ने अचलगढ़ के समीप कुम्भ-स्वामी का मन्दिर भी बनवाया जिसमें विष्णु के चौबीस अवतारों की प्रति-

---

7 राजस्थान भारती, भा. 8, अंक 1-2, पृ. 45

मायें लगी हैं। इसके अलावा और भी आबू में अनेक मन्दिर कुम्भाकालीन है। "उदयपुर से 13 मील दूर स्थित एकलिंगजी मेवाड़-नरेशों के इष्टदेव हैं। कुम्भा ने अपने इष्टदेव के निकट भी मूल मन्दिर की पूर्व दिशा में कुम्भ-मण्डप का निर्माण कराया। यह मन्दिर आजकल अज्ञानवश मीरांबाई का मन्दिर कहलाता है। यह मन्दिर भी तत्कालीन स्थापत्य व मूर्तिकला सम्बन्धी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है। बाह्य भित्ती की तीन रथिकाओं में नृसिंह-वाराह-विष्णु भाव की द्योतक तीन महत्वपूर्ण प्रतिमायें हैं।"[8]

कुम्भा धार्मिक दृष्टि से बहुत ही सहिष्णु था। अतः विभिन्न धर्मावलम्बियों ने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया जिसमें रणकपुर का जैन मंदिर बहुत महत्वपूर्ण है। इसका उत्तरी भारतवर्ष के जैन मंदिरों में विशिष्ट स्थान है। इसका निर्माता धारणक था। प्राप्त सामग्री के आधार पर इसका निर्माण वि. स. 1496 से प्रारंभ हो वि. सं. 1516 तक काम चलता रहा। उत्तरी भारत में ऐसे स्तम्भों वाला विशाल मंदिर अन्यत्र कहीं नहीं है। फर्ग्युसन के अनुसार उत्तरी भारत में कोई मंदिर ऐसा नहीं देखा गया जो इतना सुन्दर ढंग से सजाया गया हो। रणकपुर के मंदिर की कला वास्तव में कुम्भा के समय के स्थापत्य की महानता को प्रदर्शित करती है। इसके अतिरिक्त भी इस काल के बने हुए कई प्रसिद्ध जैन मंदिर हैं जैसे-अजारी, पिंडवाड़ा, नागदा आदि। नये मंदिरों के निर्माण के साथ-साथ पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार भी किया गया था।

स्थापत्य कला का संबंध मूर्ति कला से काफी घनिष्ठ है। कुम्भा के काल में मूर्ति-निर्माण भी बहुत ही उन्नत दशा में था। चित्तौड़गढ़ दुर्ग में निर्मित कीर्ति-स्तंभ तो भारतीय मूर्तिकला का शब्द कोष ही है। इसे हिन्दू देवी-देवताओं का अजायबघर भी कहते हैं। सम्पूर्ण कीर्तिस्तंभ में अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां लगी हुई हैं। प्रवेश-द्वार में जनार्दन की मूर्ति है। प्रथम मंजिल की पार्श्व की ताकों में अनन्त, रुद्र, ब्रह्मा की मूर्तियां हैं। प्रमुख पार्श्वों में हरिहर, अर्द्धनारीश्वर तथा इसके दोनों ओर दो स्त्री-मूर्तियां हैं। इसके अलावा भी कई भैरव, वरुण आदि की मूर्तियां हैं। इसी प्रकार हर मंजिल पर विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं। कला की दृष्टि से टॉड ने इसे कुतुबमीनार से भी श्रेष्ठ माना है। फर्ग्युसन ने भी कीर्ति-स्तंभ को रोम के टार्जन के समान स्वीकार किया है किन्तु वह इसकी कला को टार्जन से भी अधिक उन्नत बताता है। कुम्भस्वामी के मंदिर की मूर्तियों का खजाना भी

8 वही, पृ. 49-50

उच्च कोटि का है। एकलिंगजी के मंदिर में निर्मित कुम्भ-मंडप की बाह्य भित्ति की तीन रथिकाओं में नृसिंह, वराह, विष्णु भाव की प्रतीक तीन मूर्तियां हैं। आर. सी. अग्रवाल का मत है कि "इन प्रतिमाओं का निर्माण महाराणा कुम्भा के राजकीय सूत्रधार मंडन के निर्देशन में हुआ होगा क्योंकि इन मूर्तियों में क्रमशः 8, 12 और 16 हाथ हैं और उनका जो स्वरूप अंकित है वह रूपमंडन में वर्णित विष्णु के वैकुण्ठ, अनन्त तथा त्रैलोक्य मोहन रूपों से पूर्णतः मेल खाती है।" उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित बीस हाथों वाली विष्णु-प्रतिमा भी कुम्भा काल की ही ज्ञात होती है।[9] इन मूर्तियों के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

कुम्भा ने दुर्गों का भी निर्माण कराया और ऐसा माना जाता है कि मेवाड़ के 84 दुर्गों में से 32 दुर्ग अकेले कुम्भा ने निर्मित कराये थे। इस निर्माण में सामरिक महत्व का सबसे ज्यादा ध्यान दिया गया। अपने राज्य की पश्चिमी सीमा और सिरोही के बीच में कई तंग रास्तों को सुरक्षित रखने के लिये नाका बंदी की और सिरोही के निकट बसन्ती का दुर्ग बनवाया। मेरों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये मचान के दुर्ग का निर्माण करवाया। भीलों की शक्ति पर नियंत्रण हेतु भोमट का दुर्ग बनवाया गया। टॉड के अनुसार सभी दुर्ग-निर्माण-व्यवस्था राज्य की पश्चिमी, उत्तरी और दक्षिणी सीमा की सुरक्षा के सबंध में थी। केन्द्रिय शक्ति को पश्चिमी क्षेत्र में अधिक सशक्त बनाये रखने और सीमांत भागों को सैनिक सहायता पहुँचाने के लिए आबू में वि. सं. 1509 में अचलगढ़ का दुर्ग बनवाया गया। यह दुर्ग परमारों के प्राचीन दुर्ग के अवशेषों पर इस तरह पुनर्निर्मित किया गया कि उस समय की सामरिक अवस्था के लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। इसी तरह अरावली के पश्चिमी शाखा के एक घेरे में सादड़ी, मेवाड़ और मारवाड़ की सीमा पर कुम्भलगढ़ नामक दुर्ग बनवाया गया। मआसिरे-मुहम्मदशाही में इस किले का प्रारंभिक नाम मच्छिन्द्रपुर है जिसका पुनर्निर्माण महाराणा कुम्भा ने 1443 ई. में प्रारंभ किया जो 1458 ई. में पूर्ण हुआ, जिसे महाराणा ने कुम्भलगढ़ नाम दिया। यह दुर्ग सैनिक-उपयोगिता व निवास की आवश्यकता की पूर्ति करता था। कुम्भलगढ़ के अतिरिक्त महाराणा ने चित्तौड़गढ़ दुर्ग को भी पुनर्निमित कराया। उसने इसे सात द्वारों से एक ओर सुरक्षित कर, कई बुर्जों से घेर कर बनवाया था। ऊपर जाने वाले तंग मार्ग

---

9 वही, पृ. 5

को रथ-मार्ग हेतु चौड़ा बनाया गया। उसने वहीं सुप्रसिद्ध कीर्तिस्तंभ भी बनवाया। टॉड के अनुसार कुम्भा ने अपने राज्य को निश्चित ही सुदृढ़ दुर्गों से सुसम्पन्न कर के अपना नाम चिरस्थायी कर दिया।

कुम्भा द्वारा अन्य निर्माण में तालाब, जलाशय व उसके महल ले सकते हैं। कुम्भा ने वसंतपुर को फिर से बसाया और वहां सात सुन्दर जलाशय बनवाये। दुर्गों पर उसने अपने ढंग के महल बनवाये। यह आश्चर्य है कि जिस व्यक्ति ने इतने विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्य कराये किन्तु स्वयं के निवास-स्थान में उतनी भव्यता नहीं थी। वे बड़े ही साधारण व सात्विक बनवाये गये थे। जी. एन. शर्मा के अनुसार, "कुम्भलगढ़ के महलों की तुलना में चित्तौड़ के महल आकार में बड़े हैं और उनको समुचित रूप से जनाना, मर्दाना, कुंवरों के आवास, कोष्ठागार, अस्तबल आदि अलग-अलग कक्ष के विचार से बनवाया गया था।"

साहित्यानुरागी—कुम्भा स्वयं विद्वान था और कई विद्वानों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता था। वह ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में पारंगत था। वेद, स्मृति, मीमांसा का उसे अच्छा ज्ञान था। उसने कई ग्रन्थों की रचना की जिसमें संगीतराज, संगीत मीमांसा, सूड प्रबंध प्रमुख है। संगीतराज की रचना वि. सं. 1509 में चित्तौड़ में हुई। इसकी पुष्टि कीर्तिस्तंभ-प्रशस्ति से भी होती है। यह ग्रन्थ पांच उल्लास मे बँटा हुआ है—पथ रत्नकोष, गीत रत्नकोष, वाद्य रत्नकोष, नृत्य रत्नकोष और 80 परीक्षण। इसमें करीब चालीस पूर्वाचार्यों के वर्णन मिलते हैं। सोमानी के अनुसार संगीतराज का रचयिता कुम्भा न हो कर कलासेन नामक कोई दक्षिण भारतीय पंडित था। ऐसी मान्यता है कि कुम्भा ने जयदेव कृत गीतगोविन्द की रसिकप्रिया टीका और संगीत रत्नाकर की टीका लिखी तथा चंडीशतक की व्याख्या की। कुम्भा की गीतगोविन्द की टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे प्रथम बार पदों को गाये जाने वाली विभिन्न रागों को निश्चित किया गया है। इसी प्रकार सूड प्रबंध एवं चंडीशतक भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनको देखने से विदित होता है कि इनकी शैली व गीतगोविन्द की रसिकप्रिया की शैली मे बड़ा अन्तर है। संगीत रत्नाकर, वाद्य प्रबंध आदि ग्रन्थ भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। कुम्भा ने कामराज-रतिसार तथा रसिकप्रिया के पूरक ग्रन्थ सुधा प्रबंध की रचना भी की। इसके अतिरिक्त वह चार नाटकों का रचयिता भी था जिनमें उसने मेवाड़ी, कर्नाटी और मराठी भाषाओं का प्रयोग किया। उसे नाट्य शास्त्रों का भी काफी अच्छा ज्ञान था। वाद्य यंत्रों की भी उसे अच्छी जानकारी थी तथा वह उन्हें बजाने में

भी निपुण था। एकलिंग महात्म्य से ज्ञात होता है कि कुम्भा वेद, शास्त्र, उपनिषद, मीमांसा, स्मृति, राजनीति, गणित, व्याकरण व तर्कशास्त्र का अच्छा ज्ञाता तथा विद्वान था।

विद्वान शासक ने अनेक विद्वानों को अपने यहाँ आकर्षित किया जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ का महत्व बढ़ गया। दरबार के विद्वानों में सबसे प्रमुख अत्रि था। वह एक विद्वान परिवार से आया हुआ था। वह न केवल एक अच्छा आलोचक ही था अपितु उसे मीमांसा, न्याय और वेदान्त का गहन अध्ययन भी था। कीर्तिस्तंभ प्रशस्ति के लेखन का उत्तरदायित्व उसी को सौंपा गया था परंतु उसकी आयु अधिक होने से यह काम उसके पुत्र महेश ने पूरा किया। दूसरा महत्वपूर्ण विद्वान सूत्रधार मंडन था। प्रमुख कवि कान्हा व्यास भी उसके दरबार में था जिसने एकलिंग महात्म्य की रचना की। सकलकीर्ति संस्कृत का महान विद्वान था, जिसने अट्ठाईस ग्रन्थ संस्कृत भाषा में और छः ग्रन्थ स्थानीय भाषा में लिखे। मंडन ने भी कई ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रसाद मंडन अभी भी उपलब्ध है। राजवल्लभ मंडन में निवास संबंधी इमारतें, कुए, तालाब आदि के निर्माण करने के सिद्धान्तों का विवरण है। देवता मूर्ति प्रकरण और रूप मंडप मे मूर्तियाँ बनाते समय किन नियमों का ध्यान रखना चाहिये इसका विवरण है। वास्तुमंडन मे निर्माता के लिये निर्माण नियमो का वर्णन है। मडन के ही भाई नाथा ने वस्तु मंजरी की रचना की तथा मंडन के पुत्र गोविन्द ने उद्धार धोरणी, कलानिधि तथा द्वारदीपिका ग्रन्थों की रचना की। अनेक जैन संतों ने भी मेवाड़ के साहित्यिक विकास में अपूर्व योगदान दिया है। संस्कृत और मेवाडी साहित्य के विकास में उनका बहुत ही प्रशंसनीय योगदान रहा है। जैन साहित्य के विद्वानों में सोमसुन्दर, मुनिसुन्दर, जयचन्दसूरि, सुन्दरसूरि, सोमदेव आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। जैन श्रेष्ठियों ने विद्वानो को यथेष्ट आर्थिक सहायता दी। इतना ही नही किताबों की नकल करने के लिये भी इन श्रेष्ठियों द्वारा आर्थिक सहयोग दिया गया। श्रेष्ठियो ने अपने पुस्तक-भंडार भी बनवाये। इन गतिविधियो से स्थानीय भाषा का काफी विकास हुआ।

इसी प्रकार से कुम्भा के काल मे संगीत एवं चित्रकला के क्षेत्र में भी आशातीत प्रगति हुई थी। वह स्वयं अपने समय का एक महान संगीतज्ञ था। उसे संगीत के नियमों तथा संगीत कला का पर्याप्त ज्ञान था। उसने संगीत पर तीन ग्रन्थ भी लिखे थे। स्पष्ट है कि कुम्भा को संगीत से अत्यधिक प्रेम था अतः निश्चित ही उसके समय में संगीतज्ञों को काफी प्रश्रय मिला था।

वह स्वयं विविध वाद्य-यंत्रों को बजाना भी जानता था।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाराणा कुम्भा का काल सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्नति की चरम सीमा पर था। डे ने ठीक ही कहा है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में मेवाड़ को कुम्भा की अद्वितीय देन है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि उसके शासन काल में मेवाड़ ने चहुंमुखी प्रगति की।

कुम्भा का देहान्त—ऐसे वीर, प्रतापी, विद्वान महाराणा का अन्त बड़ा दु:खद हुआ और उसके पुत्र ऊदा या उदयसिंह ने उसकी हत्या कर 1468 ई. में स्वयं गद्दी पर बैठ गया। जी. एन. शर्मा के अनुसार, "उसकी मृत्यु केवल उसकी जीवन-लीला की ही समाप्ति न थी वरन् सम्पूर्ण कला, साहित्य, शौर्य आदि की परम्परा की गति का अवरोध था। कुम्भा के बाद इस प्रकार की सर्वतोमुखी उन्नति की इतिश्री दिखाई देती है जिसका पुनः आभास आगे चल कर राजसिंह के समय में फिर से दिखाई देता है। सबसे बड़ी विशेषता जो हम कुम्भा के व्यक्तित्व में पाते हैं वह विजय नीति की वैज्ञानिकता तथा कूटनीति है।....धार्मिक क्षेत्र में वह उस समय से ऊपर उठा हुआ था।"

कर्नल टॉड, ओझा एवं शारदा ने भी उसके व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। "वस्तुतः कुम्भा भी सांगा के समान युद्ध-विजयी, वीर और अपने राज्य को बढ़ाने वाला हुआ। इसके अतिरिक्त उसमें कई ऐसे विशेष गुण भी थे जो सांगा में नहीं पाये जाते। वह विद्यानुरागी, विद्वानों का सम्मानकर्ता, साहित्य-प्रेमी, संगीत का आचार्य, नाट्य कला में कुशल, कवियों का शिरोमणि, अनेक ग्रन्थों का रचयिता, वेद, स्मृति, दर्शन, उपनिषद और व्याकरण आदि का विद्वान, संस्कृतादि अनेक भाषाओं का ज्ञाता और शिल्प का पूर्ण अनुरागी तथा उससे विशेष परिचित था, ... वह प्रजापालक और सब मतों को समदृष्टि से देखता था।" ".....वह शरीर का हृष्ट-पुष्ट और राजनीति तथा युद्ध-विद्या में बड़ा कुशल था।"[10] वास्तव में कुम्भा ने अपनी युद्ध-नीति, कूट-नीति एवं दूरदर्शिता से मेवाड़ को महाराज्य बना दिया था।

कुम्भा के बाद मेवाड़—उधर ऊदा द्वारा की गई पिता की हत्या की इस घटना से मेवाड़ के उत्कर्ष को बड़ा धक्का पहुँचा और अगले पाँच वर्ष तक मेवाड़ की दशा बड़ी दयनीय रही। सब हत्यारे को शासक के रूप में कोई स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ और मेवाड़ में ऊदा एवं उसके भाइयों के बीच एक रक्तपूर्ण उत्तराधिकार-संघर्ष प्रारम्भ हुआ जिसमें फलतः उसका भाई रायमल गद्दी प्राप्त करने में सफल हुआ। उदयसिंह अपने पुत्रों सहित

---

10 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 323-24

सोजत, बीकानेर ठहरता हुआ अपना राज्य पुनः प्राप्त करने के लिये मालवा के सुल्तान के पास सहायतार्थ पहुंचा। मेवाड़ की इस अराजकतापूर्ण स्थिति का लाभ पड़ोसी राज्यों ने उठाना प्रारम्भ किया। मेवाड़ के बड़े भू-भाग पर उन्होंने अधिकार कर लिया किन्तु रायमल के गद्दी पर बैठने के बाद स्थिति में थोड़ा-सा अन्तर आया। मालवा के सुल्तान गयासशाह ने जब चित्तौड़ पर आक्रमण किया तो मेवाड़ की सेना ने करारी हार दी। यहां असफल हो जाने पर सुल्तान ने मांडलगढ पर आक्रमण किया किन्तु उधर भी मालवा के सैनिकों को काफी हानि हुई और बहुत दूर तक मेवाड की सेना ने उनका पीछा किया। इन दो महान सफलताओं ने दशरथ शर्मा[11] के अनुसार मेवाड़ को सुरक्षित कर दिया और रायमल ने सैनिक शक्ति व कूटनीतिज्ञता के आधार पर मेवाड़ की स्थिति को दृढ़ करना प्रारम्भ किया। जोधपुर के राठौड़ो से उसने मित्रता की, हाड़ाओ से अपना सपर्क बढ़ाया किन्तु इस बीच उसके पुत्रों में झगडे प्रारम्भ हो जाने और दो पुत्रों की मृत्यु तथा सांगा का मेवाड छोड़ चले जाने से उसका जीवन दुःखमय होने लगा परन्तु उसकी मृत्यु के पूर्व सांगा मेवाड़ में आ गया था। अतः रायमल ने उसको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जो उसकी (रायमल की) मृत्यु के बाद 1508 ई. मे गद्दी पर बैठा। इसके गद्दी पर बैठने के बाद मेवाड़ का उत्कर्ष काल पुनः शुरू हो जाता है।

महाराणा सांगा—महाराणा संग्रामसिंह, जो इतिहास में सांगा के नाम से अधिक जाना जाता है, का जन्म मार्च 24, 1481 ई. को हुआ था। श्यामलदास[12] के अनुसार रायमल के 13 पुत्र थे जिनमे पृथ्वीराज, जयमल, राजसिंह, संग्रामसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं। चारों भाई बचपन से ही परस्पर झगड़ते रहते थे। चूंकि संग्रामसिंह छोटा था अतः राज्य-उत्तराधिकारी होने की कोई संभावना नहीं थी। किन्तु चारो भाइयों में जो आपसी कलह रहता था उसका कारण कदाचित रायमल की विभिन्न रानियाँ थीं जो अपनी-अपनी संतान को मेवाड़ का राणा बनाना चाहती थी। सांगा के उत्तराधिकारी होने के बारे में एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी के कारण उसमें (सांगा) और पृथ्वीराज मे ऐसी गंभीर लड़ाई हुई कि दोनों लहूलुहान हो गये और सांगा की

---

11 दशरथ शर्मा, लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री, पृ 81

12 वीर विनोद, भा. 1, पृ. 342; टॉड (जि. 1, पृ. 235) ने केवल तीन भाइयों का ही वर्णन किया है तथा सांगा को ज्येष्ठ भ्राता स्वीकार किया है जो ठीक नहीं है।

पर चोट भी आयी थी। तब सांगा जान बचा कर भागा। सांगा के पला-यन का काल किस प्रकार व्यतीत हुआ इस संदर्भ में कई किंवदन्तियाँ हैं। ऐसा माना जाता है कि सांगा अजमेर पहुँच कर करमचंद पंवार के यहाँ रहा। जब करमचंद को वास्तविक स्थिति का पता लगा तो उसने उसको ससम्मान अपने यहाँ रखा। उसने अपनी पुत्री की शादी भी सांगा के साथ कर दी। इधर मेवाड़ में जयमल और पृथ्वीराज की मृत्यु हो गई थी। सांगा के जीवित होने की बात का जब महाराणा रायमल को पता लगा तो उसने करमचंद के पास संदेश भेजा। यह आदेश पाकर करमचंद पंवार सांगा सहित राय-मल के दरबार में उपस्थित हुआ। रायमल ने भी इसे अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और उसकी मृत्यु के बाद सांगा, मई 4, 1508 ई. को मेवाड़ की गद्दी पर बैठा।

प्रारंभिक कठिनाइयाँ—सांगा गद्दी पर बैठा तब मेवाड़ आंतरिक कलह और बाह्य आक्रमणों का शिकार बना हुआ था। कुम्भा की मृत्यु के बाद ऊदा या उदयसिंह ने अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये आबू, सिरोही को सौंप दिया, अजमेर में तारागढ़ का किला जोधपुर को दे दिया। मेड़ता के सामंत दूदा ने सांभर पर अपना अधिकार जमा लिया। अनेक सामंत और शासक मेवाड़ के प्रभाव से मुक्त होने से ही संतुष्ट नहीं थे अपितु मेवाड़ का अस्तित्व मिटाने को उत्सुक थे। राजपूत शासक ही नहीं बल्कि पड़ोसी मुस्लिम सुल्तानों ने भी मेवाड़ को अपना आखेट का मैदान बना रखा था। मालवा और गुज-रात के सुल्तान मेवाड़ के घोर शत्रु थे। दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी की भी इस ओर निगाह लगी हुई थी। किन्तु सांगा ने इन सारी परिस्थितियों का अदम्य साहस से सामना किया। सांगा ने सबसे पहले अपनी सीमा पंक्तियों को मजबूत करने की ओर ध्यान दिया। उसने करमचंद पवार को अजमेर, परबतसर, मांडल, फूलिया, बनेड़ा के परगने जागीर में दिये[13] और अपनी उत्तर-पूर्वी सीमा को उसके माध्यम से सुदृढ़ किया। अपनी दक्षिणी-पश्चिमी सीमा के सन्दर्भ में भी उसने सतर्कता रखी और जैसा कि गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है—सिरोही, वागड़ और मारवाड़ के शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर उसने एक राजपूत-राज्यों का संगठन बना लिया जो संभावित आक्रमणों का मुकाबला कर सके और शत्रुओं को आगे बढ़ने से रोक सके। ईडर पर भी अपने गुट के व्यक्ति रायमल को बिठाकर राणा ने राजपूतों के

13 मुन्शी देवीप्रसाद, महाराणा संग्रामसिंहजी का जीवन-चरित्र, पृ. 26-27

मैत्री संघ को बलवान बना लिया। यह कार्य महाराणा की विस्तारवादी नीति को बल देने वाला सुदृढ़ कदम था। यों तब सांगा के नेतृत्व मे मेवाड़ की बढ़ती हुई शक्ति ने पड़ोसी मुस्लिम राज्यों से संघर्ष अवश्यम्भावी कर दिया।

मालवा—यों भी देखा जाय तो मालवा और मेवाड़ की परम्परागत शत्रुता चली आ रही थी। 1401 ई. में अपने जन्म से लगा कर 1530 ई. मे अपनी स्वतंत्रता के अन्त तक मालवा, मेवाड़ का शत्रु बना रहा।

मालवा का सुल्तान अपनी प्रसारवादी नीति के कारण मेवाड़ के सीमावर्ती राज्यों को अपने राज्य मे मिला देना चाहता था। अतः उसने बून्दी, मांडलगढ़, जहाजपुर आदि क्षेत्रों पर अधिकार करने के कई प्रयास भी किये। एक तरफ मेवाड़ में कुम्भा व सांगा जैसे वीर एवं साहसी शासक हुए जो प्रसारवादी नीति में विश्वास रखते थे। फलतः दोनों ही एक-दूसरे की निर्बलता का लाभ उठाने की ताक में थे।

मेवाड़-मालवा युद्ध का तात्कालिक कारण मालवा का उत्तराधिकार संघर्ष था। 1511 ई. में मालवा के सुल्तान नासिरुद्दीन की मृत्यु हो जाने पर उसका पुत्र महमूद द्वितीय सुल्तान बना परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। महमूद के भाई साहिबखां ने सरदारों से मिल-जुल कर एक षड्यंत्र द्वारा महमूद को हटा स्वयं सुल्तान बन गया। तब मेदिनीराय ने साहिबखां की सेना को पराजित कर पुनः महमूद को गद्दी पर बिठा दिया जिससे महमूद ने प्रसन्न होकर मेदिनीराय को अपना प्रधान मंत्री बना दिया किन्तु षड्यंत्रकारियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। अब उन्होंने एक ओर मेदिनीराय के खिलाफ महमूद को भरना शुरू किया तो दूसरी ओर गुजरात के सुल्तान से सहायता चाही। तब गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरशाह ने मालवा पर आक्रमण कर दिया। महमूद वास्तविक स्थिति समझ भी नहीं पाया था। उसने सोचा कि यह सब मेदिनीराय के कारण हो रहा है, अतः क्यों न उसका काम तमाम कर दिया जाय? उसने मेदिनीराय को मरवाने का जाल रचा किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। ऐसी स्थिति मे महमूद भयभीत हो गया और गुजरात के सुल्तान के पास सहायतार्थ गया। गुजरात की सेना मांडू की ओर बढ़ी। इधर मेदिनीराय महाराणा सांगा के पास सहायता प्राप्त करने हेतु आया। सांगा ने उसकी मदद भी की। वह मेदिनीराय के साथ मांडू के लिए रवाना हुआ। वे सारंगपुर पहुंचे होंगे कि इस बीच फरवरी 13, 1518 ई. को महमूद ने गुजरात-सेना की सहायता से मांडू पर आधिपत्य कर लिया था।[14] अतः

14 बेले, हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृ. 257; यू. एन. डे, मेडायवल मालवा, पृ. 296-97

महाराणा पुनः मेदिनीराय के साथ चित्तौड़ लौट आया और मेदिनीराय को गागरौन, चंदेरी आदि प्रदेशों की जागीर प्रदान कर दी जिससे महमूद का क्रोधित हो जाना स्वाभाविक ही था। महमूद इसी मिस मेवाड़ पर आक्रमण के अवसर को खोना नहीं चाहता था।

युद्ध—अतः 1519 ई. में महमूद ने पूर्ण शक्ति एवं साहस के साथ गागरौन पर आक्रमण कर दिया। गुजरात की सेना के अधिकारी आसफखां ने महमूद को समझाया भी था कि आक्रमण करना उसके लिए किसी भी दशा में लाभप्रद नहीं होगा किन्तु उसने परवाह नहीं की और लड़ाई शुरु हुई जिसमें मुसलमानों की करारी हार हुई तथा अत्यधिक जन-धन की क्षति हुई। स्वयं सुल्तान बन्दी बनाकर चित्तौड़ लाया गया जहाँ उसका इलाज कराने के बाद काफी धन आदि देकर ससम्मान मांडू भेज दिया। सुल्तान ने भी अधीनता स्वरूप महाराणा को रत्नजटित मुकुट तथा सोने की कमरपेटी भेंट की। महाराणा द्वारा सुल्तान के साथ किये गए इस उदार बर्ताव की निजामुद्दीन अहमद ने बड़ी प्रशंसा की है। ओझा ने राणा के इस कार्य को राजनैतिक अदूरदर्शिता का परिणाम बताया है किन्तु जी. एन. शर्मा के विचार से वास्तव में सांगा का ऐसा करना बुद्धिमता का द्योतक था। वीर विनोद एवं शारदा के अनुसार सांगा ने सुल्तान को छोड़ दिया किन्तु उसके पुत्र को 'ओल' (जामिन) के तौर पर चित्तौड़ में रख लिया। यों सांगा द्वारा सुल्तान के पुत्र को अपने पास रखना तथा अधीनता स्वरूप चिन्ह प्राप्त करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों में सुल्तान के साथ इस तरह का उदारतापूर्ण व्यवहार करना उसकी दूरदर्शिता का परिचायक था। निःसन्देह मालवा-विजय से मेवाड को काफी उपजाऊ इलाका प्राप्त हुआ तथा यहाँ की आर्थिक स्थिति में निश्चित लाभ हुआ।

गुजरात—मालवा की भाँति गुजरात भी 1401 ई. में स्वतंत्र हो गया था और 1535 ई. तक उसकी स्वतन्त्रता बनी रही। इस मध्य मेवाड़-गुजरात सम्बन्ध प्रायः कटुतापूर्ण ही रहे थे। मेवाड़ एवं गुजरात की प्रसारवादी नीति ने उनके सम्बन्धों में तनाव ला दिया था। नागोर के प्रश्न ने दोनों के मध्य संघर्ष अवश्यंभावी कर दिया। नागोर राजस्थान के राजपूत राज्यों के मध्य एक छोटा-सा मुस्लिम राज्य था जिसे कुम्भा ने विजय कर लिया था और यहाँ के मुस्लिम शासक वार्षिक कर दे रहे थे किन्तु गुजरात का सुल्तान इस पूर्णतः स्वतन्त्र करना चाहता था। गुजरात के सुल्तान ने महमूद की सहायता कर मेदिनीराय को मालवा से बाहर निकाला था। ऐसी स्थिति में मेवाड़ के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने शत्रु के मित्र को भी यथोचित दण्ड दे।

ईडर का मामला इन दोनों के बीच संघर्ष का प्रमुख कारण बन गया था। ईडर गुजरात व मेवाड़ की सीमा के मध्य होने से सामरिक महत्व का था। गुजरात का सुल्तान इस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था ताकि मेवाड़ पर आक्रमण करने में कोई दिक्कत न हो। ईडर के राव भाण के दो पुत्र थे सूर्यमल व भीम। भाण की मृत्यु के बाद सूर्यमल गद्दी पर बैठा और कोई 18 महीने बाद उसकी भी मृत्यु हो गई। तब उसका पुत्र रायमल गद्दी पर बैठा। चूंकि रायमल अल्पायु था अतः उसका काका भीम उसे गद्दी से हटाकर स्वयं राव बन गया। रायमल वहाँ से भाग कर महाराणा सांगा के पास पहुँचा। सांगा ने उसे शरण देते हुए अपनी पुत्री की सगाई भी उसके साथ कर दी। कुछ दिनों बाद भीम की भी मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र भारमल सिंहासन पर बैठा। तब सांगा ने रायमल की सहायता करते हुए उसे पुनः ईडर का राव बना दिया।

उधर गुजरात के सुल्तान को जब यह मालूम हुआ तो वह बड़ा नाराज हुआ। भारमल भी गुजरात के सुल्तान मुजफ्फर के पास सहायतार्थ गया। तब सुल्तान ने अहमदनगर के जागीरदार निजामुलमुल्क को भारमल की सहायता कर ईडर की गद्दी दिलाने का आदेश दिया। निजामुल्मुल्क ने ईडर को घेर लिया। रायमल उसका सामना न कर सका और ईडर को छोड़ पहाड़ों में चला गया। निजामुल्मुल्क ने भारमल को ईडर की गद्दी पर बिठा दिया और उसकी सुरक्षार्थ जहीरुलमुल्क को सौ सवारों के साथ ईडर में छोड़ कर स्वयं पुनः लौट गया। उधर रायमल ने पहाड़ों से निकल कर ईडर पर आक्रमण कर दिया जिसमें जहीरुलमुल्क अपने 27 आदमियों सहित खेत रहा। तब गुजरात के सुल्तान ने स्वयं ईडर पर आक्रमण कर उसे लूटा।

यों गुजरात के सुल्तान की कार्यवाहियों को देखकर 1591 ई. में महाराणा सांगा ने चित्तौड़ से प्रयाण कर एक ही दिन में ईडर को विजय कर लिया। उधर मुस्लिमों को जब सांगा के ससैन्य आने की सूचना मिली तो उन्होंने ईडर को छोडकर अहमदनगर में शरण ली। तब सांगा ने अहमदनगर को घेर लिया और कुछ समय उपरान्त वहाँ के किले के किवाड़ों को तोड़ कर राजपूत अन्दर घुस गए और खूब लूट-पाट मचाई। आगे बढ़ते हुए बड़नगर, बीसलनगर तथा गुजरात के अन्य इलाकों को लूटता हुआ महाराणा पुनः चित्तौड़ आ गया।

सुल्तान मुजफ्फर भी शान्त नहीं बैठा था। वह इस पराजय का शीघ्र ही बदला लेना चाहता था। अतः उसने सैनिक तैयारी करना प्रारम्भ किया। तभी सोरठ का हाकिम मलिक अयाज़ 20 हजार सवार व तोपखाने के साथ

सुल्तान के पास आया और निवेदन किया कि 'यदि आप मुझे भेजें तो, मैं या तो राणा को कैद कर यहाँ ले आऊँगा या परमधाम पहुँचा दूंगा।' सुल्तान को मलिक अयाज की बात पसन्द आ गई और उसने ओझा के अनुसार दिसम्बर 1520 ई. में मलिक अयाज को खिलअत देकर एक लाख सवार, सौ हाथी तोपखाने के साथ भेजा। साथ ही किवामुल्मुल्क के नेतृत्व में 20 हजार सवार तथा 20 हाथियों की दूसरी सेना भी मलिक अयाज की सहायता हेतु भेजी। ये सेनायें मोडासा होती हुई डूंगरपुर को जलाकर बांसवाड़ा पहुँची। इसके पश्चात गुजराती सेना ने मन्दसौर को घेर लिया। महाराणा सांगा भी ससैन्य मन्दसौर से कोई 20 मील दूर नांदसा गाँव में आ गया। मालवा का सुल्तान भी मलिक अयाज की सहायतार्थ आ गया और रायमेन का तंवर सलहदी तथा अन्य राजा ससैन्य महाराणा से आ मिले। यों दोनों तरफ से युद्धार्थ अच्छी तैयारी हो गई थी किन्तु इस बीच मलिक अयाज व उसके अधिकारियो के बीच कटुता उत्पन्न हो जाने के कारण मलिक अयाज को संधि करनी पड़ी और वह गुजरात चला गया। मिराते-सिकन्दरी के अनुसार, "सुल्तान महमूद और किवामुल्मुल्क तो राणा से लड़ना चाहते थे, परन्तु मलिक अयाज इसके विरुद्ध था, इसलिए वह बिना लड़े ही सन्धि करके चला गया। इसके बाद सुल्तान महमूद भी महाराणा से ओल में रखे हुए अपने शहजादे के लौटाने की संधि कर लौट गया।" फरिश्ता ने भी संधि को स्वीकार करते हुए लिखा है कि अगले वर्ष पुनः गुजरात के सुल्तान ने आक्रमण की तैयारी की किन्तु राणा के कुंवर ने सुल्तान को भेंट आदि देकर चढाई को रोक दिया। ओझा इससे सहमत नहीं है क्योंकि, "सेनापति मलिक अयाज हार कर वापस गया, जिसे वहाँ उसे सुल्तान मुजफ्फर ने झिड़का, तो सुल्तान महमूद महाराणा से संधि करने पर बाधित कर सका हो, यह समझ में नहीं आता, सम्भव है कि उसने सांगा को दण्ड (जुर्माना) देकर शाहजादे को छुड़ाया हो।"

यों तो गुजरात के सुल्तान का ज्येष्ठ पुत्र सिकन्दर शाह राज्य का उत्तराधिकारी था किन्तु उसका दूसरा लड़का बहादुरखाँ गद्दी पर बैठना चाहता था। अतः ज्येष्ठ भ्राता की शत्रुता आदि से नाराज होकर वह सांगा के पास चित्तौड़ आ गया, जहाँ महाराणा की माँ ने उसके साथ पुत्रवत व्यवहार किया। वह भी सांगा की शरण में काफी दिनों तक रहा। इस प्रकार सांगा ने गुजरात को लूटा, ईडर पर पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा गुजरात के उत्तराधिकारी को चित्तौड़ में शरण देकर अपना प्रभाव जमा दिया।

सांगा व इब्राहीम लोदी—यों तो महाराणा सांगा ने अपनी प्रसारवादी नीति के अनुरूप सिकन्दर लोदी के काल में ही दिल्ली के अधीनस्थ प्रदेशों को

अपने राज्य में मिलाना शुरु कर दिया था किन्तु ओझा के अनुसार सिकन्दर लोदी अपने राज्य की निर्बलता के कारण महाराणा से लड़ने को तैयार न हो सका। 1517 ई. मे उसकी मृत्यु के बाद इब्राहीम लोदी दिल्ली के सिंहासन पर बैठा। वह स्वयं भी विस्तार नीति में विश्वास रखता था अतः दोनों ही शासकों की महत्वाकांक्षा ने उन्हें संघर्ष हेतु आमने-सामने ला दिया। सांगा ने गद्दी पर बैठते ही अजमेर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और करमचन्द पंवार की सेवाओं के बदले उसके नाम अजमेर का पट्टा लिख दिया। जब इब्राहीम लोदी को यह ज्ञात हुआ कि सांगा ने शाही प्रदेश पर अधिकार कर लिया है तो वह चुप न रह सका और ससैन्य मेवाड़ की ओर प्रस्थान किया।

युद्ध—इधर महाराणा सांगा को यह मालूम हुआ कि इब्राहीम लोदी ससैन्य मेवाड़ पर आक्रमण करने आ रहा है तो वह भी पीछे नहीं रहा। दोनों ही तरफ की सेनाओं में हाड़ौती-सीमा पर खातोली गांव के निकट युद्ध हुआ। यों कोई एक पहर तक युद्ध होने के पश्चात् इब्राहीम लोदी ससैन्य भाग गया किन्तु उसका एक पुत्र बन्दी बना लिया गया जिसे कुछ दिनों बाद महाराणा ने दण्ड ले-लिवा कर छोड़ दिया। युद्ध में महाराणा के घुटने पर तीर लगने से वह लंगड़ा हो गया तथा उसका बायाँ हाथ भी तलवार से कट गया था।

इब्राहीम लोदी ने खातोली की हार का शीघ्र ही बदला लेना चाहा। उसने मियाँ मक्खन के नेतृत्व में 1518 ई. में एक सेना भेजकर पुनः आक्रमण किया किन्तु इस बार भी उसे पराजित होना पड़ा। तारीखेसलातीने अफगाना के अनुसार शुरु में महाराणा की विजय हुई परन्तु जब सांगा की सेना विजयोल्लास में लीन थी तभी अफगानों ने एकाएक आक्रमण कर दिया जिसमें महाराणा घायल हो गया और उसे राजपूत उठाकर ले गये। यह वर्णन विश्वसनीय नहीं लगता। वाकेआते मुश्ताकी व तारीखे दाऊदी में भी इस धोखे का वर्णन नहीं है। शारदा का कहना है कि यदि हुसैन की सहायता से सुल्तान को विजय हुई होती तो वह युद्ध के थोड़े दिनों बाद न तो उसे चंदेरी में मरवाता और न ही उसके घातकों को इनाम ही देता। स्वयं बाबर ने भी इस युद्ध में महाराणा की विजय को स्वीकार किया है। अमरकाव्य वंशावली के अनुसार भी यह कहा जा सकता है कि महाराणा धोलपुर से विजयी होकर चित्तौड़ लौटा था। ओझा के मतानुसार वास्तव मे इस युद्ध में राजपूतों की ही विजय हुई थी और यह युद्ध धोलपुर के पास हुआ था। राजपूतों ने बयाना तक मुस्लिम सेना का पीछा किया तथा सांगा को मालवा का कुछ हिस्सा, जो सिकन्दर लोदी के अधिकार मे था प्राप्त हुआ। इस प्रकार से महाराणा सांगा के नेतृत्व में मेवाड़ राज्य का काफी विस्तार तो हुआ परन्तु उसके जीवन की गम्भीरतम चुनौती का सामना उसे अब करना था।

अध्याय 4

मुग़ल प्रसार एवं राजपूत प्रतिक्रिया

(1526 ई.—1615 ई.)

बाबर के लिये दिल्ली पर आधिपत्य जमा लेना सरल था किन्तु अपनी शक्ति को दृढ़ बनाये रखना कठिन था। उत्तर-पश्चिमी भारत की विजय और पानीपत में इब्राहीम लोदी की हार ने बाबर को केवल केन्द्रीय हिन्दुस्तान का स्वामी बना दिया था। अब भी उसके सामने दो प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे, राजपूत और अफ़गान। साथ ही यह समस्या भी थी कि दोनों में पहले किस शक्ति से लड़ा जाय। अतः आगरा पहुंचने के बाद उसने युद्ध-परिषद से विचार-विमर्श किया। परिषद ने सर्वप्रथम अफ़गान-शक्ति का सामना करने को सुझाया परंतु इस बीच होने वाले घटनाक्रमों के कारण बाबर को अपना ध्यान सांगा की ओर केन्द्रित करना आवश्यक हो गया।

युद्ध के कारण—बाबर अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' में लिखता है कि राणा सांगा का दूत काबुल में उसके पास एक संधि-प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ और यह निश्चित हुआ कि—"बाबर पंजाब की तरफ से इब्राहीम पर आक्रमण करेगा तथा राणा सांगा आगरा की ओर से।"[1] इस संधि-वार्ता तथा राणा सांगा की ओर से पहल करने से रशब्रुकविलियम्स व अर्सकिन सहमत हैं। गोपीनाथ शर्मा ने इस मत पर आपत्ति व्यक्त की है और इसे 'सांगा से झगड़ने के लिए बाबर ने बहाना बनाया' बताया है। उसने लिखा है कि "समझौता अवश्य हुआ परंतु पहल राणा की ओर से न की जाकर बाबर की ओर से की गई।" 'मेवाड़ का संक्षिप्त इतिहास' एक अप्रकाशित ग्रन्थ है जो बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पंडित अक्षयनाथ के द्वारा लिखा गया था, लेकिन इसका महत्व इसलिए अधिक है कि पं. अक्षयनाथ के एक पूर्वज वाटेश्वर पुरोहित खानवा के युद्ध में राणा सांगा के दैनिक कार्यों को लिखता रहता था। अपने पूर्वजों की डायरी के पन्नों के आधार पर ही पं. अक्षयनाथ ने मेवाड़ के संक्षिप्त इतिहास की रचना की अतः इसे एकाएक असत्य नहीं कहा

---

1 बाबरनामा (बेवरिज), जि. 2, पृ. 529

यूरोपियन इतिहासकारों ने सारा दोष सांगा पर डाला है। इस उल्लंघन के निम्न लिखित कारण बताये गये हैं—

1 राणा सांगा ने सोचा होगा कि बाबर भी अपने पूर्वज तैमूर की भांति लूट-पाट करके लौट जायेगा परन्तु जब बाबर ने पंजाब आदि इलाकों को जीत लिया तथा उन स्थानों पर अच्छा प्रबन्ध स्थापित किया तो राणा को निराशा हुई तथा उसने पानीपत-युद्ध के समय बाबर की सहायता नहीं की।

2 राणा के सामन्तों द्वारा उसे यह सलाह दी गयी कि बाबर की सहायता करना, काले सर्प को दुग्धपान कराना है। उस समय यह सम्भव नहीं था कि सामन्तों की राय का तिरस्कार किया जा सके। अतः तटस्थता की नीति का पालन किया गया।

3 राणा सोचता था कि बाबर और इब्राहीम में से जो जीतेगा उस पर विजय प्राप्त करना सरल हो जायेगा। अतः उसने तटस्थता की नीति को ही अपनाया।

बाबर ने पानीपत के युद्ध की विजय के बाद प्रथमतः अफगान शक्ति का दमन करना चाहा था किन्तु अग्रलिखित परिस्थितियों ने बाबर को राणा के साथ संघर्ष करने को मजबूर कर दिया।

पानीपत के युद्ध के परिणाम ज्ञात होते ही राणा ने अपना साम्राज्य विस्तार प्रारंभ कर दिया था। रणथंभोर के पास खंडार दुर्ग सहित करीब दो सौ ऐसे स्थानों पर उसने कब्जा कर लिया[3] जो इससे पूर्व सल्तनत के अधीन थे। अतएव बाबर का चिंतित होना स्वाभाविक ही था। राणा स्वयं को हिन्दू धर्म का रक्षक मानता था। उधर बाबर चाहता था कि उस इस्लामी शासन को बनाये रखा जाय जो विगत कुछ शताब्दियों से भारत पर चला आ रहा था। राणा ने विजित इलाकों से मुसलमान प्रजा को बहिष्कृत कर दिया तथा मस्जिदें नष्ट कर दीं। इसे बाबर ने इस्लाम का अनादर कहा।

राणा ने महमूदलोदी तथा हसनखां मेवाती का स्वागत कर उन्हें अपने पक्ष में मिला लिया। इस अफगान-राजपूत मैत्री को रशब्रुकविलियम्स ने एक अपवित्र समझौता माना है। उसकी राय है कि दोनों के धार्मिक एवं राजनैतिक उद्देश्यों में कोई समानता नहीं थी परंतु आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव इस समझौते को सबसे अधिक पवित्र समझौता मानते हुये लिखता है कि बाबर एक विदेशी था और एक विदेशी को देश से निकाल बाहर करना ही सबसे पवित्र

---

3 बाबरनामा, जि. 2, पृ. 562

उद्देश्य है। कुछ भी हो इस मैत्री से बाबर चिंतित हुआ तथा संघर्ष अनिवार्य हो गया।

बाबर को यह भी भय था कि यदि वह राणा सांगा को पराजित करने में देर करेगा तो हो सकता है कि उसकी पूर्व विजय निष्फल हो जाये और उस हालत में वह सुरक्षित रूप से अपने निवास-स्थान (काबुल) तक भी नहीं पहुंच सके।

"राणा ने बाबर पर यह आरोप लगाया था कि कालपी, धौलपुर, बयाना तथा आगरा पर बाबर ने अधिकार करके संधि का उल्लघन किया है।" ऐसी राय एर्सकिन की है।

गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार, "उन दोनों का एक साथ रहना वैसा ही था जैसे एक म्यान में दो तलवारें, अथवा एक-दूसरे पर घात लगाये हुए शेर। यों व्यक्तिगत व राजनैतिक कारणों ने आने वाले संघर्ष को एक राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया था।"

राणा का प्रस्थान—बाबर की गतिविधियों का अवलोकन कर राणा सांगा ससैन्य जनवरी, 1527 ई. के अन्त में रवाना हुआ। रणथंभोर होता हुआ वह बयाना पहुंचा, तथा महंदीख्वाजा से 16 फरवरी को बयाना-दुर्ग छीन लिया। यद्यपि बाबर तथा मुसलमान इतिहासकारों ने बयाना-विजय को कोई विशेष महत्व नहीं दिया है तथापि गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राणा की बयाना-विजय अत्यन्त महत्वपूर्ण थी क्योंकि अब तक राणा के अधीन मध्य-भारत के प्रमुखतम दुर्ग चित्तौड़, रणथंभोर, खंडार एवं बयाना आ चुके थे, इससे उसकी स्थिति काफी दृढ हो गई थी। साथ ही इस अभियान से मुगल सेना भयभीत हो गई थी क्योंकि इससे पूर्व इतनी विशाल सेना मुगलो ने नहीं देखी थी। अतः उनके उत्साह मे कमी आ गई थी। इसके पश्चात राजपूत सेना ने अपना रुख भुसावर की ओर किया तथा भुसावर मे पड़ाव डाल कर बाबर को काबुल एवं दिल्ली से मिलने वाली सहायता को रोक दिया। यहां पर राणा कोई एक माह तक रुका रहा।

मार्च 13, 1527 ई. को राणा सांगा खानवा के मैदान में आ डटा तथा अपने को जमा लिया। बाबर वहां पहले से ही आ गया था। दोनों ही तरफ की सेनाए 15 मार्च तक आमने-सामने डटी रही। यहाँ भी राणा ने उसी सैन्य-व्यवस्था का सहारा लिया जैसा कि बयाना-विजय के समय लिया था।

बाबर का प्रस्थान—बाबर आगरा से 16 फरवरी को रवाना हुआ तथा मिढ़ाकुर पहुँच कर अपनी सेना, रसद आदि को व्यवस्थित किया। इसके बाद

उसने अपनी सेना को जमाया। तब उसकी सेना की दशा बड़ी दयनीय थी। बयाना-युद्ध से भागे हुए सैनिकों ने राजपूत-शक्ति का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया तथा मुगल सेना को हतोत्साहित कर दिया। सभी कायरता की बातें करने लगे। स्वयं बाबर ने स्वीकार किया है कि सेना निरुत्साहित थी तथा वजीर जिसे ठीक सलाह देनी चाहिए थी व अमीर जिन्होंने राज्य की संपत्ति का काफी उपयोग किया था, वे भी उचित सलाह नहीं दे पा रहे थे। तभी शेख मुहम्मद शरीफ नामक ईरान के एक ज्योतिषी की 'विजय में संदेह की भविष्यवाणी' ने स्थिति को और अधिक जटिल बना दिया था।[4] बाबर चिन्तित तो हुआ परन्तु वह यों कठिन परिस्थितियों से विचलित होने वाला नहीं था। उसने अपने शराब पीने के सभी पात्र तुड़वा दिये और भविष्य में कभी भी शराब न पीने की कसम खाई। साथ ही उसने सेना के समक्ष एक कूटनीतिक ओजस्वी भाषण भी दिया जिससे सेना में नवीन उत्साह का संचार हुआ और वे युद्ध करने के लिए उद्यत हो गये।

सैनिक-संख्या—दोनों पक्षों की सैनिक-संख्या के बारे में विद्वान एक मत नहीं हैं। 'बाबरनामा' के अनुसार राजपूत-सैनिकों की संख्या दो लाख एक हजार थी। 'हुमायूँनामा' में यह संख्या दो लाख के लगभग व 'तबकात-ए-अकबरी' में यह संख्या एक लाख बीस हजार बताई गई है। फरिश्ता ने इसे एक लाख व कर्नल टॉड ने उसकी सेना में 80 हजार घुड़सवार, 104 राजा-राव व 100 के करीब हाथी माने हैं। राणारासो ने राजपूत सैनिकों की संख्या एक लाख अस्सी हजार दी है।[5] श्रीवास्तव के अनुसार 80 हजार से अधिक सेना न रही होगी। रशब्रुक विलियम्स ने बाबर की सेना के प्रबल योद्धाओं की संख्या 8-10 हजार कही है। श्रीवास्तव इस संख्या को संदिग्ध कहते हैं। ओझा का मत है कि बाबर की सैनिक-संख्या का अनुपात 1:2 का था। गोपीनाथ शर्मा का मत है कि बाबर की सैनिक-संख्या 20 व 25 हजार के बीच थी। फरिश्ता ने बाबर की सैनिक-संख्या 25 हजार बताई है। लेनपूल ने लिखा है कि बाबर व राजपूत सेना में 1:8 का अनुपात था।

समझौते का प्रयत्न—टॉड ने लिखा है कि बाबर ने राणा सांगा से शांति-समझौते का प्रस्ताव किया और पीलीखाल नामक स्थान को सीमा मानना स्वीकार किया। शारदा, लेनपूल व रशब्रुक विलियम्स का मत है कि

---

4 गुलबदन बेगम, हुमायूँनामा (बेवरिज), पृ. 98; बाबरनामा, जि. 2, पृ. 551

5 राणारासो (हस्तलिखित ग्रन्थ), श्लोक 45

इसमें कोई सत्यता नहीं है। ए. सी. बनर्जी का मत है कि परिस्थितियों को देखते हुए टॉड का मत कुछ अंशों तक ठीक है। परंतु राणा सांगा ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। सांगा के मंत्री सिल्हदी ने इसे स्वीकार करने का आग्रह किया था परंतु अन्य सामंतों के विरोध से उसको स्वीकार नहीं किया गया। शनिवार, मार्च 16, 1527 ई.[6] को प्रातः 9.30 बजे भीषण युद्ध प्रारंभ हुआ जो फतहपुर सीकरी से कोई दस मील दक्षिण-पश्चिम में खानवा नामक स्थान पर लड़ा गया था। बाबर ने अपनी सेना की व्यूह-रचना पानीपत के आधार पर ही की थी। तोपखाने की कमान निज़ामुद्दीन अली खलीफा के हाथ में थी। मुगल तोपखाने द्वारा भयंकर आग बरसाने पर भी वीर राजपूतों ने अपने निरंतर आक्रमणों से बाबर के होश गुम कर दिये थे। इसी बीच हाथी पर सवार राणा सांगा के तीर लग गया जिससे बेहोशी की हालत में उसे मैदान से ले जाया गया। इधर राणा के पश्चात सलुम्बर के रावत रतनसिंह और झाला अज्जा ने कमान संभालते हुए युद्ध जारी रक्खा किन्तु बाबर की तोपों के आगे उनकी चली नहीं और राजपूत सेना की करारी हार हुई।

राणा की हार के कारण—राणा सांगा के पास सैनिकों की संख्या बाबर से अधिक थी। विलियम सेना का अनुपात 1 : 10 मानता है। किसी भी स्थिति में यह अनुपात 1 : 2 से कम नहीं था। नेतृत्व में भी कोई कमी नहीं थी। ऐसी स्थिति में सांगा की हार एक आश्चर्यजनक लगती है।

1 इतिहासकार कर्नल टॉड व श्यामलदास ने राणा की हार का प्रमुख कारण सिलहदी तंवर का विश्वासघात माना है। जब युद्ध चल रहा था तब तंवर बाबर से मिल गया तथा उसने सांगा की सैनिक कमजोरियों का ज्ञान कराया जिसका लाभ बाबर ने उठाया। शर्मा ने इस कारण को ठीक नहीं माना है क्योंकि सिलहदी ने राजपूत दल को राणा के युद्ध-स्थल से प्रयाण के बाद बदला था। जब राजपूत सैनिक अपना अंतिम प्रयत्न कर रहे थे, तब तक युद्ध का परिणाम स्पष्ट हो चुका था। इसके अलावा किसी भी मुस्लिम इतिहासकार ने सिलहदी के मिलने का वर्णन नहीं किया है। ए. सी. बनर्जी का मत है कि सिलहदी का बाबर से मिल जाना भी निश्चित नहीं है क्योंकि उसके लड़के भूपत की मृत्यु युद्ध-क्षेत्र में राणा सांगा की ओर से लड़ते हुए

---

6 अबुलफजल, अकबरनामा (बेवरिज), जि. 1, पृ. 260; गोपीनाथ शर्मा ने युद्ध की तारीख मार्च 17 बताई है (मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 31) जो ठीक नहीं है।

हुई थी। 'बाबरनामा' में भी इसका वर्णन नहीं है। अतः गोपीनाथ शर्मा इसे उपयुक्त कारण नहीं मानते हैं। हालांकि उन्होंने राजस्थानी साधनों पर विश्वास कर यह माना है कि जब युद्ध निर्णायक अवस्था में पहुंच चुका था तब सिलहदी तंवर बाबर से मिला। उसके चले जाने से युद्ध के परिणाम पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा।

2 हरबिलास शारदा ने इस हार का कारण दैविक माना है। उनका कहना है कि युद्ध के समय सांगा की आंख में तीर लग जाने से वह सैन्य-संचालन नहीं कर पाया। युद्ध-क्षेत्र से उसके हटने के समाचार मिलते ही सेना में भगदड़ मच गई और यह हार का कारण बना। किन्तु यह कारण भी उचित नहीं लगता है क्योंकि अधिकतर सैनिकों को इस घटना का ध्यान ही नहीं था। सांगा जब युद्ध में भाग लेने आया तब भी स्थिति उसके पक्ष में नहीं थी। अतः इस दैविक कारण को ज्यादा महत्व नहीं दिया जा सकता।

3 बनर्जी ने हार का कारण मेवाड़ के नेतृत्व को लेकर राजपूतों में भारी असंतोष की भावना को बताया है। राजपूत शासकों ने सांगा की अधीनता मजबूरी से स्वीकार की। उनका कहना है कि मेवाड़ जब-जब भी शक्तिशाली हुआ तो पड़ोसी राज्यों को अधीन किया। उसकी विस्तारवादी नीति से पड़ोसी राज्यों की स्वतंत्रता पर आंच आने लगी। अतः ये लोग सांगा को पूर्ण समर्थन नहीं दे पाये।

4 राणा की सेना में विविध वंशीय सैनिक थे जो अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार युद्ध में सम्मिलित हुए थे और उनका सम्बन्ध जितना राणा से नहीं था उतना अपने वंशीय नेता से था। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण सेना पर राणा का प्रभाव नाम मात्र का था। इस प्रकार की सेना में एकसूत्र अनुशासन का रहना सम्भव नहीं था। यों भी देखा जाय तो राजपूतों में जातीय भावना इतनी प्रबल होती है कि एक नेतृत्व में रहना उनके लिए बहुत कम सम्भव था। राजपूत-सेना का प्रत्येक दल अपने शौर्य के प्रदर्शन के लिये अपने ढंग से लड़ता था जिसका सम्पूर्ण समूह से कोई तारतम्य नहीं बैठता था। ऐसी सेना एक अव्यवस्थित भीड़ से किसी प्रकार कम नहीं थी।

5 विलियम ने अफगान-राजपूत गठबंधन को अपवित्र गठबंधन की संज्ञा दी है तथा इसे सांगा की हार का एक कारण माना है। उसने बताया कि दोनों में जो उत्साह होना चाहिए था, वह नहीं था। दोनों के उद्देश्य व आदर्श भिन्न थे। अतः दोनों वर्ग एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। युद्ध के समय इस प्रकार का आपसी संदेह हार में बदल सकता था। ए. सी. बनर्जी इसे एक अस्वाभाविक गठबन्धन मानने को तैयार नहीं है और न ही

इस गठबन्धन में कोई अपवित्रता थी। दोनों ने संगठित होकर बाह्य शक्ति का सामना करने का निश्चय किया। इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं मिलता है कि दोनों में संदेह की भावना रही हो। अतः इसे हार का कारण नहीं माना जा सकता है।

6 एलफिन्स्टन के अनुसार अगर राणा सांगा मुगलों की प्रथम घबराहट पर ही आगे बढ़ जाता तो उसकी विजय निश्चित थी। ओझा ने राणा की पराजय का कारण युद्ध से पूर्व उसकी निष्क्रियता को बताया है। उसके विचार से राणा को बयाना-विजय के बाद तुरन्त खानवा पहुंच जाना चाहिए था। यों उसने पहली विजय के बाद एकदम युद्ध न करके बाबर को तैयारी करने का सुअवसर प्रदान कर दिया था। शर्मा ने भी राणा की बयाना-विजय के बाद भुसावर में पड़ाव डाले रहने को उस समय की भारी भूल बताया है। शारदा का कहना है कि राणा में अपने भाई पृथ्वीराज जैसी स्फूर्ति होती तो स्थिति ही दूसरी होती।

7 बाबर का सैन्य-बल एक नेतृत्व को स्वीकार करता हुआ अनुशासित रूप से लड़ रहा था। अनजान देश में होने से उनमें लड़ने की लगन राजपूतों की तुलना में अधिक थी। यदि राजपूत हारते हैं तो अपने देश में जीवित रहने के लिये बहुतेरी ठौर थी, परन्तु मुगल सैनिकों के लिए यहां कोई स्थान नहीं था।

8 राजपूत सैनिक अधिकांशतः पैदल दल के रूप में थे जबकि मुगलों की सेना अधिकांश में घुड़सवारों की थी। द्रुतगति तथा पैतरेबाजी की चाल में पैदल और घुड़सवारों का कोई मुकाबला नहीं था। इसी तरह से बारूद के प्रयोग, तोपों और बन्दूकों की तुलना में तीर, कमान, भाले, तलवारें, बर्छियां आदि निम्न कोटि के थे। इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि 'तीर गोलियों का प्रत्युत्तर नहीं दे सके।'

9 दोनों की युद्ध पद्धति एवं मोर्चों की जमावट में बहुत अन्तर था। मुगल रिजर्व तथा घुमाव पद्धति को प्राधान्यता देते थे और बारी-बारी से इनका प्रयोग करते थे। साथ ही इनमें तोपों व घुड़सवारों की आक्रमण विधि में एक सन्तुलन था। राजपूत एक धक्के की विधि से शत्रुदल मे भगदड़ पैदा कर सकते थे परन्तु उनके प्रत्याक्रमण का प्रत्युत्तर देने के लिए वे असमर्थ थे।

10 जहां मुगल नेता व सेनापति सुरक्षित रहते हुए युद्ध का संचालन करते थे वहां राजपूत नेता सजधज के साथ हाथी पर बैठ कर स्वयं अपना शौर्य प्रदर्शित करता था जिससे वह शीघ्र ही सभी वारों का शिकार बन जाता था। सांगा ने कभी नये सैनिक अनुभवों को अपनी सैन्य-व्यवस्था में

स्थान नहीं दिया क्योंकि राजपूत सैनिक परम्परागत युद्ध की गति-विधि से परिचित थे और उसी में विश्वास रखते थे। मुगल-व्यवस्था एक परिष्कृत सैनिक व्यवस्था थी जिसमें अफगानों, उजबेगों, तुर्कों, मंगोलों, फारसी, भारतीय आदि युद्ध प्रणालियों को समावेशित किया गया था। ऐसी स्थिति में पुरातन और नवीन पद्धति की कोई तुलना न थी।

11. राणा सांगा ने बयाना और खानवा की घटना के बीच लगभग डेढ़ महीने का अवसर देकर शत्रु को सचेत कर अपना ही अहित किया। तब विजय की मस्ती में राणा आने वाली पराजय की आशंकाओं को भूल गया। यह विस्मृति राजपूत प्रतिष्ठा के लिए अन्त में घातक सिद्ध हुई।

इस प्रकार से महाराणा सांगा व राजपूती-सेना खानवा के मैदान में बाबर से लड़ती हुई पराजित हुई।

परिणाम—खानवा का युद्ध, जो कोई दस घन्टे तक चला, अविस्मरणीय युद्धों में से एक था। शायद ही कोई दूसरा ऐसा घमासान युद्ध हुआ हो जिसका निर्णय अन्त समय तक तुला में लटका रहा। "पानीपत के युद्ध का कार्य खानवा के युद्ध ने पूरा किया। इसने राजपूतों के भारतीय राज्य के स्वप्न को भंग कर दिया।" इसके परिणाम निम्नांकित रहे—

ओझा के अनुसार, "इस पराजय से राजपूतों का वह प्रताप, जो कुम्भा के समय में बहुत बढ़ा और इस समय तक अपने शिखर पर पहुंच चुका था, एकदम कम हो गया, जिससे भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति में राजपूतों का वह उच्च स्थान न रहा। राजपूतों की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो जिसके राजकीय परिवार में से कोई-न-कोई प्रसिद्ध व्यक्ति इस युद्ध में काम न आया हो।" "मेवाड़ की प्रतिष्ठा और शक्ति के कारण राजपूतों का जो संगठन हुआ था वह टूट गया।"

"भारतवर्ष में मुगलों का राज्य स्थापित हो गया और बाबर स्थिर रूप से भारतवर्ष का बादशाह बना, परन्तु इस युद्ध से वह भी इतना कमजोर हो गया कि राजपूताने पर चढ़ाई करने का साहस न कर सका। इस युद्ध से काणोता व बमवा गाँव तक मेवाड़ की सीमा रह गई, जो पहले पीलिया खाल तक थी।"

रशब्रुक विलियम्स ने कहा कि इस युद्ध से भारतवर्ष की सार्वभौमिकता राजपूतों के हाथ से निकलकर, मुगलों के हाथ में चली गई थी। लेनपूल ने इस विजय को अंतिम एवं पूर्ण माना है। यदि बाबर राजपूतों का पीछा करता तो एक भी राजपूत जीवित नहीं रहता। इससे राजपूतों की सैनिक शक्ति खंडित तो हो गई किन्तु पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हुई। रशब्रुक विलियम्स

की यह राय है कि राजपूत-जाति, जो विगत दस वर्षों से मुस्लिम साम्राज्य के लिए खतरा बनी हुई थी, सदैव के लिए समाप्त हो गई। इन इतिहासकारों का मत अतिशयोक्ति पूर्ण प्रतीत होता है। निःसंदेह राजपूतों के लिये यह युद्ध भयंकर सिद्ध हुआ किन्तु राजपूत शक्ति नष्ट हो गई हो ऐसी बात नहीं। शेरशाह ने राजपूतों की वीरता से प्रभावित हो अनायास ही यह कह दिया कि एक मुट्ठी भर बाजरे के पीछे उसने हिन्दुस्तान के साम्राज्य को खो दिया होता। स्वयं बाबर ने भी यह माना है कि राजपूत हारे हैं किन्तु उनकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है, इसलिए उसने खानवा-युद्ध के बाद राजस्थान पर आक्रमण करने की नहीं सोची। वास्तव में इस युद्ध से राजपूत शक्ति को पक्षाघात हो गया जिससे वे कभी भी भविष्य में मुगलों के विरुद्ध संगठित न हो सके और न ही संगठन बनाकर अपना प्रभाव दिल्ली तक फैलाने का प्रयास कर सके। परन्तु राजपूत शक्ति थोड़े समय तक ही क्षीण रही और कुछ समय बाद ही वापस बाबर के उत्तराधिकारियों के समय इस शक्ति का पुनर्जन्म हो गया परन्तु मेवाड़ के लिए तो इस युद्ध के घातक प्रभाव हुए। राणा सांगा का यह एक दिवास्वप्न था कि बाबर को पराजित कर वह दिल्ली का स्वामी बनेगा और यों हिन्दू साम्राज्यवाद की स्थापना करेगा किन्तु इस पराजय के कारण उसका स्वप्न साकार न हो सका।

खानवा-युद्ध के परिणामस्वरूप बाबर की कठिनाइयों का अन्त हो गया। उसे इससे पूर्व काफी घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करना पड़ा था। काबुल से भारत आने पर भी उसे शान्ति नहीं मिली। राणा सांगा पर विजय प्राप्त करने के बाद बाबर एवं उसके सैनिकों को किसी भी प्रकार की चिन्ता न रही और तब उनके लिए आगे भारत-विजय करना सुगम हो गया था।

इसके परिणामस्वरूप भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई जो अगले दो सौ वर्षों तक बना रहा। इस दृष्टि से यह एक निर्णायक युद्ध ही था। "खानवा की विजय ने मुगल साम्राज्यवाद के बीजवपन के मार्ग से बहुत बड़ी बाधा हटा दी।"[7]

इस युद्ध में राजपूतों की शक्ति का विनाश हो जाने से बाबर को अब अफगानों की बची हुई शक्ति का विध्वंस करने तथा विद्रोह को दबाने में बड़ी सहायता मिली। साथ ही अब युद्ध के तरीकों में भी भारी परिवर्तन हो गया था। राजपूत भी गोला-बारूद के प्रयोग से परिचित हुए तथा हाथियों का महत्व घटने लगा। नई रणनीति तुलुगमा पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ हुआ।

---

7 आर. पी. त्रिपाठी, मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन, पृ. 35-36

इस युद्ध के कारण और इसके बाद राणा सांगा की मृत्यु के कारण मेवाड़ का प्रताप जो राणा कुम्भा के समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था यह एकाएक कम हो गया। राणा की पराजय न केवल मेवाड़ के लिए अपितु राजस्थान के लिये घातक प्रमाणित हुई। रघुबीरसिंह के अनुसार, "राजस्थान की सदियों पुरानी स्वतंत्रता एवं संस्कृति रो अक्षुण्ण बनाये रखने वाला यहां अब कोई नहीं रहा। मुगल साम्राज्य ने राजस्थान की स्वतंत्रता का अन्त कर दिया और राजनैतिक शक्ति के पतन के बाद राजस्थान की संस्कृति, यहां की विद्या एवं कला का भी ह्रास होने लगा। उन पर विदेशी प्रभाव पड़ने लगे।" "खानवा के युद्ध में आग उगलती हुई मुगल तोपों ने राजपूतों के प्रमुख नेता और मेवाड के महान प्रतापी शासक राणा सांगा की पराजय को ही सुनिश्चित बना दिया था अपितु उन्होने मध्यकालीन राजस्थान के अन्त की भी सुस्पष्ट घोषणा कर दी थी। राजस्थान के योद्धाओं को प्रथम बार तोपों का सामना करना पड़ा था। वीर राजपूतों की युद्ध विद्या के विकास के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होने वाला था......मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्तरी भारत में उत्पन्न होने वाली नई सम्मिलित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव कुछ समय बाद राजस्थान निवासियों के आचार-विचार, रहन-महन, वेष-भूषा तथा खान-पान में देख पड़ने लगा। सक्षेप में, राजस्थान के इतिहास मे पूर्व आधुनिक काल के निर्णायक युद्ध का परिणाम इस काल से ही माना जाना चाहिए।"[8]

सांगा की मृत्यु—राणा सांगा को खानवा के युद्ध-स्थल से घायल अवस्था में बसवा नामक स्थान पर सुरक्षित पहुंचा दिया गया था। जब उसे होश आया तो पुन: बाबर से युद्ध कर पराजय का बदला लेने को अभिलाषा व्यक्त की किन्तु जब उसे वास्तविक स्थिति बताई गई तो उसे आक्रोश आया और यह प्रण ले लिया कि जब तक बाबर को पराजित न कर दूंगा तब तक चित्तौड़ नही लौटूंगा। वह रणथम्भोर के दुर्ग मे एकान्तवास हेतु चला गया। उसने पगड़ी बांधना छोड़ दिया और मात्र एक चीरा लपेटे रहता था।[9] राणा ने बाबर से युद्ध करने हेतु अपने सामत-सरदारों को पत्र लिखे तथा स्वय भी ससैन्य ईरिच पहुँच गया। तब युद्ध शुरु होने से पूर्व ही राणा के सरदारो ने, जो युद्ध के कतई पक्ष मे नही थे, उसे विष दे दिया जिससे जनवरी 30, 1528 ई. को उसका देहान्त हो गया। उसका पार्थिव शरीर कालपी

---

8 रघुबीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 16-17

9 ठाकुर भूरसिंह शेखावत, महाराणा यश प्रकाश, पृ. 70-71

से मांडलगढ़ लाया गया और वही उसकी दाह-क्रिया की गई, जहाँ आज भी उसका स्मारक छत्री के रूप मे अवस्थित है।[10]

सांगा का व्यक्तित्व—राणा सांगा मझौले कद का हृष्ट-पुष्ट योद्धा था। बदन गठा हुआ, चेहरा भरा हुआ, लम्बे हाथ, बड़ी-बड़ी आँखें और रग गेहुँआ था। यद्यपि मृत्यु के समय उसके एक आँख, एक हाथ और एक टाँग ही थी और उसके शरीर पर अस्सी घावों के निशान भी मौजूद थे लेकिन फिर भी उसका यश, प्रभुत्व और जोश कम नहीं हुआ था। उसने शत्रु को देश से बाहर निकाले बिना मेवाड़ में कदम रखने की कसम ले रखी थी। "वास्तव में मेवाड़ के महाराणाओं में सांगा सब से अधिक प्रतापी शासक हुआ था जिसने अपने पुरुषार्थ के द्वारा मेवाड़ को उन्नति के शिखर पर पहुचा दिया था। हालांकि वह भारत से तुर्कों को निकाल कर एकछत्र हिन्दू राज्य स्थापित करने में सर्वथा असफल रहा था।" ऐसा विचार शारदा का है। "सागा वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान और न्याय-परायण शासक था। अपने शत्रु को कैद करके छोड़ देना और उसे पीछा राज्य देना सांगा जैसे ही उदार और वीर पुरुष का कार्य था। वह एक सच्चा क्षत्रिय था। उसने कितने ही शाहजादों, राजाओं आदि को अपनी शरण में आने पर अच्छी तरह रखा और आवश्यकता पड़ने पर उनके लिये युद्ध भी किया। प्रारंभ से ही आपत्तियो में पलने के कारण वह निडर, साहसी, वीर और एक अच्छा योद्धा

---

10 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 383-84; ठाकुर चतुरसिंह, चतुरकुल चरित्र, पृ. 27; जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 39; किन्तु कविराजा श्यामलदास ने (वीर विनोद, भा. 1, पृ. 372) राणा सांगा की मृत्यु बसवा में मानी है तथा उसकी तारीख अप्रेल, 1527 ई. दी है जिसे हरबिलास शारदा ने (सांगा, पृ. 157) भी स्वीकार किया है। लेकिन यह तारीख ठीक नही है क्योंकि 'बाबरनामा' में भी लिखा है कि चदेरी अभियान के बाद जनवरी 30 को उसने अपने सामन्तों से राय ली कि रायसिंह के विरुद्ध बढ़ना चाहिए या सागा के विरुद्ध ? इससे स्पष्ट होता है कि राणा की मृत्यु के समाचार उक्त तारीख तक बाबर को नहीं मिले थे। रघुबीरसिंह की मान्यता है कि (पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 21) राणा सांगा के एरिच तक पहुंच जाने तथा काल्पी में उनकी मृत्यु होने के बाद मांडलगढ मे दाहक्रिया करने की बात स्वीकार करना भौगोलिक, सामरिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

बन गया था जिससे वह मेवाड़ को एक साम्राज्य बना सका।"[11]

"सांगा अन्तिम हिन्दू राजा था जिसके सेनापतित्व में सब राजपूत जातियाँ विदेशियों (तुर्कों) को भारत से निकालने के लिये सम्मिलित हुई। यद्यपि उसके बाद और भी वीर राजा उत्पन्न हुए तथापि ऐसा कोई न हुआ, जो सारे राजपूताने की सेना का सेनापति बना हो। सांगा ने दिल्ली के सुल्तान को भी जीतकर आगरे के पास पीलाखाल को अपने राज्य की उत्तरी सीमा निश्चित की और गुजरात को लूट कर छोड़ दिया। इस तरह गुजरात, मालवे और दिल्ली के सुल्तानों को परास्त कर उसने महाराणा कुम्भा के प्रारम्भ किये हुए कार्य को, जो उदयसिंह के कारण शिथिल हो गया था, आगे बढ़ाया।"[12] यों उसमें एक योग्य सेनापति के गुण विद्यमान थे। टॉड का मानना है कि "उसकी सेना में एक लाख योद्धा और पाँच सौ हाथी थे। सात बड़े-बड़े राजा, 9 राव व 104 रावत उसके आधीन थे। जोधपुर और आमेर के शासक इसका सम्मान करते थे। ग्वालियर, अजमेर, सीकरी, रायसीन, काल्पी, चंदेरी, बून्दी, गागरौन, रामपुरा और आबू के राजा उसके सामंत थे।" इतना ही नहीं स्वयं बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "राणा सांगा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था। मालवा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हरा नहीं सकता था।" सेनापति के रूप में सांगा में चाहे कितने ही गुण रहे हों किन्तु सैन्य प्रबंध में वह निपुण नहीं था। नेपोलियन कहा करता था कि सैनिकों का ठीक तरह से जमाव ही युद्ध की आधी जीत होती है। खानवा का युद्ध इसका ज्वलंत उदाहरण है कि बाबर की तुलना में सांगा की युद्ध-शैली दकियानूसी थी। उसने शत्रु की चाल एवं युद्ध-कौशल के अनुरूप अपनी युद्ध-शैली को बदलने का कभी विचार नहीं किया।

सांगा के चरित्र में हमें दूरदर्शिता एवं कूटनीतिज्ञता का पूर्णतः अभाव परिलक्षित होता है। बाबर को उसने मात्र लुटेरा से अधिक नहीं समझा था। इसी तरह मालवा के सुल्तान को 6 महीने बंदी बनाकर पुनः छोड़ दिया। ऐसी दयालुता व्यक्तिगत जीवन के लिए तो अच्छी है किन्तु राजनैतिक दृष्टि से ठीक नहीं है। गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "जिस समय बाबर के सिपाहियों में राणा के सैनिकों की वीरता का भय था और सम्पूर्ण मुग़ली सेना में एक शंका का वातावरण छाया हुआ था कि राणा बयाना-विजय के

---

11 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 282
12 वही, पृ. 386

उल्लास में मंदगति से कई दिनों के अनन्तर खानवा के मैदान में पहुंचा। यदि मुगली भगदड़ के समय ही वह शीघ्रातिशीघ्र शत्रुओं से मुकाबला करने पहुंच जाता तो संभवतः भारतवर्ष का इतिहास ही कुछ और होता।" सांगा ने साम्राज्य-विस्तार कर, यह तो साबित कर दिया कि वह एक महत्वाकांक्षी शासक है किन्तु उसमें एक योग्य प्रशासक के गुणों का अभाव नजर आता है। हालांकि कर्नल टॉड ने तो उसे एक सुयोग्य शासक के रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि "वह न केवल शूरवीर और दूरदर्शी ही था बल्कि उसमें एक अच्छे प्रशासक के गुण भी थे। राणा कुम्भा के बाद मेवाड़ राज्य ने जो कुछ भी खोया था उसे राणा संग्रामसिंह ने फिर से प्राप्त कर लिया।" किन्तु रानी कर्मवती के कहने पर सांगा ने रणथम्भोर का दुर्ग उसके पुत्रों को दे दिया। यों उसने अपने जीवनकाल में मेवाड़ का तो विभाजन किया ही साथ ही अपने पुत्रों में मनोमालिन्य भी उत्पन्न कर दिया। कर्मवती रणथम्भोर से ही खुश नहीं हुई बल्कि मेवाड़ को भी विजय करना चाहती थी। उसने बाबर के पास अपना एक दूत भी भेजा और रणथम्भोर भी देना स्वीकार किया। इस भांति स्पष्ट है कि प्रशासनिक मामले में वह निपुण नहीं था।

जगदीशसिंह गहलोत के अनुसार राणा सांगा भारतीय वीरता का प्रतीक था। यद्यपि युद्धों में उसकी एक आंख, एक टांग व एक हाथ निकम्मा हो गया था किन्तु राणा कुम्भा की परम्परा को उसने अन्तिम समय तक निभाये रखा। अन्त में रघुवीरसिंह के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "राणा की मृत्यु के फलस्वरूप मेवाड़ का महत्व बहुत ही घट गया जिससे राजपूतों की ऊपरी एकता तथा सामंतशाही भावनाओं के आधार पर स्थित राजस्थानी राज्यों के इस असंबद्ध राजनीतिक ऐक्य का भी सर्वदा के लिए अन्त हो गया। अब भविष्य में राजस्थान की राजनैतिक एकता तथा वहां के प्रान्तीय सैनिक संगठन के लिये सर्वथा दूसरे ही आधारों को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रह गई थी·········राजस्थान की सदियों पुरानी स्वतंत्रता तथा उसकी प्राचीन हिन्दू संस्कृति को सफलतापूर्वक अक्षुण्ण बनाये रख सकने वाला अब वहां कोई भी नहीं रह गया।"

सांगा के पश्चात् मेवाड़ की स्थिति—राणा सांगा की मृत्यु के कुछ समय पहले से ही मेवाड़-राज्य का विभाजन होने लगा था। रणथम्भोर का क्षेत्र उसने अपने छोटे पुत्र विक्रमादित्य व उदयसिंह को दे दिया था और रानी कर्मवती को जो इन राजकुमारों की मां थी, संरक्षक नियुक्त कर दिया। सांगा की मृत्यु के बाद उसका बड़ा लड़का रतनसिंह गद्दी पर बैठा। वह महत्वाकांक्षी तथा गर्वीला था। उक्त विभाजन मेवाड़ के लिए सामरिक दृष्टि से तो

खतरनाक था ही, साथ ही इसने रतनसिंह का अपनी विमाता और दोनों छोटे भाइयों के बीच मनमुटाव भी पैदा कर दिया। गद्दी पर बैठने के साथ ही रतनसिंह ने रणथम्भोर के दुर्ग को पुनः लेने का प्रयास किया किन्तु रानी कर्मवती व उसके भाई सूरजमल हाड़ा ने दुर्ग देने में आनाकानी ही नहीं की बल्कि मेवाड़ का राज्य अपने पुत्र विक्रमादित्य के लिये प्राप्त करने हेतु उसने बाबर से भी बातचीत की। 'बाबरनामा' के अनुसार जब बाबर ग्वालियर की ओर रवाना हो रहा था तब कर्मवती द्वारा भेजा हुआ दूत अशोक उसे मिला और मेवाड का राज्य प्राप्त करने के लिए समझौता-वार्ता प्रारम्भ की। उधर चूंकि बाबर को ग्वालियर शीघ्र ही पहुंचना था, अतः दूत को विस्तृत वार्ता के लिए ग्वालियर आने के लिए कहकर विदा किया। कर्मवती ने मेवाड़ का राज्य प्राप्त करने के बदले में बाबर को रणथम्भोर का दुर्ग व मालवा में युद्ध के दौरान सांगा द्वारा छीनी हुई बहुमूल्य वस्तुएं देने का प्रस्ताव रखा। पर ऐसा मालूम होता है कि बाबर को इस समय मेवाड़ से विशेष दिलचस्पी नहीं थी, अतएव यह वार्ता आगे नहीं बढ़ी। श्यामलदास का कहना है कि वास्तव में कर्मवती और सूरजमल बाबर को यह दुर्ग देना नहीं चाहते थे। उनका इरादा केवल महाराणा रतनसिंह को भयभीत करना व दबाव डालना था। यद्यपि बाबर से सहायता प्राप्त करने के लिये कोई समझौता नहीं हुआ परन्तु सूरजमल हाड़ा और महाराणा रतनसिंह के बीच वैमनस्य अत्यधिक बढ़ गया। महाराणा ने सूरजमल को हत्या के उद्देश्य से शिकार के बहाने अपने पास बुलाया। सूरजमल को महाराणा के वास्तविक उद्देश्य के बारे पहले ही पता लग गया था फिर भी नैणसी के अनुसार अपनी माता के कहने से उसके पास उपस्थित हुआ और एक दिन महाराणा के संकेत पर उसके सेवकों ने सूरजमल पर घातक प्रहार किया। सूरजमल ने मृत्यु के पूर्व अपनी तलवार का निशाना रतनसिंह पर बनाया और तत्काल दोनों की मृत्यु[13] मार्च 1531 ई. में हो गई। इस मृत्यु के साथ ही हाड़ा और सिसोदिया वंश के वैर का प्रारम्भ हुआ जो शताब्दियों तक निरन्तर चलता रहा।

विक्रमादित्य का राणा बनना—चूंकि रतनसिंह निःसंतान था अतः उसका भाई विक्रमादित्य मेवाड़ का शासक हुआ। रानी कर्मवती अब रणथम्भोर को छोड़ चित्तौड़ आ गई। अपने पुत्रों के अल्पवयस्क होने के कारण सारा राज्य का कार्यभार उसने स्वयं अपने हाथों में ले लिया। गृह-कलह का अन्त मेवाड़ के लिये सुखद वातावरण नहीं ला सका। राणा सांगा के बाद

13 [illegible]

मेवाड़ का प्रशासनिक ढांचा पूर्णतः ध्वस्त-व्यस्त हो चुका था। राज्य की सीमायें भी कम हो गई थीं, आर्थिक स्थिति भी दिनों दिन कमजोर होती जा रही थी। ऐसे नाजुक समय में एक ऐसे योग्यतम शासक की आवश्यकता थी जो इन कठिनाइयों का सामना कर सके और मेवाड़ में शांति और समृद्धि की स्थापना कर सके। परंतु मेवाड़ के दुर्भाग्य से वहाँ का शासक राणा विक्रमादित्य (1531-36 ई.) बिल्कुल विपरीत गुणों का था। उसका सामन्तों के साथ, अपने कुटुम्ब के सदस्यों के साथ सद्व्यवहार नहीं था। वह खेलकूद एवं जंगली जानवरों के शिकार में आनन्द लेता था। सुरा-सुन्दरी का वह दास था। शासन-कार्य अयोग्य और बुद्धिहीन व्यक्तियों द्वारा चलाया जाता था। स्वयं राणा ने सामन्तों को उचित सम्मान देने का प्रयास नहीं किया और उधर कर्मवती ने ईर्ष्यावश बहुत से सामन्तों को रुष्ट कर दिया। अतः अधिकांश सामंत राजधानी छोड़ अपनी जागीरों में जाकर रहने लगे।[14] नैणसी की ख्यात के अनुसार कई जागीरदार, विशेषकर राणा सांगा के भतीजे नरसिंहदेव ने विद्रोह कर दिया और राणा के उक्त व्यवहार से छुटकारा पाने के लिये गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के पास सहायता लेने चला गया।

बहादुरशाह का आक्रमण—उधर बहादुरशाह ऐसे अवसर की ताक में ही था जबकि वह चित्तौड़ पर आक्रमण करे। हालांकि राणा सांगा ने उसे अपने राजकुमार काल में अपने भाई सिकन्दर के भय से भाग कर आने पर शरण दी थी। बहादुरशाह ने मालवा को अपने प्रभाव क्षेत्र में ले लिया था। साम्राज्य विस्तार उसका प्रमुख उद्देश्य था और इसीलिए मेवाड़ की हीन दशा ने उसको आकर्षित किया। 1532 ई. में वह चित्तौड पर आक्रमण करने के लिये रवाना हुआ। मंदसौर तक जब गुजराती फौजें आ पहुंचीं तो राणा विक्रम की नींद खुली पर उसने अपने आपको अकेला पाया। सामंतों के असहयोग ने मेवाड़ की रक्षा का कार्य और अधिक विषम बना दिया। मुगलों को छोड़ ऐसी कोई शक्ति नहीं थी जिसका सहयोग प्राप्त कर मेवाड़ पर आई हुई विपत्ति का मुकाबला किया जा सके। अतः टॉड का कहना है कि रानी कर्मवती ने बादशाह हुमायूँ को अपने राजदूत पदमशाह के साथ एक राखी और सहायता की प्रार्थना भेजी। वीरविनोद' एवं 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के अनुसार, सहायता की प्रार्थना के लिए विक्रमादित्य स्वयं दिल्ली गया परंतु गोपीनाथ शर्मा के मत में राणा का मुगल दरबार में जाना

---

14 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 27

असंभव है क्योंकि यह बात मेवाड़ की परम्परा के विपरीत नजर आती है। हुमायूँ ने सहानुभूति तो अवश्य प्रदर्शित की और राखी के उपलक्ष मे राणी को भेंट भेजी परंतु सहायता के लिए वह उदासीन रहा। चूंकि वह कट्टर मुसलमान था अतः वह मुसलमान से मुसलमान के युद्ध की परिस्थितियो मे नही पड़ना चाहता था जब कि वह एक काफ़िर से लड रहा हो। टॉड का कहना है कि हुमायूँ राखी पाकर मेवाड़ की मदद के लिए आया अवश्य था किन्तु विलम्ब हो जाने के कारण गुजराती सेना का चित्तौड पर अधिकार हो गया और कर्मवती (कर्णावती) सहित अनेक राजपूत स्त्रियो ने जौहर किया। हुमायूँ के आते ही बहादुरशाह चित्तौड़ छोड़ कर चला गया। हुमायूँ ने विक्रमादित्य को फिर से मेवाड़ का शासक बना दिया परतु यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता है और न इसकी पुष्टि अन्य साधनों से ही होती है। मेवाड को गुजरात के साथ जो अपमानजनक संधि करनी पड़ी, वह इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि राज्य को कही से भी मदद की आशा नही रही थी। टॉड ने हुमायूँ को चित्तौड़ में आना लिखा है, यह ठीक नही है। उसका यह मानना कि विक्रमादित्य के शासन काल मे बहादुरशाह ने सिर्फ एक बार आक्रमण किया जब कि वास्तव मे यह आक्रमण एक बार न होकर दो बार हुआ है तथा जौहर वाली घटना द्वितीय आक्रमण के समय की है। दूसरा, हुमायूँ चित्तौड़ मे आया अवश्य था किन्तु वह इस समय नही आया और न ही वह राजपूतों की सहायतार्थ आया अपितु अपने भाई असकरी का पीछा करते हुए अपनी मालवा विजय के पश्चात् आया। अपने भाई के विद्रोह की समाप्ति के बाद वह पुनः मेवाड़ से चला गया।

इस समय मेवाड का निमंत्रण पाकर हुमायूँ ग्वालियर तक सेना लेकर आया और वहाँ वह एक सप्ताह ठहर कर पुनः आगरा चला गया। इसी बीच बहादुरशाह ने अपने तोपखाने के अध्यक्ष रूमीखाँ की सहायता से चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। रानी कर्मवती ने बहादुरशाह से संधि करली। इस संधि के अनुसार सौ घोड़े, दस हाथी, पाँच करोड टके व मालवा से प्राप्त राणा सागा के तोहफे बहादुरशाह को देने पड़े।[15] नैणसी के अनुसार विक्रमादित्य का छोटा भाई उदयसिह सुल्तान के दरबार मे महमाननवाज के रूप मे भेजा गया। गोपीनाथ शर्मा इस से सहमत नही है।

'मिरात-ए-सिकंदरी' का कहना है कि बहादुरशाह चाहता तो सम्पूर्ण

---

15 मिराते सिकन्दरी, पृ. 178-79; फरिश्ता, तारीखे फरिश्ता (अनु- ब्रिग्स), जि. 4, पृ. 124

मेवाड़ पर अधिकार कर सकता था तथा उसने इस संधि को, जो भले ही मेवाड़ के लिए काफी अपमानजनक लगे, उदारता की संज्ञा दी। इस उदारता का कारण 'मिरात-ए-सिकन्दरी' के अनुसार बहादुरशाह को अपनी दुर्व्यवस्था के दिनों मेवाड़ मे शरण मिली और इसी से प्रेरित हो, मेवाड़ को पूर्णतः अपने राज्य में मिलाना चाहता था। तब मार्च 24, 1533 ई. को चित्तौड़ का घेरा उठा लिया गया और वह गुजरात लौट गया।

राणा विक्रमादित्य पुनः शासन करने लगा परन्तु उसकी नीति मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ। सामन्तो, राज्य पुरुषो के प्रति उसका दुर्भाव पूर्ववत् बना रहा। पुनः कुछ सामन्तों ने मेवाड़ से भागकर बहादुरशाह के यहां शरण ली तथा उसे मेवाड़ पर आक्रमणार्थ प्रेरित किया। अतएव 1535 ई. में बहादुरशाह ने दुबारा मेवाड पर आक्रमण किया। तब हुमायूँ के बहादुरशाह से सम्बन्ध बिगडने लग गये थे क्योंकि बहादुरशाह ने मुगल विद्रोही मुहम्मदजमान मिर्जा को शरण दी थी। हुमायूँ के कहने पर भी उसे वापिस नही किया गया। बहादुरशाह का मालवा पर अधिकार हो जाने से उसकी महत्वाकांक्षा बढ़ गई थी। वह अफगानो को भी हुमायूँ के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित करता था। अतः जब बहादुरशाह ससैन्य चित्तौड की ओर बढा तो हुमायूँ भी उसके विरुद्ध बढने लगा। बहादुरशाह के समक्ष यह एक विकट समस्या थी, अतः उसने चित्तौड का घेरा उठा, मुगलो से युद्ध करने का निश्चय करना चाहा परन्तु उसके वजीर सद्रखां के यह कहने पर कि जब तक वे चित्तौड़ के युद्ध में व्यस्त हैं, हुमायूँ धार्मिक कारणो से उस पर युद्ध नही करेगा, इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत नही किया। जौहर, बगतावरखा, फरिश्ता आदि का कहना है कि बहादुरशाह ने पत्र लिखकर हुमायूँ से प्रार्थना की थी कि जब तक वह राजपूतो के युद्ध में व्यस्त है तब तक आक्रमण न करें। हाजीउद्दबीर का कहना है कि अपने इस पत्र मे बहादुरशाह ने लिखा कि एक शासक पांच कारणों से युद्ध करता है—1 नये साम्राज्य की स्थापना, 2 प्राप्त किये हुए साम्राज्य की रक्षा, 3 अत्याचारी शासक पर आक्रमण, 4 विजय प्राप्त करने की लालसा और 5 लूट-मार करने की दृष्टि से। परन्तु वह (बहादुरशाह) इनमे से किन्ही कारणों को मद्देनज़र रखते हुए युद्ध नहीं कर रहा है, उसका उद्देश्य तो इस्लाम का प्रचार मात्र है। यों उसने हुमायूँ से राजपूतों की मदद न करने की अभ्यर्थना की। जौहर का कहना है कि उसने पत्र में यह भी लिखा कि चित्तौड़ विजय के पश्चात् वह पूर्ण रूप से हुमायूँ की अधीनता स्वीकार कर लेगा। यह तो निश्चित है कि धार्मिक भावनाओं से प्रेरित हुमायूँ मेवाड़ की ओर आने की बजाय सारंगपुर और

उज्जैन की ओर चला गया। आधुनिक इतिहासकारों ने हुमायूँ के इस कार्य की कटु आलोचना की है। गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार, "यदि इस समय बहादुरशाह के विरुद्ध राजपूतों की मदद के लिए आता तो हुमायूँ दोहरा उद्देश्य पूरा कर सकता था। राजपूतो का सहयोग तो उसे मिलता, साथ ही बहादुरशाह का खतरा भी हमेशा के लिए वह समाप्त कर सकता।" श्रीराम शर्मा ने भी हुमायूँ की इस नीति की आलोचना की है किन्तु बनर्जी का मत है कि हुमायूँ ने मेवाड़ को सहायता न देने का काम गुजरात की प्रार्थना से न किया बल्कि सामरिक दृष्टिकोण को सामने रखते हुए उसने नई नीति अपनाई थी। चित्तौड़ की ओर न आकर उज्जैन की ओर चले जाने से अपनी शक्ति को और अधिक दृढ़ कर लिया। बनर्जी ने हुमायूँ की इस नीति के पाच लाभ बताये हैं[16]—

1 उज्जैन की ओर चले जाने के कारण उसने अपने शत्रु की भूमि के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया।

2 हुमायूँ मालवा की जनता को अपनी ओर कर सका तथा पूर्वीय राजपूतो का सहयोग प्राप्त कर लिया।

3 उसने मांडूगढ़ और गुजरात की सेना के मध्य अपना पडाव डाल दिया। इससे बहादुरशाह की सेना का मालवा की राजधानी पहुँचना असमव हो गया क्योंकि इस पड़ाव से गुजरे बिना, जाना कठिन था। बहादुरशाह के समक्ष अपने राज्य मे जाने के केवल दो ही मार्ग थे—यदि उसे मालवा की ओर जाना था तो बिना मदसौर को पार किये वह नही जा सकता था, यदि अहमदाबाद जाने की सोचता तो भी हुमायूँ चित्तौड से नजदीक होने के कारण उसका पीछा कर सकता था।

4 हुमायूँ के पास हल्का तोपखाना था जब कि बहादुरशाह के पास काफी भारी तोपखाना था। अपने इस हल्के तोपखाने के कारण ही हुमायूँ गुजरात की सेना का अच्छी तरह से पीछा कर सकता था।

5 राजपूतों के सहयोग दे देने पर भी हुमायूँ को उनसे कोई प्रत्यक्ष सहायता नही मिल सकती थी। राजपूत शक्तिशाली नहीं थे। उनसे केवल एक ही लाभ मिल सकता था—हुमायूँ के सैनिकों को पर्याप्त मात्रा मे रसद मिलती रहती परंतु रसद की समस्या का हुमायूँ को इस अभियान में सामना नहीं करना पड़ा। अतः राजपूतों की सहायता न कर, हुमायूँ ने अपनी स्थिति दृढ़ करली।

---

16 एस. के. बनर्जी, हुमायूँ, भा. 1, पृ. 119-20

किन्तु गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि बनर्जी ने राजपूत-शक्ति को ठीक ढंग से नहीं आंका। निःसंदेह खानवा के युद्ध के बाद राजस्थान शक्तिहीन हुआ, राजपूतों की शक्ति में कमी आई किन्तु नष्ट नहीं हुई। इनके सहयोग से हुमायूँ अपने विरोधियों को समाप्त कर सकता था जैसा कि अकबर ने इस शक्ति के महत्व को समझा। यदि हुमायूँ में दूरदर्शिता होती तो जो काम अकबर ने किया है वह स्वयं भी कर सकता था।

चित्तौड़ का घेरा—बहादुरशाह ने जनवरी 1535 ई. में चित्तौड़ का घेरा डाला। रूमीखां ने बीवकोट के सम्मुख पहाड़ी पर तोपखाना द्वारा आक्रमण करना शुरू किया। रानी कर्मवती ने इस खतरे से सुरक्षा पाने के लिए राजभक्त सामन्तों से सहायता की प्रार्थना की। अब तक जो सामंत रुष्ट होकर अपनी-अपनी जागीरों में चले गये थे, वे ससैन्य चित्तौड़ में एकत्रित हुए।[17] युद्ध का संचालन देवलिया प्रतापगढ़ के बाघसिंह को सौंपा गया। विक्रमादित्य और उदयसिंह को बून्दी भेज दिया गया। यों बहादुरशाह के विरुद्ध सैनिक तैयारियाँ पूरी हुईं। बहादुरशाह का काफी समय तक डट कर मुकाबला किया गया परन्तु उसके तोपखाने के आगे राजपूत सैनिक अधिक नहीं ठहर सके। दुर्ग में रानी कर्मवती 13 हजार स्त्रियों को लेकर जौहर कर बैठी।[18] इस युद्ध में मरने वाले राजपूतों की संख्या का वर्णन राजपूत साधनों में अतिशयोक्ति पूर्ण लगता है। 'वीर विनोद' में श्यामलदास का कहना है कि इस युद्ध में 32 हजार राजपूत काम आये। नैणसी के अनुसार चार हजार सैनिक, तीन हजार बच्चे और सात हजार स्त्रियों ने प्राणों की आहुति दी। निश्चित संख्या मालूम करना कठिन है किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह युद्ध राजपूतों के लिए बहुत ही विनाशकारी सिद्ध हुआ। अंततः मार्च 8, 1535 ई. को बहादुरशाह ने चित्तौड़ का किला जीत लिया।[19] किन्तु यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रही। ज्योंही हुमायूँ मन्दसौर तक आया कि बहादुरशाह चित्तौड़ से हटकर, हुमायूँ से युद्ध करने मंदसौर की ओर बढ़ा। बहादुरशाह के हटते ही राजपूतों ने पुनः चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया। राणा विक्रमादित्य, जिसे युद्ध के समय बून्दी भेज दिया गया था, पुनः चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा।

यों हुमायूँ ने राजपूतों की सहायता न करके भयंकर भूल की जिसके लिए

17 रावल राणाजी री वात (पांडुलिपि), पत्रांक 84
18 वही, पत्रांक 86
19 मिराते सिकन्दरी, पृ. 187

उसे भविष्य में पछताना पड़ा। धर्म के संकीर्ण विचारों ने राजनीति में प्रवेश कर उसे कालांतर में दर-दर की ठोकरें खाने हेतु छोड़ दिया। राणा विक्रमादित्य ने भी चित्तौड़ की दो बार ध्वंसात्मक अवस्था को देख कर सामंतों के प्रति अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। तब सामंतों ने बणवीर के नेतृत्व में विक्रमादित्य के विरुद्ध षड्यंत्र रच कर उसकी हत्या कर डाली। विक्रमादित्य के अनुज उदयसिंह को समाप्त कर बणवीर स्वयं महाराणा बनना चाहता था किन्तु पन्ना धाय के त्याग से उदयसिंह की रक्षा हो सकी। बणवीर का व्यवहार भी सामंतों के प्रति ठीक नहीं था। अतः कुछ सामंतों ने शीघ्र ही उदयसिंह का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और बड़े प्रयासों के बाद उदयसिंह अपहरणकर्ता बणवीर पर हमला कर 1540 ई. में चित्तौड़ पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहा। किन्तु इस बीच राजस्थान में ऐतिहासिक दृष्टि से मारवाड़ सर्वाधिक शक्ति के रूप में उभर गया था।

राव मालदेव—राव गागा की मृत्यु के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र मालदेव बीस वर्ष की अवस्था में जून 5, 1531 ई. को गद्दी पर बैठा।[20] गद्दी पर बैठने के समय मालदेव के अधिकार में केवल सोजत व जोधपुर का परगना ही था। उसने अपना राज्याभिषेक समारोह जोधपुर में न कर सोजत में किया जिसका कारण सम्भवतया उसके द्वारा अपने पिता की हत्या के कारण जन-विरोध हो सकता है।

मालदेव एक महत्वाकांक्षी शासक था। वह अपने प्रभुत्व एवं साम्राज्य का प्रसार व विस्तार करना चाहता था। तब परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल थी। अतः साम्राज्य-प्रसार के मार्ग में कोई बड़ी रुकावट उस समय नहीं थी। खानवा के युद्ध के पश्चात् मेवाड़ शक्तिहीन हो चुका था। सांगा की मृत्यु के उपरान्त मेवाड़ की स्थिति आन्तरिक संघर्ष के कारण और भी अधिक बिगड़ती जा रही थी। राजस्थान नेतृत्व विहीन हो गया था। राजस्थान को सर्वाधिक खतरा बहादुरशाह से था किन्तु कुछ ही अवधि बाद मुगल संघर्ष में फंस जाने के कारण उसका क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो गया। हुमायूं के आक्रमणों के कारण उसे राजस्थान की राजनीति में भाग लेने का अधिक अवसर न मिल सका। साथ ही उसके पास विशाल और सुदृढ सेना थी, अतः मालदेव ने अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए दो तरफा नीति अपनाई—एक तो अपने सामंतों की शक्ति को सीमित कर अपना प्रभाव राज्य सीमा में दृढ़ करना और दूसरी, पड़ोसी राज्यों की समस्या में पूर्ण दिलचस्पी रखना।

---

20 अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर, मारवाड़ की ख्यात, भा. 1, पृ. 89

मालदेव ने अपने पड़ोसी राज्यों के साथ भी सम्बन्ध बनाये रखने व उन पर अपना प्रभाव स्थापित करने का अवसर नहीं छोड़ा। गुजरात के शासक बहादुरशाह के चित्तौड़ आक्रमण के समय मालदेव ने वहां के शासक राणा विक्रमादित्य को सैनिक सहायता दी। यों भी देखा जाय तो मालदेव को गद्दी पर बैठे अधिक समय नहीं हुआ था और उसकी स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं हुई थी, फिर भी मेवाड़ की सहायता के लिए सेना भेजने में उसके निम्नांकित उद्देश्य हो सकते थे—

1 मेवाड़ संकट में था, तब उसे सैनिक सहायता प्रदान कर, अपने प्रभाव में लाने का अच्छा अवसर था। इसका परिणाम उसका अपने राज्य में अधिक शक्तिशाली होने के रूप में प्रकट हो सकता था तथा अपने सामन्तों के विरुद्ध सैनिक अभियान की नीति लागू करने का मार्ग और अधिक निष्कंटक हो जाता तब इन सामन्तों के लिए मेवाड़ से सहायता प्राप्त करने का अवसर नहीं रहता।

2 मालदेव यह अच्छी तरह समझ गया था कि गुजरात के अधिकार में केवल चित्तौड़ आ जाने से बहादुरशाह अत्यधिक शक्तिशाली हो जायेगा। वह केवल मालदेव की प्रसार नीति में ही बाधक नहीं होगा अपितु उसके स्वयं के राज्य के अस्तित्व के लिये एक बड़ी चुनौती बन जायेगा। अतः इन उद्देश्यों से प्रेरित होकर मालदेव ने चित्तौड़ को सैनिक सहायता भिजवाई। उसका अनुमान ठीक ही निकला। चित्तौड़-समर्पण के पश्चात् बहादुरशाह ने आगे बढ़ कर अजमेर पर अधिकार कर लिया था। यद्यपि वहां गुजरात का अधिकार अधिक समय तक नहीं रहा। उधर मालदेव ने अपनी पहली नीति के अनुरूप भाद्राजूण पर आक्रमण कर, अधिकार कर लिया। उसके साथ ही रायपुर को भी अपने अधीन कर लिया।

भाद्राजूण पर अधिकार—भाद्राजूण का शासक वीरा था। मालदेव ने अपनी नीति को कार्यरूप मे परिणित करने हेतु 1539 ई. में भाद्राजूण पर आक्रमण कर दिया। तब युद्ध मे वीरा मारा गया, भाद्राजूण पर मालदेव का अधिकार हो गया। इस विजय से मालदेव को प्रोत्साहन मिला। उसने रायपुर पर आक्रमण कर उसे 1540 ई. में अपने अधिकार में कर लिया। यों इन राज्यों पर अधिकार हो जाने से मालदेव की शक्ति में काफी विस्तार हुआ। भाद्राजूण को उसने अपने पुत्र रत्नसिंह को जागीर के रूप मे दे दिया।

नागोर पर अधिकार—नागोर का शासक दौलतखां था। वह अपनी सीमाओं को बढ़ाने के लिए उत्सुक था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उसने मेड़ता पर अधिकार करने का प्रयास किया। मालदेव को जब दौलतखां के

इरादों का पता लगा तो उसने जनवरी 10, 1536 ई. को नागोर पर आक्रमण कर दिया।[21] तब दोनों के बीच हुए युद्ध मे दौलतखां पराजित हुआ। दौलतखां ने पुन: अपनी शक्ति एकत्रित कर नागोर को लेने का प्रयास किया किन्तु वह असफल रहा। मालदेव ने वीरम मांगलियोत को नागोर का सूबेदार बना दिया।

मेड़ता व अजमेर पर अधिकार—मारवाड़-मेड़ता के संबंध राव गांगा के समय से बिगड़े हुए थे। मेडता का वीरमदेव, गांगा की बराबर उपेक्षा व राजकीय आज्ञाओं की अवहेलना करता रहा। जब कभी भी वीरमदेव को ससैन्य आने के लिये आदेश दिया तो उसने उसका पालन नही किया। शेखा के विरुद्ध जब गांगा ने वीरमदेव को सहायता हेतु बुलाया किन्तु वीरमदेव ने परवाह नही की। इसी बीच वीरमदेव ने अजमेर पर अपना अधिकार कर लिया, जिससे कटुता और बढ़ गई अत: मालदेव ने वीरमदेव पर आक्रमण कर मेड़ता को अपने अधिकार में कर लिया। वीरमदेव मेड़ता से अजमेर चला गया। और वहाँ रहते हुए उसने रीयाँ को लेने के प्रयास किये किन्तु मारवाड़ के सामंत जेता व कूंपा के विरोध के कारण वह रीयां लेने मे सफल नहीं हो सका तथा अजमेर भी उसके हाथ से निकल गया।

सिवाना व जलोर पर अधिकार—सिवाना के ठाकुर को मालदेव ने दौलतखां के विरुद्ध युद्ध के समय सहायता के लिये बुलाया था किन्तु उसने तब मालदेव की परवाह् नही की। फलत: मालदेव उससे नाराज हो गया। मालदेव ने सिवाना अपने अधिकार में करने के लिये 1538 ई. मे एक सेना भिजवाई किन्तु वह असफल रही। सेना की विफलता के समाचार जानकर स्वयं मालदेव ने सिवाना पहुंच कर किले की घेरा बन्दी कर ली। सिवाना का शासक रसद की कमी पड़ जाने के कारण किला छोड़ कर भाग गया। मालदेव ने सिवाना पर अपना अधिकार जमा लिया।

इसी मध्य गुजरात के शासक बहादुरशाह की मृत्यु हो चुकी थी। हुमायूं, शेरशाह के साथ संघर्ष में व्यस्त था जिससे मालदेव को एक अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। उसने जालोर पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया।

बीकानेर पर अधिकार—साम्राज्यवाद की लिप्सा से प्रेरित मालदेव ने

---

21 जोधपुर राज्य की ख्यात (अप्रकाशित), जि. 1, पृ. 68; वीर विनोद, भा. 2, पृ.808; रेऊ ने (मारवाड़ का इतिहास, जि. 1, पृ. 118) इस घटना को 1534 ई. के पूर्व को माना है।

1541 ई में बीकानेर-नरेश जैतसी के विरुद्ध एक सेना भेज कर युद्ध का सूत्रपात किया, जिसमें जैतसी अपने कुछ सैनिक साथियों सहित खेत रहा। तब मालदेव की सेना ने बीकानेर गढ़ विजय कर लिया और यों कोई आधे बीकानेर राज्य को अपने अधीन करने के पश्चात् अपने सेनाध्यक्ष व प्रमुख सामंत कूंपा को वहा का प्रबंध सौंप दिया गया था। मालदेव ने केन्द्रीय राजनीति में दिलचस्पी लेना प्रारम्भ कर, 1543 ई. तक एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना करदी। यद्यपि मालदेव ने एक विशाल साम्राज्य तो स्थापित कर दिया तथापि उतना शक्तिशाली नही था। "वास्तव में मालदेव जितना महान विजेता था उतना संगठक नहीं था। उसमे राष्ट्र निर्माता के गुणों का सर्वथा अभाव था तथा दूरदर्शिता एव कूटनीतिक छल-बल भी नहीं था। फलत: उसके जड़हीन विशाल साम्राज्य को पठान सत्ता की एक ही आंधी ने उथल दिया। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि मालदेव ने अनुकूल परिस्थितियो का लाभ उठाते हुए केन्द्रीय शासन के समानान्तर एक महान राजपूत राज्य की स्थापना की तथा अजेय सामरिक शक्ति के संगठन में सफलता प्राप्त कर राणा सांगा से भी बढ़ कर कार्य किया।"[22]

मालदेव के हुमायूँ से सम्बन्ध—राजस्थान की राजनीति में जब मालदेव अपना प्रभाव स्थापित कर रहा था तब भारतीय राजनीति में भी परिवर्तन हो रहा था; मुगल बादशाह हुमायूँ की विलासी व अदूरदर्शिता पूर्ण नीतियों ने उसे भयानक संकट में डाल दिया था। शेरखाँ नामक एक अफगान सरदार ने तब धीरे-धीरे दूरदर्शिता से अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया, फिर भी हुमायूँ ने उसकी तनिक भी परवाह नही की। परिणामत: शेरखां ने मई 17, 1540 ई. को कन्नौज के युद्ध मे उसे पराजित कर भारत की राजनैतिक स्थिति को अपने नियंत्रण मे करली। यों हुमायूँ को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था तब अंततः विवश होकर उसे सिन्ध की ओर पलायन करना पड़ा।

इस परिवर्तन का प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ा। शेरशाह अभी भारत का शासक बना ही था, अत: उसके समक्ष अनेक समस्यायें थी जिनमे प्रमुखत: राजधानी से दूरस्थ स्थित प्रान्तों को संगठित करने की थी। अस्तु; शेरशाह ने अपनी सेना की कई टुकड़ियाँ सिन्ध, बंगाल, पंजाब, बिहार आदि प्रान्तों में भिजवा दी। इधर राजस्थान के सर्व शक्तिशाली मारवाड़ के राव मालदेव ने जब देखा कि शेरशाह की सेनायें यहाँ-वहाँ बिखरी पड़ी हैं तथा स्वयं

22 मांगीलाल व्यास, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. 106-7

शेरशाह भी इस स्थिति में नहीं है कि मारवाड़ आ सके तो उसने अपने राज्य का विस्तार तीव्रता से करना प्रारंभ किया। मालदेव ने हुमायूँ को मारवाड़ आने का निमंत्रण दिया जिसके पीछे उसके राजनैतिक स्वार्थ अवश्य ही निहित थे। शेरशाह की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति से मालदेव भयभीत था। इतना ही नहीं उससे पराजित अन्य राजपूतों के साथ-साथ कई राठौड़ सरदार भी शेरशाह के दरबार में पहुंच चुके थे। अतः मालदेव का भय और अधिक बढ़ गया। तब उसने सोचा कि हुमायूँ को प्रश्रय देकर ही शेरशाह का दर्प चूर्ण कर सकता है। यदि मालदेव की सहायता से हुमायूँ पुनः दिल्ली के तख्त पर बैठ जायेगा तो सम्राट सदैव के लिए राव के पक्ष में हो जायेगा। ऐसी स्थिति में मालदेव के राज्य की सुरक्षा को भी पठान सत्ता से कोई खतरा उत्पन्न नहीं हो सकेगा। कानूनगो का मत है कि, "वास्तव में यह मालदेव की अपनी रक्षार्थ तथा अपनी स्थिति को सुदृढ बनाने के लिए था। मालदेव बुद्धिमान राजनीतिज्ञ था। निमंत्रण भेजने के पूर्व उसने हानि-लाभ का अनुमान लगा लिया होगा, क्योंकि इसमें असफलता का अर्थ उसका विनाश था।" भार्गव का कहना है कि मालदेव ने सारी स्थिति का समुचित अध्ययन करने के पश्चात् ही हुमायूँ को सहायता देने का प्रस्ताव भेजा था। शेरशाह एवं उसकी सेना का एक बड़ा भाग तब बंगाल में तथा शेष बची हुई सेना गक्खर प्रदेश में थी। उधर ग्वालियर तो उसका विरोधी था ही, मालवा भी उसका विरोध कर रहा था। ऐसी स्थिति में शेरशाह का मालदेव पर किंचित भी संदेह करना नितान्त असंभव था। यों जब वह मालदेव पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर पा रहा था तब इन समस्त परिस्थितियों का लाभ उठाने की दृष्टि से उसने हुमायूँ को पुनः राज्य दिलाने के प्रयास में सहायतार्थ प्रस्ताव भिजवाया।

हुमायूँ का मारवाड़ आगमन—मालदेव की सहायता हुमायूँ के लिए एक अच्छा अवसर प्रदान कर सकती थी किन्तु हुमायूँ ने इस प्रस्ताव के प्रति प्रारम्भ में उपेक्षा दिखाई। वह आशा कर रहा था कि थट्टा के शासक शाह हुसैन की सहायता प्राप्त कर गुजरात को अपने अधिकार में कर लेगा किन्तु हुमायूँ की आशा, निराशा में बदल गई जब शाह हुसैन ने उसे सहायता करने में असमर्थता जताई। इस मध्य वह सात महिने तक व्यर्थ में अपनी शक्ति गंवाने के घेरे में कमजोर करता रहा। यहाँ भी असफल हो कर वह भक्खर से सहायता पाने की आशा में वहाँ गया किन्तु भक्खर के द्वार भी उसके लिये बन्द हो चुके थे। उसके मित्र राज्य भी उससे तब शत्रुता का व्यवहार करने लगे तब हुमायूँ को मालदेव के प्रस्ताव का स्मरण आया। वह

मई 1542 ई. में कच्छ से रवाना हो कर जुलाई में बीकानेर की सीमा में पहुंचा और यहाँ से जोधपुर की तरफ बढ़ा और फलोदी होता हुआ राजधानी से कुछ दूरी पर स्थित जोगी तीर्थ नामक स्थान पर डेरा डाला।

फारसी इतिहासकारों के अनुसार अपने मारवाड़ आगमन की सूचना व मालदेव के विचार जानने के लिये हुमायूं ने मीरसमंद को मालदेव के पास जोधपुर भेजा। रायमल सोनी व शमसुद्दीन अतकाखां को भी उसने इसी उद्देश्य से मालदेव के पास भिजवाया। निजामुद्दीन के अनुसार इन सभी ने मालदेव के साथ बातचीत कर हुमायूं को यह बताया कि मालदेव चिकनी-चुपड़ी बातें करता है किन्तु उसका हृदय साफ नहीं है। निजामुद्दीन ने यह भी लिखा है कि किसी समय शेरशाह का एक दूत मालदेव के पास हुमायूं को गिरफ्तार करने का संदेश लेकर आया। इसी बीच मालदेव के पास कार्य कर रहे हुमायूं के एक पुराने कर्मचारी मुल्ला सुर्ख ने उसे मारवाड़ से शीघ्र ही निकल जाने का सुझाव दिया। इन सब ही सूचनाओं से हुमायूं को यह विश्वास हो गया कि वह मालदेव से सहायता प्राप्त नहीं कर सकता। अतः वह मारवाड़ से रवाना हो अमरकोट की ओर चला गया।

मालदेव के व्यवहार की विवेचना—हुमायूं का मालदेव के निमन्त्रण पर मारवाड़ आने तथा पुनः लौट जाने की घटना का विवरण सभी फारसी इतिहासकारों ने इस ढंग से किया है जिससे लगता है कि मालदेव ने हुमायूं के साथ विश्वासघात किया हो। इन सभी ने मालदेव के इस व्यवहार की आलोचना की है। निजामुद्दीन के कथनानुसार मालदेव ने हुमायूं को शेरशाह के आक्रमण की आशंका से धोखा दिया। जौहर व गुलबदन बेगम का कहना है कि मालदेव धोखे से हुमायूं को जीवित अथवा मृत पकड़ना चाहता था। उसने हुमायूं को पकड़ने के लिये एक सेना भी भेजी। इन दोनों ने सेना की संख्या 1500 बताई है। परन्तु साथ ही इनका यह भी कहना है कि हुमायूं के मात्र तीस के लगभग सैनिक थे जिन्होंने मालदेव की सेना को करारी हार दी और हुमायूं सकुशल मारवाड़ से निकल भागा। फरिश्ता ने भी उक्त कथनों को ठीक माना है।

राजस्थानी स्रोत व भार्गव, कानूनगो, रेऊ आदि अधिकांश आधुनिक इतिहासकारों ने फारसी इतिहासकारों के कथन को अतिशयोक्तिपूर्ण माना है। इनके अनुसार इस घटना में सम्पूर्ण दोष मालदेव का न होकर हुमायूं का था। जब मालदेव ने हुमायूं को निमन्त्रण दिया था, उस समय में तथा हुमायूं के मारवाड़ पहुंचने के समय की परिस्थितियों में बड़ा अन्तर था। भारतवर्ष का राजनैतिक वातावरण परिवर्तित हो चुका था। मालदेव के

निमंत्रण देने के समय हुमायूँ सैनिक दृष्टि से सक्षम था तथा शेरशाह प्रांतीय झगड़ों में फंसा हुआ था। यदि हुमायूँ उसी समय मालदेव के पास आता तो अवश्य ही मालदेव उसे सैनिक सहायता प्रदान करता किन्तु इसके विपरीत हुमायूँ ने मालदेव के निमंत्रण की तनिक भी परवाह नहीं की और मालदेव के अतिरिक्त अन्य संभावित सहायता देने वाले व्यक्तियों के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा। जब सब तरफ से उसे निराशा हाथ लगी तब कोई एक वर्ष बाद उसे मालदेव के निमंत्रण का ध्यान आया। यों निमंत्रण देने व उसे स्वीकार करने के मध्य की अवधि काफी लम्बी एवं महत्वपूर्ण थी। इस बीच राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन हो गया। शेरशाह ने बंगाल के विद्रोह का दमन कर केन्द्र में एक शासन व्यवस्था स्थापित करली। उसने इस मध्य एक ऐसी सेना का निर्माण कर लिया था जिसका सामना भारतवर्ष की अन्य शक्तियां आसानी से नहीं कर सकती थीं। इसलिए मालदेव के द्वारा हुमायूँ के प्रति उपेक्षा का व्यवहार करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। कुछ भी हो शेरशाह पूर्ण रूप से मरुभूमि की ओर आंख लगाए बैठा था। उसे मालवा की अपेक्षा मालदेव की अधिक चिन्ता थी। मालदेव की राज्य सीमा उसकी दोनों राजधानियां दिल्ली-आगरा के निकट पहुंच चुकी थी, जिससे उसे दिल्ली का खतरा था।[23] अत: शेरशाह को जब हुमायूँ के मारवाड़ आगमन की सूचना मिली तो वह राजस्थान की ओर सशंकित हो, भावी संकट का सामना करने के लिए तैयार बैठा था। मालदेव भी इन सब कार्यवाहियों से भलीभांति परिचित था। इसी बीच शेरशाह का एक दूत मालदेव के पास हुमायूँ की गिरफ्तारी के साथ-साथ इस उपलक्ष में कुछ प्रादेशिक भेंट के लालच का आदेश लेकर भी गया था। साथ ही उसने अपनी सेना को नागोर की ओर भी रवाना कर दी थी। वास्तव में मालदेव बड़ी दुविधा में पड़ गया था। एक तरफ हुमायूँ को शरण देकर परम्परागत राजपूती उदारता की रक्षा का प्रश्न था तो दूसरी ओर शेरशाह का पक्ष ग्रहण कर अपने साम्राज्य की सुरक्षा का। यों किंकर्त्तव्यविमूढ मालदेव ने बिना किसी उद्देश्य के इन परिस्थितियों में हुमायूँ को सहायता देकर शेरशाह को नाराज करना उचित नहीं समझा था। मालदेव कुछ समय तक तो यह भी निश्चित नहीं कर सका कि उसे क्या करना चाहिए। अत: वह ढिलमिल रूप से हुमायूँ के प्रति शिथिल रुख अपनाता रहा, जिससे हुमायूँ को अकारण ही मालदेव के इरादों पर शंका उत्पन्न हो गई जबकि कानूनगो के अनुसार, "हुमायूँ को कोई खबर

23 कानूनगो, शेरशाह और उसका समय, पृ. 390-91

नहीं थी कि उसको दिल्ली ले चलने के लिए जोधपुर में सैनिक तैयारी हो रही है। जब शेरशाह बंगाल में था तब मालदेव के निमन्त्रण पर यदि हुमायूँ तुरन्त मारवाड़ आ पहुँचता तब तो मालदेव के इस बर्ताव को दूषित कहा जा सकता था परन्तु अब परिस्थिति उल्टी हो गई थी और इसमें मालदेव का कोई अपराध नही था।" मालदेव ने बिना किसी उद्देश्य के उक्त परिस्थितियों में हुमायूँ को सहायता देकर शेरशाह को नाराज करना उचित नही समझा था। शेरशाह द्वारा आक्रमण की संभावनायें, हुमायूँ की अकर्मण्यता तथा उसका विदेशी होने संबंधी बातों पर दृष्टि रखते हुए राज्य-हित मे मालदेव ने हुमायूँ को सहायता न देकर ठीक ही किया।

मारवाड की ख्यात के अनुसार जब हुमायूँ मारवाड में आया तब मालदेव ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। यहां तक कि उसकी इच्छा से ही उसे जोधपुर से आठ मील दूर फलौदी में ठहराया। इतना ही नही, गुलबदन बेगम ने तो लिखा है कि जब बादशाह मारवाड़ आ गया तो मालदेव ने सूखे मेवे, एक कवच, अशर्फियो से लदा ऊँट तथा एक पत्र भेजा जिसमे हुमायूँ का स्वागत करते हुए उसने लिखा कि मैं आपको बीकानेर देता हूँ।[24] यों इस विवरण के आधार पर मालदेव पर विश्वासघात का आरोप लगाना सर्वथा व्यर्थ है। वास्तव में यदि मालदेव का उद्देश्य उसे धोखा देना ही था तो कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जो उसे रोक सकती। फारसी इतिहासकारों के अनुसार इस समय हुमायूँ के पास केवल 20-30 सैनिक ही थे जबकि मालदेव की सैनिक संख्या तुज़केजहाँगीरी के अनुसार 80,000 थी। तबकाते अकबरी के लेखक ने भी स्वीकार किया है कि सैनिक शक्ति के दृष्टिकोण से भारतवर्ष मे मालदेव के मुकाबले में कोई अन्य शासक नही था। यदि मालदेव चाहता तो उसके लिये हुमायूँ को बंदी बना लेना बहुत ही आसान था। मारवाड़ की ख्यातों के अनुसार मारवाड़ (फलौदी) में रहते हुए हुमायूँ के सैनिकों ने गौ-हत्या कर दी। वास्तव मे गौ-हत्या की घटना फलौदी में नही हुई वरन् कानूनगो के मतानुसार जैसलमेर में घटी थी। तब स्थानीय जनता मे रोष फैल गया और हुमायूँ पर आक्रमण कर दिया। अतः मालदेव ने उसकी रक्षार्थ अपने सैनिक भिजवाये थे। हुमायूँ, मालदेव के वास्तविक उद्देश्य से परिचित न हो सका तथा यह समझ कर कि मालदेव उस पर आक्रमण करना चाहता है, मारवाड़ से निकल भागा। इसी कारण से जौहर आदि इतिहासकारों ने विपरीत अर्थ

---

24 हुमायूँनामा (हिन्दी संस्करण), पृ. 87

लेकर मालदेव पर धोखा देने का आरोप लगाया। कानूनगो ने स्पष्टतः लिखा है कि "यदि मालदेव विश्वासघात करना चाहता तो उसका हाथ इतना लम्बा था कि भारतीय मरु भूमि में प्रत्येक जीवित मुगल को वह पकड़ सकता था। मालदेव अपने लिये उलझनें प्रकट नहीं करना चाहता था इसलिए उसने आँख बन्द करली होगी तभी हुमायूँ का दूत जोधपुर से भाग गया। कुछ भी हो जब हुमायूँ एकदम वापिस लौट गया और उसका दूत जोधपुर से भाग गया तब मालदेव के लिये स्थिति आसान हो गई। उसने केवल शेरशाह को दिखाने के लिये जो उसके देश में ही जमा हुआ था, मुगलों का पीछा करने के लिए एक सेना भेजी।"

मारवाड़ की ख्यात के आधार पर ओझा ने फारसी इतिहासकारों के तथ्यों को भ्रममूलक माना है। अधिकांश आधुनिक इतिहासकार भी ओझा के मत से सहमत हैं। ईश्वरीप्रसाद ने भी सारी घटनाओं का अध्ययन कर यही निष्कर्ष निकाला कि मालदेव का उद्देश्य हुमायूँ को धोखा देने का कभी नहीं रहा वरन् विपरीत परिस्थितियों में जिस प्रकार का चातुर्यपूर्ण व्यवहार उसने किया, वह न्यायसंगत था। कानूनगो का भी कहना है कि हुमायूँ ने वास्तविकता को न समझ कर बिना बात मालदेव के प्रति संदेह किया।

मालदेव द्वारा हुमायूँ को सहायता न देना यद्यपि विश्वासघात तो नहीं कहा जा सकता, तथापि उसका यह कदम न तो राजपूती परम्परा की दृष्टि से और न ही राज्य-हित के लिए उचित था। उसे इतना दूरदर्शी तो होना ही चाहिए था कि हुमायूँ को सहायता दे या न दे, शेरशाह का मारवाड़ पर आक्रमण तो अवश्यंभावी था। अतः उसका यह अनुमान एकदम गलत था कि हुमायूँ को सहायता न देने से अपने राज्य को इस विपत्ति से बचा लेगा। शेरशाह मालदेव जैसे शक्तिशाली पड़ोसी को कभी सहन नहीं कर सकता था। जब दोनों शक्तियों के मध्य युद्ध किसी भी स्थिति में टाला नहीं जा सकता था तो मालदेव के लिये तो शेरशाह से लड़ने का सबसे उपयुक्त अवसर ही यही था। चाहे हुमायूँ की सैनिक संख्या नगण्य ही क्यों न रही हो परन्तु उसको आधार बनाकर लड़ने में अनेक शक्तियों की सहायता भी उसे प्राप्त हो सकती थी। शेरशाह को अभी गद्दी पर बैठे अधिक समय नहीं हुआ था जिससे जनता की सहानुभूति भी हुमायूँ को प्राप्त हो सकती थी। मालदेव सैनिक दृष्टि से शेरशाह से कतई कमजोर नहीं था जैसा कि बाद के युद्ध से स्पष्ट हो जाता है। अतः मालदेव का हुमायूँ को चाहे कैसी भी परिस्थिति हो, सहायता न देना एक अच्छा कदम नहीं माना जा सकता।

मालदेव व शेरशाह—यद्यपि मालदेव ने हुमायूँ को सहायता न दी तथापि

इसके बाद भी मारवाड़ शेरशाह के आक्रमण से नहीं बच सका। रायसीन विजय करने के पश्चात् शेरशाह ने मारवाड़ पर आक्रमण किया, इसके विभिन्न कारण दिये जाते हैं—

1 अब्बासखां सरवानी के अनुसार रायसीन विजय करने के पश्चात् शेरशाह के परामर्शदाताओं ने उसे दक्षिण विजय करने का सुझाव दिया, यद्यपि शेरशाह ने इस सुझाव का स्वागत किया परंतु उसने प्रथमतः उत्तरी भारत की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करना अधिक आवश्यक समझा। शेरशाह ने कहा कि, "उत्तरी भारत में ऐसे अनेक विधर्मी शासक हैं, जिन्होंने राजनैतिक अव्यवस्था का लाभ उठाकर मुस्लिम राज्यों को समाप्त कर दिया है।" शेरशाह के अनुसार ऐसे शासकों में सबसे महत्वपूर्ण मालदेव था। मालदेव ने अजमेर व नागोर के मुस्लिम शासकों को परास्त कर इन्हें अपने राज्य में मिला लिया था। अतः ऐसे शासक के विरुद्ध सैनिक अभियान करना अत्यन्त आवश्यक था। बदायूँनी का भी मत है कि शेरशाह ने धार्मिक कारणों से ही प्रेरित होकर मारवाड़ पर आक्रमण कर उसके राज्य को नष्ट करना चाहा।

2 कानूनगो के अनुसार मालदेव ने हुमायूँ को शेरशाह के द्वारा प्रेषित संदेश के अनुसार जीवित अथवा मृत नहीं पकड़ा जिससे क्रोधित हो कर शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण किया। किन्तु ईश्वरीप्रसाद को हुमायूँ को सहायता देने सम्बन्धी कार्यों में शेरशाह के आक्रमण का कारण उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हुमायूँ का प्रसंग भी दोनों के मध्य तनाव का कारण बना।

3 दोनों के बीच तनाव स्थापित करने वाला एक अन्य कारण वीरमदेव भी था। वीरमदेव, मालदेव से पराजित होने के उपरान्त शेरशाह के खेमे में चला गया गया। जहाँ उसने अपना मेड़ता का राज्य पुनः प्राप्त करने एवं मालदेव का दर्प दमन करने हेतु शेरशाह को उत्तेजित कर सहायता चाही। ओझा ने भी वीरमदेव का उल्लेख किया है।

4 जयसोम रचित 'कर्मचन्दवंशोत्कीर्तनक काव्यं' के आधार पर ओझा का मत है कि बीकानेर के शासक ने मालदेव के विरुद्ध सहायता चाही इसलिए शेरशाह ने उस पर आक्रमण किया अन्य किसी कारण से नहीं। ओझा का कहना है कि युद्ध के दो कारण होते हैं एक तो अपने राज्य का विस्तार करने हेतु तथा द्वितीय शत्रुतापूर्ण कार्य पर दण्ड देने हेतु। शेरशाह के द्वारा मालदेव पर आक्रमण करने में यह दोनों कारण लागू नहीं होते हैं क्योंकि राजस्थान का यह प्रदेश न तो उपजाऊ था और न व्यापार के दृष्टिकोण से लाभप्रद ही था। शेरशाह को अभी दिन्दुस्तान की गद्दी पर बैठे हुए दो वर्ष

ही हुए थे। अतः इस स्थिति में राजस्थान के मरुस्थल को प्राप्त करने हेतु उसका आक्रमण करना उचित नहीं जान पड़ता। आक्रमण करने के लिए दूसरा कारण भी उचित नहीं है क्योंकि मालदेव ने हुमायूँ की शेरशाह की आशा के अनुकूल ही कोई सहायता नहीं की थी जिससे शेरशाह को मालदेव पर क्रोध आता। "इतिहास में घटित होने वाली घटनाएँ किसी एक मात्र कारण से घटित नहीं होती अपितु उनके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कई कारण होते हैं। सुमेलगिररी का युद्ध कोई सामान्य घटना नहीं थी वरन् यह भारत को दो महान् शक्तियों के मध्य लड़ा जाने वाला निर्णायक युद्ध था। पुनः दोनों ही शासकों में एक लम्बे समय से तनाव उत्पन्न होने लग गया था। अतः तनाव उत्पन्न करने वाले उन कारणों की उपेक्षा नहीं की जा सकती।"[25]

5 वास्तव में शेरशाह का मालदेव पर आक्रमण राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप हुआ था। केन्द्रीय शक्ति को छोड़कर मालदेव की शक्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में तब बढ़ी-चढ़ी थी। मारवाड़-राज्य की सीमायें दिल्ली से लगी हुई थी। यों मालदेव की शक्ति, राज्य-विस्तार तथा दिल्ली-छूती हुई उसके राज्य की सीमायें शेरशाह की आँखों में खटक रही थी। वह कभी नहीं चाहता था कि मालदेव जैसा शक्तिशाली शासक उसके पड़ोस मे रहे तथा दिल्ली साम्राज्य के लिए सदैव एक खतरा बना रहे। इसी बीच बीकानेर व मेडता के शासको ने सहायता प्राप्त करने के लिए उससे प्रार्थना की जो उसके उद्देश्य में सहायक रही। अतः उसने सहर्ष इन शासको के निवेदन को स्वीकार कर लिया।

सुमेल का युद्ध—शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण करने का निश्चय तो कर लिया किन्तु उसने अपनी योजना गुप्त ही रखी। वह तो अचानक ही मालदेव पर आक्रमण कर उसे सभलने का अवसर ही नहीं देना चाहता था। इसलिए वह काफी समय तक शिकार के बहाने दिल्ली व आगरा के बीच घूमता रहा जिससे वह आक्रमण के लिए उचित मार्ग का भी चयन कर सके। मारवाड़ पर आक्रमण करने के लिए सीधा मार्ग अजमेर, रणथंभोर तथा नागोर होकर था किन्तु यदि वह इस मार्ग से होकर मारवाड़ पहुंचता तो उसे इन राज्यों को भी अपने अधिकार मे करना पड़ता जिस से उसे अपनी सैनिक शक्ति क्षीण होने का डर था। अब्बासखाँ सरवानी के अनुसार शेरशाह ने मालदेव पर आक्रमण करने के लिये फतहपुरसीकरी में अपना केम्प लगाया किन्तु कानूनगो इस मत से समहत नहीं है। वह मोर्चे की तैयारी का स्थान

25 मांगीलाल व्यास, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. 124

फतहपुर शुंभनू मानता है । जी. एन. शर्मा का अनुमान है कि यह स्थान सीकर हो सकता है, जहाँ से मारवाड़ पर आक्रमण किया जा सकता है । शर्मा का कहना है कि इस स्थान से आगे प्रस्थान करने में एक युक्ति भी थी और वह यह कि शेरशाह ने सुदृढ़ किलों को एक ओर रद्द कर मध्यवर्ती ऐसा मार्ग अपनाया जो अफगानी सेना के लिये सुगम था और मालदेव की कल्पना से बाहर था।

शेरशाह की गतिविधियों को देख कर मालदेव ने अपनी सेना को संगठित करना प्रारंभ कर दिया । सर्वप्रथम वह अजमेर पहुंचा किन्तु शीघ्र ही अपना विचार त्याग कर पुनः लौट आया । जैतारण और पीपाड़ मे उसने अपनी सेनाओं का संगठन किया । नागोर और मेड़ता की सेनायें भी उसकी सहायतार्थ पहुंच गई । इधर शेरशाह ने अपना पड़ाव सुमेल मे डाला । सुमेल में उसने खाइयाँ खुदवाई । जहाँ खाई नहीं खुद सकती थी वहाँ रेत के बोरे रखाये गए । मालदेव ने अपना पड़ाव सुमेल से कुछ दूर स्थित गिरी नामक स्थान पर लगाया । दोनों की सेनायें काफी समय तक एक दूसरे के सामने पड़ी रही । अब्बासखां सरवानी के कथनानुसार शेरशाह ने आगरा तथा रणथंभोर से सेनाओं को बुलवाया तथा कुछ टुकड़ियो को मालदेव का ध्यान विकेन्द्रित करने के लिए अजमेर पर आक्रमण करने का आदेश दिया परन्तु वह अपनी इस चाल मे सफल नही हो सका । मालदेव युद्ध क्षेत्र में ही दृढ़ता से जमा रहा । इतना सब कुछ करने पर भी शेरशाह की कठिनाइयों में कमी नहीं आई । खाद्य-सामग्री समाप्त होती जा रही थी । सुमेल सामरिक दृष्टिकोण से भी अधिक उपयुक्त स्थान नहीं था । मालदेव की विशाल सेना को देखकर उसके सैनिक हतोत्साहित होते जा रहे थे तथा स्वय शेरशाह ने भी इस परिस्थिति में युद्ध का खतरा मोल लेना उपयुक्त नही समझा । मारवाड़ की ख्यात के अनुसार वह किसी-न-किसी रूप से वहाँ से हट जाना चाहता था । परन्तु वीरमदेव आदि राजपूतो ने उसे साहस से काम लेने को सुझाया । *व्यास इस बात से सहमत नहीं है । उसका मानना है कि* "शेरशाह मरुदेशीय सेना से भयभीत था, पर उसके द्वारा लौटने का निश्चय करना और फिर वीरमदेव द्वारा पुनरुत्साहित करने की बात मात्र एक कल्पना ही प्रतीत होती है ।"

जब शेरशाह ने यह अनुभव कर लिया कि सम्मुख युद्ध में मालदेव को पराजित करना आसान नही है । फिर भी मानसिक सतुलन बनाये रखते हुए उसने कूटनीति व छल नीति का सहारा ढूंढा । सरवानी के अनुसार शेरशाह ने मारवाड़ के सामन्तों को समझौते के रूप में कुछ पत्र लिखे तथा उसने ऐसा

प्रबंध किया जिससे ये पत्र स्वयम् मालदेव के हाथ पहुँचें तथा वह अपने सामन्तों पर सन्देह कर बैठे। फरिश्ता का कथन है कि शेरशाह ने हिन्दुओं की भाषा (मारवाड़ी) में उन सरदारों की तरफ से अपने नाम पर इस आशय के जाली पत्र लिखवाये —राजा के अधीनस्थ बन जाने के कारण हम उसके साथ तो आ गये हैं परन्तु गुप्त रूप से हमारा उससे वैर भाव ही बना है। यदि आप हमारा अधिकार पुन: दिला दें तो हम आपकी सेवा करने और अधीनता स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत है। इन पत्रों पर शेरशाह ने फारसी भाषा में यह लिखवा दिया कि डरो मत मैं जल्दी ही तुम्हारी आशायें पूरी करूँगा। फिर इन पत्रों को उसने मालदेव के कैम्प में डलवा दिया।

मुन्शी देवीप्रसाद के 'राव मालदेव चरित्र' के अनुसार जब शेरशाह मालदेव की शक्ति को देखकर युद्ध-स्थल से पीछे हटने का विचार कर रहा था, तब वीरमदेव ने उसे आश्वासन दिया कि मैं कूटनीतिक वार्तालाप कर मालदेव को युद्ध-क्षेत्र से हटा दूँगा। वीरमदेव ने 100 पत्र सामंतों के नाम लिखवा कर उन्हें ढालों व गद्दियों मे सिलवाया तथा किसी व्यापारी के माध्यम से सामंतों मे उनको बिकवा दिया। इसके पश्चात् वीरमदेव ने मालदेव को बताया कि उसके सामंत शेरशाह से मिल गये हैं तथा आप उनकी ढालें व गद्दे देख सकते हैं। जब मालदेव ने खोज करवाई तो वह सत्यता देख, अपने सामंतों के प्रति संदेह से भर गया। मारवाड़ की ख्यात के अनुसार इस प्रकार का छल करवाने का सारा श्रेय मेड़ता के वीरमदेव को दिया है। नैणसी का कथन कुछ भिन्न है। उसके कथनानुसार वीरमदेव ने कूंपा व जेता को क्रमश: 20,000 रुपये दिये और उन्हें कम्बल व सिरोही की तलवारें खरीदने के लिए कहा गया था। तद्पश्चात् उसने मालदेव को कहलाया कि उनके (मालदेव) सामंतो ने शत्रु से रिश्वत ली है। जब मालदेव ने सत्यता की परख करने के लिये खोज कराई तो कूंपा व जेता के पास रुपये निकले थे।

एम. एल. शर्मा ने उक्त इतिहासकारो के कथन को उपयुक्त मानते हुए मत दिया है कि शेरशाह मे शक्ति तथा चतुरता दोनो ही गुण थे। राजपूतों में शक्ति तो थी किन्तु चतुराई का अभाव था। मालदेव, शेरशाह के इस छल को समझ नही सका व अपने सामन्तों के प्रति संदेह कर हतोत्साहित हो गया। कानूनगो ने लिखा है कि कोई आश्चर्य नही कि यह सब कार्यवाही शेरशाह ने की हो। कुछ भी हो, इस सम्बन्ध मे यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शेरशाह का यह कार्य जघन्य था और मालदेव का अपने स्वामिभक्त सेनानायकों पर विश्वास न करना *निन्दनीय तथा अशोभनीय* था। उसके

सामन्तों ने उसे बहुत समझाया किन्तु उसका सन्देह इससे और अधिक बढ़ता गया। कूम्पा को जब शेरशाह की चाल का पता लगा तो उसने कहा कि "सच्चे राजपूतों में ऐसा विश्वासघात पहले कभी नही सुना, मैं राजपूतों की प्रतिष्ठा पर लगाये गये इस कलंक को अपने रक्त से धोऊँगा अथवा शेरशाह को अपने थोड़े से सैनिकों की सहायता से पराजित करूँगा।" कूम्पा की इस बात पर भी मालदेव ने ध्यान नही दिया। तब कूम्पा अपने सैनिकों को लेकर शेरशाह पर आक्रमण के लिये रवाना हो गया किन्तु राठोड-सेना अन्धकार होने के कारण मार्ग में भटक गई। जब यह सेना शेरशाह के पड़ाव के समीप पहुँची तब तक सवेरा हो चुका था। राठोडों की सैनिक संख्या आठ हजार थी। उन्होंने प्रबल वेग से शेरशाह की सेना पर आक्रमण किया। शेरशाह भी अपने 80 हजार सैनिकों के साथ राठौड़ों से भिड़ गया। राठौड़-सैनिकों ने अपने आक्रमण को और तीव्र किया। शेरशाह की सेना के पैर डगमगाने लगे किन्तु इसी मध्य जलालखां जलवानी अपनी सेना सहित शेरशाह की सहायता के लिए आ पहुंचा। राठोड-सैनिक सख्या मे कम होने के कारण इस नये आक्रमण का मुकाबला न कर सके। शेरशाह की सेना ने उनको घेर लिया, फिर भी वे अतिम समय तक लड़ते रहे। अत मे शेरशाह को विजय प्राप्त हो गई। बदायूँनी लिखता है कि प्रातःकाल होने पर शेरशाह की सेना के दृष्टिगोचर होते ही राठोड़ सैनिक अपने घोडों से उतर पड़े तथा बरछे व तलवार हाथ मे लेकर पठानो की सेना पर टूट पड़े। ऐसी दशा में उसने हाथियो की सेना को आगे बढा कर शत्रुओं को रोंद डालने की आज्ञा दी। हाथियों के पीछे से गोलंदाजों और तीरंदाजो ने गोला और तीरो की वर्षा की जिससे सबके सब राठोड़ खेत रहे पर एक भी मुसलमान काम नहीं आया।

सुमेल युद्ध का महत्व—यद्यपि शेरशाह युद्ध मे जीत गया किन्तु यह युद्ध उसके जीवन व साम्राज्य के लिए एक खतरा बन गया था। वह कभी सोच भी नही सकता था कि राजपूत सैनिक इस ढंग से युद्ध कर सकते हैं। युद्ध के बाद उसके मुख मे अनायास ही ये शब्द निकल पड़े कि, "एक मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान की बादशाहत खो देता।" अब्बासखां सरवानी के अनुसार जब मालदेव को राठोड़ सैनिको की वीरता व बलिदान के बारे में पता चला तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ क्योंकि उसके हाथ से एक बहुमूल्य समय निकल गया। यदि वह अपने स्वामिभक्त सामंतों पर विश्वास करता तो संभवतः हिन्दुस्तान का इतिहास ही बदल जाता।

सुमेल का युद्ध भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण युद्धों मे अपना :

विशिष्ट स्थान रखता है। कानूनगो के मतानुसार यह युद्ध मारवाड़ के भाग्य के लिए निर्णायक युद्ध था। मालदेव के महत्वपूर्ण सामंत इस युद्ध में मारे गये। शेरशाह को भी इसमें सिवाय आत्म-संतोष के कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ। राजपूत शक्ति अवश्य ही छिन्न-भिन्न हो गई थी। खानवा के युद्ध के पश्चात् राजस्थान की राजनीति का केन्द्र जोधपुर बन गया था, वह इस युद्ध के साथ ही समाप्त हो गया। सुमेल के युद्ध की समाप्ति के साथ ही उस राजपूत-गौरव व स्वतंत्रता का पाठ समाप्त हो जाता है जिसके नायक पृथ्वीराज चौहान, हम्मीर चौहान, महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा और मालदेव थे। इसके बाद से आश्रितों का इतिहास प्रारम्भ होता है जिसके पात्र वीरम, कल्याणमल, मानसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह, अजीतसिंह आदि थे। श्रीराम शर्मा की मान्यता है कि, "यदि मालदेव के साथ चाल न चली गई होती तो यह संभव था कि गिरी के रणक्षेत्र में शेरशाह साम्राज्य खो बैठता।" कानूनगो का कथन है कि कुछ जोशीले लोगों ने प्रश्न उठाया है कि यदि मालदेव अपने पचास हजार ऐसे राजपूतों को साथ रखकर शेरशाह से लड़ता तो क्या होता? परन्तु संदेह या अनुमान की कोई गुंजाइश नहीं है। यह संदेह तो महाराणा सांगा की पराजय से ही शान्त हो गया था। अतः यह आशा करना व्यर्थ है कि परिणाम कुछ और होता। मांगीलाल व्यास इस कथन से सहमत नहीं है। उसके अनुसार खानवा का उदाहरण देना ठीक नहीं है। स्वयं शेरशाह ही कानूनगो का खण्डन कर देता है जब कि उसने युद्धोपरान्त यह स्वीकार किया कि मुट्ठी भर बाजरे के लिए वह अपनी सल्तनत हो खो चुका होता। कुछ भी हो, शेरशाह के कपट ने ही उसकी रक्षा की अन्यथा उसे संभवतः अपनी सल्तनत से हाथ धोना पड़ता।

राजस्थान में अन्य उपलब्धियां—सुमेल की विजय के पश्चात् शेरशाह ने अपनी सेना को दो टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक सेना का नेतृत्व स्वयं के हाथों में था और वह अजमेर पर अधिकार करने हेतु रवाना हुआ। दूसरी सेना को उसने जोधपुर पर अधिकार करने हेतु खवासखां व ईसाखां नियाजी के नेतृत्व में भेजी। अजमेर सरलता से शेरशाह के अधिकार में आ गया। वहां से वह अपनी सेना की सहायता हेतु जोधपुर की तरफ बढ़ा। मालदेव युद्ध के लिये तैयार था किन्तु जब शेरशाह के आगमन का समाचार उसने सुना तो वह अपनी हार निश्चित जानकर जोधपुर छोड़, सिवाना की तरफ चला गया। किले में उपस्थित सैनिकों ने शेरशाह की सेना का डट कर मुकाबला किया किन्तु अल्प संख्या के कारण उनकी हार हो गई। सभी राठौड़ सैनिक इस युद्ध में मारे गये। इस तरह 1544 ई. में जोधपुर का किला भी शेरशाह के अधिकार में आ गया।

शेरशाह ने जोधपुर ख्वासखां को सौंपा तथा अन्य राज्य मेड़ता व बीकानेर वीरमदेव व कल्याणमल को लौटा दिये। फलोदी, पोखरन, सोजत, पाली, जालोर, नागोर आदि स्थानों पर उसने चौकियां स्थापित कर अपने सैनिक नियुक्त कर दिये। मारवाड़ में अपना प्रभाव स्थापित कर, शेरशाह अजमेर चला गया तथा वहां से मेवाड़ पर आक्रमण करने हेतु वह चित्तौड़ की ओर बढ़ा।

मेवाड़ का शासक उदयसिंह था। अभी उसे गद्दी पर बैठे थोड़ा ही समय हुआ था तथा सांगा की मृत्यु के बाद राजगद्दी के लिये जो गृह-कलह हुआ उससे अभी मेवाड़ मुक्त नहीं था। अल्पायु उदयसिंह मे तब इतनी सामर्थ्य नही थी कि वह शेरशाह का मुकाबला कर सकता। अतः उसने अधीनता स्वीकार करना ही उपयुक्त समझा। जब शेरशाह जहाजपुर पहुंचा तो महाराणा उदयसिंह ने उसे आगे बढ़ने से रोकने के उद्देश्य से चित्तौड़ के दुर्ग रक्षक के साथ दुर्ग की चाबियाँ भिजवादीं। कानूनगो के अनुसार, "शेरशाह केवल चित्तौड़ से संतुष्ट नहीं हुआ। यह तो उसको यों ही मिल गया।" डी. सी. सरकार को मिले कुम्भलगढ़-शिलालेख के आधार पर कानूनगो ने आगे लिखा है कि, "शेरशाह कुम्भलगढ़ तक पहुँच गया था और रास्ते मे उसको किसी ने नहीं रोका था।" इतना होते हुए भी कानूनगो का कहना है कि शेरशाह की नीति राजस्थान को सीधे अपने अधिकार में करने की नहीं थी। यहाँ के राजाओं की स्वतन्त्रता को भी समाप्त करने का उसका उद्देश्य नही था। वह तो केवल यह चाहता था कि राजस्थानी राज्य उसकी सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लें। अतः वहाँ के महत्वपूर्ण राज्यों पर अपना अधिकार कर के भी उन्हें अपने साम्राज्य का पूर्ण अंग नही बनाया।[26] जिन दुर्गों व राज्यों को उसने अपने अधिकार में रखा वे सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। परंतु परिणाम अल्पकालीन ही रहे। राजस्थान के शासको ने भी जब तक शेरशाह राजस्थान में रहा तब तक ही उसकी अधीनता स्वीकार की। उसके राजस्थान से बाहर निकलते ही उसकी सत्ता की अवहेलना प्रारंभ कर दी। इसी मध्य जब शेरशाह ने कालिंजर का घेरा डाल रखा था, तब ही मई 22, 1545 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। उसका उत्तराधिकारी उसका छोटा पुत्र जलालखां इस्लामशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। इस्लामशाह ने ख्वासखां आदि को राजस्थान से जब राजधानी में बुलाया तो राजस्थानी शासकों ने मुस्लिम सूबेदारों की अनुपस्थिति का लाभ उठाना प्रारंभ किया। मालदेव

---

26 कानूनगो, शेरशाह और उसका समय, पृ. 446-47

भी सक्रिय हो गया। शेरशाह के प्रशासकों को मालदेव ने मारवाड़ से निष्कासित कर दिया। मेवाड़ के शासक उदयसिंह ने भी स्थिति का लाभ उठाया। उदयसिंह ने शेरशाह की मृत्यु का समाचार पाकर उसके नाम मात्र के प्रभाव को भी मेवाड़ से समाप्त करने के लिये अफ़ग़ान अधिकारी को चित्तौड़ से निकाल दिया।

शेरशाह की मृत्यु के बाद यद्यपि दक्षिण व पश्चिमी राजस्थान ने अपनी स्वतंत्रता को पुनः प्राप्त कर लिया किन्तु पूर्वी राजस्थान में अफगानी प्रभाव की कमी नहीं आई। रणथंभोर, अजमेर, मेवात व आमेर राज्यों पर अब भी इस्लामशाह का आधिपत्य बना हुआ था किन्तु इस्लामशाह ने राजस्थान में अपना प्रभाव बढ़ाने का प्रयास नहीं किया। इस ओर से वह उदासीन हो गया। यों उसकी उदासीनता देख कर मालदेव ने अपने राज्य का प्रसार करना प्रारंभ किया।

1550 ई. में मालदेव ने बीदा और नगा का ससैन्य पोकरण को अधिकार में करने के लिए भिजवाया। पोकरण के शासक जैतमल ने मालदेव की सेना का सामना किया किन्तु उसे पराजित करके बंदी बना लिया। बंदी अवस्था से मुक्त होने के बाद जैतमल ने अपने ससुर जैसलमेर के शासक मालदेव से सहायता प्राप्त कर फलौदी पर अधिकार कर लिया। राव मालदेव को जब इसकी सूचना मिली तो उसने फलौदी पर आक्रमण कर दिया। जैतमल मालदेव का सामना नहीं कर सका। वह फलौदी से भाग गया और यों फलौदी पुनः मालदेव के अधिकार में आ गया।

मालदेव की सेना जब जैतमल का पीछा कर रही थी उसी समय किसी कारण से मालदेव की बाड़मेर के सामंत भीम से शत्रुता हो गई। भीम ने मालदेव की सीमा में उपद्रव करना प्रारंभ कर दिया। अतः मालदेव उसका दमन करने हेतु 1552 ई. में अपने सामंत रतनसी व सिंघन को सैन्य सहित भेजा। इस सेना ने बाड़मेर व कोटड़े पर अधिकार कर लिया। भीम सहायता की आशा से जैसलमेर चला गया। जैसलमेर के शासक ने भीम की सहायता हेतु अपने पुत्र हरराज को उसके साथ भिजवाया किन्तु वे मालदेव की सेना से पराजित हुए। उनका सारा सामान मालदेव की सेना के हाथ लगा।

जैसलमेर के शासक के उपरोक्त सहायता सम्बन्धी कार्यों से मालदेव के लिए उसका दमन करना आवश्यक हो गया। अतः उसने अपनी सेना को जैसलमेर पर आक्रमण करने के आदेश दे दिए। राठौड़ सेना ने जैसलमेर के किले को घेर लिया। तब विवश होकर जैसलमेर को संधि करनी पड़ी और दण्ड के रूप में कुछ रुपया देना स्वीकार किया।

मेड़ता का शासक जयमल मालदेव की आज्ञाओं की उपेक्षा करने लगा था। एक बार किसी कारणवश जब मालदेव ने उसे जोधपुर में उपस्थित होने का आदेश दिया किन्तु वह नहीं आया। यह देख मालदेव उससे बहुत नाराज हुआ तथा स्वयं ने सेना लेकर मेड़ता पर घेरा डाल दिया। जयमल ने अपने एक दूत को बीकानेर के शासक कल्याणमल से सैन्य सहायता के लिए भेजा तथा स्वयं मालदेव से युद्ध करने लगा। तब उसे पराजित होना पड़ा। मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हो गया किन्तु इसी मध्य बीकानेर की सहायता जयमल को प्राप्त हो गई। मालदेव को विवश होकर मेड़ता खाली करना पड़ा। जोधपुर लौटकर मालदेव ने अपने अपमान का बदला लेने हेतु अपने पुत्र चन्द्रसेन को ससैन्य मेड़ता भिजवाया। जयमल भी युद्ध के लिए तैयार था किन्तु युद्ध से पूर्व महाराणा उदयसिंह ने राठौड़ों के आपसी युद्ध को समाप्त करने के लिए मध्यस्थता की तथा जयमल को अपनी सेवा में ले लिया। इस प्रकार बिना युद्ध किये ही मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हो गया।

इस समय जालोर पर बलुचियों का अधिकार था। उन पर पठानों ने आक्रमण कर कई बलुचियों की हत्या कर दी। बलुचियों ने मालदेव से सहायता की प्रार्थना की। मालदेव ने जालोर को अपने अधिकार में कर बलुचियों को पाटन (गुजरात) सुरक्षित रूप से पहुंचा दिया। मालदेव की सेना अभी जालोर में अच्छी तरह जम भी नहीं पाई थी कि पठान नेता मलिकखां ने किले पर आक्रमण कर दिया। मालदेव की सेना के पैर उखड़ गये तथा उसे जालोर खाली करना पड़ा। मालदेव ने कुछ समय पश्चात् मलिकखां पर आक्रमण कर पुनः किले पर अधिकार कर लिया। किन्तु फिर भी अधिक समय तक जालोर मालदेव के अधिकार में न रह सका। मलिकखां ने पुनः आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया।

इसी तरह मेड़ता पर भी मालदेव का अधिकार अधिक समय तक नहीं रह सका। अपना पैतृक राज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से जयमल 1561 ई. के प्रारम्भिक महिनों में अकबर के दरबार में, जो उस समय सांभर में था, उपस्थित हुआ। तब अकबर ने राजस्थान में अपने प्रभुत्व के प्रसार का उचित अवसर मान शरफुद्दीन के नेतृत्व में सेना भेजी। मुगल सेना का सामना मारवाड़ की सेनायें अधिक समय तक न कर सकी, फलतः मेड़ता पर मुगलों का अधिकार हो गया। मालदेव खोये हुए स्थानों को पुनः हस्तगत नहीं कर सका और नवम्बर 7, 1562 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

रेऊ ने राव मालदेव को बड़ा वीर और प्रतापी कहा है। निःसंदेह मालदेव ने अपने शासनकाल में मारवाड़ का विस्तार किया। उसने पड़ोसी राज्यों

के मामलों में निरन्तर हस्तक्षेप किया तथा केन्द्रीय राजनीति में भी प्रभुत्व स्थापित करने की योजना बनाई। उसकी सेना भी सुसज्जित एवं विशाल थी परन्तु ओझा का यह कहना भी उपयुक्त है कि "उसमें विवेचनात्मक बुद्धि और संगठन शक्ति की पूर्णतया कमी थी।" वास्तव मे उसकी नीति ने राजस्थान में एकता के स्थान पर अनेकता को जन्म दिया। संदेहशील प्रवृत्ति के कारण सुमेल का युद्ध हारा। उसकी पड़ोसी राज्यों के प्रति नीति ने मारवाड़ में बाह्य आक्रमणों के लिए मार्ग प्रशस्त किया तथा अपनी शक्ति का प्रयोग सामन्तों को सहायता के स्थान पर दमन के लिये किया जिसके कुपरिणाम मारवाड़ राज्य को भुगतने पड़े। 1557 ई. में जैसा कि 'जोधपुर राज्य की ख्यात' से ज्ञात होता है कि मुगल सेनायें जब जैतारण की ओर आई तब मालदेव को मुगलो के विरुद्ध तुरन्त सहायता भेजने का आग्रह किया किन्तु उसने तब कोई सहायता नहीं दी, फलतः कई राठौड़ सरदार मारे गये और जैतारण पर मुगलों का अधिकार हो गया। अपने ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर छोटे पुत्र चन्द्रसेन को उत्तराधिकारी घोषित कर मालदेव ने गृह-कलह को जन्म दे दिया।

1562 ई. की आमेर-संधि—आमेर के शासक राजा भारमल के राज्याभिषेक के साथ केवल कछवाहो के इतिहास का ही नही, अपितु राजस्थान के इतिहास का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। राज्याभिषेक के समय भारमल या बिहारीमल की अवस्था पचास वर्ष की थी। अपनी वृद्धावस्था के कारण वह राज्य कार्य सुचारु रूप से नहीं चला सकता था। आमेर की गद्दी के दावेदार (सूजा और आसकरण) उसे हथियाने के लिए प्रयत्नशील थे। आसकरण गद्दी प्राप्त करने की इच्छा से भारत के सूर सुल्तान इस्लामशाह के सेवक हाजीखा पठान के पास जा चुका था। इन परिस्थितियों मे गद्दी को सुरक्षित रखने के लिए भारमल को भी पठानो की शरण लेनी पड़ी। हाजीखां पठान के साथ कतिपय युद्धों में भारमल ने भाग लिया था। उसने अपनी पुत्री बाई किशनावती का वैवाहिक संबंध हाजीखां पठान के साथ किया था। यों भारमल ने आसकरण के संभावित मददगार हाजीखां पठान की सहानुभूति प्राप्त करके अपने प्रतिद्वन्द्वी का पक्ष निर्बल कर दिया। वी. एस. भार्गव का मत है कि भारत मे मुगलों का सितारा बुलंदी पर देख कर भारमल का भतीजा सूजा अजमेर के मुगल सूबेदार मिर्जा शरफुद्दीन के पास सहायतार्थ पहुंचा। मिर्जा शरफुद्दीन ने नव संस्थापित मुगल साम्राज्य के विस्तार का इसे स्वर्ण अवसर समझ कर सूजा को आमेर की गद्दी दिलाने के बहाने 1551 ई. में आक्रमण किया। तब भारमल इस स्थिति में नहीं

था कि मिर्जा का सामना कर सके। अतः उसने मिर्जा को टांका देना स्वीकार किया और बतौर जमानत अपने पुत्र जगन्नाथ तथा भतीजे राजसिंह व खंगार को मिर्जा के हवाले कर दिया। अगले वर्ष फिर सूजा के भड़काने पर मिर्जा शरफुद्दीन आमेर पर आक्रमण करने की सोचने लगा। उधर एक ओर मेवाड़ का महाराणा, भारमल के राज्य के भाग पर अधिकार करना चाहता था तो दूसरी ओर मारवाड़ का शक्तिशाली शासक मालदेव आमेर राज्य पर अतिक्रमण कर रहा था।[27] ऐसी विकट परिस्थितियों में आक्रमण की आशंका से त्रस्त भारमल पहाड़ियों में आश्रय लेने की सोच रहा था तब उसे अकबर की सहायता एवं हस्तक्षेप का विचार आया।

अकबर ने अपनी राजस्थान विजय मारवाड़ से प्रारंभ की। सर्वप्रथम नागौर, मेड़ता के प्रदेश उसके हाथ आये। राजस्थान के शासकों में भारमल प्रथम शासक था जिसने अकबर के महत्व को आंका। जनवरी 1562 ई. में जब अकबर फतेहपुर सीकरी से अजमेर हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह पर दर्शन हेतु जा रहा था तब जनवरी 20 को भारमल का दूत चगताईखां सांगानेर में अकबर से मिला। दूत ने भारमल की रक्षार्थ अकबर से प्रार्थना की तथा भारमल की पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव भी रखा। अकबर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और अजमेर से लौटते समय सांभर के पड़ाव पर फरवरी 6 के दिन राज्योचित तरीके से भारमल की पुत्री बाई हरखा (हरखूबाई) का विवाह सम्पन्न हुआ।[28] रघुबीरसिंह के अनुसार, "उसी दिन से आम्बेर के कच्छवाहा राजघराने का भाग्य-सितारा चमक उठा, और कुछ ही युगों में भारमल के वंशज केवल राजस्थान में ही नहीं, परन्तु मुगल साम्राज्य के साथ ही समूचे भारत में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली व्यक्ति बन गए। इस कठिन समय में मुगल शाही घराने का संरक्षण प्राप्त कर यही घराना सदियों तक बड़ी ही तत्परता एवं स्वामिभक्ति के साथ मुगल साम्राज्य की सेवा करता रहा। मुगल साम्राज्य के प्रमुख सेनानायक एवं विश्वस्त उच्चाधिकारी बन कर आम्बेर के राजाओं ने उस साम्राज्य की वृद्धि, उन्नति एवं समृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया तथा औरंगजेब जैसे धर्मान्ध सम्राट का साथ देने से भी वे नहीं हिचके।" इस वैवाहिक

---

27 बी. एन. लूनिया, अकबर महान्, पृ. 158

28 अकबरनामा, भा. 2, पृ. 248, राजकुमारी का पहले नाम मानमति था। इसे शाही बाई भी कहते थे। बाद में यही राजकुमारी बेगम मरियम-उज्जमानी के नाम से विख्यात हुई।

संबंध में पहल अकबर द्वारा नहीं की गई थी। अतएव यह विवाह न केवल राजस्थान के इतिहास में अपितु भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

महत्व—आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के अनुसार यह विवाह ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। यह पहला वैवाहिक संबंध था जो किसी हिन्दू शासक की पहल पर मुसलमान शासक से स्थापित हुआ किन्तु पी. शरण का कहना है कि इसमें न तो कोई नवीनता है और न कोई मौलिकता क्योंकि ऐसी शादी पहले भी हुई थी। परंतु श्रीवास्तव का मानना है कि फरवरी 1562 ई. के पूर्व कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता कि मुगल शासक की किसी राजपूत राजकुमारी से या भारत के किसी भी अन्य भाग में इस भांति शादी हुई हो। सल्तनत काल में हिन्दू शासकों के मध्य शादी के उदाहरण मिलते हैं किन्तु वे शादियाँ दवाव से हुई थीं। भारमल के पूर्व किसी भी शासक ने अपनी इच्छा से मुस्लिम शासकों से शादी नहीं की।

पी. शरण ने 'मआसिर-उल-उमरा' के आधार पर कहा कि 'ऐसी शादी पहले भी हुई' वास्तव में ठीक नहीं है। 'मआसिर-उल-उमरा' में लिखा है कि हुमायूँ ने हिन्दुस्तानी शासकों से वैवाहिक संबंध स्थापित किये थे। आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का कहना है कि ये हिन्दू व मुसलमान दोनों ही हो सकते हैं किन्तु बाबर व हुमायूँ के हरम में कोई हिन्दू स्त्री नहीं थी। कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही होगा कि जितना प्रभाव इस विवाह का हुआ वैसा अन्य का नहीं। इससे मुगल-साम्राज्य को पर्याप्त सहयोग मिला जिससे उसकी स्थिति भी सुदृढ़ हो गई। रघुबीरसिंह के शब्दों में "भारमल की पुत्री के साथ स्वयं विवाह कर अकबर ने राजस्थान के राजपूत राजघरानों के साथ अत्यधिक निकट सम्बन्ध स्थापित करने की एक नई नीति प्रारंभ की। तदनन्तर अकबर ने स्वयं अनेक राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह किया, और समय आने पर अपने पुत्रों के लिए भी ऐसी ही वधुओं का आयोजन किया। अकबर के बाद भी कोई एक शताब्दी तक यह परंपरा थोड़ी बहुत बनी रही।" बेनीप्रसाद के अनुसार भारतीय राजनीति में यहीं से नया युग प्रारंभ होता है। उसने देश को अनेक योग्य शासक प्रदान किये। मुगल बादशाहों को चार पीढ़ी तक मध्यकालीन भारत के महान सेनापतियों तथा राजनीतिज्ञों की सेवायें प्राप्त होती रहीं। 'अकबरनामा' के अनुसार, "अकबर का यह विवाह दूसरे अंतर्जातीय विवाहों से भिन्न था। बाई हरखा का अपने संबंधियों से सम्बन्ध विच्छेद नहीं हुआ था।" इसकी वजह से मुगलों को योग्य एवं कुशल, विश्वासपात्र सेनानायक मिले तथा भारमल,

उसके पुत्र भगवन्तदास, पौत्र मानसिंह के प्रयत्नों के कारण दूसरे राजपूत राजाओं के मुगल साम्राज्य के साथ राजनैतिक एवं वैवाहिक संबंध स्थापित हुए। हिन्दू का मुस्लिम धर्म व संस्कृति के साथ अकबर के शासनकाल मे जो समन्वय हुआ उसका एक कारण यह विवाह था। इससे न केवल अकबर के साम्राज्य की जड़ें सुदृढ़ हुईं, साम्राज्य मे शांति एवं व्यवस्था ही छाई अपितु कई बार अकबर की जीवन-रक्षा भी हुई जैसे—परोख में अशांति देख, बादशाह चार सौ सवारों के साथ पहुच गया तब वहाँ अकबर का जीवन खतरे मे पड़ गया था लेकिन भगवंतदास ने पूर्ण वफादारी के साथ बादशाह की रक्षा की। रणथंभोर अभियान में भगवंतदास अकबर के साथ था और इसी के द्वारा सुरजन हाड़ा ने बादशाह के पास संधि का संवाद भिजवाया था जिसे अकबर ने स्वीकार कर लिया। यों आमेर-घराने से संबंध स्थापित करने के फलस्वरूप अकबर के अन्य शत्रुओं की शक्ति निर्बल होने के साथ-साथ अन्य राजपूत राजा भी अधीनता स्वीकार करने लगे। आर. पी. त्रिपाठी ने भी इस वैवाहिक संबंध का समर्थन किया है। स्मिथ का मत है कि यह विवाह इस बात का प्रमाण है कि अकबर ने अपनी समस्त प्रजा, हिन्दुओं एव मुसलमानो का बादशाह बनने का निश्चय कर लिया था। ईश्वरीप्रसाद ने बताया कि राजपूत केवल एक पीढ़ी तक ही नहीं अपितु चार पीढ़ी तक मुगल साम्राज्य के स्तम्भ बने रहे।

यो यह विवाह एक ओर मुगल साम्राज्य के लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हुआ तो दूसरी ओर इसके अच्छे-बुरे प्रभाव भी दृष्टिगत होते हैं। इस शादी को लेकर राजस्थानी राजवंशों में आपसी भेद-भाव और अधिक बढ़ गये और शादी करने वाले शासकों का सामाजिक बहिष्कार किया जाने लगा। इसीलिये मुगलों के पतन के समय मेवाड़ शक्ति हीन होते हुए भी सामाजिक स्तर पर अन्य शासको से अपेक्षाकृत अधिक सम्मानित था। परंतु यह विवाह दूसरे ढंग से राजपूतों के लिए वरदान सिद्ध हुआ—उन्हें अपनी शक्ति और शौर्य प्रदर्शन का अवसर मिला और मुगल सेनानायकों के साथ मे भारत के दूर-दूर भागो मे जाकर अपने इन गुणों का प्रदर्शन किया जिसके कारण अपने राज्यों का भी विस्तार कर सकें।

आमेर के शासक मे मुगल सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति से आमेर की सीमायें काफी बढ़ाई तथा यह राज्य अत्यधिक शक्तिशाली रहा। शेलेट के मतानुसार सामाजिक दृष्टि से भी यह विवाह महत्वपूर्ण था तथा राजनीतिक दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण था कि अकबर ने अपने गुरु अब्दुललतीफ की शिक्षाओं का सफलतापूर्वक प्रयोग करना शुरू किया और अकबर एक जाति

विशेष का नहीं अपितु समस्त भारत के शासक के रूप में प्रकट हुआ। इनसे बड़े राजपूत शासकों को ही लाभ नहीं हुआ अपितु अन्य छोटे राजपूत शासक एवं सामन्त भी लाभान्वित हुए। मुगल दरबार मे अब उनको मनसब मिलना शुरू हुआ तथा इन्होंने अपनी योग्यता का प्रदर्शन कर उच्च-से-उच्च मनसब प्राप्त किया, साथ ही महत्वपूर्ण स्थानों पर जागीरें भी प्राप्त हुई। अतएव राजस्थान के बाहर भी उनका प्रभाव स्थापित हुआ, 'मालवा' इसका उदाहरण है।

यों इस विवाह का लाभ मुगल साम्राज्य को तथा राजस्थान को भी व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से मिला। अकबर की राजपूत नीति एक नवीन रूप से परिवर्तित हुई और अपना यह वैवाहिक सम्बन्ध आमेर के अलावा अन्य राज्यों से भी स्थापित करना शुरू किया।

उदयसिंह व अकबर—राणा सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ में गृह-युद्ध का वातावरण था। ऐसे समय में विक्रमादित्य व बणवीर जैसे निर्बल तथा अयोग्य शासकों के हाथ में मेवाड के शासन की बागडोर भले ही आ गई हो किन्तु कुछ ही समय बाद 1540 ई. में उदयसिंह अपने सामन्तों की सहायता से महाराणा बना। तब उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मेवाड़ के खोये हुए प्रदेश पुन: प्राप्त किये, विद्रोही सामन्तों का दमन करना पड़ा तथा युद्ध की स्थिति मे न होने के कारण शेरशाह को दुर्ग की चाबियाँ सौंपनी पड़ीं। उदयसिंह ने यह समझ लिया था कि चित्तौड़-दुर्ग पर सुरक्षा की दृष्टि से आश्रित रहना खतरे से खाली नहीं है। अतः सुरक्षित स्थान की खोज में 1559 ई. मे उसने 'उदयपुर नगर' की स्थापना की परन्तु अकबर के शासनकाल मे उदयसिंह को पुन: मुगल बादशाह से संघर्ष करना पड़ा और मेवाड़ पर पुनः युद्ध संकट आ गया।

आक्रमण के कारण—1562 ई. तक अकबर ने मारवाड़ के कुछ प्रदेशों पर अधिकार कर लिया तथा आमेर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था किन्तु संपूर्ण राजस्थान पर अधिकार करना शेष था। राजस्थान पर अधिकार करने से पूर्व उसके लिए दो दुर्गों को लेना आवश्यक था। 1558 ई. में उसने रणथम्भोर लेने का प्रयास किया किन्तु असफल रहा। अकबर ने यह अनुभव किया कि जब तक चित्तौड़ अपने अधिकार में न आ जाय तब तक राजस्थान विजय अधूरी है अतएव उसने चित्तौड़ पर आक्रमण करने की योजना बनाई। मेवाड़ पर अकबर द्वारा आक्रमण किये जाने के निम्नांकित कारण थे।

1 शेलट का मत है कि आक्रमणकारी या उसके समर्थक युद्ध का कोई

भी बहाना निकाल सकते हैं। अकबर के इस आक्रमण का मुख्य उद्देश्य उसकी साम्राज्यवादी लिप्सा थी।

2 स्वयं अकबर का विचार था कि शासक को हमेशा साम्राज्य-विस्तार के लिए तैयार रहना चाहिये अन्यथा उसके शत्रु आक्रमण कर सकते हैं। सेना को सदैव युद्धरत रखना चाहिये। तब राजधानी मे सेना का भारी जमघट था।

3 उदयसिंह ने अकबर के विरोधियों को शरण देना प्रारंभ कर दिया था। ग्वालियर के राजपूत नरेश रामशाह को उदयसिंह ने शरण दे दी थी। निजामुद्दीन[29] व बदायूनी[30] का मत है कि चित्तौड़ पर आक्रमण का प्रमुख कारण मालवा के शासक बाजबहादुर को मेवाड द्वारा शरण देना था। उदयसिंह ने अकबर के शत्रुओ एवं विरोधियो को शरण देकर अकबर की शक्ति को खुली चुनौती दी थी।

4 स्मिथ ने राजनीतिक व आर्थिक कारण माना है। अकबर सम्पूर्ण उत्तरी भारत का शासक होना चाहता था, उसका यह साम्राज्य तब तक सुरक्षित नही रह सकता था जब तक कि चित्तौड़ व रणथंभोर उसके अधिकार में नहीं आ जाय। वह यह भी सोचता था कि गुजरात के व्यापारिक मार्ग मे मेवाड़ पडता है। वह व्यापारिक मार्ग पर अपना अधिकार रखना चाहता था, अतः उसने चित्तौड़ पर आक्रमण किया।

5 अबुलफजल[31] का मत है कि 1567 ई. में जब अकबर धौलपुर के निकट शिकार के लिए गया हुआ था और वहां पर डेरे डाल रखे थे, तब महाराणा उदयसिंह का द्वितीय पुत्र शक्तिसिंह भी अकबर के दरबार में उपस्थित था। अकबर ने यों ही मजाक मे कहा कि सभी राजाओं ने तो मेरी अधीनता स्वीकार करली है किन्तु मेवाड़ ने अभी तक नही की है। यह सुनकर शक्तिसिंह को भय हुआ कि अकबर के मस्तिष्क में मेवाड़ विजय की योजना बन रही है, चित्तौड़ पर अकबर को चढ़ा लाने का दोष कहीं उसे न मिले, इस भय से शक्तिसिंह चुपचाप अपने पिता को अकबर की आक्रमण-योजना की सूचना देने के लिए चला गया। अतः अकबर के लिए अब मजाक की बात को वास्तविकता मे बदलना आवश्यक हो गया। इस कथन से ऐसा

---

29 तबकाते अकबरी, जि. 2, पृ. 262

30 मुन्तखब-उत-तवारिख, जि. 2, पृ. 48

31 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 441-42, रागतरासो; (पांडुलिपि) श्लोक 31-33

नता स्वीकार नहीं की थी। यों मेवाड़ की स्वतंत्रता अकबर को अपने लिए चुनौती-सी लगी, अतः मेवाड़ पर आक्रमण करना उसके लिए आवश्यक हो गया। किन्तु गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि आमेर के अतिरिक्त अभी तक किसी भी राजपूत शासक ने उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की थी।

6 अकबर यह जानता था कि राजस्थानी राजपूतों मे सबसे प्रबल और उनका नेता चित्तौड़ का राणा माना जाता है अतः यदि उसे अपने अधीन कर लिया तो सभी राजपूत राजा उसकी अधीनता स्वीकार कर लेंगे।

7 जी. एन. शर्मा का मत है कि दोनों राजघरानों मे वंशानुगत प्रतिस्पर्द्धा थी जो कि बाबर के भारत आगमन के समय से बराबर चल रही थी।

8 शेलट ने एक मनोवैज्ञानिक कारण यह माना है कि जब तक अकबर मेवाड़ को अपनी अधीनता में नहीं ले लेता तब तक आमेर की हीनता की भावना दूर नही हो सकती थी क्योंकि आमेर का अकबर से जो वैवाहिक संबंध था, वह भारमल के लिए चाहे उपयोगी सिद्ध हुआ हो परन्तु जनता में उसकी प्रतिष्ठा कम ही हुई थी। अन्य राज्यों को भी अधीन करना आवश्यक था, अतः अकबर का ध्यान मेवाड की ओर गया।

अभियान का आरम्भ—उपर्युक्त कारणों से प्रेरित होकर अकबर ने मेवाड़ का अभियान आरम्भ किया। चूंकि यह अभियान काफी महत्वपूर्ण था अतः उसने व्यक्तिगत रूप से संघर्ष के समय उपस्थित रहना आवश्यक समझा। अकबर 1567 ई. मे चित्तौड़ की ओर रवाना हुआ। मार्ग मे उसने शिवपुर व कोटा के दुर्ग पर अधिकार किया तथा गागरोन होता हुआ मांडलगढ पहुँचा। वहाँ से रवाना हो, अकबर अक्टूबर 23, 1567 ई. को चित्तौड़ से 6 मील दूर नगरी नामक स्थान पर पहुंच गया।

उधर उदयसिंह को शक्तिसिंह द्वारा चित्तौड पर अकबर के आक्रमण के समाचार मिल चुके थे। अतः उदयसिंह ने अपने सामन्तो की युद्ध-परिषद् की बैठक बुलाई। युद्ध-परिषद् ने उदयसिंह को सपरिवार चित्तौड छोड़ने का आग्रह किया।[32] यह प्रस्ताव उदयसिंह के लिए आश्चर्यजनक था, व्यक्तिगत मान-सम्मान की परवाह न कर देश-भक्ति को सामने रखकर जयमल राठौड़ के नेतृत्व में चित्तौड-दुर्ग में आठ हजार सैनिक छोड़कर, वह राज्य की दक्षिणी पहाड़ियो मे 'राजपीपला' चला गया जहा राजा भेरवसिंह गोहिल ने उदयसिंह की मेजबानी की। यों उदयसिंह द्वारा चित्तौड़ छोड़ कर चले

32 वीर विनोद, भा. 2, पृ. 74-75

जाने को उचित नहीं माना है तथा इतिहासकारों ने उसके चरित्र पर अनेक आरोप लगाये हैं तथा उसे कायर व डरपोक कहकर सम्बोधित किया है।

क्या उदयसिंह कायर था ?—कुछ इतिहासकारों[33] ने उदयसिंह को कायर मानकर उसकी कटु निन्दा की है। टॉड का कहना है कि यह मेवाड़ का दुर्भाग्य था कि ऐसे समय में जब भारत पर सबसे योग्य व सर्वाधिक महत्वाकांक्षी बादशाह अकबर शासन कर रहा था, तब मेवाड़ पर साहस-हीन व कमजोर राणा उदयसिंह का शासन था। उदयसिंह में शासक का एक भी गुण नहीं था। उसमें न तो अपनी जातिगत वीरता थी और न कोई अन्य गुण ही। मेवाड़ के लिए यह अच्छा होता कि ऐतिहासिक राजाओं की सूची में उदयसिंह का नाम ही नहीं होता। स्मिथ का मत है कि, "शासक की प्रशासकीय कमजोरी के कारण अकबर की विजय सरल हो गई। उदयसिंह शानदार वंश का अयोग्य पुत्र प्रमाणित हुआ।" लॉरेन्स ने लिखा है कि, "अपनी स्वाधीनता के सबसे भयंकर खतरे के समय मेवाड़ की गद्दी पर एक ऐसा कायर व अयोग्य राजपूत शासक था जो मुगलों को रोकने में असफल रहा।" ओझा के शब्दों में, "उदयसिंह को अपने शेष सैनिकों के साथ युद्ध करते हुए प्राण दे देना चाहिए था।"

विपक्ष में तर्क—यों उपर्युक्त सभी विद्वानों ने उदयसिंह की कटु आलोचना की है और चित्तौड़ को छोड़कर चले जाने का कारण उसकी कायरता को माना है किन्तु आधुनिक इतिहासकार इस प्रकार की आलोचना को उचित नहीं मानते हैं—

1 जे एम. शेलिट का मत है कि युद्ध परिषद के निर्णय को मानकर राणा ने सामंतीय व्यवस्था के प्रति आदर की भावना का दृष्टिकोण अपनाया।

2 चित्तौड़-दुर्ग को त्यागने के बाद उदयसिंह ने सैनिक आक्रमण की नई पद्धति अपनाई जिसे गुरिल्ला-युद्ध पद्धति कहते हैं।

3 उदयसिंह ने व्यक्तिगत सम्मान की परवाह न कर देश-हित को ध्यान मे रखा। उसको बाद के इतिहासकारों ने समझने मे भूल की।

4 उस समय मेवाड़ के सामने गंभीर संकट था और ऐसे समय में

---

33 टॉड, जि. 1, पृ. 255; ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 422; वीरविनोद, भा. 2, पृ. 86; एस. आर. शर्मा, महाराणा प्रताप, पृ. 12; स्मिथ, अकबर दी ग्रेट मुग़ल, पृ. 85

शासक व सामंतों में मत-वैभिन्य का होना खतरे से पूर्ण था। अतः उदयसिंह ने युद्ध-परिषद की सलाह मानकर बुद्धिमानी का परिचय दिया।

5 स्मिथ का यह कथन कि 'उदयसिंह के चले जाने से अकबर की विजय सरल हो गई', निराधार है क्योंकि यह तथ्य स्पष्ट है कि जयमल के नेतृत्व मे किले की सेना ने अकबर का ऐसा कड़ा विरोध किया कि मुगलों को विजय कठिनता से मिली। अकबर को लंबे समय तक दुर्ग का घेरा डालना पड़ा। जयमल के गोली लगना, रसद-सामग्री का अभाव होने लगा तब सीमित साधनों से लंबे समय तक युद्ध करना संभव नही था। अतः दुर्ग के फाटक खोल दिये गये। उदयसिंह लंबे समय तक युद्ध जारी रख सकता था, अपने पुत्र प्रताप को युद्ध का नेतृत्व दे सकता था किन्तु सामन्तों ने मेड़ता से आये जयमल राठौड़ को नेतृत्व प्रदान किया जो सबसे अधिक योग्य व्यक्ति था।

6 जे. एम. शेलिट का मत है कि उदयसिंह की कायरता पर किसी भी फारसी इतिहासकार ने संकेत नही दिया है। बदायूनी जो निरन्तर राजपूतों की कमजोरी व उनकी निन्दा का वर्णन करता था उसने भी उदयसिंह के इस कार्य को कायरतापूर्ण नहीं बताया है।

7 अबुलफजल ने भी इसे कायरता नही मानकर यह बताया कि अकबर की उद्देश्य-पूर्ति में यह एक खतरा था। स्वयं अकबर भी इस तथ्य से परिचित था, इसलिये उसने उदयसिंह का पीछा करने के लिए सेना भेजी किन्तु उसे सफलता नही मिली।

8 जिन इतिहासकारो ने उदयसिंह की आलोचना की है उन्होने यह नहीं सोचा कि इस कार्य से मेवाड़ की युद्ध-नीति मे बड़ा परिवर्तन आया। उदयसिंह ने मेवाड की भौगोलिक स्थिति के अनुसार एक नई रण नीति 'गुरिल्ला युद्ध-नीति' का प्रचलन किया। इस नीति के अनुरूप यह तय किया गया कि जयमल व फत्ता के नेतृत्व मे राजपूती सेना मुगल सैनिकों का सामना करे और उदयसिंह स्वयं बाहर रह कर युद्ध करे व मुगलों की रसद व्यवस्था को भंग करने का प्रयास करें। अतः शेलिट का कहना है कि जो इतिहासकार उदयसिंह की आलोचना करते हैं, समझ नहीं पाये क्योंकि यह युद्ध का प्रारंभ मात्र था। प्रताप और राजसिंह के समय में जब यह युद्ध प्रणाली अपनी चरम सीमा पर पहुंच गई तो इतिहासकारों ने अपने मत में भी परिवर्तन किया।

9 उदयसिंह ने युद्ध परिषद के निर्णय को स्वीकार कर एक दूरदर्शितापूर्ण

कार्य किया और यह तो उसका दुर्भाग्य है कि वह राणा सांगा एवं प्रताप जैसी दो महान् विभूतियों के बीच कड़ी बना। फलतः उसकी प्रतिभा का महत्व कम हो गया और उसे इतिहास में उचित स्थान नहीं मिल सका।[34]

10 उदयसिंह ने वणवीर को हटा कर, विद्रोही सामन्तो का दमन कर तथा हरमाड़ा के युद्ध को लड़ कर अपनी सैनिक योग्यता का परिचय दे दिया था।

यों उदयसिंह पर अयोग्यता व कायरता का आरोप लगाना एक महान् ऐतिहासिक भूल होगी। उदयसिंह तो सम्मान का पात्र है जिसने अपने व्यक्तिगत मान, सम्मान को राष्ट्रहित की वेदी पर बलिदान कर दिया और युद्ध-परिषद की आज्ञा मान कर सामत-व्यवस्था के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया। मेवाड के युद्ध के सीमित साधनों को देखते हुये उदयसिंह द्वारा अपनाई गई नीति उसकी दूरदर्शिता को ही प्रकट करती है।

आक्रमण—इधर अकबर ने अक्टू. 23, 1567ई. को मांडलगढ़ होता हुआ चित्तौड़ को आ घेरा। अकबर ने अपने तोपखाने को विधिवत जमा कर के अच्छी तैयारी के साथ युद्ध की शुरूआत की तथा दुर्ग पर गोले बरसाये।[35] तीन महीने तक घेरा रहने पर भी कोई सफलता के चिन्ह नजर नहीं आये। जयमल व फत्ता के नेतृत्व में आठ हजार सैनिक अकबर की विशाल सेना का सफलतापूर्वक सामना करते रहे और मुगल सैनिको को दूर ही रखने का प्रयास कर रहे थे किन्तु जब अकबर बराबर सुरंगें बिछा कर सेना को आगे बढ़ा रहा था तब राजपूतों का आतंकित हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः राजपूतों ने संधि-वार्ता भी प्रारंभ की किन्तु अकबर द्वारा महाराणा के व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होने पर जोर देने के कारण यह वार्ता सफल नहीं हुई।[36] राजपूतों ने अब अंतिम सांस तक युद्ध करने का दृढ निश्चय कर दुर्ग की दीवारों व बुर्जों से शत्रु सेना पर गोली, पत्थरो एवं तीरो की बौछार करनी शुरू कर दी। इधर अकबर ने भी घेरे को और ज्यादा सुदृढ़ कर लिया। किले पर अधिकार करने के लिये सुरंग और साबात का निर्माण कराया।[37] दिसम्बर 17 को मुगलों

---

34 जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 62
35 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 466-67
36 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 77-78
37 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 467-68; तबकाते अकबरी, जि. 2, पृ. 344; मुन्तखब-उत-तवारीख, जि. 2, पृ. 106

ने दो विशाल सुरंगों में बारूद भर कर उन्हें उड़ा दिया जिस से दुर्ग का एक बुर्ज एवं दीवारें टूट गई किन्तु राजपूतों ने शीघ्र ही दीवारों की मरम्मत आदि कर दी और मुगल सैनिकों को पीछे की ओर खदेड़ दिया। इतना ही नहीं राजपूतों ने कई बार अकबर के प्राण संकट में डाल दिये थे। फरवरी 23, 1568 ई. को अर्द्धरात्रि में अकबर ने दुर्ग में व्यक्ति के रूप में कोई चलती चीज देखी और उसे अपना निशाना बना बंदूक दाग दी जिसके कारण जयमल राठौड़ के चोट लगी और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई।[38] परन्तु श्यामलदास व ओझा का मानना है कि उस वक्त उसकी मृत्यु नहीं हुई अपितु दूसरे दिन युद्ध करते समय हुई थी। "उसकी मृत्यु से राजपूतों का उत्साह टूट गया। युद्ध का निर्णय एक प्रकार से हो चुका था।" इस दुर्घटना से वहाँ खाद्य-सामग्री की कमी होने लगी और अब राजपूतों के लिये अधिक समय तक युद्ध जारी रखना कठिन होता जा रहा था। अतः फरवरी 24 की रात्रि को राजपूतो ने अंतिम युद्ध करने का निश्चय किया। दुर्ग की रक्षा का भार एवं सेना का नेतृत्व अब केलवा के 16 वर्षीय युवा सरदार फत्ता ने संभाला। उसी रात को कोई तीन सौ राजपूत वीरांगनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जौहर किया। दूसरे दिन प्रातः दुर्ग के दरवाजे खोल दिये गये और राजपूत वीर केसरिया बाना धारण कर घमासान युद्ध हेतु बाहर आ गये। तब एक घनघोर युद्ध के बाद चित्तौड़-दुर्ग पर अकबर का अधिकार हो गया। इस युद्ध मे आठ सहस्र राजपूत योद्धा काम आये तथा कई निरीह जनता के साथ निर्दयता का व्यवहार किया गया। अकबर तीन दिन वहाँ ठहरा और इस बीच उसने तीस हजार निर्दोष जन-साधारण का कत्ले आम कराया, कइयों को बंदी बनाया गया तथा कोई मंदिर, महल ऐसा नही था जिसे तोडा-फोड़ा नही गया हो।[39] अकबर का यह कत्ले-आम किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नही कहा जा सकता है। अकबर, जयमल राठौड़ और फत्ता की वीरता से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने आगरा लौटने के पश्चात् इन दोनों वीरों की मूर्तियां बनवा कर किले के बाहर देहली दरवाजे पर लगवा दी थी। तीन दिन की हत्या के पश्चात फरवरी 28 को अकबर ने चित्तौड़ से हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की जियारत हेतु अजमेर की पैदल यात्रा शुरू की। वह मांडल तक तो पैदल ही गया किन्तु वहाँ से सभी ने शेष मार्ग सवार हो कर तय किया

---

38 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 471

39 वही, पृ. 476; अमरकाव्य वंशावली (ह. प्र.) पत्रांक 28.

और अंतिम पड़ाव पैदल चल कर ही तय किया गया था।[40]

अकबर के उपर्युक्त कार्य (कत्लेग्राम) को लेकर विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। टॉड ने लिखा है कि जनसाधारण को मौत के घाट उतारने की संख्या कई गुनी है क्योंकि इस हत्याकांड में इतने अधिक सैनिक मारे गए थे कि उनकी जनेऊ का वजन ही 74½ मन था। आज भी राजस्थान में कई व्यापारी पत्रों पर 74½ का अंक लिखते है जिससे वह सील का काम करता है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि इन पत्रों को जो खोलेगा उसे चित्तौड में मरे हुओं का पाप लगेगा। किन्तु टॉड का मृतको के संबध में जो अनुमान है वह तर्क संगत नही लगता है। अबुलफजल ने अकबर के इस कार्य को उचित बताया है किन्तु आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि फजल ने अपने संरक्षक के अमानुषिक कृत्य पर पर्दा डालने का प्रयास किया है। कुछ भी हो यह कत्लेग्राम अकबर के चरित्र पर अमिट कलंक बन गया। स्मिथ का कहना है कि इस हत्याकांड के पीछे उसमें बदले की भावना थी क्योंकि दुर्ग लेने में उसको काफी संघर्ष करना पड़ा था। उसको अत्यधिक जन-धन की क्षति हुई थी, इसीलिये क्रोधित होकर उसने निरीह व्यक्तियों की हत्या करने की आज्ञा दी। जे. एम. शेलिट का मत है कि यह कार्य अकबर के चरित्र एवं उद्देश्य के अनुरूप ही था। टॉड के शब्दो मे अकबर ने अपने व्यवहार में अत्यधिक गँवारू क्रूरता दिखलाई। गोपीनाथ शर्मा का मत है कि इस अमानुषिक कार्य के पीछे अकबर का उद्देश्य राजस्थान के शासकों में भय उत्पन्न करना था ताकि अन्य शासक बिना किसी विशेष प्रयास के उसकी अधीनता स्वीकार कर लेंगे। इसमें उसे सफलता भी मिली किन्तु अकबर जैसे महान् शासक द्वारा इस प्रकार का हत्याकांड कराना उचित नहीं था। ओझा के मत में यह कलंक उस पर हमेशा के लिये अमिट रहेगा। यद्यपि किले पर अकबर का अधिकार हो गया था तथापि वह इससे सतुष्ट नहीं था क्योंकि मेवाड़ का महाराणा उदयसिंह उसके सामने नत मस्तक नहीं हुआ था और न ही वह उसको बंदी बना सका था।

यों अकबर का चित्तौड़ पर भले ही अधिकार हो गया हो किन्तु उसने मेवाड़ के आंतरिक भाग को जीतने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। अब उसका ध्यान रणथंभोर की ओर गया। इधर इस युद्ध के कुछ वर्षों बाद गुरुवार, फरवरी 28, 1572 ई. को उदयसिंह का गोगुन्दा में देहान्त हो

40 स्मिथ, अकबर दी ग्रेट मुग़ल, पृ. 96-97; वीरविनोद, भा. 2, पृ. 83

ने दो विशाल सुरंगों में बारूद भर कर उन्हें उड़ा दिया जिस से दुर्ग का एक बुर्ज एवं दीवारें टूट गई किन्तु राजपूतो ने शीघ्र ही दीवारों की मरम्मत आदि कर दी और मुगल सैनिकों को पीछे की ओर खदेड़ दिया। इतना ही नहीं राजपूतों ने कई बार अकबर के प्राण संकट में डाल दिये थे। फरवरी 23, 1568 ई. की अर्द्धरात्रि में अकबर ने दुर्ग में व्यक्ति के रूप में कोई चलती चीज देखी और उसे अपना निशाना बना बंदूक दाग दी जिसके कारण जयमल राठौड़ के चोट लगी और तत्काल उसकी मृत्यु हो गई।[38] परन्तु श्यामलदास व ओझा का मानना है कि उस वक्त उसकी मृत्यु नहीं हुई अपितु दूसरे दिन युद्ध करते समय हुई थी। "उसकी मृत्यु से राजपूतों का उत्साह टूट गया। युद्ध का निर्णय एक प्रकार से हो चुका था।" इस दुर्घटना से वहाँ खाद्य-सामग्री की कमी होने लगी और अब राजपूतो के लिये अधिक समय तक युद्ध जारी रखना कठिन होता जा रहा था। अतः फरवरी 24 की रात्रि को राजपूतो ने अंतिम युद्ध करने का निश्चय किया। दुर्ग की रक्षा का भार एवं सेना का नेतृत्व अब केलवा के 16 वर्षीय युवा सरदार फत्ता ने संभाला। उसी रात को कोई तीन सौ राजपूत वीरांगनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जोहर किया। दूसरे दिन प्रातः दुर्ग के दरवाजे खोल दिये गये और राजपूत वीर केसरिया बाना धारण कर घमासान युद्ध हेतु बाहर आ गये। तब एक घनघोर युद्ध के बाद चित्तौड़-दुर्ग पर अकबर का अधिकार हो गया। इस युद्ध मे आठ सहस्र राजपूत योद्धा काम आये तथा कई निरीह जनता के साथ निर्दयता का व्यवहार किया गया। अकबर तीन दिन वहाँ ठहरा और इस बीच उसने तीस हजार निर्दोष जन-साधारण का कत्ले आम कराया, कइयों को बंदी बनाया गया तथा कोई मंदिर, महल ऐसा नहीं था जिसे तोड़ा-फोड़ा नहीं गया हो।[39] अकबर का यह कत्लेआम किसी भी दृष्टि से न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। अकबर, जयमल राठौड़ और फत्ता की वीरता से इतना अधिक प्रभावित हुआ था कि उसने आगरा लौटने के पश्चात् इन दोनों वीरों की मूर्तियां बनवा कर किले के बाहर देहली दरवाजे पर लगवा दी थी। तीन दिन की हत्या के पश्चात फरवरी 28 को अकबर ने चित्तौड़ से हज़रत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह की जियारत हेतु अजमेर की पैदल यात्रा शुरू की। वह मांडल तक तो पैदल ही गया किन्तु वहाँ से सभी ने शेष मार्ग सवार हो कर तय किया

---

38 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 471

39 वही, पृ. 476; अमरकाव्य वंशावली (ह. प्र.) पत्रांक 28.

गये और अंत में संधि हो जाने से युद्ध समाप्त हुआ। संधि होने की परिस्थितियों को लेकर भी मत-भेद है। नैणसी का मानना है कि भगवन्तदास के माध्यम से अकबर और सुर्जन हाड़ा के बीच संधि हुई जिसके अनुसार दुर्ग अकबर को सौंप दिया गया और सुर्जन हाड़ा अपने पुत्रों सहित मुगल दरबार में उपस्थित हुआ। अबुलफजल और बदायूनी ने केवल इतना ही लिखा है कि घमासान युद्ध से भयभीत होकर सुर्जन हाड़ा ने अपने पुत्र दूदा और भोज को संधि-वार्ता के लिये अकबर के पास भेजा। इसके विपरीत वंशभास्कर, टॉड आदि का कहना है कि अकबर दुर्ग पर अधिकार न कर सका। मानसिंह के साथ गुप्त वेश में वह सुर्जन हाड़ा से मिला और इस मुलाकात में ही दोनों ही पक्षों में संधि हो गई। यह वर्णन कल्पना-प्रधान और असंगत लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बे समय तक घेरा पड़े रहने से सुर्जन हाड़ा को संधि करने के लिये विवश होना पड़ा। इस प्रकार संधि की शर्तों को लेकर के भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। फारसी इतिहासकारों ने कोई शर्तों का विवरण नहीं दिया है। कर्नल टॉड ने निम्नांकित शर्तों का उल्लेख किया है।[41]

1 बून्दी हाड़ाओं के लिये वही स्थान रहेगा जैसा मुगलों के लिये दिल्ली है।
2 बून्दी के शासक सम्राट के लिये डोला भेजने को किसी भी प्रकार बाध्य न होंगे।
3 उन पर जजिया नहीं लगाया जायेगा।
4 उनके घोड़ो को शाही दाग नही लगाया जायेगा।
5 वे दिल्ली के लाल किले तक नगाड़े बजा सकेंगे।
6 वे दीवाने आम में अस्त्र-शस्त्रों सहित आ सकेंगे।
7 उनकी स्त्रियां मीना बाजार मे नही जायेंगी।
8 उनको अटक पार करने के लिये बाध्य नहीं किया जायेगा।
9 उनको कभी किसी हिन्दू सेनाध्यक्ष के नेतृत्व में नही रखा जायेगा।
10 उनके पवित्र-स्थलों का सम्मान किया जायेगा।

टॉड ने इन शर्तों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि इनका वृत्तांत बून्दी नरेशों के कागजों से संकलित कर के दिया है और कहीं-कही चारण भाटों की ख्यातों ने इसको बढ़ाया है। टॉड द्वारा दी गई शर्तों को यदि आलोचनात्मक ढग से देखें तो कुछ शर्तों की संभावनायें कम ही प्रतीत होती हैं

41 टॉड, जि. 2, पृ. 383

गया तब सामंतों ने जगमाल के स्थान पर प्रताप को सिंहासनारूढ़ किया।

बून्दी-मुगल—बून्दी पर चूंकि हाड़ा वंश का आधिपत्य था, अतः इसे हाड़ौती-प्रदेश के नाम से भी जाना जाता है। इस वंश का शासन यहां करीब 14 वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति देवीसिंह हुआ था। उसने इस क्षेत्र मे मीणों को हटाकर अपना प्रभाव स्थापित किया। ये प्रारम्भ में मेवाड के अधीन थे। रणथंभोर का दुर्ग राणा सांगा ने अपने छोटे पुत्र विक्रमादित्य और उदयसिंह जो बून्दी के भानजे थे उन्हें अपने जीवन-काल में ही दे दिया और बून्दी के शासक को उनका संरक्षक नियुक्त किया। राणा सांगा की मृत्यु के उपरान्त इस दुर्ग के कारण मेवाड़ में गृह-कलह की स्थिति उत्पन्न हो गई। सांगा का देहान्त होने पर मेवाड़ में अव्यवस्था फैल गई और नाबालिग राणाओं का युग प्रारम्भ हुआ। परिणामस्वरूप रणथंभोर का दुर्ग मेवाड़ के हाथ से निकल कर मांडू के शासक, अफगान शेरशाह आदि के हाथो में होता हुआ अंततः हाड़ाओ के अधिकार मे आया।

अकबर के गद्दी पर बैठने के समय यहाँ का शासक सुर्जन हाड़ा था। उसी के प्रयासों से बून्दी के राज्य मे वृद्धि हुई। अकबर का ध्यान भी रणथंभोर की ओर लगा हुआ था। उसका विश्वास था कि राजस्थान पर विजय प्राप्त करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि चित्तौड़ एवं रणथंभोर पर अधिकार किया जाय। अतः 1558 ई. मे मुगल सेनाओं ने रणथंभोर पर अधिकार करने का प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। मथुरालाल शर्मा का मानना है कि अकबर ने यह सोचा कि रणथंभोर के दुर्ग को जीतना अधिक आसान होगा इसलिये अपनी गद्दी पर बैठने के दो वर्ष बाद ही उसने रणथंभोर लेने का प्रयास किया परन्तु जब सफलता नहीं मिली तो मुगल बादशाह ने चित्तौड़-विजय करने तक इसे अधिकृत करने का विचार त्याग दिया। और यो तब अगले दस वर्षों तक अकबर का ध्यान रणथंभोर की ओर नहीं गया। वह चित्तौड़-विजय के प्रयास में तो था ही अतः 1568 ई. में चित्तौड़ उसके अधिकार में आ गया। इस विजय का राजस्थान पर बहुत प्रभाव पड़ा। शॅलट ने तो यह मत प्रकट किया कि चित्तौड़ विजय ने अकबर के अजय होने का विचार सम्पूर्ण राजस्थान में व्याप्त कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में अकबर ने रणथंभोर पर फरवरी 8, 1569 ई. को आक्रमण किया। उसने दुर्ग को चारों ओर से घेर लिया और तब कोई डेढ़ मास तक डेरा डाले रखा। साबात का निर्माण किया और सुनियोजित योजना के अनुरूप गोले बरसाये

गये और अंत में संधि हो जाने से युद्ध समाप्त हुआ। संधि होने की परिस्थितियों को लेकर भी मत-भेद है। नैणसी का मानना है कि भगवन्तदास के माध्यम से अकबर और सुर्जन हाड़ा के बीच संधि हुई जिसके अनुसार दुर्ग अकबर को सौंप दिया गया और सुर्जन हाड़ा अपने पुत्रों सहित मुगल दरबार में उपस्थित हुआ। अबुलफजल और बदायूनी ने केवल इतना ही लिखा है कि घमासान युद्ध से भयभीत होकर सुर्जन हाड़ा ने अपने पुत्र दूदा और भोज को संधि-वार्ता के लिये अकबर के पास भेजा। इसके विपरीत वंशभास्कर, टॉड आदि का कहना है कि अकबर दुर्ग पर अधिकार न कर सका। मानसिंह के साथ गुप्त वेश में वह सुर्जन हाड़ा से मिला और इस मुलाकात में ही दोनों ही पक्षों में संधि हो गई। यह वर्णन कल्पना-प्रधान और असंगत लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लम्बे समय तक घेरा पड़े रहने से सुर्जन हाड़ा को संधि करने के लिये विवश होना पड़ा। इस प्रकार संधि की शर्तों को लेकर के भी इतिहासकार एक मत नहीं हैं। फारसी इतिहासकारों ने कोई शर्तों का विवरण नहीं दिया है। कर्नल टॉड ने निम्नांकित शर्तों का उल्लेख किया है।[41]

1 बून्दी हाड़ाओं के लिये वही स्थान रहेगा जैसा मुगलों के लिये दिल्ली है।
2 बून्दी के शासक सम्राट के लिये डोला भेजने को किसी भी प्रकार बाध्य न होंगे।
3 उन पर जजिया नहीं लगाया जायेगा।
4 उनके घोड़ों को शाही दाग नहीं लगाया जायेगा।
5 वे दिल्ली के लाल किले तक नगाड़े बजा सकेंगे।
6 वे दीवाने आम में अस्त्र-शस्त्रों सहित आ सकेंगे।
7 उनकी स्त्रियां मीना बाजार में नहीं जायेंगी।
8 उनको अटक पार करने के लिये बाध्य नहीं किया जायेगा।
9 उनको कभी किसी हिन्दू सेनाध्यक्ष के नेतृत्व में नहीं रखा जायेगा।
10 उनके पवित्र-स्थलों का सम्मान किया जायेगा।

टॉड ने इन शर्तों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि इनका वृत्तात बून्दी नरेशों के कागजों से संकलित कर के दिया है और कहीं-कहीं चारण भाटों की ख्यातों ने इसको बढ़ाया है। टॉड द्वारा दी गई शर्तों को यदि आलोचनात्मक ढंग से देखें तो कुछ शर्तों की संभावनायें कम ही प्रतीत होती हैं

---

41 टॉड, जि. 2, पृ. 383

जैसे जजिया कर अकबर ने पहले ही समाप्त कर दिया था। इसी तरह से घोड़े पर दाग लगाने की प्रथा 1574 ई. में शुरू हुई थी इसलिये अभी से उससे मुक्ति की कोई समस्या ही नहीं थी। इसी प्रकार अटक पार जाने की संभावनायें उस समय नहीं थी क्योंकि राज्य की सीमायें तब तक उतनी विस्तृत नहीं थी। अतः इन बातों का समावेश सुलह नामा में आना अस्वाभाविक और अवास्तविक लगता है। वंशभास्कर ने सात शर्तों का उल्लेख किया है। उसके अनुसार जजिया से मुक्ति संबंधी, हिन्दू शासक के अधीन नियुक्ति, बून्दी और दिल्ली का समान महत्व का उल्लेख नहीं है। मथुरालाल शर्मा, टॉड एवं वंशभास्कर में उल्लिखित शर्तें उचित प्रतीत होती हैं। भावी इतिहास की घटनाओं के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि हाड़ा शासक का सम्मान उन्हीं शर्तों के अनुसार किया गया था। नैणसी ने तो केवल दो शर्तों का उल्लेख किया है–एक सुर्जन हाड़ा ने राणाओं को शपथ उठाने के लिये कहा है तथा दूसरी राणा के विरुद्ध नहीं भेजा जायगा। शर्तों की बात को लेकर विवाद होते हुये भी यह निश्चित है कि अकबर ने बड़ी कठिनता से रणथंभोर पर विजय प्राप्त की थी। चूंकि वह अधिक समय तक रणथंभोर में उलझना नहीं चाहता था अतः उदारतापूर्वक शर्तें असंभव नहीं लगती हैं।

राजकवि चन्द्रशेखर के अनुसार संधि के बाद राव सुर्जन हाड़ा ने अपना राज्य अपने पुत्र दूदा को सौंप दिया और स्वयं बनारस की ओर चला गया जहाँ उसे अकबर की ओर से जागीर देदी गई थी। मेहतरखां को रणथंभोर का हाकिम नियुक्त किया और इसे आईनेअकबरी के अनुसार अजमेर सूबे में सरकार के रूप में मिला दिया। इस प्रकार 1569 ई. में दूसरा महत्वपूर्ण दुर्ग भी अकबर के अधिकार में आ गया। परिणामस्वरूप राजस्थान के अन्य क्षेत्र में भी अकबर का प्रभाव स्थापित हो गया जो 1570 ई. में हुये नागोर दरबार से स्पष्ट है।

नागोर दरबार–दक्षिण और पूर्वी राजस्थान पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेने के उपरान्त अकबर का ध्यान पश्चिमी राजस्थान की ओर गया। अतः जब नवम्बर 1570 ई. में वह नागोर गया तब इस क्षेत्र के सभी शासकों को वहाँ पर आमंत्रित किया। बीकानेर, मारवाड़, जैसलमेर आदि राज्यों के प्रतिनिधि यहाँ एकत्रित हुये जिन्होंने मुगल अधीनता स्वीकार कर वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। बीकानेर द्वारा अधीनता स्वीकार करने के कारण बताते हुये करणीसिंह ने सबसे प्रमुख कारण जोधपुर संघर्ष माना है। उसने लिखा है कि दोनों के बीच व्यक्तिगत ईर्ष्या, शौर्य प्रदर्शन की आकांक्षा

ग्रौर साम्राज्यवादी भावना से प्रभावित हो दोनों राज्यों में बराबर युद्ध हो रहे थे। मालदेव ने तो वहां के शासक को हटा सम्पूर्ण बीकानेर राज्य को अपने अधिकार में कर लिया था। शेरशाह की सहायता से वास्तविक शासक को पुनः राज्य प्राप्त हो सका। जोधपुर से निरन्तर युद्धों ने बीकानेर को कमजोर कर दिया ग्रौर वहां का शासक यह ग्रनुभव करने लग गया था कि मुगलों की ग्रधीनता को स्वीकार कर के ही अपने ग्रस्तित्व को बनाये रखा जा सकता है। बीकानेर के ग्रासपास ग्रनेक शक्तियों ने भी अपना प्रभाव जमा रखा था जैसे एक ग्रोर हाजीखां अफगान इसके लिये खतरा बना हुआ था, दूसरी ग्रोर अकबर की शक्ति बढ़ती जा रही थी। मेवाड़, ग्रामेर, मारवाड़ जैसे बड़े राज्य भी उनका सफलतापूर्वक सामना नहीं कर सके। इसलिये तत्कालीन शासक कल्याणमल ने मुगलों से मित्रता करना अपने लिये श्रेयस्कर समझा। करणीसिंह ने तो यह भी लिखा है कि खून खराबी ग्रौर युद्ध विरोधी नीति मुग़ल ग्रधीनता स्वीकार करने का एक कारण बना। वास्तव में राव कल्याणमल की सैनिक शक्ति निर्बल हो चली थी। उसकी भी मनोवृत्ति ग्राश्रित रहने में राज्य का हित समझती थी। ग्रतः मुग़लों का ग्राश्रय लेना उसने श्रेयस्कर समझा। इसी प्रकार बीकानेर के ग्रनिश्चित भविष्य का अंत कर उसने इसके विकसित होने के लिये मार्ग प्रशस्त किया ग्रौर यहीं से बीकानेर-मुग़लों के सीधे सम्पर्क प्रारंभ हुये जो 1615 ई. तक कतिपय ग्रपवादों को छोड़ कर मधुर बने रहे। परन्तु नागौर-दरबार से मरवाड़ में फूट डालने में अकबर सफल हुग्रा फिर भी यहां की समस्या का ग्रन्तिम समाधान न हो सका। तब यहां मुग़ल-विरोधी अभियान का नेतृत्व राव चन्द्रसेन ने प्रारम्भ किया।

चन्द्रसेन ग्रौर अकबर—मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा पुत्र चन्द्रसेन गद्दी पर बैठा। रेऊ के मत में नवम्बर 11, 1562 ई. को तथा ग्रोझा के ग्रनुसार गुरुवार, दिसम्बर 31, 1562 ई. को वह सिंहासनारूढ़ हुग्रा। जिस समय मालदेव की मृत्यु हुई उस समय चन्द्रसेन वहां उपस्थित नहीं था ग्रपितु उसे ग्रपनी जागीर सिवाणा से बुलाया गया। ग्रतः उसके गद्दी पर बैठने की दूसरी तारीख ही ग्रधिक विश्वसनीय है। मालदेव की नीतियों के कारण एक तरफ राजस्थान में ग्रनेकता का जन्म हुग्रा तो सांगा के समय में सम्पूर्ण राजस्थान एक संगठन में बद्ध था। मालदेव ने एकता के सूत्र में बांधने के बजाय ग्रापस में शत्रुता व फूट डालने की कोशिश की। उसने ग्रपने बड़े पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित करके, रेऊ के ग्रनुसार छठे व ग्रोझा के ग्रनुसार तीसरे पुत्र चन्द्रसेन को ग्रपने जीवनकाल में ही उत्तरा-

धिकारी घोषित कर दिया। मालदेव ने अपने बड़े पुत्र राम को राजद्रोह के अपराध मे अप्रसन्न होकर, मारवाड़ से निष्कासित कर दिया। तब मारवाड़ से निकल कर राम अपने श्वसुर मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह के पास चला गया, जहाँ उसे केलवा की जागीर प्रदान की गई और वह वहीं रहने लगा।[42] मालदेव ने अपने दूसरे पुत्र उदयसिंह को भी अपनी पटरानी स्वरूपदे के कहने पर उत्तराधिकार से वंचित कर फलोदी की जागीर दे दी।[43] इस प्रकार से मालदेव ने अपने जीवनकाल में ही राज्य के लिए विष-वृक्ष बो दिया।

गृह कलह—मालदेव की मृत्यु के उपरान्त 1562 ई. मे चन्द्रसेन मारवाड़ का शासक बना। तब चन्द्रसेन का उत्तराधिकारी होना उसके अन्य जेष्ठ भाइयों व राज्य के अधिकांश सरदारों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया। अस्तु चन्द्रसेन के गद्दी पर बैठने के तुरन्त बाद ही तीनों भाइयो—राम, रायमल और उदयसिंह ने विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। वे अब ऐसे अवसर की ताक मे थे जिसको लेकर चन्द्रसेन को गद्दी से हटा सकें। इस बीच चन्द्रसेन ने अपने एक सेवक की हत्या करवा दी। यह घटना विद्रोह की सूचक थी। इस पर मारवाड़ का एक प्रमुख सरदार पृथ्वीराज राठौड़ व अन्य उदयसिंह के समर्थक सरदार भड़क उठे। उन्होंने चन्द्रसेन के इस अनुचित कार्य का बदला लेनें के लिए संगठन का निर्माण किया व उदयसिंह को मारवाड़ आमन्त्रित किया। रेऊ के अनुसार चन्द्रसेन के तीनों भाई जो पहले से ही अप्रसन्न थे, यह सूचना पाते ही विद्रोह के लिए तैयार हो गये। इस घटना के साथ ही मारवाड़ मे गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया। राम ने सोजत में विद्रोह कर दिया। इसी प्रकार उदयसिंह ने गागाणी गाँव मे लूटमार प्रारम्भ कर दी तथा रायमल ने भी दुनाड़े मे उपद्रव खड़ा कर दिया। चन्द्रसेन ने भाइयो के विद्रोह को दबाने के लिए सेना भेजी। राम व रायमल ने डर कर चन्द्रसेन की सेना का मुकाबला नही किया। उदयसिंह ने लोहावट नामक ग्राम मे चन्द्रसेन से डटकर युद्ध किया। इसमें उदयसिंह की हार हुई तथा उसको घायल अवस्था मे युद्ध क्षेत्र से उसके समर्थक ले गये। चन्द्रसेन ने उदयसिंह को पराजित कर दिया था किन्तु उदयसिंह अभी पूर्णतया शक्ति-हीन नही हुआ था। फलोदी मे उसने पुनः शक्ति का संचय किया। जोधपुर

---

42 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 813; परम्परा, भा. 11, पृ. 42

43 ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, जि. 1, पृ. 332-33, पाद टिप्पणी सं. 3

राज्य की ख्यात के अनुसार जब चन्द्रसेन को इसकी जानकारी मिली तो वह सेना लेकर फलौदी की ओर बढ़ा। मारवाड़ के सरदारों ने जब गृह-कलह द्वारा मारवाड़ को बरबाद होते देखा तो उन्होंने मध्यस्थता कर दोनों भाइयों के बीच समझौता करवा दिया।

मुगलों का जोधपुर पर अधिकार—चन्द्रसेन अपने विरोधी भाइयों का दमन कर चुका था किन्तु उसके भाइयों की लालसा अभी तक चन्द्रसेन से मारवाड़ छीन लेने की थी। तब उनको यह भी विश्वास हो गया था कि आन्तरिक सहायता इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यथेष्ट नहीं होगी। इसके लिए चन्द्रसेन से अधिक शक्ति की सहायता होना आवश्यक था। अतः उसका ध्यान मुगल सहायता की ओर गया। जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार अपने सलाहकारों के कहने से राम ने चन्द्रसेन के विरुद्ध मुगल सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। इसी उद्देश्य से राम सन् 1564 ई. के लगभग मुगल सहायता द्वारा राज्य प्राप्त करने हेतु अकबर के दरबार में पहुंचा। यह घटना इस बात की द्योतक है कि राजस्थान में कितना नैतिक ह्रास हो गया था। परम्परागत उत्तराधिकार पद्धति का उल्लंघन राज्य के लिए कितना हानिकारक सिद्ध हो रहा था। बहु विवाह प्रथा के दुष्परिणाम राजस्थान के लिए अभिशाप साबित हो रहे थे। यों अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए राज्य-हित का ध्यान नहीं रखा जा रहा था। तब उधर अकबर को भी राजस्थान में अपना प्रभाव बढ़ाने का ईश्वर प्रदत्त अवसर प्राप्त हुआ। वह इस समय तक अपनी राजस्थान संबंधी नीति निर्धारित कर चुका था। साम्राज्य विस्तार के लिए मारवाड़ पर अधिकार करना अत्यावश्यक था क्योंकि मुगल सेना के लिए मालवा और गुजरात जाने का भी यही मार्ग था। रेऊ का मानना है कि "बादशाह ने भी अपने बाप का बदला लेने का अच्छा मौका मिला देख, मारवाड़-राज्य को पददलित करने के लिए राम की प्रार्थना स्वीकार कर ली। अस्तु, राम का पक्ष लेकर उसने हुसैन कुलीखां को सेना देकर जोधपुर भेजा। 'अकबरनामा' में लिखा है कि "चन्द्रसेन के गद्दी पर बैठने पर हुसैनकुलीबेग और बादशाही फौज में आ कर जोधपुर के किले को घेर लिया यह समाचार पाकर राव मालदेव का बड़ा पुत्र राम भी आकर शाही सेना के साथ हो गया। इस पर सेना के अमीरों ने उसे बादशाह के पास भेज दिया। वहाँ पहुंचने पर अकबर ने उसके साथ बड़ा अच्छा बर्ताव किया और मुईनुद्दीन अहमदखां आदि सरदारों के साथ, एक फौज देकर उसे भी हुसैनकुलीबेग की सहायता में जोधपुर भेज दिया। कुछ ही समय में शाही सेना ने किला विजय कर

लिया।" जोधपुर राज्य की ख्यात के अनुसार करीब दो वर्ष के दौरान तीन बार मुगल सेनाओं ने मारवाड़ पर आक्रमण किया। प्रथम दो अवसर पर संधि हो जाने से यह जोधपुर पर अधिकार करने की असमर्थता के कारण मुगल सेनायें वापस लौट गई परन्तु तीसरे आक्रमण में करीब 10 महिने घेरा रहने के बाद जब चन्द्रसेन की स्थिति गिरने लगी, दुर्ग में खाद्य-सामग्री का अभाव होने के कारण, चन्द्रसेन के दुर्ग छोड़ जाने के कारण, मुगल सेनायें जोधपुर पर अधिकार कर सकी। इसके विपरीत 'अकबरनामा' में जोधपुर आक्रमण केवल एक बार उसके (अकबर के) आठवें राज्य वर्ष में बताया है और कुछ महिनों के घेरे के बाद ही मुगल सेना जोधपुर को हस्तगत करने में सफल हुई। ओझा ने भी 'अकबरनामा' को अधिक विश्वसनीय माना है क्योंकि ओझा का यह मानना है कि उस समय की परिस्थिति को देखते हुए दस मास तक घेरा रहना असंभव प्रतीत होता है। साथ ही तीन बार शाही सेना का जोधपुर पर जाना भी कपोल कल्पित कल्पना ही है, क्योंकि फारसी तवारीखों से ख्यातों की पुष्टि नही होती। ओझा ने 'अकबरनामा' को ही प्रमाण मानते हुए लम्बे समय तक घेरा रहने की बात को स्वीकार किया। किन्तु 'अकबरनामा'[44] मे आक्रमण एवं विजय की कोई पृथक तिथियां नहीं दी है, केवल यही लिखा है कि कुछ समय में ही किला जीत लिया गया। वास्तव में यह 'कुछ समय' शब्द व्यास[45] के अनुसार अपने आप मे न तो स्पष्ट है न कोई अन्तिम सूचना देता है। "अतः इस शब्द को लेकर स्थानीय स्रोतो को झुठलाया नही जा सकता। स्थानीय स्रोतो मे आक्रमण तथा विजय की तिथियां पृथक-पृथक रूप से दी गई है, जिनके कि अनुसार मुगल सेना आठ महिने तक दुर्ग घेरे रही। पुनः 'राव चन्द्रसेन री बात' मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अन्न और जल का अभाव हो जाने से राव चन्द्रसेन को दुर्ग छोड़ने हेतु बाध्य होना पड़ा। अन्न और जल का अभाव कुछ ही समय मे नही हो सकता। अतः इस दृष्टि से भी आठ मास का समय स्वीकार करना उचित है।" कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही होगा कि चन्द्रसेन मुगल सेना का सामना नही कर सका। वह किला छोड़कर भाद्राजूण की ओर चला गया। इस प्रकार से जोधपुर भी मुगल प्रभाव मे आ गया। चन्द्रसेन राजधानी से विहीन होकर इधर-उधर घूमता रहा। आर्थिक दृष्टि से भी उसकी स्थिति काफी डांवाडोल हो गई थी। श्यामलदास के अनुसार 6 वर्षों

---

44 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 305

45 मागीलाल व्यास, जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ. 191

का निर्वासन काल अपने पूर्वजों द्वारा संचित रत्नों को बेचकर चलाया।

चन्द्रसेन का अकबर के पास जाना—चन्द्रसेन को अपना राज्य पुनः प्राप्त करने का अवसर 1570 ई. में मिला। जब अकबर ने हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की जियारत के लिए अजमेर की तरफ सितम्बर 9, को प्रस्थान किया तथा नवम्बर के प्रारम्भिक सप्ताह मे नागोर पहुचा। रामकरण आसोपा के अनुसार अकबर ने चन्द्रसेन को मुगल दरबार मे उपस्थित होने को निमंत्रण दिया किन्तु आसोपा ने निमन्त्रण के बारे मे कोई निश्चित आधार नही दिया। कुछ भी हो, चन्द्रसेन मुगल दरबार मे उपस्थित हुआ। चन्द्रसेन की तरह ही उदयसिंह व राम भी पैतृक राज्य प्राप्त करने के लिए अकबर के दरबार में उपस्थित थे। यों दरबार में उपस्थित होने पर चन्द्रसेन ने अनुभव किया कि अकबर आन्तरिक फूट डालकर अपने उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता है। ख्यातों के अनुसार अकबर द्वारा कटु व्यंग्य करने के कारण चन्द्रसेन मुगल दरबार छोड़कर चला गया। रेऊ का कहना है कि चन्द्रसेन अकबर के दरबार में उसका आश्रय प्राप्त करने नही अपितु मुगल रंग-ढग का निरीक्षण करने गया था। बादशाह की हार्दिक इच्छा थी कि चन्द्रसेन उसकी नाम मात्र की अधीनता स्वीकार करले तो जोधपुर का राज्य उसे लौटा दिया जायेगा परन्तु अपनी स्वाधीन प्रवृत्ति के कारण वह किसी भी तरह से अकबर की अधीनता स्वीकार करने को उद्यत नही हुआ। तब वह दरबार छोड़कर भाद्राजूण को ओर लौट गया। ख्यातो और रेऊ के कथन को कई इतिहासकार ठीक नही मानते हैं क्योंकि 'अकबरनामा'[46] में भी लिखा है कि दरबार मे उपस्थित होने पर चन्द्रसेन का उचित आदर-सत्कार किया गया था। अतः अनादर और व्यंग करने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। फारसी स्रोतों से तो यह भी ज्ञात होता है कि नागोर में आकर चन्द्रसेन ने अकबर की अधीनता स्वीकार करली। किन्तु फारसी-ग्रन्थो के इस तथ्य में सत्यता नज़र नही आती है। क्योंकि यदि उसने बादशाह की अधीनता स्वीकार कर ली तो फिर उसे जोधपुर मिल जाना चाहिए था किन्तु इसके विपरीत उसे तो पुनः भाद्राजूण लौटना पड़ा और यही रहते हुए उसने मुगलों के विरुद्ध सैन्य सगठन करना प्रारम्भ कर दिया था। चन्द्रसेन ने यदि अपनी स्वाधीन प्रकृति के कारण अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की तो उसे अपने पुत्र रायसिंह को वहां (नागोर) छोड़कर जाने की ही क्या आवश्यकता थी? साथ ही यह प्रश्न भी

---

46 अकबरनामा, जि. 2, पृ. 518; मआसिर-उल-उमरा (हिन्दी) पृ. 452

उठता है कि वह अकबर के पास अधीनता स्वीकार करने नहीं गया तो फिर उसका क्या उद्देश्य हो सकता है ? व्यास के अनुसार "ऐसी सम्भावना प्रतीत होती है कि वह समान स्वतन्त्र राजा की हैसियत से अपने दुर्ग की पुन: प्राप्ति के लिए अपने अधिकार का औचित्य प्रकट करने गया होगा। लेकिन अकबर ने उसे अधीनता स्वीकार करने हेतु कहा होगा इस पर वह सम्भवतः बिना कोई उत्तर दिए अपने पुत्र को वहीं छोड़कर चला आया। पुत्र को इसलिए छोड़ा ताकि बादशाह को उस पर कोई अन्य सन्देह न हो और वहां से लौटते ही उसने अपनी शक्ति को संगठित करने का प्रयास आरम्भ कर दिया।" चन्द्रसेन के मुगल दरबार से जाने के अन्य कारण भी हो सकते हैं— सम्भवतया चन्द्रसेन का बड़ा भाई तब मुगल दरबार में उपस्थित था, तथा उसने अकबर का समर्थन प्राप्त कर लिया हो जिससे चन्द्रसेन के लिए समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं रहा हो। अतः अपने पुत्र को मुगल राजनीति पर दृष्टि रखने के लिए मुगल दरबार में छोड़, स्वयं अपनी सैनिक शक्ति को मजबूत करने हेतु चला गया हो। चन्द्रसेन ने यह अनुभव किया हो कि अगर उसकी सैनिक शक्ति बढ सके तो उदयसिंह के स्थान पर अकबर का झुकाव उसकी ओर अधिक हो सकता है। भार्गव के अनुसार ऐसा सम्भव लगता है कि उदयसिंह ने चन्द्रसेन के विरुद्ध एक ऐसा वातावरण बना लिया था जिसके कारण उसके लिए अकबर से वार्ता करना असम्भव हो गया। तब चन्द्रसेन को यह विश्वास हो गया था कि अधीनता स्वीकार करने पर भी जोधपुर पर उसका अधिकार होना सम्भव नही होगा। इसलिए उसने नागोर में उपस्थित रहना उचित न समझा हो। अकबर की साम्राज्यवादी नीति भी उस समय प्रबल होती जा रही थी। मारवाड़ के नागोर, मेड़ता आदि दुर्गों पर उसका अधिकार हो गया था। ये दोनों दुर्ग मारवाड़ में प्रवेश द्वार के रूप मे माने जाते थे। अतः इन्ही के साथ-साथ जोधपुर दुर्ग पर भी अकबर अपना अधिकार जमाये रखना चाहता था। राजस्थान मे अपना प्रभाव स्थापित रखने के उद्देश्य से उसने राजपूत शासकों में राज्य का विभाजन करना स्वीकार कर लिया जिससे ये शासक आपस में लड़ते रहें, तथा अकबर की सार्वभौमिकता स्वीकार करते रहें। अतः वह मारवाड मे उदयसिंह व चन्द्रसेन दोनों को बनाये रखना चाहता था। अभी उसे गुजरात, मालवा, सिरोही आदि प्रदेशों पर अधिकार करना था, इसलिए जोधपुर का दुर्ग अपने पास रखना और भी आवश्यक समझा गया था। इन परिस्थितियों में मारवाड का सम्पूर्ण राज्य चन्द्रसेन को मिलना असम्भव था। उदयसिंह का प्रभाव भी मुगल दरबार में बढ़ता ही जा रहा था। इसलिए चन्द्रसेन को मुगलों की अधीनता स्वीकार

करने मे तब कोई लाभ नजर नहीं आया। अतः वह अपने सैनिक बल पर विश्वास कर, जोधपुर प्राप्त करने के प्रयास करता रहा।

शाही सेना की चढ़ाई—1570 ई. में नागोर से रवाना होने से पूर्व अकबर ने चन्द्रसेन के विरुद्ध सेनायें भेजी परन्तु उससे उसे (अकबर) विशेष लाभ नहीं हुआ। फिर भी चन्द्रसेन मुगल सेना का सामना करने में असमर्थ रहा। उसने भाद्राजूण को छोड़कर सिवाना को अपना केन्द्र बना लिया किन्तु अकबर के आदेश पर सिवाना को भी मुगल सेना ने घेर लिया। तब विवश होकर चन्द्रसेन ने सिवाना भी छोड़कर पीपलोद व काणूजा पहाड़ियों की शरण ली। यहां रहते हुए उसने धन प्राप्ति के लिए आसपास के स्थानों में लूटमार की व आसरलाई व जोधपुर के धनिकों पर दबाव डालकर उनसे धन प्राप्त किया। इन कार्यों से मारवाड़ की जनता उससे अप्रसन्न हो गई।

1570 से 1574 ई. तक अकबर अन्य क्षेत्रों मे व्यस्त था तथा उसका ध्यान मारवाड़ की ओर नही गया। अकबर की व्यस्तता का लाभ उठाकर चन्द्रसेन ने मारवाड़ के मुगल प्रदेशों पर छुटपुट आक्रमण करना शुरू कर दिया। चन्द्रसेन ने भाद्राजूण पर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाने लगा। तब इधर मुगल सेना बराबर उसे घेरने का प्रयास करती रही। 1574 ई. से 1581 ई. तक निरन्तर उसके विरुद्ध मुगल सेनायें भेजी जाती रही। 1574 ई. में बीकानेर के शासक रायसिंह के नेतृत्व मे सेना भेजी गई। तब इसमें उसे कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई। अतः अकबर ने उसी वर्ष जलालखां के नेतृत्व में पुनः सेना भिजवाई। इस सेना ने उसका बहुत पीछा किया किन्तु केवल सोजत को लेने के अतिरिक्त चन्द्रसेन को पकड़ने या निष्कासित करने में उसे सफलता नहीं मिली। इसलिए 1576-77 ई. में शाहबाजखां के नेतृत्व मे सेनाये भेजी गई। इधर चन्द्रसेन की आर्थिक दशा भी दिन-प्रति-दिन खराब होती जा रही थी। उसकी सैनिक शक्ति भी कमजोर हो गई थी। ऐसा माना जाता है कि चन्द्रसेन मुगल सेना का मुकाबला करने में अपने को असमर्थ पाकर मारवाड़ छोड़, मेवाड़ में डूंगरपुर व बांसवाड़ा के पहाड़ों मे चला गया और वहां गृह विहीन घुमक्कड़ की भांति वह घूमता रहा। राजस्थानी साधन यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रताप व चन्द्रसेन ने मिलकर अकबर के विरुद्ध सैनिक अभियानों की योजना बनाई। इसी योजना के अन्तर्गत वह पुष्कर की ओर बढा और वहां के आसपास के प्रदेशो को लूटना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु अजमेर के मुगल सूबेदार ने उसके सब ही प्रयासों को बेकार कर दिया। इधर सम्राट ने राजस्थान में स्थित अपने कई सरदारो को चन्द्रसेन के विरुद्ध कार्यवाही करने के आदेश दिये।

यों जब इन्होंने चन्द्रसेन का पीछा किया तो वह सारण के पहाड़ों में चला गया, जहां जनवरी 11, 1581 ई. को उसकी मृत्यु हो गई।

मूल्यांकन—चन्द्रसेन को रेऊ ने राजस्थान का वीर और तपस्वी पुरुष माना है। उसका यह भी कहना है कि चन्द्रसेन, प्रताप का पथ-प्रदर्शक था। उसका स्थान इतिहास में प्रताप से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। जब राजस्थान के अधिकांश राजपूत एक के बाद एक अकबर की अधीनता तथा उससे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करते जा रहे थे उस समय राजस्थान की कोई भी शक्ति ऐसी नहीं थी जो अकबर के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सके। चन्द्रसेन के सामने तो प्रताप से भी अधिक जटिल परिस्थितियाँ थीं। उसे अपने भाइयों का विरोध भी सहना पड़ा था। अतः यों एक ओर से भाइयों का विरोध तथा दूसरी ओर मुगल शक्ति से सामना करना पड़ा। यदि वह चाहता तो राजस्थान के अन्य शासकों के समान वह भी मुगलों से मित्रता स्थापित कर जोधपुर का राज्य प्राप्त कर सकता था। किन्तु उसने अपने सम्मान व स्वतन्त्रता को अधिक महत्व देकर मुगलों का विरोध करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। चन्द्रसेन ने यह विरोध बिना किसी राज्य व राजधानी के होते हुए किया तथा मुगल शक्ति उसे दबाने में सफल नहीं हो सकी। उसके इस विरोध ने प्रताप को प्रेरणा दी। इसी से प्रेरित होकर प्रताप ने अपना स्वतन्त्रता संघर्ष जारी रखा। रेऊ का यह भी कहना है कि कठिन परिस्थितियां होते हुए भी चन्द्रसेन ने अकबर की अधीनता स्वीकार करने के बारे में कभी नहीं सोचा। परन्तु प्रताप अपनी विपरीत परिस्थितियों को देख कर एक बार विचलित हो गया और उसने अधीनता स्वीकार करने का संदेश तक भेज दिया। सन्देश भिजवाने की घटना कहां तक सत्य हो सकती है, इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में पर्याप्त मतभेद है। अधिकांश इतिहासकार इसे कपोल कल्पित मानते हैं। ऐसा कोई अवसर नहीं आया जब प्रताप ने अधीनता स्वीकार करने की सोची हो। इस आधार पर रेऊ द्वारा चन्द्रसेन को प्रताप से अधिक स्वतन्त्रता प्रेमी बताना गोपीनाथ शर्मा आदि इतिहासकारों ने ठीक नहीं माना। शर्मा ने इन दोनों ही वीरों की तुलना करने में कोई आपत्ति प्रकट नहीं की है, किन्तु दोनों की गतिविधियों में जो अन्तर है उसे स्पष्टतः स्वीकार किया है जैसे चन्द्रसेन मुगलों से कहीं पर भी खुला युद्ध नहीं कर सका, किन्तु हल्दी घाटी के युद्ध में सुरक्षित रूप से निकलकर मुगल-मेवाड़ संघर्ष को नया रूप देने में प्रताप ने एक युद्ध कौशल का परिचय दिया था। प्रताप ने जन-जागृति द्वारा मेवाड़ में सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयास [illegible] नई राजधानी चावंड स्थापित की किन्तु चन्द्रसेन ने मारवाड़ में

प्रवृत्ति से जन समुदाय को अप्रसन्न कर दिया। तब यह मारवाड़ छोड़कर सिरोही, मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा आदि स्थानों पर गया किन्तु प्रताप ने कभी भी मेवाड़ नहीं छोड़ा। साथ ही चन्द्रसेन को सदैव धन-जन की कमी रही किन्तु प्रताप को नहीं रही। इतना ही नहीं चन्द्रसेन तो फिर भी अकबर के पास नागोर दरबार में उपस्थित हुआ किन्तु प्रताप कभी नहीं गया। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है चन्द्रसेन का मुगल-विरोध उसके साथ समाप्त हो जाता है, परन्तु प्रताप के बाद उसका उत्तराधिकारी अमरसिंह एक लम्बे काल तक जहाँगीर का विरोध करता रहता है। इसी परम्परा के फलस्वरूप महाराणा राजसिंह औरंगजेब से टक्कर लेकर अपने वंश गौरव को परिवर्द्धित करता है। अगर मारवाड़ मे दुर्गादास इस परम्परा को निभाता है तो उसमें महाराणा राजसिंह का अधिक योगदान है। फिर भी इसमें कोई संदेह नही कि चन्द्रसेन ने मुगल विरोधी परम्परा प्रारम्भ की उसका प्रताप ने अनुकरण किया। यहाँ तक भी सम्भव है कि दोनों ने मिलकर अपनी मुगल विरोधी नीति का निर्माण कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयास किया हो। राव चन्द्र-सेन अन्तिम राठौड़ शासक था जिसने क्षत्रियत्व की आन को कायम रखते हुए अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। उसकी मृत्यु के साथ ही राठौड़ों की स्वाधीनता भी समाप्त हो गई।

प्रताप व अकबर

फरवरी 1572 ई. में उदयसिंह की गोगुन्दा में मृत्यु हो गई। उसने प्रताप के अधिकारों की अवहेलना कर अपने दूसरे पुत्र जगमाल को अपना उत्तरा-धिकारी घोषित कर दिया था, क्योंकि जगमाल की माता भटियाणी पर उसकी विशेष कृपा थी। अतः उदयसिंह की मृत्यु के बाद जगमाल को राजगद्दी पर भी बैठा दिया था, किन्तु यह स्थिति अधिक देर तक न रही। जालोर के अखयराज व ग्वालियर के रामप्रसाद ने इसका विरोध किया। तब रावत कृष्णदास व रावत सांगा ने अन्य प्रमुख सामन्त-सरदारों की सहमति से प्रताप को गद्दी पर बिठाने का निर्णय कर, उदयसिंह की दाह-क्रिया से लौटते ही फरवरी 28, 1572 ई. को प्रताप को गोगुन्दा में ही मेवाड़ की राजगद्दी पर बिठाया।[47] इससे क्रुद्ध हो जगमाल मेवाड़ छोड़कर चला गया। अजमेर के सूबेदार के प्रयत्नों से उसे अकबर ने पहले जहाजपुर का परगना और फिर सिरोही का आधा राज्य प्रदान किया। "परन्तु दुर्भाग्य ने जगमाल का वहाँ

---

47 रावल राणाजी री वात, पत्रांक 102

प्रवृत्ति से जन समुदाय को अप्रसन्न कर दिया। तब वह मारवाड़ छोड़कर सिरोही, मेवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा आदि स्थानों पर गया किन्तु प्रताप ने कभी भी मेवाड नही छोड़ा। साथ ही चन्द्रसेन को सदैव धन-जन की कमी रही किन्तु प्रताप को नहीं रही। इतना ही नहीं चन्द्रसेन तो फिर भी अकबर के पास नागोर दरबार में उपस्थित हुआ किन्तु प्रताप कभी नहीं गया। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है चन्द्रसेन का मुगल-विरोध उसके साथ समाप्त हो जाता है, परन्तु प्रताप के बाद उसका उत्तराधिकारी अमरसिंह एक लम्बे काल तक जहाँगीर का विरोध करता रहता है। इसी परम्परा के फलस्वरूप महाराणा राजसिंह औरंगजेब से टक्कर लेकर अपने वंश गौरव को परिवर्द्धित करता है। अगर मारवाड़ मे दुर्गादास इस परम्परा को निभाता है तो उसमें महाराणा राजसिंह का अधिक योगदान है। फिर भी इसमें कोई संदेह नही कि चन्द्रसेन ने मुगल विरोधी परम्परा प्रारम्भ की उसका प्रताप ने अनुकरण किया। यहाँ तक भी सम्भव है कि दोनों ने मिलकर अपनी मुगल विरोधी नीति का निर्माण कर उसे क्रियान्वित करने का प्रयास किया हो। राव चन्द्रसेन अन्तिम राठौड शासक था जिसने क्षत्रियत्व की आन को कायम रखते हुए अकबर की अधीनता स्वीकार नही की। उसकी मृत्यु के साथ ही राठौड़ों की स्वाधीनता भी समाप्त हो गई।

प्रताप व अकबर

फरवरी 1572 ई. में उदयसिंह की गोगुन्दा में मृत्यु हो गई। उसने प्रताप के अधिकारों की अवहेलना कर अपने दूसरे पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था, क्योंकि जगमाल की माता भटियाणी पर उसकी विशेष कृपा थी। अतः उदयसिंह की मृत्यु के बाद जगमाल को राजगद्दी पर भी बैठा दिया था, किन्तु यह स्थिति अधिक देर तक न रही। जालोर के अखयराज व ग्वालियर के रामप्रसाद ने इसका विरोध किया। तब रावत कृष्णदास व रावत सांगा ने अन्य प्रमुख सामन्त-सरदारों की सहमति से प्रताप को गद्दी पर बिठाने का निर्णय कर, उदयसिंह की दाह-क्रिया से लौटते ही फरवरी 28, 1572 ई. को प्रताप को गोगुन्दा में ही मेवाड की राजगद्दी पर बिठाया।[47] इससे क्रुद्ध हो जगमाल मेवाड़ छोड़कर चला गया। अजमेर के सूबेदार के प्रयत्नों से उसे अकबर ने पहले जहाजपुर का परगना और फिर सिरोही का आधा राज्य प्रदान किया। "परन्तु दुर्भाग्य ने जगमाल का वहाँ

---

47 रावल राणाजी री बात, पत्रांक 102

भी साथ नहीं छोड़ा और अक्टूबर 17, 1583 ई. को हुए दताणी के युद्ध में वह काम आया।"[48]

मेवाड़ की दशा—जब प्रताप गद्दी पर बैठा उस समय मेवाड़ में कुछ भी नहीं बचा था। आर्थिक एवं सामाजिक जीवन नष्ट हो गया था, व्यापार एवं उद्योग धंधे समाप्त-से हो गये थे। प्रशासनिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त थी। मेवाड़ का उपजाऊ प्रदेश मुगलों के पास था। चित्तौड़-पतन के बाद उदयसिंह आर्थिक स्थिति में अधिक सुधार भी नहीं कर पाया था। सभी महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग अवरुद्ध थे। ऐसी कठिन परिस्थितियों मे प्रताप मेवाड का महाराणा बना। उस समय उसकी वय 21 वर्ष के लगभग थी। मेवाड़ मे इस समय ग्वालियर और सिरोही के शासक आश्रय पा रहे थे तथा मेवाड़ को छोड़कर शेष राजस्थान के शासको ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और कई एक ने तो मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे। इन परिस्थितियों मे मुगलों से युद्ध अवश्यंभावी था। अकबर एक महत्वाकांक्षी शासक था। उत्तरी भारतवर्ष में मेवाड़, जिसका क्षेत्रफल भले ही कम हो किन्तु एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में उसका महत्व था, अकबर अपने अधीन करना चाहता था किन्तु वह यह भी जानता था कि मेवाड पर एकाएक विजय प्राप्त करना भी आसान नहीं है। यों देखा जाय तो अकबर की साम्राज्यवादी लिप्सा में मेवाड़ के स्वतन्त्र अस्तित्व का कोई स्थान नही था। तत्कालीन सर्व-शक्तिमान शासक के लिए तो मेवाड़की स्वतन्त्रता वस्तुत: एक बहुत बड़ी चुनौती थी। ऐसे समय में महाराणा प्रताप के सामने दो ही मार्ग थे या तो वह अन्य राज्यों के अनुरूप अकबर की अधीनता स्वीकार कर अकबरी साम्राज्य में उच्च ओहदा प्राप्त करे अथवा संघर्ष के लिए तैयार रहे। दूसरा मार्ग कटकमय था। परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल थी। परन्तु इन सब विपरीत परिस्थितियों के उपरान्त महाराणा के सामने स्पष्ट आदर्श था। प्रताप को स्वतन्त्रता प्रिय थी। इसकी रक्षा के लिए वह सब कुछ बलिदान करने को तत्पर था। इस उच्च आदर्श से प्रेरित हो प्रताप ने दूसरा विकल्प ही ग्रहण किया।

यों अकबर और प्रताप का संघर्ष, साम्राज्यलिप्सा और स्वातन्त्र्य-प्रियता के बीच का संघर्ष था। प्रताप ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मेवाड़ मे एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उसने राज्य के दो प्रमुख आधार स्तम्भो—सामंतों और भीलों को एक सूत्र में संगठित किया। गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार "प्रताप प्रथम शासक था जिसने भीलों के महत्व को समझा तथा

48 रघुबीरसिंह, महाराणा प्रताप पृ. 16

भील-राजपूत शासन व्यवस्था की नींव डाली।" प्रताप ने संघर्ष की तैयारी हेतु गोगुन्दा की बजाय कुंभलगढ़ को अपनी राजधानी बनाया। राजस्थानी साधनों के अनुसार प्रताप ने जब अपने सिंहासनारूढ़ होने का उत्सव मनाया तब मारवाड़ का चन्द्रसेन भी उस समय कुंभलगढ़ में उपस्थित था। इस घटना से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही प्रताप ने अपने सीमित साधनों का अधिक से अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से राजस्थान की अन्य शक्तियों से संगठन वार्ता शुरु कर दी। तब राजस्थान में चन्द्रसेन मुगल विरोध का प्रतीक था और कुंभलगढ़ मे उसकी उपस्थिति, राठौड़-सिसोदिया गठबंधन का एक कारण बन सकती थी तथा दोनों ही जातियों का संगठन मुगलों के लिए काफी कठिनाई उत्पन्न कर सकता था। दोनों के बीच जो वार्ता हुई उसका हमे कोई वर्णन नहीं मिलता है। परन्तु बाद की घटनाओं से ऐसा लगता है कि दोनों ने मुगलों का विरोध करने का निश्चय किया तथा एक दूसरे को सहायता देने का आश्वासन भी दिया।

उधर अकबर की भी मान्यता थी कि मेवाड़ की समस्त अस्त-व्यस्त स्थिति के उपरान्त भी प्रताप से युद्ध करना आसान नहीं, अत: अकबर ने वार्तालाप द्वारा प्रताप को अधीनता स्वीकार कराने का प्रयास किया। 1572 ई. से 76 ई. के बीच एक के बाद एक करके चार शिष्ट मण्डल प्रताप के पास इसी उद्देश्य से भेजे। महाराणा जानता था कि वार्तालाप से कोई हल नहीं निकलने वाला है, परन्तु भावी संघर्ष की तैयारियों के लिए आवश्यक समय प्राप्त किया जा सकता है। अत: बातचीत के द्वार अपनी ओर से बन्द नहीं किए। वास्तव मे अपने व्यवहार से महान् कूटनीतिज्ञ होने का उसने परिचय दिया। अकबर ने प्रताप से संधि कर अधीनता स्वीकार कर लेने हेतु निम्न प्रकार से शिष्ट मंडल भेजे।

शिष्ट मण्डल के प्रयास—अगस्त 1572 ई. में अकबर ने जलालखां को वार्ता के लिए मेवाड़ भेजा।[49] जलाल खा बुद्धिमान व वाक्पटु दरबारी था। प्रताप ने भी उसका स्वागत किया परन्तु उसे असफल ही लौटना पड़ा। यों अपने प्रथम प्रयास के अनुकूल परिणाम न देख अकबर ने इस कार्य के लिए राजस्थानी सामन्तों मे से किसी को भेजने की सोची। इस नीति के पीछे अकबर का दोहरा उद्देश्य हो सकता था—उसका मानना था कि सजातीय होने से उनमे घनिष्ठता की भावना हो सकती है और बातचीत संभव हो सकती है। वार्ता असफल हो जाने पर प्रताप विरोधी भावना राजपूत शासकों

49 तबकाते-अकबरी, जि. 2, पृ. 372-73, 375

में प्रज्वलित हो जावेगी जिसकी अकबर को आवश्यकता थी। इसलिए अकबर ने 1573 ई. मे आमेर के राजकुमार मानसिंह को प्रताप से संधि वार्ता के लिए भेजा। मानसिंह अप्रेल 1573 में गुजरात की ओर से होता हुआ डूंगरपुर आया; उसने पहले उदयपुर व डूंगरपुर के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को तोडने की चेष्टा की। डूंगरपुर का रावल आसकरण सिसोदिया मुगलो का विरोधी था। अतः मानसिंह ने डूंगरपुर रावल को मुगल अधीनता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया किन्तु रावल आसकरण ने मुगल सेना का सामना करने का निश्चय किया। शनिवार, अप्रेल 18 को बीलपण में युद्ध हुआ। जब रावल को हार निश्चित दिखाई देने लगी तो संधि स्वीकार करने की अपेक्षा पहाड़ों की शरण लेना उपयुक्त समझा।

डूंगरपुर से रवाना हो मानसिंह जून 1573 में मेवाड़ की ओर बढ़ा और महाराणा प्रताप से भेंट की। 'अकबरनामा'[50] के अनुसार गोगुन्दा में मानसिंह के पहुँचने पर महाराणा प्रताप ने राजमहलों के द्वार पर उसका स्वागत किया व अकबर द्वारा भेजी गई खिल्लत धारण की तथा मानसिंह को अतिथि के रूप मे महल में ले गया। जब मानसिंह ने प्रताप से दरबार में उपस्थित होने को कहा तो प्रताप ने यह बहाना किया कि उसके हितैषी अभी उसे ऐसा नही करने देंगे परन्तु यह वादा किया कि वह शीघ्र ही उपस्थित होगा। परन्तु मानसिंह अपने उद्देश्य मे सफल नही हुआ। *श्यामलदास*, ओझा एवं श्रीराम शर्मा 'अकबरनामा' के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं। खिल्लत पहिनने की बात या तो मानसिंह ने अपना महत्व बताने के लिए बादशाह से कह दी या फजल ने अकबर का महत्व बताने के लिये लिख दी हो। सर्व प्रथम 1615 ई० मे जहागीर के शासनकाल मे परिस्थितिवश महाराणा अमरसिंह ने खिल्लत धारण की थी।

मानसिंह की महाराणा से भेंट को लेकर राजस्थानी स्रोत विभिन्न प्रकार का वर्णन करते हैं—'अमर काव्य वशावली,' राजरत्नाकर, 'रावल राणा जी री बात' के अनुसार मानसिंह के स्वागत मे आयोजित भोजन मे महाराणा प्रताप सम्मिलित नही हुआ था। अतः मानसिंह ने इसको अपना अपमान समझा और बिना भोजन किये ही मेवाड़ से रवाना हो गया। 'राजप्रशस्ति' और 'नैणसी री ख्यात' में भी इतना अवश्य मिलता है कि खाना खाते समय प्रताप और मानसिंह में मनोमालिन्य हो गया था। ओझा व श्रीराम शर्मा ने भी इस मत का प्रतिपादन किया है परन्तु गोपीनाथ शर्मा ने इस मत का

---

50 अकबरनामा, जि. 3, पृ. 57

समर्थन नहीं किया है। उसका कहना है कि उक्त घटना में सत्यता लेश मात्र भी नही है और यह चारण भाटों की कल्पना मात्र है। सारा वर्णन बाद में गढ़ा हुआ है। यदि मानसिंह का इस भांति अपमान हुआ होता तो अगले वर्ष भगवानदास का मेवाड़ आना संभव नहीं होता और न ही अकबर उसके बाद टोडरमल को भी भेजता। 'राजरत्नाकर' तथा 'अमरकाव्य' में इनका मिलन शिष्टतापूर्ण बताया है। बदायूनी भी मानसिंह के अपमान का उल्लेख नहीं करता है। जगन्नाथराय प्रशस्ति में भी इसका उल्लेख नहीं है। रघुबीरसिंह ने अपनी पुस्तक 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' में ठीक ही लिखा है कि "अनेक युगो बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।" परन्तु प्रसाद ने इस घटना को ठीक माना है और उसने अपना मुख्य आधार रामकवि द्वारा रचित 'कछावा वंशावली' को माना है। रामकवि आमेर के शासकों के आश्रय में रहता था और प्रसाद का कहना है कि अगर इस घटना में कोई सत्यता नहीं होती तो आमेर के आश्रय मे रहने वाले कवि को लिखने की कोई आवश्यकता नही थी। इसमें मानसिंह का अपमान ही नजर आता है अतएव आश्रय प्राप्त कवि ऐसी घटना को यदि सत्य है तो भी लिखने में अरुचि दिखा सकते हैं। घटना के घटित न होने पर उसका वर्णन करने का तो प्रश्न ही नही उठता। खैर ! कुछ भी हो रघुबीरसिंह के अनुसार इतना तो निश्चित है कि "बिदाई के दिन भोजन के समय विरस, या अप्रिय घटना हुई, जिसमे प्रताप और मानसिंह मे गहरा वैमनस्य हो गया।"

मानसिंह की असफलता के बाद भी अकबर ने समझौता वार्ता को नहीं त्यागा। अक्टूबर 1573 में उसने राजा भगवानदास को महाराणा प्रताप को समझाने हेतु मेवाड़ मे भेजा। प्रताप ने उसका अच्छा स्वागत किया और अबुलफजल[51] का कहना है कि प्रताप ने अपने बड़े लड़के अमरसिंह को भगवानदास के साथ मुगल दरबार मे भेजा और स्वयं ने चित्त शांत होने पर दरबार मे उपस्थित होने का आश्वासन दिया। अबुलफजल के इस वर्णन को *श्यामलदास, ओझा एवं जी० एन० शर्मा ने असत्य माना है क्योंकि* उनके मत में इस प्रकार का वर्णन अन्य साधनों में कही नहीं मिलता है। यहा तक कि 'अकबरनामा' में भी अमरसिंह के मुगल दरबार में उपस्थित होने के बाद उसकी गतिविधियो का बिल्कुल भी वर्णन नही है। न यह लिखा है कि वह मुगल दरबार में कितने समय तक उपस्थित रहा ? किन परिस्थि-

51 वही, पृ. 92-93.

तियों में वह वापस लौटा ? उसे कौनसा मनसब दिया गया ? अतः इन सबको देखते हुये फजल के कथन का विश्वास नही किया जा सकता है। अगर प्रताप अमरसिंह को भेज देता और साथ ही यह आश्वासन भी दे देता कि चित्त शांत होने पर वह स्वयं उपस्थित होगा तो दोनों ही पक्षों में युद्ध का कोई कारण ही उपस्थित नही होता। 'इकबालनामा-ए-जहांगीरी', जहांगीरनामा' आदि के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की कोई घटना जिसमे मेवाड़ के उत्तराधिकारी को 1615 के पूर्व मुगल दरबार में भेजा हो, नही घटी।

इस घटना के कुछ समय पश्चात अकबर ने एक और प्रयास दिसम्बर 1573 ई० मे टोडरमल को भेज कर किया। किन्तु टोडरमल को भी उद्देश्य मे सफलता नही मिली।[52] यो वार्तालाप से अधीनता स्वीकार कराने मे जब अकबर सफल नही हुआ तो उसने अब शक्ति प्रदर्शन के माध्यम का आश्रय लिया।

मानसिंह की नियुक्ति—काबुल एवं अन्य स्थानो से छुटकारा पा कर अकबर 1576 के प्रारम्भिक महिनो मे मेवाड़ अभियान प्रारम्भ करने के उद्देश्य मे अजमेर पहुंचा। यहा रहकर वह युद्ध क्षेत्र की नवीनतम गतिविधियों से सम्पर्क रख सकता था। यही उसने अप्रेल 3, 1576 ई०को मानसिंह के नेतृत्व मे मुगल अभियान प्रारम्भ करने की घोषणा की।[53] शैलट के मतानुसार मानसिंह को नेतृत्व देना अपने आप में एक महत्वपूर्ण घटना है। हेमू को छोड़, यह पहला अवसर था जब मुस्लिम सेना का नेतृत्व किसी हिन्दू को दिया गया हो। मुस्लिम सामंतो मे इसका विरोध था। स्वयं अकबर भी इस विरोध से परिचित था इसलिये मानसिंह की नियुक्ति की घोषणा आगरा से न कर अजमेर से की। बदायूनी का कहना है कि नकीबखाँ इस युद्ध में सम्मिलित होना चाहता था परन्तु हिन्दू के हाथ में नेतृत्व होने के कारण उसने इसमें सम्मिलित होना उचित नही समझा। मुगल मनसबदारों के अतिरिक्त मानसिंह की नियुक्ति के पीछे अकबर के कुछ निश्चित उद्देश्य होने चाहिये। शैलट के अनुसार उसका मुख्य उद्देश्य राजपूतो मे प्रताप के विरुद्ध लड़ने की अनिच्छा को समाप्त करना था।

'इकबालनामा-ए-जहांगीरी' के अनुसार अकबर का उद्देश्य था कि मानसिंह के नेतृत्व मे मुगल सेनायें होने के कारण प्रताप पहाड़ों की सहायता

---

52 मिराते-अहमदी, पृ. 111; राणारासो, श्लोक 254-60

53 अकबरनामा, जि. 3, पृ. 236-37; तबकाते-अकबरी, जि. 2, पृ. 484; मुन्तख्ब-उत-तवारीख, जि. 2, पृ. 233

न ले, खुले मैदान में लड़ेगा क्योंकि आमेर के शासक कुछ समय पूर्व तक मेवाड़ की अधीनता मे थे। 'इकबालनामा-ए-जहांगीरी' ने उन्हें मेवाड़ का जागीरदार ही माना। ऐसे वंश के व्यक्ति के नेतृत्व मे मेवाड़ के विरुद्ध आने वाली सेना का मुकाबला करने के लिये प्रताप पहाड़ों में छिपने की बजाय खुले मैदान मे लड़ना चाहेगा। अकबर यह जानता था कि यदि प्रताप खुले मैदान में लड़ेगा तो कुछ हद तक उसे सफलता शीघ्र मिल सकती है।

मानसिंह का प्रस्थान—इधर जब प्रताप की मानसिंह के नेतृत्व मे आने वाली मुगल सेना के बारे में समाचार मिला तो उसने मांडलगढ तक पहुच-कर मानसिंह का सामना करने का निश्चय किया।[54] परन्तु अपने सामन्तो के विरोध के कारण उसे अपना यह विचार छोड़ना पड़ा। उधर मानसिंह अजमेर से रवाना हो माण्डलगढ़ पहुँचा, जहां वह आठ सप्ताह तक ठहरा रहा। इतने लम्बे समय तक ठहरे रहनेके पीछे उसके दो उद्देश्य थे-(i) अपने रसद माल को सुरक्षित रखना तथा (ii) प्रताप के धैर्य को समाप्त करना।

माण्डलगढ़ से रवाना हो बनास नदी के किनारे मोलेला नामक स्थान पर अपना पड़ाव डाला। प्रताप को जब शाही सेना के माण्डलगढ से प्रयाण के समाचार मिले तो वह भी ससैन्य गोगुन्दा से लोहसिंग पहुचा। सामरिक दृष्टि से प्रताप के लिए यह बड़ा ही उपयुक्त स्थान था। "प्रताप के लिए सबसे अच्छी रणनीति यह होती कि मानसिंह को वहा आने को बाध्य करता और संकरे मार्ग में घेर कर उसकी सेना को नष्ट कर देता। किन्तु एक तो राजपूतो ने तब तक छापामार युद्ध की कला को पूरी तरह समझा न था, दूसरे प्रताप के वीर सरदार शत्रु पर टूट पड़ने को आतुर थे। इसलिए प्रताप इस दुर्गम मार्ग से होकर खमनोर गांव के पास की समतल भूमि मे जा पहुंचा।"[55]

सेना का जमाव—प्रताप ने अपनी सेना का विभाजन करते हुये हरावल का नेतृत्व पठान हकीमखां सूर को दिया तथा मुख्य सेना के दाहिने पार्श्व में भामाशाह तथा उसका भाई ताराचंद और ग्वालियर का भूतपूर्व राजा रामशाह अपने पुत्रो सहित तैनात था। बायें पार्श्व में मानसिंह अखैराजोत सोनगरा, मानसिंह झाला, बीदा झाला आदि के साथ नियुक्त था। पृष्ठ भाग में भील धनुर्धारी और केन्द्र में प्रताप था। चंदावल मे अपने साथियो सहित पानरवा का पूंजा था।

मानसिंह ने शाही सेना को जमाते हुये हरावल मे जगन्नाथ कछवाहा

---

54 अकबरनामा, जि. 3, पृ. 244

55 रघुबीरसिंह, महाराणा प्रताप, पृ. 24-25

और आसफखां को रखा तथा हरावल से भी आगे सैयद हाशिम बारहा की देखरेख में कोई 80 योद्धाओं को रखा गया था। मुख्य सेना के बायें भाग का नेतृत्व गाजीखां बदख्शी कर रहा था। दाहिने भाग का नेतृत्व सैयद अहमदखा बारहा कर रहा था और पृष्ठ भाग में चंदावल का नेतृत्व मेहतर खा के अधीन था। मानसिंह केन्द्र में था।

यो मुगल सेना के अग्र दल का नेतृत्व जगन्नाथ कछावा कर रहा था तो प्रताप के अग्र दल का भार हकीमखा सूर पठान पर था। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई धर्म-युद्ध नहीं था अपितु साम्राज्यवाद और स्वतन्त्रता का युद्ध था। ख्यातों में सुरक्षित मेवाड़ की एक गाथा के अनुसार मानसिंह के अधीन मुगल सेना में अस्सी हजार और राणा की सेना में बीस हजार घुड़सवार थे। नैणसी मानसिंह की सेना की सख्या 40 हजार और राणा की 9-10 हजार बताता है लेकिन टॉड का मत है कि बाईस हजार वीर राजपूत युद्ध क्षेत्र में उतारे उनमें से 14 हजार युद्ध क्षेत्र में मारे गये। बदायूनी मानसिंह की सैनिक सख्या पांच हजार तथा राणा की तीन हजार बताता है।

हल्दी घाटी का युद्ध—जून के तृतीय सप्ताह[56] में समनोर के पास

---

56 रणछोड भट्ट के अनुसार (अमरकाव्य, श्लोक सं. 65) ज्येष्ठ सुदी 7, 1632 वि. स. को यह युद्ध हुआ था। किन्तु इस वर्ष में दो ज्येष्ठ थे, यदि दूसरे ज्येष्ठ माह की यह तारीख मानें तो उस दिन जून 3, 1576 ई. था। द्रष्टव्य 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ, द्वितीय खंड, पृ. 35; बांकीदास ने (बांकीदास री ख्यात, क्र. 1026, पृ. 92) इस युद्ध की तिथि श्रावण बदी 7, 1632 वि. सं. (जुलाई 18, 1576 ई); टॉड ने (जि. 1, पृ. 271) श्रावण सुदी 7, 1632 वि. सं. (जुलाई 1576 ई.) दी है। श्यामलदास ने वीरविनोद भा. 2, पृ. 151 पर द्वितीय ज्येठ सुदी 2, 1633 वि. सं. (मई 31, 1576 ई.) लिखा है तथा पृ. 154 पर वह लिखता है कि यह लड़ाई द्वितीय ज्येष्ठ सुदी 1633 वि. स. (जून 1576 ई.) को हुई। वह स्वयं स्पष्ट नहीं है कि युद्ध किस दिन हुआ था। ओझा ने (उदयपुर, जि. 1, पृ. 433) इस युद्ध की कोई भी तारीख न बताकर केवल ज्येष्ठ सुदी 1633 वि. सं. (जून 1576 ई.) में युद्ध होना लिखा है। फारसी इतिहासकारों में बदायूनी जो कि स्वयं युद्ध स्थल पर था, उसने भी कोई निश्चित तारीख नहीं दी है। केवल 984 हि. के

शाही सेना का प्रताप से युद्ध हुआ जो इतिहास में हल्दीघाटी के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। बदायूनी ने इसे खमनोर का युद्ध कहा है और फजल ने गोगुन्दा के युद्ध के नाम से पुकारा है। प्रारम्भ में प्रताप की सेना का आक्रमण इतनी तीव्रगति से था कि सारी मुगल सेना तितर-बितर हो गई परन्तु महतरखां की तत्परता ने सारी स्थिति को संभाल लिया। इस युद्ध में प्रताप के जीवन को काफी खतरा पैदा हो गया परन्तु उसके झाला सामन्त की सूझ-बूझ के कारण उसकी रक्षा हो सकी थी। लड़ाई सुबह से प्रारम्भ होकर दोपहर तक चलती रही तथा दोनों पक्षों के हताहतों की संख्या 650 के करीब रही। अवधि व मृत सैनिकों की सख्या को देखते हुए यह युद्ध विशेष महत्व का प्रतीत नहीं होता, परन्तु परिणाम की दृष्टि से युगान्तकारी सिद्ध हुआ।

युद्ध का महत्व—इस युद्ध का सर्वाधिक महत्व इस बात मे है कि गत अर्द्ध शताब्दी से चले आ रहे राजस्थान मुगल संघर्ष मे पहली बार मुगल मेवाड़ को हरा न सके। मुगलों की निरन्तर विजयों से उनके अजेय होने का जो भ्रम भारतीय राजनैतिक क्षितिज मे व्याप्त था उसे इस युद्ध ने ध्वस्त कर दिया। कतिपय इतिहासकारों ने इस युद्ध मे प्रताप को हार बताई तथा युद्ध क्षेत्र से भाग जाने की बात कही। परिस्थितियों, स्थानीय साधनों, यहां तक पर्शियन इतिहासकार बदायूनी जो स्वयं युद्ध क्षेत्र मे मुगलों की ओर से लड़ने के लिए उपस्थित था, उसकी पुस्तक के आलोचनात्मक अध्ययन से भी उपरोक्त कथन निर्मूल सिद्ध होता है। राजप्रशस्ति, राजप्रकाश व जगदीश मंदिर प्रशस्ति ने यह स्पष्ट रूप से प्रताप को विजयी माना है।[57] इसमे कोई संदेह

रबि-उल-अव्वल के पूर्वार्द्ध (जून 1576 ई.) में युद्ध होने का उल्लेख किया है। तबकाते-अकबरी में निजामुद्दीन ने न तो तारीख और न महीने का वर्णन किया है। अबुलफजल ने अकबरनामा में इस युद्ध की जो तारीख दी है उसे मानते हुए सर यदुनाथ सरकार (मिलट्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ. 77); आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव (अकबर दी ग्रेट, जि. 1, पृ. 206-7); रघुबीरसिंह (महाराणा प्रताप, पृ. 26) आदि ने सोमवार, जून 18, 1576 ई. को युद्ध होना स्वीकार किया है। श्रीराम शर्मा (महाराणा प्रताप, पृ. 68) व गोपीनाथ शर्मा (मेवाड़ एण्ड दी मुग़ल एम्परर्स, पृ. 86-87) ने जून 21, 1576 ई. को यह युद्ध होना बताया है किन्तु इसका भी कोई आधार नहीं है।

57 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 6, श्लोक 31; राजप्रकाश (हस्तलिखित ग्रन्थ), पत्रांक 21; जगदीश मन्दिर प्रशस्ति, श्लोक 41

नही कि इस प्रकार के साधनों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की सम्भावना रहती है, परन्तु हार को विजय मे परिणत कर दे इतनी नहीं। किसी भी राजस्थानी साधनो में पूर्ण पराजय को विजय में बदलने का उदाहरण नहीं मिलता। खानवा की हार को किसी ने न तो जीत कहा न ही अनिर्णायक युद्ध माना। न ही 1568 ई. में अकबर के चित्तौड़ अधिकार को नकारा है। अतः यह दोष उपर्युक्त प्रशस्तियों के निर्माता अथवा उत्कीर्णकर्ताओं पर भी नही लगाया जा सकता।

इस युद्ध के दौरान सब बातों की पहल प्रताप ने अपने पास रखी। उसने मुगलों को अपने ही चुने हुए स्थान, समय व तरीके से लड़ने को बाध्य किया। आक्रमण का प्रारम्भ भी उसने ही किया। हाथियो को भी उसने ही अपने चुने हुये स्थान पर लड़ाया तथा मैदान से पहाड़ों की ओर युद्ध को स्थानान्तर करने का प्रयास भी उसी ने किया। प्रताप, हकीमखां सूर, ग्वालियर के रामशाह के नेतृत्व मे हुये मेवाड़ी आक्रमणों ने मुगलों को रक्षा पंक्ति छिन्न-भिन्न करदी। अच्छे-अच्छे मुगल योद्धा युद्ध भूमि से 10-12 मील से भी अधिक दूर भाग कर जीवन सुरक्षित रख सके। मानसिंह भी सौभाग्य से ही बच पाया। मुगलों की सैनिक संख्या प्रताप से करीब तीन गुना थी। अतः जैसे ही प्रथम आक्रमण के बाद पुनः व्यवस्थित हुए तो प्रताप ने युद्ध को खुले मैदान से हटा पहाड़ी क्षेत्र की ओर मोड़ना चाहा। अतः वह अपनी सेना सहित इस क्षेत्र में घात लगा बैठ गया। बदायूनी लिखता है कि मैदान से हटने के पहले प्रताप की सेना के दोनों भाग मिले व इस भय से कि प्रताप सेना सहित पहाड़ों में छिपा हुआ है, मुगल सेना का उधर जाने का न तो साहस ही था, न शक्ति हो। मानसिंह स्थिति को जानता था। प्रताप के नये चुने हुए स्थान पर लड़ने का अर्थ सम्पूर्ण मुगल सेना की जान को खतरे में डाल देना होता। अगर मानसिंह चतुराई न करता और प्रताप के जाल में आ जाता तो उसे करारी हार का सामना करना पड़ता।

परिस्थितियो को भी देखें तो स्पष्ट है कि प्रताप हारा नहीं। अगर ऐसा होता तो भावी मुगल संघर्ष में उनके अनुयायी ही उसका नेतृत्व स्वीकार नहीं करते। 50 वर्ष पूर्व खानवा युद्ध की हार के पश्चात, सांगा बाबर से लड़ने के लिये चंदेरी की ओर रवाना हुआ परन्तु उसके सामन्तों ने उसके नेतृत्व मे लड़ने की बजाय सांगा को ही विष देकर उसका जीवन समाप्त कर दिया। हल्दीघाटी युद्ध के चालीस वर्ष बाद प्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह ने लम्बे संघर्ष के बाद 1615 ई. मे मुगलों से संधि करली। यह संधि मेवाड़

के लिये पूर्ण सम्मानजनक थी, फिर भी समझौता कर लेने से अमरसिंह को इतनी आत्मग्लानि हुई कि अपने शेष जीवन काल में महलों से बाहर नहीं आया। उसने राज्य कार्य भी अपने पुत्र के हाथों में सौंप दिया। प्रताप का तो शासक बनने के बाद यह पहला ही युद्ध था, इसमें हार जाने पर किसी भी स्थिति में उसका नेतृत्व स्वीकार नहीं होता।

बदायूनी भी स्वीकार करता है कि जब युद्ध के समाचार लेकर वह अकबर के पास जा रहा था तब मार्ग मे मुगल विजय के बारे मे बताता तो कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता। यहां तक कि अकबर ने भी मानसिंह द्वारा भेजे गये संदेश पर विश्वास नहीं किया। अतः महमूदखां को वास्तविक स्थिति का पता लगाने मेवाड़ भेजा। अगर मुगल विजयी होते तो मानसिंह व आसफखां को पारितोषिक मिलता।

इस युद्ध का अन्य परिणाम यह रहा कि इससे एक ओर प्रताप का स्वय में आत्मविश्वास बढा तो दूसरी ओर उसके नेतृत्व की जनमानस मे प्रगाढ आस्था। खानवा-युद्ध के पश्चात ही भारत विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये नेतृत्व विहीन हो गया था। अब इस रिक्तता की पूर्ति प्रताप के रूप मे हुई। इसीलिये राजस्थान में छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा अथवा पुनः प्राप्त करने की आकांक्षा में प्रताप के नेतृत्व को स्वीकार किया। बांसवाडा, डूंगरपुर, ईडर, सिरोही, जालोर, बून्दी आदि सभी ने प्रताप से संधि-संबंध स्थापित किये। अकबर उसके एक संगठन को तोड़ता तो प्रताप दूसरा संगठन खड़ा कर देता। वह इस युद्ध के बाद शेष संघर्ष में कभी अकेला नहीं रहा। अगर मुगल ईडर के नारायणदास को प्रताप से अलग करता तो प्रताप जालोर के ताताखां व जोधपुर के चन्द्रसेन से सैनिक संगठन कर लेता। मुगल सेनाएं इनके विरुद्ध पहुंचती तो सिरोही प्रताप के साथ मुगल विरोधी अभियान के लिये तैयार मिलता। इसी प्रकार डूंगरपुर, बांसवाड़ा बराबर प्रताप से सैनिक संधि मे बंधे रहे।

युद्ध-नीति में परिवर्तन—हल्दीघाटी युद्ध का राजनैतिक ही नहीं अपितु प्रताप की युद्ध नीति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव रहा। इस युद्ध के अनुभव से प्रताप ने मुगल आक्रमणों का सामना करने के लिए त्रिसूत्री युद्ध नीति अपनाई

1 जनमानस का विशाल पैमाने पर सहयोग,

2 मित्र राज्यों की सेनाओं को अपने-अपने स्थानों पर मुगल विरोधी करना, और

3 केवल मात्र छापामार युद्ध प्रणाली को अपनाना।

प्रताप ने स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं अथवा राज्य के

सैनिको तक ही सीमित नही रखा। समस्त जनमानस को भी इस उच्च आदर्श के लिए प्रेरित किया। उसकी प्रेरणा से ही राज्य का प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता का सैनिक बन गया। यह बहुत ही आश्चर्यजनक है कि मुगलो के सब प्रकार के प्रलोभनों के उपरान्त भी अकबर-प्रताप संघर्ष में एक भी व्यक्ति ने प्रताप का साथ नही छोड़ा। छापामार प्रणाली को इतना प्रभावशाली ढग से अपनाया कि प्रताप हल्दीघाटी का युद्ध भी नहीं हारा और मुगल-मेवाड संघर्ष में विजयी रहा।

अकबर का पुन प्रयास—1576 ई. से 1585 ई. तक संघर्ष तीव्रगति से चला। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये अकबर ने स्वयं मेवाड़ की ओर आना उचित समझा। 1576 ई. में वह शिकार के बहाने मेवाड़ मे आया और 6 महीने तक रहा परन्तु न तो उसको और न उसके सेनानायको को ही कोई सफलता मिली और निराश हो अकबर बांसवाड़ा होता हुआ गुजरात की ओर चला गया।

मेवाड़-विजय की अभिलाषा अकबर के मस्तिष्क में उसी प्रकार बनी रही। अतः उसने बार-बार अपने श्रेष्ठ सेनापतियों को राणा के विरुद्ध भेजा। अकबर ने अक्टूबर 1577 ई. में अजमेर से शाहबाजखां के नेतृत्व में विशाल सेना व अनुभवी सेनापतियों को मेवाड़ के विरुद्ध भेजा। प्रारम्भ मे शाहबाजखां को बहुत सफलता मिली और वह कुम्भलगढ़ जा पहुंचा जो कि राणा की राजधानी थी। अप्रेल 3, 1578 ई. को कुम्भलगढ का पतन हो गया परन्तु राणा प्रताप इससे पूर्व ही चतुराई से बच निकला। यों शाहबाजखां अपने उद्देश्य में असफल रहा। इसी भांति दिसम्बर 15, 1578 ई. को दुबारा तथा नवम्बर 9, 1579 ई. को तीसरी बार शाहबाजखा को मेवाड़ में भेजा गया किन्तु वह असफल ही रहा। 1580 ई. में अब्दुर्रहीम खानखाना के नेतृत्व में सेनायें भेजीं। सेना के मेवाड़ पहुंचने के पूर्व ही कुंवर अमरसिंह ने शेरगढ नामक स्थान पर अचानक आक्रमण किया और खानखाना के हरम को भी अपने अधिकार में कर लिया। प्रताप के आदेश से मुगल स्त्रियों को ससम्मान खानखाना के पास भेज दिया। स्वयं अबुलफजल भी इस बात से सहमत है। अगले चार वर्षों तक अकबर राज्य के अन्य कार्यों में व्यस्त रहा। उनसे मुक्त होने पर 1584 ई. में उसका ध्यान पुनः मेवाड़ की ओर गया और इस बार उसने जगन्नाथ कछावा को राणा का दमन करने के लिये भेजा। जगन्नाथ ने प्रताप का कई बार निष्फल पीछा किया। वह दो वर्ष तक मेवाड मे घूमता रहा किन्तु उसे भी अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। इस भाति दस वर्षों तक बराबर मुगल मनसबदारों को मेवाड़ की ओर

भेजा गया परन्तु उसका कोई सुपरिणाम नही निकला। 1585 ई. के बाद काबुल, दक्षिण व अन्य प्रदेशों मे विद्रोह होने के कारण अकबर उधर व्यस्त हो गया और मेवाड से ध्यान हटा दिया। अगले 12 वर्ष मेवाड के लिए शान्तिपूर्ण थे। इस अवधि में प्रताप ने अपने पिता के काल में हुए मुगल अधीन क्षेत्रो को भी कुछ को छोड़ (मांडलगढ व चित्तौडगढ) सभी को पुन: स्वतन्त्र करा लिये। चावण्ड में नई राजधानी का निर्माण किया व राज्य की प्रशासनिक व आर्थिक व्यवस्था को सुचारु बनाया। साहित्य व कला मे भी राज्य की आशातीत प्रगति हुई। यही प्रताप का बुधवार, जनवरी 19, 1597 के दिन स्वर्गवास हो गया।

क्या प्रताप ने अकबर से संधि न कर भूल की ?—आधुनिक काल मे कुछ इतिहासकारों ने प्रताप द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार न करने को एक भारी भूल बताया है। गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि इस लम्बे सघर्ष मे मेवाड़ की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। इससे मेवाड़ को कोई राजनैतिक लाभ नही मिला क्योंकि जर्जरित आर्थिक दशा ने प्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह को बीस वर्ष बाद ही मुगल सम्राट जहागीर से संधि करने को बाध्य कर दिया। त्रिपाठी के अनुसार संधि की शर्तें भी लगभग वही थीं जो अकबर ने विभिन्न शिष्टमण्डलों द्वारा प्रताप के सामने रखी थी। यदि प्रताप संधि की शर्तों को स्वीकार लेते तो जो पचास वर्षीय संघर्ष चला और मेवाड़ सदैव के लिए पिछड़ गया, वह स्थिति नही आती। भारतीय एकता के रूप मे भी त्रिपाठी ने प्रताप को बाधक माना है। उसका कहना है कि अकबर एक राष्ट्रीय शासक था जो समस्त भारतवर्ष को राजनैतिक एकता के सूत्र मे बांधना चाहता था। प्रताप के नकारात्मक विरोध के कारण सफलता नही मिली। इतना ही नही त्रिपाठी ने तो अकबर के आदर्शों को बहुत उच्च मानते हुए प्रताप के संघर्ष को ठीक नही माना है। उसने मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की नीति को भी उचित ठहराया है क्योंकि तत्कालीन समाज में भी इसका कोई विरोध नही हुआ और इसीलिये मेवाड़ इस संघर्ष मे बिल्कुल अकेला रहा। अकेला रहने का त्रिपाठी ने एक कारण और यह माना है कि मेवाड़ जब-जब भी शक्तिशाली हुआ तो पड़ोसी राज्यों की स्वतंत्रता का हनन हुआ और इसीलिये राजपूत राज्यो ने प्रताप का साथ देना ठीक नहीं समझा। यह अनावश्यक दीर्घ सघर्ष त्रिपाठी के अनुसार विघटनकारी, व्यक्तिगत अहंभाव एवं तुच्छ स्वार्थों के लिये था। अकबर के महानतम आदर्शों के प्रति विरोध प्रताप की एक भयंकर भूल थी। परन्तु श्रीवास्तव ने त्रिपाठी के इस मत का खंडन करते हुये कहा कि अकबर से संधि न करने का दोष

प्रताप का न होकर अकबर की *हठधर्मी थी। प्रताप ने सम्मानित आधार* पर हमेशा समझौता करना चाहा परन्तु अपमानजनक शर्तों के कारण यह संभव नहीं हुआ। यदि अबुलफजल पर विश्वास करें तो यह स्पष्ट है कि प्रताप ने व्यक्तिगत दरबार मे उपस्थित होने की बात को छोड, समझौता करने में उत्साह दिखाया। अकबर द्वारा भेजे गये शिष्ट मण्डल के प्रति उसने सम्मान की भावना बताई। मानसिंह के स्वागत के समय अबुलफजल ने यह स्पष्ट लिखा है कि अकबर ने खिल्लत धारण की। भगवानदास के साथ प्रताप ने अपने लड़के को भी मुगल दरबार में भेजने को तैयार था और स्वयं ने कुछ समय पश्चात दरबार में उपस्थित होने का आश्वासन दिया। इतना होते हुये भी अकबर ने संधि की शर्तों को स्वीकार नहीं किया, अतः श्रीवास्तव के अनुसार दोष प्रताप का न होकर अकबर का है। इतना लम्बा संघर्ष यदि मेवाड न करता तो कभी भी इतनी उदार शर्तें उसे नहीं मिल सकती।

श्रीवास्तव का कहना है कि शांतिकाल मे प्रताप पर चारों ओर से सैनिक दबाव डाले जा रहे थे, मेवाड के पूर्वी हिस्सों को अकबर ने मुस्लिम पदाधिकारियो को दे दिया या मेवाड़ से रुष्ट होकर आने वाले व्यक्तियों को सौंप दिया। यों उसने मेवाड़ को मित्रविहीन करने का पूर्ण प्रयास भी किया था। उसने ईडर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा व बून्दी पर सैनिक दबाव डालकर मेवाड़-राज्य से अलग करने का प्रयास किया। इसलिये श्रीवास्तव के मतानुसार त्रिपाठी का यह कथन, कि "यदि प्रताप वो ही शर्तें अकबर के सामने रखता जिन शर्तों पर जहांगीर से अमरसिंह का समझौता हुआ है तो अकबर अवश्य स्वीकार कर लेता" निराधार है क्योकि अकबर हमेशा प्रताप की व्यक्तिगत उपस्थिति पर जोर देता रहा।

त्रिपाठी की यह मान्यता कि वैवाहिक संबध तत्कालीन राजपूत समाज मे बुरा नहीं माना गया। श्रीवास्तव को यह बात ठीक नही लगी है। उसका कहना है कि आधुनिक काल मे भी जहां अन्तर्जातीय विवाह होते हैं, सामाजिक दृष्टि से अच्छे नही माने जाते है तो 16 वीं शताब्दी मे जबकि सामाजिक बंधन अधिक कठोर थे इनको उपयुक्त मानना ठीक नही है। वैवाहिक संबध स्थापित करने वाले राजपूत राज्यो ने भी यह बात प्रचारित की कि *उन्होंने अपनी राजकुमारियो की शादी मुगल परिवारों से न कर अन्य राज*-कुमारियों को दी हैं। यों श्रीवास्तव के अनुसार आज भी यदि ऐसे विवाह ठीक नहीं माने जाते हैं तो उस समय मानना उचित प्रतीत नही होता है।

शैलट का कहना है कि त्रिपाठी का यह मत है कि "सिसोदियों के इस युद्ध में अन्य राजपूत राज्यों को कोई दिलचस्पी नहीं थी, उन्होंने या तो

विरोधी रूप अपनाया या तटस्थ बने रहे।" स्थिति इसके विपरीत है। इस पूरे संघर्ष काल में कोई भी क्षण ऐसा नहीं था जब प्रताप ने अकेले ही युद्ध लड़ा हो। मुगल सेना का सामना करने के लिये उसने हर बार संयुक्त मोर्चे स्थापित किये। श्रीराम शर्मा का कथन है कि अकबर एक संगठन को तोड़ने का प्रयास करता तो प्रताप दूसरा संगठन खड़ा कर देता। इन छोटे-छोटे राज्यों को मुगल सेनाओं ने अनेक बार पदाक्रांत किया, किन्तु प्रताप से प्रेरणा प्राप्त कर अवसर आते ही अपने आपको स्वतन्त्र कर देते। यदि मेवाड़ के उत्थान के कारण अपने अस्तित्व को खतरा था तो इन पड़ोस के छोटे-छोटे राज्यों को ही सबसे अधिक था। प्रताप का विरोध सर्वाधिक इन्हीं राज्यों मे होना चाहिए था किन्तु प्रताप के सम्पूर्ण शासन काल में उसे हर सम्भव सहयोग इन राज्यों से मिलता रहा। अतः मेवाड़ मुगलों का बराबर सामना कर सका। इन सब घटनाओं को ध्यान मे रखते हुए श्रीवास्तव ने अकबर से समझौता न होने का उत्तरदायित्व प्रताप को न देकर अकबर पर डाला है। राष्ट्रीयता की भावना तो 19 वीं शताब्दी की उपज है। अकबर के प्रारम्भिक काल को देखा जाये तो उसकी विजयों के पीछे केवल साम्राज्य-वादी लिप्सा थी। भारतीय एकता तथा राष्ट्रीयता के लिए उस समय कोई स्थान नहीं था।

श्रीवास्तव का मत है कि यदि इस देश में सबको समान समझने और सभी जातियों को समान अवसर प्रदान करने की अकबर की धर्म-निरपेक्षता की नीति पूरे मुगल काल में अपनाई गई होती तो निश्चय ही आने वाली पीढ़िया राणा प्रताप को एक प्रतिक्रियावादी और भारतीय एकता में बाधक स्वीकार कर लेती, परन्तु ऐसा नही हुआ। श्रीवास्तव तो गोपीनाथ शर्मा के इस कथन से भी सहमत नही है कि आखिरकार राणा प्रताप के पुत्र अमर-सिंह के समय में मेवाड़ को अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी और अगर राणा ने इसे 1572 में ही स्वीकार कर लिया होता तो बहुत से बलिदान बच गये होते। यह तर्क युक्ति संगत नही है। अमरसिंह ने 1615 ई. में जहांगीर से जो सम्मानपूर्ण शर्तें प्राप्त की थी वे राणा प्रताप के दीर्घ व दृढ़ संघर्ष तथा स्वयं अमरसिंह के 18 वर्षों के संघर्ष के कारण ही प्राप्त हो सकी थी। इन बलि-दानों के बिना मेवाड़ एक विशेष व्यवहार की कठिनाई से आशा कर सकता था।

प्रताप का अगर कोई दोष था तो यही था कि वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ रहा था। यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय कि एक शक्ति-हीन राज्य को शक्तिशाली राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिये तो

आज भी एक ही शक्तिशाली देश स्वतन्त्र रह सकता है। अतः प्रताप के त्याग व बलिदान को कम आंकना ठीक नहीं है। जहां तक इस वीर के त्याग और बलिदान का प्रश्न है सभी इतिहासकार एक मत हैं।

मूल्यांकन—आर पी त्रिपाठी के शब्दों में प्रताप एक वीरगाथा का निर्माण कर गये जो देश व काल के स्वतन्त्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती रहेगी।

"प्रताप ने लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनैतिक मंच पर एक महत्वपूर्ण भाग लिया और अपनी अधिकांश प्रजा के मत का नेतृत्व किया। उसने अपने शौर्य, उदारता और अच्छे गुणों से जन-समुदाय का सौहार्द और श्रद्धा अर्जित कर ली थी। उसने अपनी कर्त्तव्य परायणता से तथा सफलता से अपने सैनिकों को कर्त्तव्यारूढ, प्रजा को आशावादी और शत्रु को भयातुर बनाया। एक सेनाध्यक्ष और जन नेता के रूप में वह अपने जमाने के लिए उपयुक्त था। उसकी मृत्यु ने एक प्रकार से एक युग की समाप्ति कर दी थी। प्रताप का नाम हमारे देश मे स्वाभिमान और देश-गौरव के रक्षक के रूप मे अमर है।"[58]

रघुबीरसिंह के मतानुसार "प्रताप ने अंत तक अपना प्रण निबाहा। उसकी दृढ़ता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास मे अनोखे और अनुकरणीय है।" "प्रताप की वीरगाथा ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को जो प्रेरणा दी उससे प्रताप की गिनती भारतीय राष्ट्र के पूजनीय स्वतन्त्र्य वीरो मे की जाने लगी और भारत की स्वाधीनता के बाद भी प्रताप का प्रभाव और महत्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ है, क्योंकि प्रताप एक ऐसी अनुपम वीरगाथा का निर्माण कर गया है, जो आगे भी सभी देशकाल के स्वातन्त्र्य साधकों को निरन्तर प्रेरणा देती रहेगी।"

ओझा ने लिखा है कि "प्रातः स्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतन्त्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थ त्यागी, नीतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदर्श था, कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकायेगा। स्वदेश प्रेम, स्वतन्त्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल मंत्र थे। उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था। वह कहा करता था कि यदि

---

58 जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 105-7

महाराणा सांगा और मेरे बीच कोई और न होता तो चित्तौड़ कभी मुसलमानों के हाथ न जाता। वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े-बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में उसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने उसको विध्वंस करने के लिये अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था। बहुत से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुये थे। यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य मे एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतंत्रता का पुजारी केवल थोड़े से स्वदेश-भक्त और कर्त्तव्य परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। उसकी वीरता, रणकुशलता, कष्टसहिष्णुता और नीतिमत्ता अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी।"

यों प्रताप को एक राष्ट्र नायक कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। वह भारतीय संस्कृति की परम्परा का प्रतीक माना गया है। उसका बलिदान, सहिष्णुता और सिद्धान्तों के लिये त्याग आज भी अनुकरणीय है।

अमरसिंह और मुगल—1597 ई. में प्रताप की मृत्यु हो गई लेकिन मुगल-मेवाड संघर्ष का अन्त नहीं हुआ। मेवाड़ आन्तरिक समस्याओं से घिरा हुआ था। प्रताप के राज्यकाल के अन्तिम वर्षों मे मुगल आक्रमण नहीं हुये किन्तु स्थिति सुधरी नहीं थी। नवीन महाराणा अमरसिंह के लिये मेवाड़ की गद्दी कंटकाकीर्ण थी। आर्थिक दृष्टि से मेवाड़ अत्यधिक विपन्न अवस्था में था। व्यापारिक मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो गये थे। कृषि योग्य भूमि बहुत कम थी, अतएव जनता को जीवन यापन के लिये बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। अमरसिंह जनता की दिक्कतों से परिचित था। अतः उसने युद्धों व अन्य प्रकोपों से उजड़े हुये कस्बों व गांवों को पुनः बसाने का प्रयास किया। युवराज काल में भी उसने पुनर्निर्माण में रुचि प्रदर्शित की तथा सायरा व उसके आसपास की बस्तियों को बसाया। अपने शासन काल में उसने केलवा, मुरोली, रामपुरा, सहाड़ा आदि गांवों को पुनः आबाद किया। इन क्षेत्रों में भूमिहीनों को भूमि प्रदान कर कृषि के लिये उन्हें प्रोत्साहित किया।

निरन्तर युद्धों से सामन्त अधिक शक्तिशाली हो गये थे। उनमें पारस्परिक ईर्ष्या व द्वेष भी तीव्र गति से बढ़ता जा रहा था। चूंडावतों और शक्तावतों का संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था। दोनों ही पक्ष नेतृत्व के

लिये छोड़ कर रहे थे। अमरसिंह ने इन संभावित गुटों के आपसी संघर्ष को टालने के लिये जागीरदारों के पद व अधिकारों के नियम निश्चित कर दिये। जागीरों के पट्टों को कार्यकुशलता के आधार पर बदल दिये जाने का नियम प्रचलित किया गया। युद्धों की वजह से मेवाड़ की सैनिक शक्ति का ह्रास भी हो गया था। मेवाड़ में ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण सैनिक परिवार न था जिसका खून मुगल विरोधी युद्धों में न बहा हो। अमरसिंह ने सैन्य व्यवस्था सुधारने में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया। केन्द्रीय सेना में स्थाई भर्ती होने लगी। शस्त्र निर्माण कार्य भी प्रारम्भ हुआ। राज्य की सुरक्षार्थ उसने किलों का निर्माण करवाया तथा जीर्णशीर्ण किलों की मरम्मत करवाई। सैनिक गतिविधियों के लिये उसने एक अलग ही विभाग की स्थापना करवाई और इसका प्रमुख हरिदास झाला नियुक्त किया गया। किन्तु यह सुधार युग अधिक समय तक नहीं चल सका।

अमरसिंह के गद्दी पर बैठने के दो वर्ष पश्चात ही अकबर का ध्यान पुनः मेवाड़ की ओर केन्द्रित हुआ तथा उसने अपने पुत्र सलीम के नेतृत्व में 1599ई. में एक विशाल सेना भेज दी। मुगल सैनिकों ने तीव्रगति से मेवाड़ में प्रवेश कर मांडल, मोही, मदारिया, कोशीथल, बागोर, ऊँटाला आदि स्थानों को अपने अधिकार में कर वहां पर मुगल चौकियां स्थापित कर दी।[59] राजपूतों ने प्रतिरक्षात्मक युद्ध लड़ा। किसी स्थान को जीत कर जैसे ही मुगल सेना आगे बढ़ती मेवाड़ी सैनिक उस गांव में आकर शीघ्र ही मुगल अधीनता से मुक्त कर लेते थे। सलीम उदयपुर तक पहुंच गया था परन्तु पहाड़ियों में महाराणा का पीछा करना अपनी सामर्थ्य से बाहर समझ व अकबर के दक्षिण में व्यस्त होने से तथा स्वयं की सम्राट बनने की योजना से वह मेवाड़ छोड़ मानसिंह की सलाह के अनुसार बंगाल की तरफ चला गया। यों अबुलफजल के अनुसार सलीम मेवाड़ में कोई उल्लेखनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सका। ओझा का कहना है कि मेवाड़ के विरुद्ध आई हुई मुगल सेना पर छापामार युद्ध किये गये। इसकी रसद सामग्री के मार्ग को बन्द कर दिया गया। मुगल सेनायें युद्ध के इस तरीके से तथा मेवाड़ की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित न होने के कारण वापस लौटने को बाध्य हुईं।

अक्टूबर 1603 ई. में अकबर ने सलीम को पुनः मेवाड़ जाने का आदेश दिया था। सलीम सेना सहित मेवाड़ की ओर बढ़ा किन्तु उसकी इच्छा संघर्ष करने की नहीं थी। मेवाड़ में वह अपने पिछले कटु अनुभवों से

---

59 रावल राणाजी री वात, पत्रांक 108; वीरविनोद, भा. 2, पृ. 217

परिचित था। अतः वह फतहपुर सीकरी से आगे नहीं बढ़ा। फतहपुर से उसने अकबर को पत्र लिखा जिसमें अनेक आवश्यकताओं को प्रकट किया। अकबर अपने पुत्र का मन्तव्य समझ गया था और उसने उसे इलाहबाद लौट जाने के आदेश दे दिये। भार्गव के अनुसार महाराणा अमरसिंह को शक्ति संगठन करने तथा भावी मुगल आक्रमणों का सामना कर सकने की तैयारी का पूरा-पूरा अवसर मिल गया। स्वयं जहांगीर ने स्वीकार किया कि दो बार उसको मेवाड़ की ओर भेजा गया परन्तु मुगल सेनाओं को सफलता नहीं मिली और स्थानाभाव के कारण इस असफलता के कारण बताना उसके लिये संभव नहीं था। यों जब-जब भी सलीम को मेवाड़ अभियान पर भेजा उसने उदासीनता की भावना रखी। किन्तु अकबर का ध्यान मेवाड़ की ओर ही लगा रहा अतः उसने सलीम के पुत्र खुसरो तथा सगर को मेवाड़ जाने की आज्ञा दी किन्तु सम्राट के बीमार हो जाने के कारण वे इधर न आ सके। अक्टूबर 13, 1605 ई. में अकबर की मृत्यु हो गई। उसकी मेवाड़ को अधीन करने की इच्छा मन की मन में रह गई।

अकबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र सलीम, जहांगीर के नाम से उत्तराधिकारी हुआ। सिंहासनारूढ होते ही उसने भी मेवाड़ के प्रति अपने पिता द्वारा निर्धारित नीति का अनुसरण किया। यद्यपि अपने पिता के शासन काल में वह मेवाड़ अभियान को सदैव टालता रहा तथापि शासक बनने के बाद उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति मेवाड़ को अपने अधिकार में लाने के लिये लगा दी। 1605 ई. में जहांगीर की मेवाड़ विजय की उत्सुकता के दो कारण दृष्टिगोचर होते हैं—एक, अपने पिता के अधूरे कार्य को पूरा करने का संकल्प और दूसरा राजस्थान की राजनैतिक दशा, क्योंकि उसके उत्तराधिकार में मानसिंह बाधक था। अतः जहांगीर को उससे निरन्तर भय था। मानसिंह को बंगाल भेजे देने के उपरान्त भी अजमेर-मेवाड़ गठबंधन की संभावनायें बनी हुई थी। बीकानेर के रायसिंह का खुसरो के विद्रोह में मुगल कैम्प छोड़ अपनी राजधानी में पहुँचना तथा निरन्तर प्रयासों के बाद भी जहांगीर के दरबार में न आना, जहांगीर के शासन काल की समाप्ति की भविष्यवाणी में विश्वास करना तथा ज्योतिष को अपने यहां शरण देना। इन घटनाओं के कारण जहांगीर के लिए राजस्थान में मुगल सेनायें बनाये रखना आवश्यक हो गया था। मेवाड़-सफलता से खतरा समाप्त हो सकता था। अतः गद्दी पर बैठने के पश्चात उसने अपने दूसरे पुत्र परवेज़ को 1605 में 20,000 अश्वारोहियों एवं कई अनुभवी सेनानायकों के साथ मेवाड़ की ओर भेज दिया। तब जहांगीर ने अपने पुत्र को स्पष्ट निर्देश दे दिया था कि यदि राणा व

उसका पुत्र कर्ण तुम्हारे पास उपस्थित हो जावे और मुगल सेवा स्वीकार करले तो मुल्क को नष्ट मत करना।[60] टॉड का कथन है कि अमरसिंह उदयपुर में ऐश-आराम मे व्यस्त था। मुगलो का सामना करने का उसने सोचा ही नही था परन्तु सलुम्बर के रावत द्वारा फटकार सुनकर उसने युद्ध के लिये तैयारी प्रारम्भ कर दी। गोपीनाथ शर्मा टॉड के इस मत से सहमत नही है। क्योंकि अमरसिंह न तो उस समय उदयपुर में था और न ही जिस प्रकार उसने युद्ध की तैयारिया की जिससे टॉड के कथन को उचित माना जा सके। मुगल सेना के आक्रमण की सूचना मिलने पर अमरसिंह ने मैदानी इलाको को बिल्कुल नष्ट भ्रष्ट कर दिया। खेती को समाप्त कर दिया ताकि किसी भी प्रकार की खाद्य-सामग्री मुगलो को उपलब्ध न हो सके। श्यामलदास व ओझा का मत है कि जब परवेज ऊंटाला (आधुनिक वल्लभनगर) की ओर बढ रहा था तो राजपूत सेनाओ ने उस पर आक्रमण किया और काफी जन क्षति पहुँचाई। इस पराजय के कारण उन्हें वापस बुला लिया गया। फारसी इतिहासकारों ने इस अभियान में परवेज की विजय बतलाई है। महाराणा ने संधि वार्ता के लिये अपने लड़के बाघसिह को परवेज के पास भेजा परन्तु खुसरो के विद्रोह के कारण उसको तत्काल मेवाड़ छोडना आवश्यक हो गया। वह बाघसिह को लाहौर तक अपने साथ ले गया। स्वय जहांगीर ने भी अपनी आत्मकथा 'तुजके-जहांगीरी' मे परवेज की तथा मांडलगढ में बाघसिंह को संधि-वार्ता के लिए महाराणा ने भेजा, बताया है।[61] यूरोपियन इतिहासकार डाऊ तथा टॉड ने राजपूत साधनों को अधिक मान्य बतलाते हुये कहा है कि संधि वार्ता और बाघसिंह का लाहौर तक जाना आदि घटनायें यदि सत्य होती तो 'तुजके-जहांगीरी' में यह घटना विस्तृत रूप से लिखी हुई मिलती। बाघसिह के लाहौर जाने के बाद किस प्रकार संधि हुई? इसके बारे में फारसी इतिहासकार बिल्कुल मौन है। अगर विजय और संधि हो जाती तो कुछ समय बाद ही महाबतखां को पुनः मेवाड़ भेजने की आवश्यकता ही नही होती। यहां तक कि 1615 में भी अमरसिंह ने जो संधि की थी उसकी पहल स्वयं ने नहीं की और वह तो संधि के पक्ष मे भी नहीं था। किन्तु अपने ज्येष्ठ पुत्र कर्ण व सामन्तो के आग्रह और दबाव के कारण उसने संधि के लिये स्वीकृति दी। श्यामलदास का तो इतना मानना है कि सुरंम मे हुई संधि वार्ता अमरसिंह से गुप्त रखी गई थी। परवेज की पराजय

60 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 479-80
61 तुजके-जहांगीरी, जि. 1, पृ. 79

से जहांगीर प्रसन्न नही था। उसने परवेज को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया। शाही अधिकारियों ने पराजय की जिम्मेदारी एक दूसरे पर डाली। जहांगीर ने आक्रमण के साथ-साथ मेवाड़ में फूट डालने के लिये महाराणा के काका सगर को चित्तौड़ का शासक बनाया तथा उसे मुँह की खानी पडी। सगर का प्रभाव मेवाड में नही पड सका। जनता, सैनिक व सामंतों की भक्ति अमरसिंह के प्रति दृढ़ रही। आगे चल कर सगर को भी अपमान सहना पड़ा, उसे राणा से पुनः रावत की उपाधि स्वीकार करनी पड़ी तथा चित्तौड़ का किला छोड़ना पडा। सत्यता कुछ भी हो किन्तु यह निश्चित है कि मेवाड़ के संघर्ष की समाप्ति अभी नही हुई थी।

महावतखां का मेवाड़ पर आक्रमण—परवेज की असफलता के बाद जहांगीर ने मुगल सेना के योग्यतम सेनापति महावतखा को 1608 मे एक विशाल सेना एवं 80 छोटी तोपें देकर राणा को परास्त करने हेतु मेवाड आक्रमण आदेश दिये।[62] इस बार मुगल सेना सभी साधनों से सुसज्जित थी तथा जहांगीर ने महावतखां को कुछ विशेष अधिकार भी दिये थे। जुलाई 28, 1608 ई. को महावतखा मेवाड पर आक्रमण करने के लिये रवाना हुआ। जगह-जगह पर मुगल चौकियां स्थापित कीं और ऊँटाला पहुच गया। यहा पर उसने मेवाड पर आक्रमण करने की योजना बनाई किन्तु इसी मध्य महाराणा ने पहाड़ों से निकल कर उस पर आक्रमण करने का निश्चय किया। मेघसिंह नामक एक कुशल योद्धा ने एक रात्रि को अपने पांच सौ राजपूत साथियों के साथ मुगल सेना पर आक्रमण कर दिया जिससे मुगल सेना को बड़ी क्षति पहुंची। स्वयं महावतखां जैसे सेनापति को अपनी सेना के साथ भागना पडा। उसने अपनी पराजय की कालिख को धोने के लिये प्रत्याक्रमण भी किये किन्तु उसे सफलता नही मिली। जहांगीर ने यह देखकर महावतखां को पुनः बुला लिया तथा मेवाड़ आक्रमण का नेतृत्व अब्दुल्लाखा को सौंपा।

अब्दुल्लाखां का मेवाड़ आगमन—अब्दुल्लाखां को जून 1609 ई. में मेवाड़ की ओर भेजा। मेवाड़ आगमन के बाद उसने जहांगीर को अपनी प्रगति का विवरण देते हुए बताया कि अमरसिंह के समक्ष कई कठिनाइयाँ उपस्थित कर दी गई है तथा वह अब जल्दी ही पकडा या मारा जायेगा। कुछ समय बाद अब्दुल्लाखां ने जहांगीर से कुछ योग्य अधिकारियों के कार्यों का उल्लेख किया जिससे प्रसन्न होकर जहांगीर ने उनका मनसब बढ़ा दिया। तत्पश्चात अब्दुल्लाखां ने राणकपुर की घाटी के निकट राजपूतों पर आक्रमण

---

62 राणारासो, श्लोक 572-97; तुजुके-जहांगीरी, जि. 1, पृ. 146-47

कर दिया जिसमें वह बुरी तरह पराजित हुआ। इस पराजय के पश्चात अब्दुल्लाखा कोई अधिक उन्नति नही कर सका था। फिर भी वह मेवाड़ में रहते हुये छुटपुट आक्रमण अवश्य कर रहा था। तभी एक दिन केलवा गांव के समीप राठौड ठाकुर मुकुन्ददास ने उसकी सेना पर छापा मारा जिसमें उसके कई आदमी मारे गये। तब जहांगीर ने अब्दुल्लाखां की असफलता को देखकर उसे गुजरात का सूबेदार बना कर भेज दिया। 1612 ई. में जहांगीर ने राजा बासू को उसके मनसब मे वृद्धि करके मेवाड की ओर भेजा। ऐसा प्रतीत होता है कि राजा बासू को भी मेवाड़ में असफलता का ही सामना करना पडा होगा क्योंकि समकालीन फारसी इतिहास व तुजके-जहांगीरी में उसके युद्धों का कोई उल्लेख नही मिलता है। जी. एन. शर्मा के अनुसार ऐसा भी विश्वास किया जाने लगा कि उसने राजपूतो से मैत्री संबध स्थापित कर लिया था। संभवत: इसीलिये उसे शीघ्र बुला लिया गया। इसके पश्चात् 1613 ई. में अजीज कोका को भेजा गया परन्तु इस बार भी इतिहास की पुनरावृत्ति ही हुई।

खुर्रम का मेवाड़ अभियान—यों निरन्तर असफलताओं को देख, जहाँगीर ने स्वय मेवाड़ आक्रमण का नेतृत्व करने की सोची। अत: सितम्बर 7, 1613 ई. को अपनी राजधानी से रवाना होकर नवम्बर 8 को वह अजमेर आया।[63] यही से उसने अपने पुत्र खुर्रम के नेतृत्व में एक विशाल सेना मेवाड की ओर भेजी। अजमेर से शहजादा खुर्रम ने दिसम्बर 17 को मेवाड़ के लिये प्रयाण किया। खुर्रम ने अपने संगठन को व्यवस्थित रूप से मेवाड़ मे प्रवेश कराया। गोपीनाथ शर्मा के शब्दों मे "उसने अभियान को सफल बनाने के लिए ऐसी योजना बनाई जिससे सम्पूर्ण मेवाड़ को एक साथ आक्रमण की सीमा में सम्मिलित कर लिया जा सके और प्रत्येक भाग की सैनिक हलचल का एक ही लक्ष्य बना रहे। ज्यों ही उसे मेवाड़ के अन्तरांश मे सफलता मिली त्योंही उसने विभिन्न सेनानायकों के नेतृत्व में छः सैनिक चौकियों की स्थापना कर दी। जमालखां तुर्की को मांडल, दोस्तबेग को कपासन, सैय्यदकाजी को ऊंटाला, अरबखां को नाहरमगरा, साहिबखांन को देबारी और बारहा के सैय्यद को डबोक की चौकी पर बडे सैन्य के साथ नियत किया।" तत्पश्चात् शहजादा स्वय उदयपुर आ गया। यों मुगलों के द्वारा की गई नाकेबन्दी से राजपूतों को विवश हो पहाड़ों मे जाना पडा किन्तु खुर्रम ने उन्हे वहां भी आराम से नहीं रहने दिया। निरन्तर युद्धों के कारण

63 तुज़के-जहांगीरी, जि. 1, पृ. 255-56

मेवाड़ में जन-धन की अत्यधिक क्षति हो चुकी थी। मेवाड़ पर उसने काफी अत्याचार पूर्ण कार्य भी किये थे। मार्ग मे आने वाले गावों को उसने नष्ट करना शुरु किया। स्त्रियों और बच्चो को जिन्दा समाप्त करने की नीति अपनाई। खुर्रम के नेतृत्व ने राजपूतो को अधिक कठिनाई मे डाल दिया। ऐसा माना जाता है कि भीषण कष्टों से थक कर अमरसिंह ने अब्दुर्रहीम खानखाना से एक पत्र में संधि के लिए उसकी सम्मति मांगी। तब खानखाना ने उत्तर मे स्वतन्त्रता को सर्वश्रेष्ठ बताया चाहे वह किसी भी कीमत पर क्यों न मिले।[64] निःसन्देह विगत 47 वर्षों से मुगलो से लोहा लेते हुए मेवाड़ काफी थक चुका था। अतएव मेवाड़ मे जब चारों तरफ अशांति, अव्यवस्था और भूखमरी का वातावरण उत्पन्न हो रहा था तो शांति स्थापित करने की आवाजें उठने लगी।

संधि वार्ता—ऐसे समय मे युवराज कर्ण से सामन्तों ने विचार-विमर्श कर हरिदास झाला और शुभकरण को संधि वार्ता के लिये खुर्रम के पास भेजा। खुर्रम ने इसका स्वागत किया और दोनों को अपने प्रतिनिधि शक्रुल्लाह व सुन्दरदास के साथ जहांगीर के पास अजमेर भेज दिया। जहांगीर भी इस संघर्ष को शीघ्र निपटाना चाहता था। अतः मेवाड़ के लिये सम्मानपूर्वक शर्तों के आधार पर संधि करना स्वीकार कर लिया। यों जब सारी बातचीत हो गई, संधि की शर्तें भी निश्चित हो गई तब सामन्तो और युवराज कर्ण ने अमरसिंह को सारी स्थिति से अवगत कराया। वास्तव में महाराणा संधि नही करना चाहता था। परन्तु युवराज और सामन्तों के दबाव के कारण उसे बाध्य होकर संधि के लिये स्वीकृति देनी पडी।[65] जिससे सन् 1615 ई. में मेवाड़ और मुगलों के बीच एक संधि हुई जिसकी शर्तें निम्नांकित थीं—

1 महाराणा बादशाह के दरबार में कभी उपस्थित नही होगा।
2 महाराणा अपने कुंवर कर्णसिंह को शाही दरबार में भेजेगा।
3 महाराणा शाही सेना मे एक हजार सवार रखेगा।
4 महाराणा को चित्तोड़ इस शर्त पर दे दिया जायेगा कि वह उसकी मरम्मत नही करायेगा।

महाराणा एवं खुर्रम का गोगुन्दा में मिलना हुआ और फरवरी 5,

---

64 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 493-94
65 तुजुके-जहांगीरी, जि. 1, पृ. 275-77; वीरविनोद, भा. 2, पृ. 236-38

1615 ई. को सौहार्द्र पूर्ण वातावरण में परस्पर उपहारों का आदान-प्रदान हुआ। इसके बाद कुंवर कर्णसिंह खुर्रम के पास उपस्थित हुआ तो उसे भी सम्मानित किया गया। सधि की शर्तों के अनुरूप खुर्रम उसे वहां से जहांगीर के पास ले गया। वहां उसे पांच हजार का मनसब व भेंट आदि दी गई। कर्ण का पुत्र जगतसिंह भी जहांगीर के दरबार मे आया तो उसे भी उपहारों से सम्मानित किया गया।

संधि का महत्व—मेवाड़ और दिल्ली की राज्य सत्ताओं के इतिहास में यह सधि अपना विशेष स्थान रखती है। इस सधि ने करीब एक शताब्दी से चले आ रहे मेवाड-मुगल संघर्ष का अन्त कर दिया। इससे पूर्व किसी सिसोदिया वशज ने किसी भी मुगल शासक की प्रत्यक्ष रूप से अधीनता स्वीकार न की थी। जहांगीर की दूरदर्शिता और खुर्रम की सूझ-बूझ के कारण ही संभव हो सकी और इसीलिये गोपीनाथ शर्मा ने इसे "जहांगीर की राजनैतिक विजय और खुर्रम की व्यक्तिगत विजय" बताया है। संधि की शर्तें शेष राजपूत शासकों से हुई सधियों से भिन्न थी। सम्राट ने मेवाड़ के प्रति उदार नीति अपना कर और उसके आतरिक मामलो में हस्तक्षेप न करके एक कुशल राजनीतिज्ञ होने का परिचय दिया है।

कई इतिहासकारो ने इस संधि को स्वीकार करने मे राणा अमरसिंह की बडी कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि अमरसिंह में अपने पिता प्रताप जैसा न तो साहस था न ही मनोबल। उसने प्रताप द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये किये सारे कार्यों को बेकार कर दिया। यदि अमरसिंह में साहस होता तो वह इस संघर्ष को जारी रख सकता था। आधुनिक इतिहासकारों ने इस मत को ठीक नही माना है। बेनीप्रसाद का मत है कि यह ठीक है कि अमरसिंह मे प्रताप जितना साहस न हो फिर भी उसने जो सैन्य संचालन किया, अकबर और जहांगीर के समय जिस ढंग से उसने युद्ध किया उससे यह लगता है कि वह युद्ध से घबराता नही था और न ही अपने ऐश-आराम में व्यस्त रहता था। मेवाड़ की आर्थिक स्थिति दिन-प्रति-दिन बिगड़ती जा रही थी, सारा उपजाऊ भाग मुगलों के अधीन चला गया था, खाद्य-सामग्री का अभाव हो गया था, सैनिक सामग्री कम होती जा रही थी। उधर मुगल प्रशासक अपनी शक्ति की चरम व पराकाष्ठा पर था। प्रारम्भ से ही यह युद्ध दो असमान शक्तियों के बीच मे था। अमरसिंह चाहता तो शायद कुछ समय और लड़ा जा सकता था परन्तु मेवाड़ के लिये अधिक समय तक स्वतन्त्र रहना नजर नही आ रहा था। ऐसे समय में ऐसी उदार शर्तों को न मानना एक भयंकर भूल होती। इस संधि के कारण मेवाड़ को केवल

नाम मात्र की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। महाराणा का मुगल दरबार में जाना कोई आवश्यक नहीं था और न ही कोई डोला मुगल दरबार मे भेजा जाना आवश्यक था। इस संधि से मुगलों को राजपूतों से कोई खतरा नहीं रहा और जहाँ तक मेवाड़ का संबंध है यह पूर्णरूपेण सम्मानजनक संधि थी। इसके लिए अमरसिंह को कदापि दोषी नहीं ठहराया जा सकता है। अतः इसे स्वीकार कर अमरसिंह ने बुद्धिमता का परिचय दिया।

टामसरो ने, जो उन दिनों जहांगीर के अजमेर दरबार मे उपस्थित था, कहा कि जहांगीर ने समझौते से राणा को वश में किया था न कि शक्ति से। संधि की शर्तों से यह स्पष्ट है कि ये सुविधायें केवल मेवाड़ राज्य को ही प्रदान की गई थीं। अतः शर्मा का कथन कि नाम मात्र की स्वतन्त्रता समाप्त होने की कीमत जो अमरसिंह ने दी वह उसके परिणामों को देखते हुए अधिक नहीं थी। जो इतिहासकार महाराणा अमरसिंह की इस बारे में आलोचना करते हैं वे भावावेश से अधिक नजर आते हैं। श्रीवास्तव का मानना है कि मेवाड़ की स्वतन्त्रता समाप्त होने से राजस्थान को अधिक हानि नहीं हुई अपितु आन्तरिक शांति स्थापित होने के साथ-साथ इससे छोटे-छोटे आपसी युद्ध समाप्त हुए। राजस्थान को बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा मिली। परिणामस्वरूप सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक उन्नति के अवसर बढ़े। राजपूतों को अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने के लिए नये अवसर प्राप्त हुए। साथ ही मुगल नीति में भी एक नया अध्याय जुड़ा। अब सम्पूर्ण राजस्थान का सहयोग मुगलों को प्राप्त होने लगा। अकबर के समय से प्रारम्भ की गई नीति जहाँगीर के शासन काल मे पूर्ण रूप से शांति व सहयोग नीति में परिवर्तित हो गई। इसका श्रेय जहांगीर व अमरसिंह दोनों ही को समान रूप से दिया जाना चाहिए। यद्यपि अधीनता नाम मात्र की ही थी तथापि अमरसिंह इस संधि से व्यक्तिगत रूप से काफी दुःखी था और इसीलिए अपने जीवन के शेष काल में राज्य प्रबन्ध युवराज कर्ण को सौंप दिया और स्वयं एकान्त जीवन यापन करने लगा। संधि से उत्पन्न ग्लानि के कारण वह अपने महलों से भी बाहर नहीं आया और शासन आदि कार्यों में किसी भी प्रकार की दिलचस्पी नहीं ली। जनवरी 26, 1620 ई. को उसकी मृत्यु हो गई। इसके बाद कर्णसिंह गद्दी पर बैठा। इसके समय में मेवाड़-मुगल सम्बन्ध मधुर बने रहे।

अमरसिंह का मूल्यांकन—अमरसिंह वीर पिता का योग्य पुत्र था। अपने पिता के समान ही उसने युवराज काल में व स्वयं के शासनकाल में कई सफल युद्धों का संचालन किया। पिता की मृत्यु के बाद से 1614 ई. तक कोई 17

वर्षों तक मुगलो का वीरता पूर्वक सामना करता रहा और मेवाड़ की स्वतंत्रता को बचाये रखा। मुगल सेना के सर्वश्रेष्ठ सेनापति तक मेवाड़ आये किन्तु अमरसिंह की सुदृढ़ नीति के आगे उनकी एक भी न चली। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रताप की गौरवमय कीर्ति के सम्मुख अमरसिंह का व्यक्तित्व धूमिल पड़ गया है अन्यथा वह मेवाड़ के उच्चकोटि के शासकों में से एक था। अमरसिंह एक कुशल सेनापति के साथ-साथ नीतिज्ञ, दयालु, विद्वानों का आदर करने वाला व न्यायी था। टॉड के अनुसार वह प्रताप और अपने कुल का सुयोग्य वंशधर था। वह वीर पुरुष के समस्त शारीरिक और मानसिक गुणों से सम्पन्न तथा मेवाड़ के राजाओं मे सबसे अधिक ऊँचा और बलिष्ठ था। वह उदारता, पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण सरदारो को और न्याय तथा दयालुता के कारण अपनी प्रजा को प्रिय था। उसने मेवाड़ की बिगड़ी हुई प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारने का प्रयास किया। सामन्तों का वर्गीकरण कर उन्हे तीन भागो मे बांटा—प्रथम श्रेणी के सामंत सोहला व द्वितीय श्रेणी के बत्तीसा थे जिनकी कुर्मी महाराणा के समीप लगती थी। इन सामन्तों को कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। तीसरी श्रेणी ग्रासिया व भोमियों की थी। सामन्तो की शक्ति को कम करने के उद्देश्य से अमरसिंह ने इनके स्थानान्तर करने प्रारम्भ कर दिये।

राज्य की आर्थिक दशा सुधारने के लिये भी उसने प्रयास किये तथा नये कस्बे भी बसाये गये थे। मेवाड़ का पश्चिमी हिस्सा जो युद्धों के कारण बर्बाद हो गया था, उसका पुनर्निर्माण करने के लिये अमरसिंह ने किसानों को भूमि वितरण की तथा अन्य आर्थिक सहायता भी प्रदान की गई। सेना संबंधी मामलो में भी अमरसिंह ने रुचि प्रदर्शित करते हुये स्थायी निजी सेना रखना शुरु कर दिया। 'अमरसार' के अनुसार उसकी सेना के प्रमुख अंग रथ, हाथी व पैदल थे। हरिदास झाला के योग्य नेतृत्व में सेना की शक्ति धीरे-धीरे बढती गई। अमरसिंह ने समय की आवश्यकता को समझते हुये सेना में तोपखाना विभाग की अलग से स्थापना की तथा बाहर से कुशल तोपचियो को बुलाकर उनकी नियुक्ति की। उसके समय मे आक्रामक एवं रक्षात्मक दोनो ही प्रकार के शस्त्रों का निर्माण हुआ।

अमरसिंह को स्थापत्य कला मे बड़ी रुचि थी। अमर महल उसी ने बनवाये। फव्वारो, स्नानागारों तथा उपवनों का नवीन शैली से निर्माण करवाया। विद्वानों को आश्रय देना तथा शिक्षा के प्रचार हेतु अनुदान देना

शांतिमय सुधारों के प्रमाण हैं। उसने ब्राह्मणों तथा योग्य व्यक्तियों को खुले हाथ से दान दिया।[66]

बीकानेर का महाराजा रायसिंह—रायसिंह का जन्म जुलाई 20, 1541 ई. को हुआ। उसके जन्म के समय बीकानेर राज्य की स्थिति कोई अच्छी नहीं थी। पिता राव कल्याणमल को एक स्थान से दूसरे स्थान मारा-मारा फिरना पड़ रहा था परन्तु ये दुर्घटनायें रायसिंह के भावी जीवन के लिये लाभदायक सिद्ध हुईं क्योंकि युद्ध विद्या और प्रशासनिक समस्या के व्यावहारिक पक्ष से वह जीवन के प्रारम्भ में ही अवगत हो गया। 20 वर्ष की अवस्था में उसे नागोर के विरुद्ध अपनी सेना का स्वतंत्र नेतृत्व करने का अवसर मिला। इस युद्ध में उसने अपने युद्ध-कौशल का परिचय दिया और हाजीखां के विरुद्ध अभियान में सफल हुआ। आंतरिक प्रशासन में भी उसने अपने पिता को महत्वपूर्ण सहयोग दिया। परन्तु उसे अपनी योग्यता-प्रदर्शन का सुअवसर 1570 ई. के बाद प्राप्त हुआ। उस वर्ष उसके पिता ने नागोर में उपस्थित हो मुगल अधीनता स्वीकार की। तब रायसिंह भी अपने पिता के साथ ही था। यों बीकानेर द्वारा मुगल अधीनता स्वीकार कर लेने के तुरन्त पश्चात् बादशाह अकबर ने राव कल्याणमल को अपने राज्य में जाने की आज्ञा दे दी और उसके पुत्र रायसिंह को अपने पास ही रखा। अकबर के पूरे शासन काल में रायसिंह ने पहले युवराज फिर बीकानेर के शासक के रूप में बादशाह की अपूर्व सेवायें की। वह मुगल बादशाह के विश्वासपात्रों में से एक था। अकबर के अंतिम वर्षों में उसका मनसब चार हजारी हो गया जो मानसिंह व शाही खानदान के अलावा किसी को भी नहीं मिला।

करणीसिंह ने लिखा है कि कश्मीर से दक्षिण तक व बंगाल से बलूचिस्तान तक जितने भी युद्ध लड़े गये थे तथा जिनमें रायसिंह ने भाग लिया था उन सभी में उसने अपने सफल सेनानायक के गुणों का परिचय दिया।

युवराज के रूप में मुगल सेवायें—सबसे पहला कार्य रायसिंह को अकबर ने अपने गुजरात अभियान के समय सौंपा। मारवाड़ से जाने वाले गुजरात मार्ग को सुरक्षित रखने का उत्तरदायित्व उसे सौंपा गया जिसको उसने सफलता पूर्वक निभाया। जुलाई 2, 1572 ई. को अकबर गुजरात-विजय के लिये ससैन्य निकला तब रायसिंह भी मुगल सेना के साथ ही था। अकबर ने रायसिंह को युवराज काल में ही 1572 ई. में जोधपुर का अधिकारी बना दिया था। गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार संभवतः वह 1588 ई. तक

---

66 जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दि मुगल एम्परर्स, पृ. 123

वहां का अधिकारी बना रहा। इससे अकबर के कई स्वार्थों की पूर्ति हो रही थी जिससे राठौडों की फूट को बनाये रखने में यह विशेष उल्लेखनीय कदम था। अब राणा प्रताप को भी मारवाड़ मे सहायता मिलने में कठिनाई उत्पन्न हो गई थी। मनोवैज्ञानिक रूप मे भी देखा जाय तो रायसिंह के लिये यह एक अच्छी बात थी कि जिस शक्ति ने बीकानेर राज्य को दबाया उसी को वह अपने अधीन किये हुये था। वास्तव में "यह कार्य अकबर की भेद नीति का परिष्कृत रूप था।"

उधर इब्राहीम हुसैन मिर्जा मालवा व गुजरात में अपना अधिकार स्थापित करने लगा तो मुगल सैनिको ने खदेड़ना शुरू किया जिससे वह राजस्थान की ओर आया और जालोर होता हुआ नागोर पहुंच गया। इधर जब रायसिंह को इस बात की सूचना मिली तो वह ससैन्य नागोर की ओर गया और गुजरात से भाग कर आये हुए इब्राहीम हुसैन मिर्जा को करारी हार दी। इसी प्रकार अकबर ने अपने द्वितीय गुजरात अभियान में रायसिंह को नियुक्त किया और वह अगस्त 1573 ई. मे अकबर के साथ मुहम्मद हुसैन मिर्जा के विद्रोह का दमन करने के लिए गुजरात गया। तब मुगल सेना से हुये मुकाबले मे मिर्जा सफल नही हो सका और उसे बंदी बनाकर रायसिंह को सौंपा गया जिसे उसने कत्ल करवा दिया।[67] अहमदाबाद के पास हुये इस युद्ध में रायसिंह ने जिस वीरता का प्रदर्शन किया उसकी अबुलफजल ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। सम्राट द्वारा उसे उचित पारितोषिक भी दिया गया। दलपत विलास के अनुसार तो सिरसा, हासी और मारोठ के परगने उसको दिये गये जिनका वार्षिक राजस्व कर करीब एक लाख बीस हजार था।

शासक के रूप में मुगल सेवायें—पिता कल्याणमल की मृत्यु के पश्चात जनवरी 24, 1574 ई को रायसिंह बीकानेर की राजगद्दी पर बैठा। इस काल में भी वह मुगलों से मधुर सबंध की नीति का अनुकरण करता रहा। अकबर ने उसे राजा का विरुद् तथा तारीखे-फरिश्ता के अनुसार 22 परगने उसे जागीर में दिये।

1574 ई. मे जब अकबर अजमेर में था तब उसे मारवाड़ के चन्द्रसेन के विद्रोही हो जाने तथा सिवाना के गढ को अपने अधीन कर, शक्ति संगठन का केन्द्र बना लेने के समाचार ज्ञात हुये तो उसने (अकबर ने) रायसिंह को कई योग्य सरदारो के साथ चन्द्रसेन को दण्ड देने के लिए भेजा। रायसिंह ने

---

67 अकबरनामा, जि. 3, पृ. 59-62, 81-82; आईने-अकबरी, जि. 1, पृ. 463

कूटनीति से काम लेते हुए चन्द्रसेन की शक्ति कम करने लिए उसके साथी समर्थकों को तोड़ना प्रारम्भ किया। इस संदर्भ मे कल्ला को सोजत छोड़ने के लिए मजबूर किया। वह सोजत छोड़ कर गोरम के पहाड़ो मे चला गया तो वहा भी उसका पीछा किया गया। अन्ततः विवश हो, वह मुगल अफसरों से मिल गया। चन्द्रसेन की शक्ति तो कम हो गई किन्तु वे सिवाना नही ले सके। इस पर अकबर ने उनकी सैनिक शक्ति और अधिक बढ़ाते हुए शहबाज़खां को नियुक्त कर भेजा जिसने कुछ ही दिनों में सिवाना गढ पर अधिकार कर लिया।

1576 ई. में अकबर को यह मालूम हुआ कि जालोर का ताजखां व सिरोही का सुरताण देवड़ा राणा प्रताप के साथ मिलकर उपद्रव कर रहे हैं तो उसने रायसिंह को भेजा। रायसिंह के ससैन्य जालोर पहुचते ही ताजखा ने अधीनता स्वीकार कर ली। इससे मुगल सैनिको की शक्ति बढ जाना स्वाभाविक ही था। अब वे सिरोही की ओर बढे। सुरताण ने भी स्थिति को देखते हुए रायसिंह के साथ मिल जाना उचित ही समझा। अतः वह भी रायसिंह के पास आ गया और ताजखा के साथ अकबर की सेवा मे चला गया किन्तु सुरताण वहा अधिक नही ठहरा और कुछ दिनो बाद भाग आया। तब सम्राट ने पुनः रायसिंह को ही यह काम सौपा। रायसिंह जब गढ को घेरे हुये ही था तब अवसर पाकर सुरताण ने रायसिंह के परिवार को जो सिरोही की तरफ आ रहा था, आक्रमण कर दिया किन्तु राठौडो की सूझ-बूझ से उन्हे बचा लिया गया और सुरताण आबू भाग गया। तब मुगल सेना ने वहां भी उसका पीछा किया और आबू को हस्तगत करने के बाद रायसिंह, सुरताण को अकबर के पास ले गया। रायसिंह ने सुरताणकी शक्ति को कमजोर करने के लिये सिरोही के दो हिस्से कर दिये, एक भाग पर सुरताण का और दूसरे भाग पर जगमाल का अधिकार रखा गया। सुरताण इससे कभी संतुष्ट होने वाला नही था। अतः उसने फिर मुगलो से युद्ध किया जिसमें 1583 ई. मे जगमाल को हरा दिया।[68] गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार यों 1583 ई. तक किसी न किसी प्रकार से मुगल व सुरताण देवडा मे संघर्ष चलता रहा जिसमें कभी दोनो शक्तियों मे मेल रहा तो कभी युद्ध भी हुआ। सारी स्थिति को सभाले रखने मे रायसिंह का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

---

68 अकबरनामा, जि. 3, पृ. 266-67, 278-79; ओझा, बीकानेर राज्य का इतिहास, पृ. 172-74, 176-77

1581ई. मे काबुल का शासक हकीम मिर्जा, अकबर के विरुद्ध भारत की ओर आ रहा था तब रायसिंह को ही उसे दबाने के लिये भेजा गया था। इतना ही नही उसे अटक, बंगाल, बलूचिस्तान, सिंध, दक्षिण आदि अभियानों में नियुक्त किया गया। अनेक सूबों का उसे सूबेदार भी नियुक्त किया गया। 1583 ई में पंजाब का, 1585 ई. में खानदेश का सूबेदार नियुक्त किया गया। 1586 ई. में उसकी नियुक्ति भगवानदास के साथ लाहौर में की। 1591 ई. मे रायसिंह को खानखाना की सहायतार्थ कंधार भेजा गया। 1593 ई मे उसे दक्षिण मे जाने की आज्ञा दी गई। इस नियुक्ति का रायसिंह ने स्वागत नही किया। वह दक्षिण में जाने की आज्ञा का कुछ समय तक टालमटोल करता रहा किन्तु अन्त मे उसको जाने के लिये बाध्य होना पड़ा। दक्षिण में जाने की अनिच्छा कुछ आंतरिक कारणो से हो सकती है, मुख्यतः उसके द्वारा पदच्युत प्रधान मंत्री कर्मचन्द का मुगल दरबार में उसके खिलाफ वातावरण तैयार करना। भटनेर दुर्घटना, पुत्र दलपत की गतिविधियां आदि प्रमुख थी परन्तु कुछ ही वर्षों में सम्बन्ध पूर्ववत् हो गये और इसीलिये 1600 ई. मे अकबर ने माधोसिंह को हटाकर नागोर आदि परगने रायसिंह को जागीर मे दिये। 1601 ई. मे अबुलफजल की सहायता के लिए उसे नासिक भेजा गया और 1603 ई. में मेवाड-अभियान में उसकी नियुक्ति शहजादा सलीम के साथ हुई। इस प्रकार से अकबर के काल में रायसिंह ने मुगलों की अपूर्व सेवाएँ की जिसके फलस्वरूप उसको अनेक जागीरें प्राप्त हुईं।

अकबर के उत्तराधिकारी जहांगीर के समय में संबंध इतने मधुर नही रहे। खुसरो के विद्रोह के समय उसको सौंपे गये उत्तरदायित्व की उपेक्षा कर वह अपने राज्य में लौट आया। संभवत: उसको यह विश्वास था कि जहांगीर का शासनकाल अधिक समय तक नही चल सकता, अत: उसने निरन्तर मुगल फरमानो की अवज्ञा की। यहां तक कि जहांगीर के विरोधियों को भी उसने अपने राज्य में आश्रय दिया किन्तु 1608 ई. तक स्थिति में परिवर्तन आ गया। जहांगीर की सुदृढता को देखकर रायसिंह पुनः मुगल दरबार में उपस्थित हुआ। सम्राट ने भी उसकी गलतियों को क्षमा कर दिया और रायसिंह ने अपने जीवनकाल के शेष चार वर्षों में पुन: मुगल साम्राज्य के प्रसार में अपनी सेवायें अर्पित कर दी। इस काल मे वह दक्षिण मे भी गया। अपनी सेवाओं से उसने जहांगीर को भी प्रभावित किया। तब उसका मनसब भी पांच हजार हो गया था। बुधवार, जनवरी 22, 1612 ई. को बुरहानपुर मे उसकी मृत्यु हो गई। यों 1612 ई. तक मुगल-बीकानेर संबंध मधुर बने रहे।

व्यक्तित्व एवं उपलब्धियां—ओझा के शब्दों में रायसिंह "थोड़े समय में ही अपने वीरोचित गुणों के कारण यह अकबर का प्रीति पात्र और विश्वास भाजन बन गया। बादशाह की तरफ की अनेको चढाइयों में वह भी साथ था ....अधिकतर शाही सेवा में सलग्न रहने पर भी वह अपने राज्य की तरफ से कभी उदासीन न रहा और उधर के उपद्रवी सरदारों पर उसने कड़ी नजर रखी। शाही दरबार में उस समय जयपुर को छोड़कर बीकानेर से ऊंचा सम्मान अन्य किसी राज्य का न था।... उसके वीरता आदि गुणों पर विमुग्ध होकर अकबर ने उसे कई बार जागीरें आदि दी थी।"

रायसिंह न केवल एक अच्छा सेनानायक ही था अपितु एक अच्छा विद्वान एवं विद्वानों का आश्रयदाता भी था। धर्मशास्त्र, ज्योतिष और आयुर्विज्ञान का वह अच्छा ज्ञाता था। उसका शासनकाल डिंगल, संस्कृत, जैन साहित्य के लिए स्वर्ण युग था। इस काल में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई जिसमे रायसिंह महोत्सव, ज्योतिषरत्नाकर आदि विशेष है। 'रायसिंह महोत्सव' ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्व है। इसमें राव सीहा से लेकर रायसिंह तक की वंशावली एवं उपलब्धियां श्लोकबद्ध है। 'ज्योतिषरत्नाकर' की टीका का नाम 'बालबोधिनी' है। बीकानेर दुर्ग के अन्दर जइता नामक विद्वान का लिखा संस्कृत भाषा में खुदा एक बड़ा शिलालेख है जो ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। महेश्वर विरचित 'शब्द भेद' की टीका जैन साधु ज्ञानविमल ने की थी। एक अज्ञात कवि ने 'रायसिंह की वेल' ग्रन्थ की रचना की जिसमें 43 गीत हैं जो उस समय की गुजरात की लड़ाइयों के बारे मे जानकारी उपलब्ध कराते हैं। रायसिंह का भाई पृथ्वीराज भी बहुत अच्छा विद्वान था। 'वेली कृष्ण रुक्मणीरी' उसका महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रसिद्ध विद्वान उसके दरबार में रहते थे जिन्हें समय-समय पर इनाम-इकराम देकर सम्मानित किया करता था। उन्हें जागीरें, करोड़ अथवा सवा करोड़ पसाव दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं।

रायसिंह स्वभाव से बड़ा नम्र, दयालु, धर्म सहिष्णु, उदार एवं दानी था। इसीलिए ख्यातों मे उसे उस समय का कर्ण की संज्ञा दी गई है। अपनी शादी के समय उसने करीब दस लाख रुपये चारणों को दिए। इसी तरह मे कई महत्वपूर्ण चारणों को दान दिया। कई ब्राह्मणों, विद्वानों, निर्धनों को भी उसने समय-समय पर दान देकर श्लाघनीय कार्य किया। अपने शासनकाल में रायसिंह ने करीब पच्चीस गांव, 2000 हाथी, 50 हजार घोड़े तथा लाखों रुपये दान के रूप में दिये। केवल बीकानेर में ही नहीं वरन् अपने कार्य क्षेत्र के स्थानों मे भी उसने जन सामान्य के लिये धर्मशालाओं का निर्माण

कराया। 1578 ई. में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा तब उसने राज्य की ओर से 13 महिने तक अन्न की व्यवस्था की तथा रोगियों के लिये औषधि का प्रबन्ध कराया। यो देखा जाय तो रायसिंह हिन्दू धर्म में विश्वास रखता था किन्तु एक योग्य शासक में जो गुण होने चाहिये उसके अनुरूप वह धर्म सहिष्णु भी था। उसने कई जैन मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया, कई जैन मूर्तियों को उसने सुरक्षित जैन मन्दिर मे रखवा दी। 'कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तनक काव्य' में उसे 'राजेन्द्र' कहा है और उसके सम्बन्ध में लिखा है कि वह विजित शत्रुओं के साथ भी बड़े सम्मान का व्यवहार करता था।"[69]

रायसिंह की भवन निर्माण मे बडी दिलचस्पी थी। उसने अपने मंत्री कर्मचन्द के निर्देशन में बीकानेर का किला सोमवार, फरवरी 17, 1589 ई. को बनवाना शुरु किया जो पाच वर्ष बाद गुरुवार, जनवरी 17, 1594 ई. को पूर्ण हुआ। जी. एन. शर्मा के शब्दों मे "यह गढ राज प्रासादों, बगीचों, सुदृढ दीवारो और द्वारों से सुसज्जित है, जिनमें मध्य युगीन शिल्प शैली की प्रधानता है। कहीं-कही मुगल शैली को भी भारतीय शैली के साथ इस प्रकार सयोजित कर दिया है कि शिल्प दृष्टि से उसमें अद्भुत चमत्कृति उत्पन्न हो गयी है।" उसके समय में मन्दिर एवं जीर्णोद्धार कार्य भी खूब हुआ जिनमें जैन मन्दिर प्रमुख हैं।

राज्य की राजस्व और वित्तीय व्यवस्था को उसने काफी सुधारा। किसानों और व्यापारियों को तंग करके अधिक आमदनी एकत्रित नही की अपितु वह उत्पादन वृद्धि के कारण संभव हो सकी। राज्य में आंतरिक शाति थी। अतः व्यापार वृद्धि भी खूब हुई। उसी के प्रयासों से अनेक उद्योगों को पुनर्जीवित किया जा सका तथा नये उद्योग स्थापित किये गये। वास्तव मे रायसिंह के शासन के चार दशकों मे बीकानेर की चहुंमुखी प्रगति हुई। इस काल मे नया प्रशासनिक ढाचा प्रारम्भ हुआ। राज्य को आर्थिक स्थायित्व, हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक समन्वय तथा साहित्य, कला एवं वास्तुकला का विकास हुआ। शताब्दियो तक इतना योग्य शासक बीकानेर की गद्दी पर नही बैठा और उसी के प्रयासों से एक अव्यवस्थित राज्य को व्यवस्था प्रदान की जा सकी।

रायसिंह की मृत्यु के समय उसका लड़का दलपत जो बीकानेर में था, उसने अपने आपको राजा घोषित किया। यद्यपि उसके पिता ने छोटे पुत्र सूरसिंह को उत्तराधिकारी घोषित किया। जहांगीर ने भी दलपत को ही बीकानेर

---

69 वही, पृ. 205

का शासक स्वीकार किया। यह प्रथम अवसर था जबकि उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मुगल सत्ता ने अपना अधिकार बताया। वैसे दलपत ज्येष्ठ पुत्र था, साधारणतः उसी को गद्दी मिलनी चाहिये थी फिर भी जहांगीर के समर्थन से ही वह राज्य प्राप्त कर सका। ऐसी आशा थी कि इस काल मे बीकानेर और मुगलों के संबंध काफी घनिष्ठ रहेंगे किन्तु इसका परिणाम विपरीत ही रहा। अगस्त 1612 ई. में जब दलपत को मिर्जा रुस्तम की सहायता के लिये थट्टा मे जाने के आदेश दिये परन्तु दलपत उधर जाने की बजाय बीकानेर चला आया और अपने रेगिस्तानी प्रदेश में दुर्ग बनाने लगा। उधर उसने अपने भाई सूरसिंह की भी काफी जागीर छीन ली। सूरसिंह मुगल दरबार मे गया तब जहांगीर ने दलपत के बजाय सूरसिंह को राज्य देने की घोषणा की तथा एक मुगल सेना इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये बीकानेर की ओर भेजी। दलपत के लिए इस सेना का सामना करना संभव नहीं था। वह युद्ध के दौरान पकड़ा गया और उसे बंदी बना कर अजमेर भेज दिया गया। अब सूरसिंह जिसको रायसिंह ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था, बीकानेर का शासक हुआ था।

उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर मुगलों का हस्तक्षेप आगे जाकर भावीकाल मे राज्य के लिये बहुत ही अहितकारी सिद्ध हुआ परन्तु इस हस्तक्षेप से मुगल सम्राट अपने विश्वसनीय व्यक्तियों को गद्दी पर बिठाने में सफल हो सके। सूरसिंह ने अपने सम्पूर्ण शासन काल मे मुगलों से अच्छा सम्बन्ध बनाये रखा और 1615 ई. तक तो दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध बने रहे। इस प्रकार कतिपय अपवादो को छोड़ 1570 ई. से 1615 ई. तक बीकानेर-मुगल संबंध मधुर बने रहे।

आमेर का मानसिंह—मानसिंह का जन्म दिसम्बर 21, 1550 ई. को हुआ था। इसके पिता के बारे में विवाद है—बदायूनी, फरिश्ता, निजामुद्दीन ने इसको भगवानदास का पुत्र माना है जो भारमल के राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। जहांगीर का कहना है कि मानसिंह का पिता भगवंतदास था तथा उसका दादा भारमल था। अबुलफजल ने भी मानसिंह को भगवंतदास का लड़का बताया है। राजस्थानी साधनों में इसके पिता के दोनो ही नाम मिलते हैं। नैणसी की ख्यात तो उसके पिता का नाम भगवानदास बताती है परन्तु दयालदास की ख्यात ने मानसिंह को उत्तराधिकारी माना है। वंशभास्कर ने भगवन्तदास का पुत्र माना है। मथुरालाल शर्मा ने मानसिंह को राजा भारमल का भतीजा लिखा है। वी. एस. भार्गव ने मानसिंह को राजा भगवन्तदास का दत्तक पुत्र माना है। आर. एन. प्रसाद विभिन्न साधनों के

आलोचनात्मक अध्ययन के बाद इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मानसिंह, भगवानदास का पुत्र था जो अपने पिता की मृत्यु के बाद आमेर का उत्तराधिकारी घोषित हुआ।

कछावा वंशावली के अनुसार जन्म के समय नक्षत्र ठीक न होने से मानसिंह को आमेर से दूर रखना आवश्यक हो गया था। अतः अपने जीवन के प्रारम्भिक 12 वर्ष अपनी माता की देखरेख में आमेर से चालीस मील दूर मोजमाबाद में बिताये। 12 वर्ष की आयु में वह पहली बार आमेर लाया गया और इस वर्ष आमेर राज्य की सबसे महत्वपूर्ण घटना, भारमल की लड़की की अकबर से शादी हुई और इसलिए मानसिंह अपने पिता व दादा के साथ 12 वर्ष की अवस्था में मुगल सेवा में नियुक्त हो गया। 1562 से 1614 ई. तक अर्थात् अपनी मृत्यु तक उसने मुगल साम्राज्य की खूब सेवा की। अकबर की मृत्यु से पूर्व मानसिंह सात हजार का मनसबदार बन चुका था। यह मनसब अब तक केवल शाही राजकुमारों तक ही सीमित था। मानसिंह ने मुगल साम्राज्य के विस्तार में अकबर की काफी सेवा की। अपने जीवन का अधिकांश भाग अपने राज्य से दूर मुगल सेवाओं में व्यतीत किया। वह साम्राज्य का सर्वाधिक शक्तिशाली स्तम्भ माना जाने लगा। मथुरालाल शर्मा का कहना है कि अकबर 12 वर्षीय मानसिंह से प्रथम भेंट में ही इतना प्रभावित हुआ कि वह उसे अपने साथ आगरा ले गया। उसे इनाम दिया तथा मुगल साम्राज्य की सैनिक सेवा में उसकी नियुक्ति की। इतना ही नहीं अकबर मानसिंह को सदैव अपने साथ रखता था।

मानसिंह ने सर्वप्रथम अपनी सेवायें राजस्थान में शुरु की। 1569 ई. में जब वह 18 वर्ष का ही था तब अकबर के साथ रणथम्भोर के घेरे में उपस्थित था और उसने अपनी चतुराई से अकबर और सुर्जन हाड़ा में समझौता करवाया।

1572 ई. में अकबर गुजरात-विजय करने गया तब वह अपने साथ भगवन्तदास एवं मानसिंह को भी ले गया और मानसिंह ने शेरखा फौलादी के विद्रोही पुत्रों का पीछा किया तथा उनका धन माल आदि लूट लिया। दिसंबर में उसे भगवन्तदास के साथ सूरत-बन्दरगाह की रक्षार्थ भेजा गया। मानसिंह ने सरनाल के युद्ध में विशिष्ट योग्यता प्रदर्शित की। यों गुजरात-विजय के उपरान्त अकबर ने मानसिंह को डूंगरपुर की ओर भेजा। डूंगरपुर के शासक रावल आसकरण ने तब मुगल सेना के साथ युद्ध करना ही उचित समझा। अतः अप्रैल 1573 ई. में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें रावल आसकरण के दो भतीजे काम आए। मानसिंह ने आसकरण को पराजित करके डूंगरपुर

को लूटा। इसके बाद मानसिंह उदयपुर की ओर आया, उसकी राणा प्रताप से बातचीत तो हुई किन्तु राणा ने मुगल खिलअत स्वीकार नहीं की। अकबर ने मानसिंह को पुनः गुजरात जाने का आदेश दिया किन्तु अहमदाबाद के युद्ध में विद्रोही मुहम्मद हुसैन मिर्जा के मारे जाने से उसे राह मे ही वापस बुला लिया। 1574 ई में अकबर बिहार मे दाऊदखां के विद्रोह को दबाने के लिए गया तब वह अपने साथ मानसिंह को भी ले गया। दाऊदखां के विद्रोह को दबाने में मानसिंह का प्रमुख हाथ था। 1575 ई. के शुरु में वह सम्राट के साथ फतहपुर सीकरी लौट आया। अबुलफजल ने भी मानसिंह की वीरता, अदम्य साहस, शौर्य, स्वामी भक्ति, कार्यकुशलता तथा चतुराई की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः सम्राट मानसिंह की योग्यता से काफी प्रभावित था। वास्तव में मानसिंह ही पहला हिन्दू मनसबदार था जिसको अकबर ने प्रताप के विरुद्ध भेजी जाने वाली मुगल सेना का नेतृत्व सौंपा। यों तो इस नियुक्ति के पीछे अकबर के और भी अनेक उद्देश्य हो सकते थे परन्तु इतना निश्चित है कि मानसिंह पर उसका दृढ विश्वास था। हल्दीघाटी के युद्ध में राणा की विजय मे अकबर मानसिंह से नाराज अवश्य हुआ किन्तु यह अप्रसन्नता अधिक दिनों तक नही रही और शीघ्र ही सम्राट उससे प्रसन्न हो गया क्योंकि अन्य अभियानों में मानसिंह को साथ रखना अत्यावश्यक था। मानसिंह ने खीचीवाड़े के विद्रोह को भी दबा दिया तथा मालवा की प्रशासनिक व्यवस्था को ठीक कर दिया जिसमे अकबर बड़ा खुश हुआ और उसे 3500 का मनसब दिया गया। इतना ही नही इसके अलावा भी अकबर के शेष शासन-काल में मानसिंह को अनेक महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया गया। मुगल राज्य को जिन प्रदेशों में कठिन समस्याएं होती थी वहां विशेषतौर से मानसिंह को भेजा जाता था। उसे उत्तर-पश्चिम का सूबेदार नियुक्त करके भेजा गया। उसने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेशों में फैली अव्यवस्था को ठीक किया। अपनी इसी सूबेदारी में उसने काबुल पर अधिकार किया, अफगानों के विद्रोह को दबाया। मानसिंह की यह विजय उसकी प्रसिद्धि का अगला मोड सिद्ध हुआ। आर. एन. प्रसाद के अनुसार काबुल में मानसिंह के गौरवपूर्ण कार्यों से सम्राट अकबर काफी खुश हुआ तथा उसकी व्यवस्था मे वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। सम्राट ने 'धर्मान्ध मुसलमान रोशनाईयों का दमन करने का भार भी मानसिंह को सौंपा जिसे उसने सफलतापूर्वक निभाया। तब अकबर ने युसुफजाईयो के दमन का उत्तरदायित्व भी उसे सौंपा।

बिहार में जब वहां के जमींदार निरन्तर विद्रोह कर रहे थे तब 1587 ई. में मानसिंह को वहा का सूबेदार बनाया गया तथा वह इस पद पर सात

वर्ष तक रहा। प्रसाद के अनुसार बिहार के इतिहास में मानसिंह का यह काल स्वर्णयुगीन काल था। यहां रहते हुये उसने विद्रोह का ही दमन नहीं किया अपितु शांति व सुरक्षा की स्थापना भी की। इन आठ वर्षों में बिहार की बहुंमुखी उन्नति हुई। 1590-92 ई. तक अफगान विद्रोह को दबाने के लिये मानसिंह उड़ीसा में भी गया और उसे वहां पर आंशिक सफलता प्राप्त हुई। उसने कई स्थानों पर अधिकार करते हुए जुलाई 1592 ई. में जगन्नाथ पर अधिकार कर लिया। अन्ततः विवश हो अफगानों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार करली और उड़ीसा पर मुगलों का स्वामित्व हो गया। बंगाल की जब स्थिति बिगड़ती गई तब भी मानसिंह को उधर भेजा गया। अन्य स्थानों के समान यहां भी उसे सफलता मिली और अकबर की मृत्यु के कुछ समय पूर्व तक वह वहीं बना रहा। इसी कारण उसको केन्द्र में बुला लिया गया परन्तु यहां मानसिंह को उतनी सफलता न मिल सकी जितनी उसने प्रान्तों में अर्जित की। यहां उसका योगदान षड़यंत्रकारी के रूप में रहा। जहांगीर के बजाय मानसिंह ने खुसरो को राज्य दिलाने के लिए प्रयास किया और इसीलिए अकबर की मृत्यु के बाद जब जहांगीर सम्राट बना तब उसका प्रभाव कम होने लगा।

जहांगीर ने मानसिंह का मनसब घटा कर पांच हजार कर दिया और बंगाल में नियुक्त किया। बंगाल में मानसिंह को कोई विशेष सफलता भी नहीं मिली और स्वयं जहांगीर भी यह नहीं चाहता था कि वह दीर्घ काल तक वहां रहे। अतः आठ माह की अल्पकालीन सूबेदारी के बाद ही मानसिंह को बंगाल से हटाकर रोहतासगढ़ के विद्रोहियों को दबाने के लिये भेजा गया जहां उसे कुछ समय बाद ही सफलता मिल गई। किन्तु जहांगीर ने उसे वहां से भी हटा दिया और शहजादा परवेज व खानखाना के साथ सहायक सेनानायक के रूप में दक्षिण में नियुक्त किया। जुलाई 1609 ई. को आमेर का राजा दक्षिण के लिये रवाना हुआ। दक्षिण में रहते हुए मानसिंह का मलिक अम्बर से खिरकी का युद्ध हुआ जिसमें वह (मानसिंह) बुरी तरह से पराजित हुआ। यों देखा जाय तो दक्षिण में मानसिंह ने कोई उल्लेखनीय सफलता अर्जित नहीं की। प्रसाद का मत ठीक ही प्रतीत होता है कि जीवन के अन्तिम वर्षों में मानसिंह अपने परिवार वालों की मृत्यु से काफी निराश हो चुका था। जहांगीर ने भी उस पर विश्वास नहीं किया था अतः उसका हृदय टूट चुका था। इतना ही नहीं उसे एक सहायक सेनानायक के रूप में नियुक्त किया था जो उसका खुला अपमान था। ऐसे में वह अपनी वीरता का परिचय दे, असम्भव लगता है। जुलाई 6, 1614 ई. को ऐलिचपुर में मानसिंह की मृत्यु हो गई।

यों राजस्थान के एक महान व्यक्तित्व का अन्त हुआ। यद्यपि राजस्थान में उसका कार्यकाल बहुत ही कम रहा तथापि कम अवधि में भी उसने राज्य को समृद्ध बनाने का यथेष्ट प्रयास किया। मानसिंह के समय में आमेर राज्य की सीमा वृद्धि हुई। बिहार व बंगाल से जो धन अर्जित किया गया वह सारा राज्य में लगवाया गया। उसने एक सुदृढ़ प्रशासन स्थापित किया जो उसकी अनुपस्थिति में भी बराबर चलता रहा। आमेर राज्य का भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण होने का सर्वाधिक श्रेय मानसिंह को ही है।

मानसिंह का व्यक्तिगत जीवन—मानसिंह ने आजीवन मुगल साम्राज्य की सेवा की। उसकी वीरता, साहस एवं वफादारी से अकबर इतना प्रभावित हुआ कि उसे सात हजार का मनसब व फर्जन्द की उपाधि प्रदान की तथा सम्राट प्रायः उसे अपने साथ ही रखा करता था। वह अकबर का प्रमुख विश्वासपात्र था। वह एक योग्य सेनानायक एवं सफल प्रशासक के रूप में भी ख्याति प्राप्त कर चुका था। मानसिंह के व्यक्तिगत जीवन के बारे में प्रसाद के अनुसार अनावश्यक व अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। जहांगीर ने भी उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में अनेक अनावश्यक बातें लिखी जिसको आधार बनाकर यूरोपियन इतिहासकारों ने जो वर्णन किये वो उचित नहीं जान पड़ते हैं। जहांगीर ने उसके अन्तःपुर में स्त्रियों की संख्या 1500 बताई परन्तु उपलब्ध सतीदास साहित्य को देखने से यह संख्या दो दर्जन से अधिक नहीं पायी जाती है और उसका व्यक्तिगत जीवन किसी भी तरह से ऐसा नहीं था कि वह आलोचना का कारण बने। एक लम्बे समय तक मुगलों के साथ रहने के कारण मानसिंह के जीवन में हमें मुगलिया प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

मानसिंह एक धार्मिक प्रवृति का व्यक्ति था और पुरातन पद्धतियों में विश्वास करता था। फिर भी उसमें सभी धर्मों के प्रति उदारता व सहिष्णुता की भावना थी। मानसिंह को जब अकबर ने 'दीने इलाही' को स्वीकार करने को कहा तो उसने स्पष्टतः मना कर दिया। मुस्लिम संतों एवं उलेमाओं द्वारा उसका धर्म परिवर्तन करने के कई प्रयास किए गए किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। यों उसका हिन्दू धर्म में पूर्ण विश्वास था। वह दरवेशों का काफी आदर करता था। मामू भान्जे की दरगाह के लिए उसने फरमान जारी कर अपनी सहिष्णुतावादी नीति का उदाहरण प्रस्तुत किया। उसने कई देवी-देवताओं के मन्दिर बनवाये तथा विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियां स्थापित कराईं। उसकी आज्ञा से उड़ीसा, आमेर, बिहार, बंगाल आदि में मन्दिरों का

निर्माण हुआ। आमेर की शिलादेवी के मन्दिर का निर्माता भी वही था।

मानसिंह एक योग्य सेनापति एवं कुशल प्रशासक होते हुए भी एक अच्छा साहित्यकार एवं विद्वानों का आश्रयदाता था। अकबर कालीन अनेक साहित्यकारों से उसका अच्छा परिचय था। वह स्वयं संस्कृत एवं फारसी का अच्छा जानकार था। उसने कुरान शरीफ का भी अध्ययन कर रखा था। उसके बनाए हुए कुछ फुटकर छन्द भी उपलब्ध होते हैं जिससे यह कहा जा सकता है कि वह एक कवि भी था। उसके काल में राय मुरारीदास ने 'मानप्रकाश', जगन्नाथ ने 'मानसिंह कीर्ति मुक्तावली', दादूदयाल ने 'वाणी' की रचना की। 'महाराज कोष' एवं 'मानचरित्र' ग्रन्थ भी इसी काल मे लिखे गये थे। उसने कवियों को भी खूब दान दिया। कवि हरनाथ को उसने एक बार पांच लाख रुपयों का दान दिया था।[70]

निर्माता के रूप में भी मानसिंह ने आमेर व अन्य स्थानों पर अनेक भवन निर्माण करवाये थे। आमेर का महल, जिसका राजस्थान के महलों में वास्तुकला की दृष्टि से विशेष महत्व है, उसका निर्माण इसी के काल में प्रारम्भ हुआ था। इस महल का निर्माण कार्य मिर्जा राजा जयसिंह के समय में पूर्ण हुआ था। इस महल मे मुगल प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इसकी समानता ग्वालियर के महलों से की जा सकती है। आमेर का दीवान-ए-आम व महलों के गुम्बद आदि पर मुगल प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। आमेर-दुर्ग में अन्य महत्वपूर्ण स्थान यहा की बारादरी, प्रकोष्ठा व मानसिंह की विभिन्न रानियो के निवासस्थान, वास्तुकला की दृष्टि से विशेष महत्व के है। आमेर-महलो के पास ही 'जगतशिरोमणि' मन्दिर भी इस काल की अनुपम कृति है। यह सम्पूर्ण मन्दिर सगमरमर का बना हुआ है। यहां के तोरण द्वार उस काल की उच्चतम कला को प्रदर्शित करते हैं। मुख्य मन्दिर के सामने एक छोटा मन्दिर भी है जिसमे विभिन्न देवी-देवताओ की मूर्तिया हैं। इस मन्दिर के निर्माण मे करीब दस लाख रुपया खर्च हुआ था। आमेर के अतिरिक्त बिहार एवं बंगाल में भी मानसिंह ने बहुत से मन्दिरों का निर्माण करवाया और प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था। वृन्दावन का गोविन्दजी का मन्दिर भी इसके द्वारा शुरु करवाया गया और इस मन्दिर के पूर्ण होने में करीब दस-ग्यारह वर्ष लगे। इसके द्वारा बनाए गये मंदिर अधिकांशतः लाल पत्थर के बने हुए हैं। भवन निर्माण मे इसी पत्थर का विशेष रूप से

---

70 आर. एन. प्रसाद, राजा मानसिंह, पृ. 141-44

प्रयोग किया है। मानसिंह ने विभिन्न नगरों का भी निर्माण किया। बंगाल में 'राजमहल' इसी का बनवाया हुआ है। निर्माण व साहित्य की उन्नति के साथ-साथ वास्तुकला में भी मानसिंह के शासनकाल में आमेर में तो विशेषतौर से प्रगति हुई ही थी किन्तु जिन-जिन स्थानों पर इसका कार्य क्षेत्र रहा वहां भी उसने अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ी।

इस प्रकार मानसिंह एक योग्य सेनापति, महान निर्माता और कुशल प्रशासक था।

अध्याय 5

सहयोग से संघर्ष

(1616 ई.-1707 ई.)

राजस्थान-मुगल (1616 ई.-1656 ई.)

1615 ई. में मुगल-मेवाड़ संधि होने के साथ ही अब राजस्थान के समस्त राज्यों ने मुगल अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार यहां मुगल साम्राज्य के प्रति विरोध का अन्त हो गया तथा प्रान्त में सर्वत्र शांति स्थापित हो गई। अब लगभग अर्द्ध शताब्दी तक किसी भी राजस्थानी शासक ने इस अधीनता को चुनौती नही दी। कुछ अपवादों को छोड़ इस काल में राजस्थान के शासकों ने मुगल बादशाहों की आज्ञाओं का पूर्ण निष्ठा व स्वामी भक्ति के साथ पालन करने में इतिश्री मानी। शाहजहा के विद्रोह काल मे एक-दो बार मुगल सेनायें राजस्थान में आई थी। रघुबीरसिंह के अनुसार—"शाहजहां स्वयं भी दो बार राजस्थान में होकर निकला था परन्तु इस सबका यहां की राजनैतिक तथा आन्तरिक शांति पर कोई प्रभाव नही पड़ा। मेवाड़ के राणा कर्ण के छोटे भाई भीम के अलावा किसी भी राजस्थानी नरेश ने इस विद्रोह में शाहजहा का साथ नही दिया था। मारवाड़ का राजा गजसिंह, आमेर का जयसिंह, बून्दी का राव रतन हाडा, सरबुलन्दराय और संभवतः बीकानेर का राजा सूरसिंह भी जहांगीर के आदेशानुसार शाहजहा के विरुद्ध लड़े थे। परन्तु जहांगीर की मृत्यु के बाद जब दक्षिण के सूबेदार खानजहां लोदी ने खुर्रम के विद्रोह को दबाने में रुचि नही ली तो ये राजस्थानी नरेश उसे छोड़ कर राजस्थान लौट आये। आगरा जाते हुए राह मे ही राजा जयसिंह शाहजहां की सेवा मे जा पहुंचा था। उसके आगरा पहुंचने के बाद अन्य राजस्थानी नरेश भी शाही दरबार में उपस्थित हो गये तथा शाहजहां की अधीनता मान ली। विद्रोह काल मे अपने प्रति उनके विरोध को पूर्णतया भुलाकर शाहजहां ने इन सभी राजस्थानी नरेशों को अपना प्रबल समर्थक बना लिया और अब वे सब अपनी परम्परागत राज्य निष्ठा तथा स्वामी भक्ति के साथ शाहजहा की आज्ञाओं का पालन करने लगे।"

शाहजहां के शासनकाल मे दक्षिणी भारत के राज्यों अहमदनगर, बीजापुर

व गोलकुंडा के विरुद्ध ही नहीं अपितु सुदूर मध्य एशिया में बल्ख तथा बदख्शां पर चढ़ाई करने तथा कंधार के किले का तीन-तीन बार घेरा डालने में भी राजस्थान के नरेशों, उनके भाई, बेटों और सगे संबंधियों ने प्रमुख रूप से भाग लिया।

मेवाड़ और शाहजहां—यों तो राणा और मुगल परिवार के संबंध अच्छे हो जाने से राज्य में सुख और शांति स्थापित हो गई थी, किन्तु जब खुर्रम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह (1623 ई.) किया तब उसे पीछोला झील के जगमन्दिर महल मे शरण देकर और यहां से शांतिपूर्वक मांडू के मार्ग से दक्षिण भेजकर अपने संबंधों को खुर्रम से भी और अच्छा कर लिया। महाराणा कर्ण ने शाहजहां को सक्रिय सहयोग ही नहीं दिया अपितु बादशाह भी स्वीकार किया। जब शाहजहां जहांगीर की मृत्यु के समाचार सुन दक्षिण से उत्तरी भारत की ओर लौट रहा था तो वह मेवाड़ मे होकर गुजरा। तब जनवरी 2, 1628 ई. को गोगुन्दा में शाहजहां की महाराणा कर्ण से भेंट हुई।* इकबालनामा व तुजुक-ए-जहांगीरी के अनुसार कर्ण ने उसका गोगुन्दा मे स्वागत किया और अपने भाई अर्जुनसिंह को उसके साथ[1] कर यो उसकी यात्रा के लिये सुरक्षा का प्रबन्ध अपनी सीमा में कर दिया।

मुगल-मेवाड़ सम्बन्ध मे कर्णसिंह ने बड़ी कूटनीति से काम लिया। खुर्रम को कुछ समय अपने यहां रखकर उसे अपना आभारी भी बना दिया और अपने यहां से विदा कर वह मुगल सम्राट का कोपभाजन भी नहीं बना। इस प्रकार मुगलों के आन्तरिक मामलों में मेवाड़ ने पहली बार रुचि ली थी जिससे इन दोनों जातियों में व्यक्तिगत तथा औपचारिक मैत्री संबंध बने रहे।[2] परन्तु इस घटना के दो महिने बाद ही कर्ण की मृत्यु हो गई। महाराणा से जो अच्छे सम्बन्धों की संभावनायें थीं वे क्षीण हो गईं क्योंकि कर्णसिंह का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह हुआ जिसकी नीति निर्बल पड़ोसियो पर अधिकार करने और शक्तिशाली ताकतो से सधि करने की थी। उसकी इस नीति के कारण मुगलों से घनिष्ट सम्बन्ध न हो सके। जगतसिंह ने गद्दी पर बैठते ही शाहजहां को जुझारसिंह बुंदेला की समस्या में उलझा हुआ देख अपने निकटवर्ती राज्यों पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित

---

* शाहजहांनामा (सं. रघुबीरसिंह, मनोहरसिंह राणावत) भा. 1, पृ. 46

1 रणछोड़ भट्ट—राज प्रशस्ति महाकाव्यम् (सं. मोतीलाल मेनारिया) सर्ग 5, श्लोक 14

2 जी. एन. शर्मा, मेवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स, पृ. 129

करना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम उसका ध्यान डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ पर गया किन्तु इनका प्रयास सीधा बादशाह से संबंध रखने का चल रहा था। अन्ततः अवसर पाकर डूंगरपुर के रावल पूंजा तथा बासवाड़ा के रावल समरसी ने शाही मनसब प्राप्त कर ही लिया। जब देवलिया प्रतापगढ़ के शासक जसवन्तसिंह ने मेवाड़ के प्रभाव को अपने राज्य से हटाने का प्रयत्न किया तो राणा ने जसवन्तसिंह तथा उसके पुत्र महासिंह को उदयपुर बुलवा कर 1629ई. में उसकी हत्या करवादी। जसवन्तसिंह के पुत्र हरिसिंह ने अपने राज्य की सुरक्षा और महाराणा के क्रोध से बचने के लिये मुगल दरबार में शरण ली। मुगल सूबेदार महाबतखां अपने विद्रोह काल मे प्रतापगढ़ रह चुका था। उसने शाहजहां को प्रतापगढ से सीधा संबंध स्थापित करने हेतु प्रेरित किया। उसने सारी स्थिति को इस तरह से प्रस्तुत की कि जगतसिंह के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाय। यद्यपि प्रतापगढ मेवाड़ से अलग कर दिया गया तथापि जगतसिंह ने उसे लूटकर अपने प्रभाव से भयभीत रखा। डूंगरपुर व बासवाड़ा पर भी धावा बोला गया जिसमे राणा का पक्ष ही प्रबल रहा। सिरोही[3] मे भी उसे लूट का काफी सामान मिला। उसके इन कार्यों की खबर जब शाहजहां को मिली तो वह बड़ा नाराज हुआ। उसे यह अनुभव हुआ कि इन राज्यो को पुनः विजय कर मेवाड़ शक्तिशाली होना चाहता है। अतः शाहजहां ने कठोर नीति अपनानी चाही। महाराणा को 1615 ई. की सधि के अनुसार एक हजार सैनिक दक्षिण अभियान मे भेजने हेतु आदेश दिया। तब महाराणा ने कूटनीति से काम लेते हुये देलवाडा के कल्याणमल झाला के नेतृत्व में मेवाड़ को सेना को दक्षिण के युद्धों मे भाग लेने के लिये भेजा। दक्षिण मे शाहजहां की विजय पर बधाई संदेश व बहुमूल्य उपहार भेज कर के बादशाह के क्रोध को शात किया।[4]

इस तरह से मेवाड़ पर आने वाली विपत्ति से महाराणा जगतसिंह ने अपने राज्य को बचाया। रघुवीरसिंह के अनुसार "राणा जगतसिंह का शाहजहा के साथ प्रारम्भ से ही मन मुटाव हो गया था जिससे अंत तक वह हृदय से शाहजहा का विरोधी रहा। परन्तु अपनी सैनिक असमर्थता के कारण प्रकट रूप से विरोध के अवसर टालने के लिए वह प्रयत्नशील रहता था। यदा-कदा वह शाहजहा की सेवा मे बहुमूल्य भेंट भेजता था।" शनिवार,

---

3 राजप्रशस्ति महाकाव्यम् सर्ग 5, श्लोक 25

4 शाहजहांनामा भा. 1, पृ. 87-88, 113, 118, भा. 2, पृ. 139, 155, 189-90

मार्च 4, 1648 ई. को बल्ख और बदख्शां के युद्धों में मुगल सफलताओं पर राजसिंह को आगरा भेजा।[5] परन्तु जगतसिंह यह अनुभव करता था कि जब तक मेवाड़ शक्तिशाली नहीं होगा तब तक तो न इसकी रक्षा हो सकेगी और न मुगल शक्ति को चुनौती ही दे सकेगा। अतः 1649 ई. में मुगल बादशाह को कंधार के झगड़े में फंसा हुआ देख महाराणा ने 1615 ई. की मुगल-मेवाड़ संधि के विरुद्ध चित्तौड़-दुर्ग की मरम्मत कराने लगा। बादशाह के कंधार घेरे से मुक्त होने से पूर्व ही अप्रैल 10, 1652 ई. को महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हो गई। महाराणा जगतसिंह की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता की नीति का अनुसरण करते हुये बादशाह की अप्रसन्नता की तनिक भी परवाह किये बिना चित्तौड़-दुर्ग की मरम्मत और किलेबंदी का कार्य जारी रखा। राजसिंह की यह कार्यवाही मुगल बादशाह को भड़काने के लिये पर्याप्त थी। इस समय तक शाहजहां कंधार से भी निपट चुका था। अतः उसने सादुल्लाखां के नेतृत्व में तीस हजार सैनिक चित्तौड़ की किलेबंदी नष्ट करने के लिये भेजे।[6] चूंकि महाराणा के लिये तब मुगल सेना का सामना करना संभव नहीं था अतः उसने अपने सैनिकों को चित्तौड़ से हटा लिया। राजप्रशस्ति[7] के अनुसार महाराणा ने मधुसूदन भट्ट को सुलह वार्ता के लिये सादुल्लाखां के पास भेजा। एस.आर. शर्मा इससे सहमत नहीं है। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराणा तब शांति पूर्वक सारी स्थिति को सुलझाना चाह रहा था। अतः उसने अपना दूत चित्तौड़ भेजा हो तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु इसका कोई लाभ नहीं हुआ। सादुल्लाखां ने किले के कंगुरे व बुर्जों को ढहा दिया। वह 14 दिन तक चित्तौड़ में रहा था। महाराणा राजसिंह के प्रति दाराशिकोह की पूरी सहानुभूति थी। अतः दारा की सिफारिश पर मुगल बादशाह ने चन्द्रभान ब्राह्मण को मुगल-मेवाड़ संघर्ष का अन्त करने के लिये उदयपुर भेजा। तब अपने पिता के अनुरूप महाराणा राजसिंह बादशाह को खुश न कर सका और उसे अपने राजकुमार को मुगल दरबार में भेजना पड़ा।[8] साथ ही मुगलों की सहायतार्थ दक्षिण

---

5 वही, भाग 3, पृ. 226

6 वही, भा. 3, पृ. 264

7 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 6, श्लोक 11-24, इसमें कवि रणछोड़ भट्ट ने अपने पिता मधुसूदन को उच्च एवं सफल कूटनीतिज्ञ प्रदर्शित करने के लिये संधि होना लिखा है जो ठीक नहीं है।

8 शाहजहांनामा, भा. 3, पृ. 264-65

मे सेना भी भेजनी पड़ी और अजमेर प्रदेश से लगे हुये पूर, बनेड़ा, बदनोर, मांडल, जहाजपुर आदि परगने भी उसे मुगलों को सौंपने पड़े। इसी भांति उसे चित्तौड-दुर्ग की मरम्मत को भी समाप्त करना पड़ा। इन शर्तों के कारण राजसिंह ने अपने आपको अपमानित महसूस किया तथा इसका बदला लेने का अवसर ढूंढने लगा।[9] वह अपने खोये हुये प्रदेशो को पुन: लेना चाहता था। सौभाग्य से यह अवसर उसे 1657 ई. में मुगलो के उत्तराधिकार युद्ध के समय प्राप्त हुआ। तत्कालीन मुगल साम्राज्य की अस्त-व्यस्त राजनीतिक स्थिति से फायदा उठा कर महाराणा राजसिंह ने मेवाड़ की सीमाओ का विस्तार किया।

मारवाड़ और शाहजहां—यहाँ के शासक गजसिंह ने जिस तरह जहागीर की सेवा की उसी तरह शाहजहां की भी की। शाहजहा के बादशाह बन जाने पर उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इतना ही नही उसने 1627 ई. से 1638 ई. तक मुगल प्रभाव को बढाने मे काफी सहयोग दिया। शाहजहां ने भी गजसिंह का मनसब, जो अपने पिता के समय से चला आ रहा था, पांच हजार जात और पांच हजार सवार उसे बनाये रखा। आगरा के आसपास भोमियो का उत्पात दबाने में गजसिंह ने प्रशंसनीय भूमिका अदा की। बादशाह ने अक्टूबर 4, 1630 ई. को गजसिंह को पुरस्कार देकर खानजहां के विद्रोह के विरुद्ध भेजा। दिसम्बर 4, 1631 ई. को वह बीजापुर तथा 1638 ई. में कधार की चढाई मे मुगल सेना के साथ गया जहा उसने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया।

1638 ई. में महाराजा गजसिंह की इच्छानुसार उसके दूसरे पुत्र जसवन्तसिंह को उत्तराधिकारी बनाया। जसवन्तसिंह के समय मे भी मुगल-मारवाड़ संबंध काफी घनिष्ट बने रहे। बादशाह ने जसवन्तसिंह को शुरु मे चार हजार जात व चार हजार सवार का मनसब दिया। महाराजा जसवन्तसिंह बादशाह के साथ आगरा से दिल्ली व जमरुद गया। वह शाहजादा दारा के साथ कंधार-अभियान मे भेजा गया। जनवरी 19, 1645 ई. को उसे आगरा का सूबेदार नियुक्त किया तथा 1649 ई. में उसे (जसवन्तसिंह) औरंगजेब के साथ पुन: कंधार भेजा गया। वह काबुल के मुकाम पर मुगल सेना का अध्यक्ष था। उधर औरंगजेब कधार की रक्षा करने मे असफल हो गया था, अत: शाहजहा ने 1652 ई. मे शाहशुजा के साथ कधार के लिये भेजी जाने वाली सेना में जसवन्तसिंह को भी नियुक्त किया। तब कधार

---

9 राजरत्नाकर, सर्ग 10, श्लोक 10; वीरविनोद, भा. 2, पृ. 414

अभियान की सफलता से प्रसन्न होकर बादशाह ने जसवन्तसिंह के मनसब मे वृद्धि की तथा 'महाराजा' की उपाधि से विभूषित किया।[10] वी. एस. भार्गव के अनुसार—"1657 ई. के उत्तराधिकार संघर्ष के समय महाराजा जसवन्तसिंह को हिन्दुस्तान के राजाओं मे श्रेष्ठ और फौजी सम्मान तथा रौबदाब में प्रथम समझा जाता था। शाहजहां उसे सही रूप मे मुगल साम्राज्य का एक स्तम्भ समझता था। विद्रोही औरंगजेब और मुराद के विरुद्ध सैनिक अभियान का भार जसवन्तसिंह पर ही डाला गया था।" यों मारवाड के शासकों ने मुगलो से अच्छे संबंध स्थापित कर आन्तरिक विकास किया। इस प्रकार सौ वर्ष तक मारवाड़-मुगल सम्बन्ध अच्छे बने रहे।

आमेर और शाहजहां—आमेर के शासक मिर्जाराजा जयसिंह को अपनी अपूर्व सेवाओं के बदले जहांगीर से समय-समय पर सम्मान मिलता रहा। शाहजहा के सिंहासनारूढ़ होने के समय से ही राजा जयसिंह मुगल साम्राज्य की सेवा काफी तत्परता से कर रहा था। तब बादशाह ने उसे चार हजार का मनसबदार बनाया तथा महावन के जाटों के विरुद्ध भेजा जिसमे वह सफल रहा। मिर्जाराजा को खानजहां लोदी के विरुद्ध भेजा गया जहा उसने अपूर्व साहस तथा योग्यता का परिचय दिया। इतना ही नही उसने अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वतन्त्र राज्यों पर होने वाली सभी चढाइयो में भी भाग लिया। यों उसने कई बार शाहजहां को अपनी वीरता तथा अडिग धैर्य का परिचय दिया था।

बल्ख और बदख्शां के युद्धो में, काबुल तथा दूनी के मुकामो पर व कंधार के तीनों घेरो के समय मिर्जाराजा द्वारा की गई सेवाओं से प्रसन्न व प्रभावित होकर शाहजहां ने उसे कई बार पुरस्कार देकर सम्मान बढाया तथा 1650 ई. में उसके पुत्र कीरतसिंह की पद वृद्धि की। इतना ही नही उत्तराधिकार के युद्ध मे भी मिर्जाराजा ने महत्वपूर्ण भाग लिया। उसने शाहजादा शुजा को बहादुरपुर के युद्ध मे हराया तथा उस समय मुगलों को कोई दो करोड़ रुपया हाथ लगा। तब बादशाह ने प्रसन्न होकर उसके मनसब में भी वृद्धि की। वी. एस.भार्गव के शब्दों में "ऐसा माना जाता है कि जयसिंह शाहजादा औरंगजेब को मुगल सम्राट से संबंधित सूचनाएं भिजवाता रहा, फिर भी उसने खुले रूप से किसी पक्ष का साथ नही दिया।" शाहजादा दारा चूंकि मिर्जाराजा से नाराज था अत: शाहजहा के काल में उसकी सेवाओं का उसे यथोचित पुरस्कार नही मिल सका।

---

10 शाहजहांनामा, भा. 1, पृ. 49, 56, 60, 70, भा. 2, पृ. 149-50

बूंदी और शाहजहां—शाहजहां दक्षिण मे ही था तब नवम्बर 22, 1631 ई. को बूंदी के वीर शासक राव रतन हाड़ा की मृत्यु हो गयी। जी. एन. शर्मा के अनुसार "जहांगीर के काल में वह मुगल साम्राज्य का स्तम्भ था।" राव रतन का ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ अपने पिता के जीवन काल में ही मर चुका था। अतः अब राव रतन का पौत्र व गोपीनाथ का पुत्र शत्रुशाल बूंदी का शासक बना। शाहजहा तब इससे बड़ा प्रसन्न था। उसने उसे राव की पदवी दी तथा तीन हजार जात व दो हजार सवार का मनसब देकर सम्मानित किया। बादशाह ने उसे जागीर दे-दिवा कर खानेजहां के साथ दक्षिण में भेजा। शत्रुशाल की वीरता का परिचय हमें 1632 ई. मे दौलताबाद के किले की विजय तथा अगले वर्ष पुनः परड़े के घेरे के समय देखने को मिलता है। बुरहानपुर तथा खानदेश के अभियानों में भी उसकी महत्वपूर्ण सेवायें रही थी। इसी तरह कन्धार, बल्ख-बदख्शां के दस वर्षीय अभियान (1641 ई. -1651 ई.) में उसके साहस व धैर्य का कोई कम परिचय नही मिलता है। जब उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ा तो वह शाही सेना के साथ था और सामूगढ़ के युद्ध में औरंगजेब से लड़ा था। जब दारा हाथी छोड़कर घोड़े पर सवार हो गया तो दारा का यो एकाएक ओझल हो जाना युद्ध शैथिल्य के लिए पर्याप्त था किन्तु तब युद्ध को गति को निरन्तर बनाये रखने के लिए शत्रुशाल ही हाथी पर बैठा था। यही लड़ते हुए वह 1658 ई. मे अपने कई सगे सम्बन्धियो के साथ गोली लग जाने से खेत रहा था।

कोटा और शाहजहां—शाहजहा राव रतन के दूसरे पुत्र माधोसिंह से बड़ा खुश था। माधोसिंह ने कोटा का शासक बनने से पूर्व तथा बाद में मुगल बादशाह की अपूर्व सेवायें की, परिणामस्वरूप कोटा राज्य की सीमाओं का आशातीत विस्तार हुआ। जी. एन. शर्मा के अनुसार, "अब मुगल राज्य की दृष्टि में हाड़ौती का शक्ति केन्द्र बूंदी न होकर कोटा था।" उसने खानेजहा लोदी के घातक बरछा मार कर शाहजहा की विशेष सेवा की और इसके बदले में बादशाह ने उसे चार परगने व पाच हजारी मनसब पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया। 1635 ई. में जुझारसिंह बुंदेला के विद्रोह का दमन करने तथा 1637 ई. में कधार पर अधिकार करने के लिए बाहशाह ने माधोसिंह को ही भेजा था। बल्ख-बदख्शां के अभियानों मे भी उसी की नियुक्ति हुई थी। माधोसिंह ने अधिकांशतः शाही सेना के साथ हरावल में रह कर अपनी वीरता का प्रदर्शन किया था। एम. एल. शर्मा के मतानुसार, "निरन्तर जान को हथेली पर रखे हुए पहले जहांगीर की और फिर शाहजहां की सेवा करने के कारण ही माधोसिंहजी 43 परगनो के राजा बने थे। उनको बादशाह से पंच

हजारी मनसब के अतिरिक्त नक्कारा और निशान भी मिला था और राजा की पदवी प्राप्त हुई थी। उनके जीवन काल में उन्होंने कभी बादशाह की अप्रसन्नता का अनुभव नहीं किया।" माधोसिंह के बाद उसके ज्येष्ठ पुत्र मुकुन्दसिंह के गद्दी पर बैठने पर बादशाह ने उसे तीन हजार का मनसब दिया। उत्तराधिकार संघर्ष के समय उसने औरंगजेब तथा मुराद के विरुद्ध सैनिक अभियान में भाग लिया तथा धरमत के युद्ध में सेना का नेतृत्व करते हुए मुकुन्दसिंह अपने चार भाइयों तथा अन्य राजपूत सरदारों के साथ काम आया। मुकुन्दसिंह के बाद उसका पुत्र जगतसिंह कोटा का शासक बना तथा बादशाह की सेवा में उपस्थित हुआ।

बीकानेर और शाहजहां—बीकानेर के महाराजा सूरसिंह ने जहांगीर की भांति शाहजहां की सेवा भी की। शाहजहां ने गद्दी पर बैठते ही सूरसिंह का मनसब बढ़ा कर चार हजार जात व ढाई हजार सवार कर दिया। 1628 ई. में उसे काबुल का विद्रोह दबाने के लिए भेजा गया तथा इसके बाद जुझारसिंह बुंदेला के विद्रोह को दबाने का बीड़ा भी उसे ही दिया गया था। 1629 ई. तथा 1630 ई. में खानजहां लोदी के विद्रोह का दमन करने हेतु भी वह गया था। शाही आज्ञाओं के अनुरूप उसकी नियुक्ति किरकी, जालनापुर, ठट्टा व बुरहानपुर आदि कई स्थानों पर हुई, जहां उसने अपनी वीरता एवं अदम्य साहस का परिचय देकर मुगल साम्राज्य में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई। सूरसिंह के देहान्त के बाद उसका पुत्र कर्णसिंह बीकानेर का महाराजा बना। उसने अपनी वीरता का परिचय फतहखां, परेंडे एवं शाहजी के विरुद्ध शाही सेना की ओर से की जाने वाली चढ़ाइयों में भाग लेकर दिया। 1648-49 ई. में कर्णसिंह का मनसब बढ़ाकर दौलताबाद का किलेदार नियुक्त किया। अगले वर्ष फिर उसके मनसब में बढ़ोतरी की गई और 1652 ई. में तो उसका मनसब बढ़कर तीन हजार जात व दो हजार सवार का हो गया था।

यों मेवाड़ को अपवाद स्वरूप छोड़, सभी राजस्थानी शासकों ने मुगल बादशाह की सहायता प्रदान की किन्तु शाहजहां ने राजपूतों के प्रति कठोर नीति अपनाना शुरु कर दिया था। उसने कई छोटे-छोटे राज्यों जैसे प्रतापगढ़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा को मेवाड़ की अधीनता से मुक्त कर सीधा अपने प्रभुत्व में ले लिया। उसने गजसिंह के लड़के राव अमर को अलग राज्य दिया; गजसिंह के चचेरे भाई महेशदास को जालोर की स्वतन्त्र जागीर दी। बून्दी राज्य को भी उसने दो भागों में बांट दिया—कोटा का एक अलग राज्य बना कर राव शत्रुशाल के भाई माधोसिंह को दे दिया। असीरगढ़ के किलेदार राव गोपाल को मारवाड़ की जागीर दी तथा राजा भीम सीसोदिया के पुत्र

रायसिंह को टोंक तथा टोडे का राज्य दिया था। इसी तरह शाहपुरा को मेवाड़ से अलग जागीर के रूप में दे दिया गया। इस प्रकार से मुगल बादशाह की नीति राजस्थान के शासकों को परस्पर लड़ाते रहने व मुगल सत्ता दृढ़ करने की रही। मुगल दरबार में रहने वाले राजपूतों में मतभेद की नीति अपनाई गई जैसे कछावा और राठौड़ों के मनसब में अन्तर रखा। तब आमेर, मारवाड़ और कोटा-बून्दी में मतभेद शुरु हो गया। इस तरह से राजस्थान में शाहजहा की नीति आपसी मतभेद उत्पन्न करने की रही थी।

मुगल उत्तराधिकार संघर्ष में राजपूत शासकों का योगदान (1657 ई.-1660 ई.)—1657 ई में शाहजहा की बीमारी के समाचार को सुनकर दूर प्रदेशों में नियुक्त उसके पुत्र उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान करने लगे। इस बीच *शाहजहां की दशा सुधर गई और शाहजादों को उसने वापिस लौटने के आदेश* भी दे दिये और स्वयं दिल्ली से आगरा आ गया। इस पूरे समय में उसका बड़ा पुत्र दाराशिकोह उसके साथ था। आज्ञा दे देने के उपरान्त भी शाहजादों ने अपने उत्तर की ओर बढ़ने के क्रम को जारी रखा। शुजा व मुराद द्वारा अपने आपको सम्राट घोषित कर देने से शाहजहाँ व उसके पुत्र दाराशिकोह के लिये एक समस्या उत्पन्न हो गई। यद्यपि औरंगजेब ने इस प्रकार का तो कोई कार्य नहीं किया परन्तु उसकी महत्वाकांक्षा भी सारे मुगल साम्राज्य का स्वामी होने की थी और उसकी यह इच्छा शाहजहां व दारा से छिपी हुई नहीं थी। इस तरह से 1657 ई. के अन्तिम दिनों में शाहजहा के जीवनकाल में साम्राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके पुत्रों में युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। बीकानेर के राव कर्ण को छोड़ राजस्थान के शेष सारे महत्वपूर्ण शासक दरबार में उपस्थित थे। इन सभी राजस्थानी शासकों ने प्रारम्भ में दारा को ही सहयोग दिया। बंगाल से बढ़ते हुए शुजा का सामना करने के लिए आमेर के शासक मिर्जा राजा जयसिंह को दारा ने अपने पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ सेना के साथ भेजा। बुरहानपुर के युद्ध में शुजा की हार हुई जिससे वह भाग कर पुनः बंगाल की ओर चला गया। दारा के लिये भारी समस्या औरंगजेब व मुराद की थी। ये दोनों ही मुगल सत्ता पर अधिकार जमाने के निश्चय से उत्तर भारत की ओर अग्रसर हो रहे थे।

इन दोनों राजकुमारों का सामना करने के लिये जब कोई तैयार नहीं हुआ *तो यह उत्तरदायित्व मारवाड़ के शासक जसवन्तसिंह को सौंपा गया।* 'मारवाड़ की ख्यात' के अनुसार उसको सात हजार का मनसब दिया और मालवा का सूबेदार बनाया गया। जसवन्तसिंह आगरा से रवाना होकर 6, 1658 ई. को उज्जैन पहुंचा। दोनों ही शाहजादों की बढ़ती हुई सेना का

सामना करने के लिये जसवन्तसिह ने शुरु में उज्जैन रहना ठीक समझा और उसने यह प्रयास किया कि दोनों ही सेनायें साथ में न मिल जाय ? परन्तु इसमे उसे सफलता न मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही पक्ष युद्ध को टालना चाहते थे। 'मारवाड़ की ख्यात' के अनुसार जसवन्तसिंह के आगरा छोड़ने से पूर्व शाहजहां ने यह आदेश दिया कि "वह दोनों विद्रोही राजकुमारों को यथासंभव अपने-अपने प्रान्त मे भेज दे और उन्हें क्षति न पहुंचाये। वह उनसे तभी युद्ध करे जब कि कोई अन्य मार्ग न बचे।" उधर औरंगजेब भी किसी भी तरह से आगरा पहुंचना चाहता था। अतः उसने यह प्रयास किया कि जसवन्तसिंह उसे ससैन्य जाने की आज्ञा दे दे। तब औरंगजेब ने अपने कविराय नामक वकील को जसवन्तसिंह के पास भेजा और यह कहलवाया कि वह तो केवल बादशाह की तबियत का हाल पूछने आगरा जा रहा है। अतएव उसे उसका रास्ता नही रोकना चाहिये।[11] परन्तु जसवन्तसिंह ने उसके आदेश को मानने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुये कहा कि यह सारा कार्य वह बादशाह की आज्ञा से ही कर रहा है और यदि वास्तव में शाहजादे बादशाह सलामत की तबियत पूछने जा रहे है तो इतनी बड़ी सेना साथ में ले जाने की क्या आवश्यकता है ? अब औरंगजेब के पास जसवन्तसिंह की सेना का सामना करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं बचा था। औरंगजेब ने चालाकी से अपना वकील भेज कर समय प्राप्त कर लिया और उज्जैन से कोई 15 मील दूर धरमत नामक स्थान पर अपना पड़ाव डाला, जहा अप्रेल 16, 1658 ई. को दोनों ही सेनाओं के मध्य युद्ध हुआ जिसमे जसवन्तसिंह की हार हुई। युद्ध समाप्ति के पूर्व ही जसवन्तसिंह युद्ध क्षेत्र को छोड जोधपुर की ओर रवाना हो गया था।

जसवन्तसिंह जोधपुर पहुंचा—युद्ध-स्थल से लौटकर अपने बचे हुये साथियो के साथ जसवन्तसिंह सोजत में चार पांच दिन ठहरता हुआ जोधपुर पहुँचा। वहां रहते हुए उसे अपनी हार पर दुःख होता रहा। जसवन्तसिंह के मारवाड़ लौट आने पर उसका जो स्वागत किया उसके बारे में भी मतभेद है। बर्नियर, मनूची तथा खफीखा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जब महाराजा जसवन्तसिंह जोधपुर पहुँचा तो उसकी 'उदयपुरी राणी' ने अपने को काफी अपमानित अनुभव किया और किले के द्वार बन्द करवा कर सती होने की तैयारी करने लगी। अन्त में बताया जाता है कि रानी की मां ने उसे समझाया-बुझाया और महाराजा ने भी इस पराजय का बदला लेने का वचन दिया तब कहीं

11 शाहजहांनामा, भा. 3, पृ. 290-92

जाकर दुर्ग के द्वार खोले गये। श्यामलदास ने भी इसे स्वीकार करते हुये बताया है कि यह घटना बून्दी की रानी से संबंधित है। गोपीनाथ शर्मा का मत है कि "रानी का स्थान संबंधी भ्रम होने का कारण यह हो सकता है राव शत्रुसाल हाड़ा की एक रानी सीसोदनी राणी राजकुंवर थी और उसकी पुत्री करमेती का विवाह जसवन्तसिंह के साथ हुआ था। सीसोदी रानी की पुत्री होने से महाराजा जसवन्तसिंह की रानी को भी सीसोदी रानी मान लिया और 'सीसोदी' शब्द से उदयपुर की रानी होने का भ्रम पैदा हो गया।" ओझा का कहना है कि जसवन्तसिंह की एक रानी बून्दी की अवश्य थी परन्तु उसने महाराजा का इस प्रकार से स्वागत किया हो इसमें संदेह है। जोधपुर राज्य की ख्यात मे न तो इस घटना का उल्लेख है और न उसमें उसकी किसी उदयपुर की रानी का नाम ही मिलता है। ऐसी कई दंतकथायें पुस्तकों में लिखी मिलती हैं अतः बर्नियर, मनूची आदि इतिहास लेखकों ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर अपने ग्रन्थों में इन बातों को स्थान दे दिया है जिन पर विश्वास नही किया जा सकता।" रेउ ने भी इसमें अपनी असहमति प्रकट करते हुए लिखा है कि "बर्नियर ने यह कथा राजपूत-वीरांगनाओं की तारीफ में सुनी-सुनाई किंवदंतियों के आधार पर ही लिखी है और 'मुंतखबुललुबाब' के लेखक ने हिन्दू नरेश की वीरता को भुलावे में डालने का उद्योग किया है। वास्तव मे न तो स्वामिभक्त किलेदार सरदार ही रानी के कहने से अपने वीर स्वामी के विरुद्ध ऐसी कार्यवाही कर सकता था और न इस प्रकार उदयपुर महाराणा या बून्दी के राव की रानी ही अपनी पुत्री को समझाने के लिये जोधपुर आ सकती थी। अतः यह कथा विश्वास योग्य नहीं है।" गोपीनाथ शर्मा को इस कथा में सत्यता कम दिखाई देती है। राजपूत वीरांगनायें अपने पति के साथ किसी भी स्थिति मे इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नही कर सकती और जीवित महाराजा को मरा हुआ कह कर सती होने के लिए तैयार होना, जो रानी के लिये बताया जाता है, असत्य दीख पड़ता है। "कोई भी स्त्री अपने जीवित पति के लिए ऐसी कल्पना नही कर सकती थी और न ऐसे भाव व्यक्त करने की धृष्टता ही कर सकती है। रहा प्रश्न रानी की मां के आने पर समझाने की बात का तो वह भी ठीक नही है, क्योंकि द्वार बंद होने की सूचना इतनी जल्दी उदयपुर या बून्दी पहुंचना और शीघ्र रानी की मां का आना असगत प्रतीत होता है। यह तो सर्वविदित है कि विवाह के बाद राजपूतो मे माता-पिता अपनी लड़की के राज्य की सीमा में पानी पिना भी पाप समझते थे। ऐसी स्थिति में जोधपुर दुर्ग के द्वार बन्द कर जसवन्तसिंह को अपमानित करना तथा उदयपुर से या बूंदी

से उसकी मां का आना कपोल कल्पित ही दिखाई देता है।"

जोधपुर की ख्यातों में भी इस प्रकार की घटनाओं का कोई वर्णन नहीं है किन्तु बर्नियर जो उस समय राजस्थान में था, उसने इसका वर्णन किया है। वह एक निष्पक्ष दर्शक था और उसने इस सारी घटना का पता लगाने के लिये काफी प्रयास किया है। इसलिये राजस्थान में ऐसी घटनायें होना असंभव नहीं लगती है। खफीखा का तो इतना कहना है कि यह मन मुटाव काफी समय तक बना रहा और औरंगजेब के प्रयासों से ही समाप्त हो पाया। भार्गव के अनुसार यह उदयपुर की पुत्री न होकर उदयपुर के महाराणा राजसिंह की साली थी और गलती से बर्नियर ने इसको पुत्री लिख दिया। अतः सारी घटना को किवदंतियों के आधार पर बताना उचित नहीं है।

हार के कारण—धरमत के युद्ध में जसवन्तसिंह की हार के निम्नांकित कारण थे—

1 जसवन्तसिंह का चला जाना—खफीखां का कहना है कि जसवन्तसिंह बिना युद्ध लड़े ही वहां से भाग गया था। अतः उसके नेतृत्व में भेजी हुई मुगल सेना की हार हुई। परन्तु अन्य इतिहासकार और मुख्यतः बर्नियर ने स्पष्ट लिखा है कि जसवन्तसिंह युद्ध में उपस्थित था। उसने युद्ध में नेतृत्व ही नहीं किया बल्कि सक्रिय भाग भी लिया। जब वह संकटों से घिर गया तब राजपूत सामंतों ने उसको वहां से हटा, जोधपुर की ओर जाने को बाध्य किया और उसके बाद रतनसिंह राठौड़ ने युद्ध का नेतृत्व किया और अनेक राठौड़ व हाड़ा इस युद्ध में काम आये। रघुबीरसिंह ने भी जग्गाकृत 'वचनिका' के आधार पर यह सिद्ध किया है कि जसवन्तसिंह युद्ध में सक्रिय था। उसको बाध्य करके वहाँ से हटाया गया और उसकी अनुपस्थिति में भी युद्ध सक्रिय रूप से चलता रहा। तारीखे शाहशुजाई से भी इस मत की पुष्टि होती है। अतः इन सब बातों को देखते हुये खफीखां का कथन उचित नहीं जान पड़ता है।

दूरदर्शिता का अभाव—तब महाराणा जसवन्तसिंह ने दूरदर्शिता से काम नहीं लिया। टॉड के अनुसार यदि महाराजा जसवन्तसिंह मुराद और औरंगजेब के परस्पर मिलने से पूर्व ही आक्रमण कर देता तो औरंगजेब को सफलता न मिलती। अतः जसवन्तसिंह की अदूरदर्शिता उसकी हार का एक कारण बनी।

जसवन्तसिंह की युद्ध नीति—जसवन्तसिंह ने कोई योजनाबद्ध तरीके से आक्रमण नहीं किया। उसके सैनिक बिना किसी युद्ध नीति के औरंजेब के तोपखाने के सामने निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे थे, जिसके घातक परिणामों से सैनिक अपने को बचा नहीं पा रहे थे। इस बीच जसवन्तसिंह भी चारों तरफ से घिर गया जिससे उसे विवश हो मैदान छोड़ना पड़ा। यदुनाथ सर-

कार के अनुसार जसवन्तसिंह का यो मैदान छोड़कर चले जाने से युद्ध की गति में शिथिलता आ गई तथा शाही सेना में भगदड़ मच गई। राजपूत अपने घर (जोधपुर) की तरफ गये तो औरंगजेब आगरा की ओर बढा। जसवन्तसिंह को अंत तक युद्ध स्थल पर रहते हुये सैन्य संचालन करना चाहिये था।

औरंगजेब का तोपखाना—औरंगजेब के पास एक सुदृढ तोपखाना था जबकि जसवन्तसिंह के पास इसकी कमी थी। सरकार ने भी लिखा है कि "वास्तव मे यह तलवारों और बारूद का युद्ध था जिसमें तोपखाने ने घुड़सवारो पर विजय प्राप्त की थी।"

अनुपयुक्त युद्ध स्थल—धरमत के मैदान में जहां औरंगजेब ने सामरिक दृष्टि से एक अच्छे युद्ध स्थल का चयन किया वहां जसवन्तसिंह को उपयुक्त स्थल नही मिला। जिस स्थान पर महाराजा के सैनिक जमे हुये थे वहा चारों ही तरफ दलदल व खाइया थीं। यह स्थान घुड़सवारों के लिये ठीक नही था। अतः सैनिकों के निर्बाध गति से आगे बढने में बड़ी कठिनाई थी।

औरंगजेब का दृढ़ संकल्प—औरंगजेब येनकेन प्रकारेण बादशाह बनना चहता था। अतः वह दृढ संकल्प के साथ युद्ध करने आया था। वह अपने विवेक से निर्णय लेकर युद्ध की स्थिति का मुकाबला कर रहा था, जबकि जसवन्तसिंह तो मुगल बादशाह द्वारा भेजा गया एक आश्रित सेनापति मात्र था जिसे बादशाह के आदेशों के अनुरूप ही कार्य करना था। बादशाह ने उसे शाहजादों को समझा-बुझा कर पुनः लौटाने को कहा तथा उन्हें किसी प्रकार की कोई हानि न पहुंचाने की आज्ञा दी थी। ऐसी स्थिति मे जसवन्तसिंह युद्ध जीतने हेतु दृढ़ संकल्प नही था। साथ ही तब उसकी अपनी कोई नीति भी नहीं थी वरन् वह तो शाही आज्ञाओं का पालन कर रहा था। तब दृढ संकल्प औरंगजेब से जसवन्तसिंह का पराजित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

कासिमखां का विश्वासघात—शाही सेना के नायक कासिमखां ने तब न तो वीरता दिखाई न सामरिक युक्ति ही प्रकट की बल्कि उसने तो विश्वासघात कर युद्ध का पासा ही पलट दिया। बर्नियर का मानना है कि कासिमखा के नेतृत्व मे भेजी गई मुगल सेना युद्ध से पूर्व ही औरंगजेब से मिल गई तथा युद्ध सामग्री भी छिपा दी थी। अतः युद्ध सामग्री का अभाव और विश्वासघात युद्ध मे हार का कारण बना न कि जसवन्तसिंह की निष्क्रियता।

असंगठित सेना—औरंगजेब के पास सुसंगठित सेना थी जबकि जसवन्तसिंह के पास इसका अभाव था। कई विविध जातियों के लोग उसकी सेना में थे

जिनकी युद्ध नीति व तरीका आदि में एकरूपता नहीं थी। इतना ही नहीं कई राजपूत सैनिक तक जसवन्तसिंह से शत्रुता रखते थे। अतः एक असंगठित सेना का संगठित सेना से युद्ध हुआ जिसमे जसवन्तसिंह की सैन्य संगठन की दुर्बलता के कारण हार हुई।

यों जसवन्तसिंह के जोधपुर चले जाने पर औरंगजेब को विजय मिली। दारा के लिये यह बहुत ही कठिन समस्या थी। कुछ समय बाद औरंगजेब ने दारा को सामूगढ़ के युद्ध में करारी हार दी और अपने पिता को बंदी बनाकर औरंगजेब मुगल शासक बन गया। मिर्जा राजा जयसिंह सामूगढ़ की विजय के बाद दिल्ली आया। एम. एल. शर्मा का मानना है कि सुलेमान को कड़ा नामक स्थान पर छोड़कर मुगल राजनीति का अध्ययन करने के लिये वह दिल्ली पहुँचा और उस वक्त उसने यह अनुभव किया कि औरंगजेब विजयी हो गया है इसलिये उसने अपनी भक्ति औरंगजेब के प्रति स्थानान्तरित कर दी। औरंगजेब ने उसका स्वागत किया और उसी की सहायता से उसने जसवन्तसिंह को भी औरंगजेब की अधीनता स्वीकार करने के लिये तैयार करवाया। जयसिंह के कहने के अनुसार जसवन्तसिंह मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिए पंजाब की ओर आया तथा 'आलमगीरनामा' के अनुसार औरंजेब ने उसका स्वागत किया, उसको काफी उपहार वगैरह दिये। तब औरंगजेब दारा का पीछा करने में लगा हुआ था इसलिये उसने वापस लौट आने तक जसवन्तसिंह को दिल्ली रहने को कहा। इस बीच जसवन्तसिंह ने भी उसकी अधीनता स्वीकार करली।

खजवा का युद्ध—यों अधीनता स्वीकार कर लेने पर भी जसवन्तसिंह अपनी पूर्ण भक्ति तहे दिल से औरंगजेब को न दे सका और यह स्वाभाविक भी था क्योंकि शाहजहां और दारा से उसके व्यक्तिगत संबंध घनिष्ट थे। दारा का वह विशेष कृपा पात्र रहा। इसीलिए उपलब्धियों से भी अधिक सम्मान दिया गया। जसवन्तसिंह अपने शेष जीवन काल मे मन ही मन औरंगजेब विरोधी बना रहा और जब-जब उसे मौका मिला उसने स्पष्ट रूप से इस विरोध को प्रकट किया। सबसे पहले विरोध प्रकट करने का अवसर शुजा के विरुद्ध औरंगजेब के सैनिक अभियान से मिलता है। जब औरंगजेब दारा का पीछा करने मे व्यस्त था उस समय शुजा ने बंगाल से सेना एकत्रित कर उत्तर की ओर बढना शुरु किया। औरंगजेब सूचना पाकर शीघ्र दिल्ली की ओर लौटा और जसवन्तसिंह को साथ ले उसका सामना करने के लिए रवाना हुआ। जनवरी 5, 1659 ई. को खजवा के मैदान में दोनों ही सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। अकिलखा, भीमसेन आदि

का कहना है कि युद्ध के पूर्व रात्रि को शुजा और जसवन्तसिंह के बीच एक समझौता हो गया था कि जसवन्तसिंह औरंगजेब की सेना के एक भाग पर आक्रमण कर लूटमार करेगा तब शुजा औरंगजेब की सेना पर दूसरी ओर से आक्रमण करेगा। ईश्वरदास नागर का मानना है कि वकीलों के आदान-प्रदान से इस समझौते की पुष्टि कर दी गई थी और इसी समझौते के अनुसार जनवरी 5 को प्रातःकाल जसवन्तसिंह ने औरंगजेब की सेना के एक भाग पर आक्रमण कर लूटमार प्रारम्भ कर दी परन्तु समझौता के अनुसार शुजा ने कोई आक्रमण नहीं किया। अतः जसवन्तसिंह मैदान छोड़ इटावा होता हुआ मारवाड की ओर चला गया। शुजा के आक्रमण से पूर्व जसवन्तसिंह का युद्ध भूमि छोड़ जाने के कई कारण थे—भीमसेन का मानना है कि जसवन्तसिंह को यह संदेह हो गया था कि मुअज्जमखां जो इस समझौते में उसके साथ था, उसने सारी योजना औरंगजेब को बता दी। अतः युद्ध भूमि में अधिक ठहरना उसने उचित नहीं समझा। उधर औरंगजेब को इस षडयंत्र की सूचना मुअज्जमखां से पहले ही मिल गई थी। अतः उसने चालाकी से शुजा को पत्र लिख कर जसवन्तसिंह के प्रति संदेह उत्पन्न कर दिया। इसी कारण जसवन्तसिंह ने जब औरंगजेब की सेना को अस्त-व्यस्त किया तब उसने पूर्व निर्णय के अनुसार कोई आक्रमण नहीं किया। औरंगजेब ने भी जसवन्तसिंह की सेना का पीछा नहीं किया और जसवन्तसिंह के चले जाने का उसने स्वागत ही किया। इस तरह से औरंगजेब को हराने का एक अवसर शुजा की अकर्मण्यता और संदेहशील प्रवृत्ति के कारण खो दिया। बर्नियर के अनुसार जसवन्तसिंह के इस रवैये के कारण औरंगजेब की सेना में काफी खलबली मच गई थी। करीब उसकी आधी सेना इधर-उधर बिखर गई थी। अगर शुजा उस पर तत्काल आक्रमण कर देता तो औरंगजेब के लिए युद्ध क्षेत्र को छोडने के सिवाय कोई विकल्प नहीं रहता। जसवन्तसिंह जब युद्ध मैदान छोड, जोधपुर जाते हुए आगरा के पास से गुजरा तो वहां औरंगजेब के समर्थकों मे खलबली मच गई। बर्नियर और मनूची का कहना है कि सूबेदार शाइस्ताखां उसके भय से विष-पान करने लगा, परन्तु अन्तःपुर की स्त्रियों के बीच-बचाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सका। बर्नियर का तो यह भी मानना है कि अगर इस समय जसवन्तसिंह आगरा पर आक्रमण कर देता तो वह अवश्य शाहजहां को बंधन मुक्त कर उसको गद्दी पर बिठा सकता था। परन्तु ऐसा लगता है कि शुजा द्वारा उचित समय पर समझौते के अनुसार सहायता न देने से व उसकी हार के परिणाम स्वरूप जसवन्तसिंह शीघ्रता से जोधपुर पहुंचना चाह रहा था जिससे एक ओर

महत्वपूर्ण अवसर उसने अपने हाथ से खो दिया। खफीखां व अन्य फारसी इतिहासकारों ने जसवन्तसिंह की युद्ध क्षेत्र की नीति को विश्वासघात की संज्ञा दी परन्तु मारवाड़ की ख्यात, अकिलखां आदि ने इसे विश्वासघात नही माना है क्योंकि इनके अनुसार जसवन्तसिंह का उद्देश्य शाहजहां को पुन: मुगल बादशाह बनाना था और शाहजहां के लिये अगर उसको औरंगजेब विरोधी रुख ही अपनाना पड़ा तो इसे विश्वासघात कहना उचित नही लगता है।

दारा और जसवन्तसिंह—इधर खजवा में विजय के बाद औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को दंडित करने का निश्चय किया। उसने राव अमर के पुत्र नागोर के शासक रायसिंह को जोधपुर का शासक नियुक्त किया। इसके पीछे औरंगजेब का उद्देश्य राठौड़ों को दो दलों में विभाजित करना था। रायसिंह को मुहम्मदखां के साथ ससैन्य मारवाड़ की ओर भेजा। जसवन्तसिंह के लिये यह एक विकट समस्या थी। बर्नियर वगैरह का कहना है कि यद्यपि उसने (जसवन्तसिंह) खजवाह से लूटे हुये धन से एक विशाल सैनिक सगठन खड़ा कर दिया था तथापि युद्ध के परिणामों से उसको भय था। अतः उसने दारा को जो इस वक्त अहमदाबाद मे था, आलमगीर नामा, श्यामलदास, ओझा, बर्नियर, भीमसेन के अनुसार राजस्थान में आने का निमंत्रण दिया और उसको यह भी आश्वासन दिया कि वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति से शाहजहां को पुनः शासक बनाने का प्रयास करेगा। मारवाड़ की ख्यात के आधार पर रेउ ने यह बताना चाहा है कि यह निमन्त्रण जसवन्तसिंह की तरफ से न होकर स्वयं दारा ने ही सहायतार्थ प्रार्थना की। रेउ का मत ठीक नहीं जान पड़ता है और जसवन्तसिंह द्वारा निमन्त्रण की पुष्टि दारा द्वारा राजसिंह को भेजे गये एक पत्र से भी स्पष्ट है। कुछ भी हो दारा निमत्रण पाकर अहमदाबाद से रवाना होकर सिरोही पहुंचा। यहां से उसने मेवाड़ के महाराणा को पत्र लिखा और पूर्ण सहयोग देने का अनुरोध किया।

जब औरंगजेब को दारा और राजस्थान के संगठन निर्माण का समाचार मिला तो उसका चिंतित होना स्वाभाविक ही था। इन परिस्थितियों में उसने जसवन्तसिंह के प्रति विरोध त्याग कर मिर्जा राजा जयसिंह के माध्यम से जसवन्तसिंह से समझौता करने का प्रयास किया। जयसिंह ने जसवन्तसिंह को एक पत्र भेज यह आग्रह किया कि वह दारा का साथ छोड़, औरंगजेब की अधीनता स्वीकार करले। उसने पत्र मे यह भी स्पष्ट कर दिया कि जसवन्तसिंह को उसका राज्य और मनसब पुनः मिल जायेगा। जयसिंह ने यह भी लिखा था कि खजवा के मैदान में उसने जो लूट का माल एकत्रित किया उससे वापस नहीं लिया जाएगा। 'आलमगीर नामा' के

अनुसार जसवन्तसिंह को गुजरात सूबेदार बनाने का भी प्रलोभन दिया गया था। साथ ही उसे धमकी भी दी गई। रघुबीरसिंह का कहना है कि जसवन्तसिंह, औरंगजेब की युद्ध-कुशलता से पूर्णतया परिचित था और औरंगजेब के साथ पुनः समझौता करने के यों घर बैठे आये हुये अवसर को न छोड़ना ही जसवन्तसिंह को हितकर प्रतीत हुआ। अतः जसवन्तसिंह ने पुनः अपनी नीति मे परिवर्तन किया। वह दारा से मिलने के लिये मेड़ता की ओर जा रहा था, उधर न जा कर अपनी राजधानी को लौट आया। उधर औरंगजेब ने भी जो स्वयं अजमेर की ओर आ रहा था, मारवाड़ की ओर भेजी मुगल सेना को बादरसीदरी से आगे बढने से इनकार कर दिया। दारा ने जसवन्तसिंह को सहयोग देने हेतु निरन्तर पत्र लिखे किन्तु उसने अपनी नीति मे परिवर्तन न कर, दारा का साथ देने में अपनी तब तक असमर्थता बताई जब तक कि राजस्थान के अन्य राजपूत शासक भी उसको सहयोग न दें। जसवन्तसिंह ने दारा को यह सलाह दी कि वह अजमेर ठहर अन्य राजपूत शासको का सहयोग प्राप्त करे।

दौराई का युद्ध (मार्च 12, 1659 ई.)—यों औरंगजेब ने अपनी दूरदर्शिता और कूटनीतिज्ञता के आधार पर दारा को अकेला छोड़ दिया। मुगल सेना का सामना करना अब उसके लिए संभव नही रहा। अतः उसने अजमेर से कुछ आगे बढ दौराई की पहाडियो में शरण लेना उचित समझा। किन्तु मुगल सेना ने वहां भी उसका पीछा किया। अन्त मे दौराई के मैदान मे मार्च 12, 1659 ई. के युद्ध में दारा को हार हुई और उसे वहां से भागना पड़ा। ट्रैवर्नियर का तो कहना है कि जसवन्तसिंह नियत समय के बाद सम्मिलित हुआ और युद्ध के दौरान औरंगजेब की सेना मे जा मिला। परन्तु इस कथन का प्रतिपादन अन्य साधनों से नही होता है। यहा तक कि बर्नियर वगैरह ने भी यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जसवन्तसिंह दारा से मिला ही नही, इसलिये उसका युद्ध क्षेत्र में आना, प्रारम्भ में दारा की ओर से लड़ना, फिर औरंगजेब की सेना में चला जाना असंभव लगता है। फिर भी जसवन्तसिंह द्वारा दारा को निमन्त्रण दे उसको सहायता न देना फारसी इतिहासकारो ने एक अनुचित कदम बताया है। इसके विपरीत वी. एस. भार्गव ने जसवन्तसिंह की नीति का समर्थन करते हुये इसको ठीक माना है। उसका कहना है कि जसवन्तसिंह की नीति उचित ही थी। अगर वह दारा को सहायता भी देता तो भी वह अकेला राजपूत शासक बहुत ज्यादा हितकारी सिद्ध नहीं होता और औरंगजेब से युद्ध कर अपने राज्य की बर्बादी को वह एक मात्र निमंत्रण दे देता। उसको इस नीति के कारण मारवाड़ मुगल सेनाओं

द्वारा पदाक्रांत होने से बच गया। यों उसने अपने राज्यकी उल्लेखनीय सेवायें की। दारा के राजस्थान से चले जाने के बाद जसवन्तसिंह को अपना मनसब, राज्य व गुजरात की सूबेदारी मिल गई। इस तरह से रघुबीरसिंह का कहना है कि "राज्याधिकार के होने वाले इन गृह-युद्धों के फलस्वरूप जो अनिश्चितता, अशांति एवं अराजकता राजस्थान में छाई हुई थी, दौराई के युद्ध के बाद उसका अन्त हो गया और राजस्थान में पुनः शांति स्थापित हो गई। दक्षिणी राजस्थान इस शांति का अपवाद था। वहां मेवाड़ मे अपने परगनों पर अधिकार स्थापित करने हेतु मुगल बादशाह से फरमान प्राप्त कर बांसवाड़ा, डूंगरपुर और देवलिया में सेनायें भेज रखी थी।"

मेवाड़ का योगदान—इस पूरे उत्तराधिकार संघर्ष मे मेवाड़ के महाराणा राजसिंह की सहानुभूति औरंगजेब के प्रति रही परन्तु उसने कोई सक्रिय सहयोग नहीं दिया। औरंगजेब ने कुछ पत्र राजसिंह को लिख कर सेना भेजने का अनुरोध किया व पुर, मांडल आदि परगने देने का आश्वासन भी दिया। इधर राजसिंह ने उत्तराधिकार संघर्ष का लाभ उठाना चाहा। 1654 ई. मे जिस ढंग से उसको अपने परगने मुगलों को सौंपने पड़े उस अपमान को वह भूला नहीं था। उसने इसका बदला लेने का यही उपयुक्त अवसर समझा और उत्तराधिकार संघर्ष में तटस्थ रह कर अपनी सारी शक्ति हाथमे निकले परगनों को हस्तगत करने में लगाई। वह बनेड़ा, मांडल, दरीबा, शाहपुरा, सावर, फूलिया व जहाजपुर आदि स्थानों को अधिकार में करता हुआ केकड़ी पहुंचा। यहां उसे सहायता के लिये दारा का पत्र प्राप्त हुआ परन्तु राजसिंह ने यह लिखकर टाल दिया कि उसके लिये शाहजहां के सभी पुत्र समान हैं और इसमें वह एक दूसरे के विरुद्ध सहायता देना ठीक नहीं समझता। अब राजसिंह ने टोडा, मालपुरा टोंक, चाटसू और लालसोट को लूट कर काफी धन एकत्रित किया। इसी अभियान के दौरान उसे औरंगजेब की सामूगढ-विजय के समाचार मिले। तब राजसिंह ने बधाई संदेश देने के लिये अपने पुत्र सौभाग्यसिंह (सुल्तानसिंह) को औरंगजेब के पास भेजा। प्रत्युत्तर में औरंगजेब ने बांसवाड़ा, डूंगरपुर, देवलिया, गयासपुर आदि परगने एक फरमान जारी कर राजसिंह को दे दिये। मेवाड़-मुगल के मध्य मधुर संबन्धों की संभावना प्रतीत होने लगी। अधिकांश अन्य राजस्थानी शासक जो अब तक दारा का समर्थन कर रहे थे उन्होंने अपना सहयोग, समर्थन एवं भक्ति औरंगजेब को समर्पित कर दी।

आमेर का योगदान—मिर्जा राजा जयसिंह ने उत्तराधिकार के दौरान शुजा को तो बहादुरपुर के युद्ध मे हरा दिया किन्तु जब उसने सामूगढ़ के युद्ध

मे दारा की हार का समाचार सुना तो उसे विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में श्रौरंगजेब ही मुगल बादशाह बनेगा। अतः जयसिंह ने सुलेमान शिकोह का साथ छोड दिया तथा अपनी सेना सहित वह आगरा की तरफ गया। मथुरा के पड़ाव पर वह श्रौरंगजेब की सेवा में जून 25, 1658 ई. को उपस्थित हुआ और उसकी अधीनता स्वीकार करली। "अपनी इस दूरदर्शिता से जयसिंह ने श्रौरंगजेब के हृदय में अपने प्रति अटूट विश्वास उत्पन्न कर लिया, जो उसकी मृत्युपर्यन्त बहुत कुछ बना रहा। इसी समय से शाही दरबार में जयसिंह का प्रभाव तथा महत्व बहुत बढ गये और अब राजस्थानी नरेशो मे उसे ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।"[12]

उत्तराधिकार-सघर्ष छिड़ने से पूर्व मिर्जा राजा जयसिंह व श्रौरंगजेब के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था उससे स्पष्ट है कि जयसिंह शहजादा श्रौरंगजेब को मुगल दरबार से संबंधित सूचनाएं भिजवाता रहा था। लेकिन उसने खुले रूप से किसी पक्ष का साथ नहीं दिया। जयसिंह और दारा के संबंध भी अच्छे नही थे। इन सम्बन्धों में बिगाड कंधार के तृतीय घेरे से ही शुरु होता है। कंधार की असफलता दारा की अयोग्यता के कारण हुई और यह मन मुटाव शाहजहा के शेष शासन काल मे बराबर बना रहा। दारा के ही प्रभाव मे आकर शाहजहां ने जयसिंह को उपयुक्त सम्मान नही दिया और जयसिंह के मुकाबले मे जसवन्तसिंह की उपलब्धियां कम होते हुये भी उसको विशिष्ट स्थान दिया। श्रौरगजेब इन सारी घटनाओं को जानता था। अतः दौराई के युद्ध में दारा की हार के बाद श्रौरंगजेब ने उसका पीछा करने के लिये मिर्जाराजा जयसिंह को नियुक्त किया। वह दारा का बराबर पीछा करता रहा और जालोर, सिरोही, अहमदाबाद व कच्छ होता हुआ सिंधु नदी के किनारे तक गया। जब दारा ने सिंधु नदी के किनारे को पार कर लिया तो जयसिंह ने देखा कि उसका कार्य पूरा हो गया, अतएव वह राजधानी लौटने की सोचने लगा। तभी उसे दारा के बंदी बनाने के समाचार मिले। दारा को श्रौरंगजेब के दरबार में भेज स्वयं दिल्ली की ओर धीरे-धीरे लौटने लगा। दारा की मृत्यु के कुछ दिनो बाद वह श्रौरगजेब के दरबार मे लौट आया।

बूंदी-कोटा के हाड़ा शासकों का योगदान—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि बूंदी का शत्रुशाल उत्तराधिकार युद्ध के दौरान सामूगढ के युद्ध मे शाही सेना के साथ था। उसने श्रौरंगजेब से युद्ध किया और जब

---

12 रघुबीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 117

हाथी छोड़ कर घोड़े पर बैठ गया तब युद्ध की निरन्तरता को बनाये रखने के लिये शत्रुशाल ही हाथी पर सवार हुआ था और अन्ततः गोली लग जाने से वहीं उसकी मृत्यु हो गई थी।

कोटा के राव मुकुन्दसिंह ने भी अन्य राजस्थानी नरेशों की भांति केन्द्रीय शक्ति का साथ दिया। औरंगजेब और मुराद की संयुक्त सेना का मुकाबला करने के लिए जसवन्तसिंह के नेतृत्व में एक सेना उज्जैन की ओर भेजी गयी जिसमें मुकुन्दसिंह भी अपने पांच सौ सवारों के साथ था। अन्ततः वह अपने चार भाइयों के साथ धरमत के युद्ध में धराशायी हुआ।

राव जगतसिंह ने उत्तराधिकार संघर्ष में औरंगजेब का साथ दिया। उसने खजवा के युद्ध में शुजा के विरुद्ध संघर्ष किया और औरंगजेब की विजय तक वह मैदान में डटा रहा। वह औरंगजेब की सेना में हरावल में तैनात था।

बीकानेर का योगदान—बीकानेर का शासक कर्ण जो उत्तराधिकार संघर्ष के पूर्व औरंगजेब की बिना आज्ञा के अपने राज्य में चला आया था, इन सारी घटनाओं के प्रति उदासीन ही रहा। औरंगजेब की विजय के बाद भी वह उसके दरबार में उपस्थित नहीं हुआ। जब सर्वत्र शांति स्थापित हो गई और औरंगजेब शासक बन गया तब उसका ध्यान बीकानेर की ओर गया। बहुत प्रयासों के बाद भी जब राव कर्ण मुगल दरबार में उपस्थित नहीं हुआ तो उसके विरुद्ध 1660 ई. में एक सेना भेजी गई। राव कर्ण ने सेना का सामना करने की बजाय उसकी अधीनता स्वीकार करना अधिक उपयुक्त समझा। वह अपने दो पुत्रों के साथ मुगल दरबार में उपस्थित हो गया। इस तरह से 1660 ई. तक समस्त राजस्थानी शासकों ने औरंगजेब की अधीनता स्वीकार कर ली और मुगल साम्राज्य के विस्तार में पुनः सहयोगी बन गये। सभी ने औरंगजेब को मुगल सम्राट भी स्वीकार कर लिया। औरंगजेब ने भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन शासकों की अब तक की नीति का ध्यान नहीं रखा तथा उन्हें यथायोग्य मनसब दिये व साम्राज्य की सेवा में नियुक्तियां कीं जैसे आमेर का शासक मिर्जाराजा जयसिंह उनमें सर्वाधिक विश्वसनीय था। परन्तु राजस्थान-मुगल संबंधों का यह सहयोग काल अधिक समय तक नहीं रह सका। अब धीरे-धीरे इनमें तनाव उत्पन्न होने लगा जिसकी शुरुआत मेवाड़ से होती है। औरंगजेब को सर्वप्रथम मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के विरोध का सामना करना पड़ा।

राजसिंह और औरंगजेब—मेवाड़ का महाराणा राजसिंह ही शासक था जिसे उत्तराधिकार संघर्ष में औरंगजेब के साथ

अतः शुरू में मेवाड़ से उसका संबंध विशेष घनिष्टता का रहा किन्तु यह काल अधिक समय तक न रह सका जिसके कई कारण थे, जैसे—

1 किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमती का विवाह
2 हिन्दू मन्दिरों को नष्ट करने की नीति
3 जजिया कर लगाना, तथा
4 राठौड़ समस्या जिसका हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

मानसिंह अपने पिता रूपसिंह की मृत्यु के पश्चात् 1658 ई. में किशनगढ़ की गद्दी पर बैठा। उसने अपनी बहिन चारुमती का विवाह औरंगजेब से करना स्वीकार कर लिया था, किन्तु चारुमती ने इसका विरोध किया, उसने उदयपुर के महाराणा राजसिंह को पत्र लिखकर विवाह के लिए अनुरोध किया। राजप्रशस्ति महाकाव्य के अनुसार राजसिंह ससैन्य किशनगढ़ पहुंचा और चारुमती से विवाह कर उसे अपने साथ ले आया। तब औरंगजेब का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था। उसने गयासपुर और बसावर के परगने मेवाड़ से अलग कर रावत हरिसिंह को दे दिये। गोपीनाथ शर्मा का मत है कि इस शादी से औरंगजेब को यह भय हुआ कि मेवाड़ व किशनगढ़ का सगठन उसके राज्य के लिये अहितकारी न हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि उपरोक्त घटना का मुगल-मारवाड़ संबंधो पर स्थायी प्रभाव नही पड़ा। परन्तु औरंगजेब की हिन्दू धर्म विरोधी नीति का राजसिंह द्वारा विरोध करने से औरंगजेब और अधिक नाराज हो गया। 1669 ई. में उसने हिन्दू मन्दिरों व पाठशालाओं को तोड़ने व मूर्तियों को नष्ट करने की आज्ञा निकाली। ओझा के अनुसार "महाराणा, औरंगजेब के इस कार्य से केवल अप्रसन्न ही नही हुआ अपितु उसने इस आदेश की अवहेलना भी की।" उसने गोवर्धन में स्थित द्वारिकाधीश की मूर्ति की स्थापना कांकरोली में व श्रीनाथजी की मूर्ति की प्रतिष्ठा सिहाड़ गाव मे करवाई। जी. एन. शर्मा, ओझा के मत से सहमत नही है। उसका मत है कि "ऐसे कोई प्रमाण उपलब्ध नही है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि राजसिंह ने इस्लामी नियमो के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई थी या उसने उससे इस आधार पर शत्रुता मोल ली थी। 1676 ई. मे कुंवर अरिसिंह गया-श्राद्ध के लिये गया था और उस अवधि तक मुगल-मेवाड़ संबंध अच्छे बने हुये थे। यदि इन दोनो शक्तियों मे वैमनस्य हुआ तो वह नियमो के प्रचलन के लगभग 8-10 वर्ष के बाद कुछ अन्य कारणों को लेकर हुआ था।"

औरंगजेब ने बुधवार, अप्रैल 2, 1679 ई. को जजिया कर लगाया।

यह कर लगाने के पीछे औरंगजेब का क्या मन्तव्य था ? इस पर इतिहासकारों में मतभेद है परन्तु अनेक इतिहासकार इसे धार्मिक भेदभाव की नीति के कारण उत्पन्न मानते है। सतीशचन्द्र के अनुसार "इस बात के प्रमाण भी मिलते है कि कई बार काजी जजिया की उगाही का उपयोग हिन्दुओं को अपमानित करने के अवसरें के रूप में करते थे।"[13] अतः वह सचयक जनता ने इसका विरोध किया। ऐसा माना जाता है कि मेवाड़ के महाराणा राजसिंह ने इसके विरोध मे एक पत्र भेजा। इतिहासकारो मे इस बात पर मतभेद है कि यह विरोध पत्र किसने भेजा ? मतभेद का कारण इस विरोध पत्र की तीन प्रतियाँ मिलना है। एक महाराणा के निजी दफ्तर उदयपुर मे, दूसरी बंगाल एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के संग्रह मे और तीसरी एशियाटिक सोसायटी लंदन में सुरक्षित है। तीनो ही विरोध पत्रों की भाषा मे अन्तर है तथा सबसे छोटा पत्र उदयपुर दफ्तर का है।

इसके सम्बन्ध में ओर्मे का विचार है कि यह पत्र जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह ने लिखा था, परन्तु यह स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि जजिया (अप्रेल 2, 1679ई.) जसवन्तसिंह की मृत्यु (नवम्बर 28, 1679ई.) के चार मास बाद लगाया गया था। ग्राटडफ ने कलकत्ता वाली प्रति का लेखक शंभाजी बताया है जो ठीक नही क्योंकि उस समय शिवाजी राजा थे। ऐसी स्थिति में शंभाजी द्वारा पत्र लिखने का प्रश्न ही नही उठता। ओझा का कहना है कि शिवाजी द्वारा पत्र लिखना भी इसलिए संभव नहीं हो सकता है कि बुरहानपुर में शिवाजी की मृत्यु के बाद 1684 ई. मे जजिया लगाया गया था। लंदन वाली प्रति मे संभवत: शिवाजी का नाम पीछे से लगा दिया गया हो। इन संभावनाओं को समाप्त करने के बाद ओझा का कहना है कि यदि कोई जजिया के विरोध में पत्र लिख सकता था तो वह राजसिंह ही हो सकता है न कि शिवाजी क्योंकि लंदन वाले पत्र में शिवाजी को औरंगजेब का शुभचिन्तक लिखा है। हम जानते हैं कि शिवाजी कभी बादशाह का शुभचिन्तक नही रहा। यदि कोई था तो वह राजसिंह था, जिसका औरंगजेब से मधुर संबंध था। इन दलीलों के आधार पर ओझा ने लिखा है कि "इन सब बातो पर विचार करते हुये यही मानना पड़ता है कि वह पत्र महाराणा राजसिंह ने ही लिखा होगा और जब उसकी नकलें भिन्न-भिन्न स्थानो मे पहुँची होंगी तब उसमे किसी ने अपनी ओर से कुछ और बढ़ा कर शिवाजी का और किसी ने शंभाजी का नाम दर्ज कर दिया होगा।"

---

13 इरफान हबीब द्वारा संपादित मध्यकालीन भारत, अंक 1, पृ. 78

इस तरह से ओझा ने टॉड व श्यामलदास के विचारों का समर्थन किया है। परन्तु यदुनाथ सरकार ने पत्र के सन्दर्भों तथा उसकी ध्वनि के आधार पर यही निर्णय निकाला है कि लंदन वाले पत्र में जो शिवाजी का नाम है, वह ठीक है क्योंकि शिवाजी ही ऐसा पत्र लिखने की क्षमता रखता था। गोपीनाथ शर्मा भी सरकार के मत से सहमत है। उसके विचार से उदयपुर वाला पत्र जो राजसिंह का बताया जाता है, अन्य दो पत्रों की तुलना में संक्षेप में है। सक्षिप्त प्रति मूल पत्र से ही बनाई जाती है, अतएव शिवाजी के मूल का सारांश उदयपुर की प्रति होनी चाहिये। यदि राजसिंह ने ऐसा कोई पत्र लिखा होता तो उस समय के स्थानीय लेखक मानकवि, सदाशिव, रणछोड भट्ट आदि उसका अवश्य उल्लेख करते। साथ ही साथ उदयपुर वाली प्रति में मेवाड से भेजे गये अन्य पत्रों जैसी शैली नहीं है। लिखावट की दृष्टि से यह शिवाजी का ही दीख पड़ता है। इसमें तो लेखक का नाम या तिथि जो मेवाड के अन्य पत्रों की पद्धति रही है, नहीं मिलते। शिवाजी को जो औरंगजेब से शिकायतें थी और प्रारम्भ में जिस तरह से उसे आरम्भ किया गया है और जिन घटनाओं की ओर सकेत किया गया है उससे पत्र शिवाजी द्वारा लिखा जाना अधिक सगत मालूम होता है। एक जगह शिवाजी पत्र में लिखते हैं कि "मैं बिना आज्ञा के दरबार से चला आया।" यह शिवाजी का आगरा से चले आने के संदर्भ में है। राजसिंह कभी बादशाह के दरबार में नहीं गया। इसी पत्र में एक जगह 'मेरे से कर लेने के पहले राजसिंह से कर लिया जाय' का उल्लेख भी लिखने वाला राजसिंह के अतिरिक्त दूसरा व्यक्ति मालूम होता है और वह शिवाजी ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि लंदनवाले पत्र की प्रति या कलकत्ता वाली प्रति जो आपस में अधिक मेल खाती है, मूल की प्रतिलिपियां हों और उदयपुर वाली प्रति के रूपांतर पाठ हो। एस. ए. आई. तिरमिजी ने स्पष्ट कहा है कि यह पत्र न तो राजसिंह का लिखा हुआ है और न शिवाजी का बल्कि यह तो एक कृत्रिम पत्र है।[14] किन्तु एक हिन्दू शासक द्वारा मुस्लिम शासक को लिखे गये पत्र में शैलीगत नगण्य भूल को आधार बनाकर तिरमिजी द्वारा पत्र की वास्तविकता को नकारना उचित नहीं जान पड़ता है। इन पत्रों से प्रतीत होता है कि विरोध पत्र किसी एक स्थान से न भेजा जाकर अनेक स्थानों से भेजे गये थे जिनमें एक पत्र महाराणा राजसिंह का भी था। परन्तु इसके उपरान्त भी मेवाड़-मुगल सबंधों में

---

14 इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 43 वां अधिवेशन, कुरुक्षेत्र, सेवशन 2, अध्यक्षीय भाषण, मेडायवल इण्डियन डिप्लोमेटिक्स, पृ. 16-17

बिगाड़ नहीं आया जैसा कि गोपीनाथ शर्मा ने बताया है कि राजकुमारों को उपहार आदि भेजना यथावत चलता रहा परन्तु राठौड़ समस्या ने दोनों को आमने-सामने ला दिया।

राठौड़ समस्या (1678-1707 ई.)—गुरुवार, नवम्बर 28, 1678 ई. को जमरुद में जसवन्तसिंह की मृत्यु[15] के बाद औरंगजेब ने मारवाड़ राज्य को अपने अधिकार में लाना चाहा और इसी उद्देश्य से उसने मुगल सेना मारवाड़ की ओर भेजी और स्वयं भी क्षेत्र के नजदीक रहने के लिये अजमेर की ओर आया। तब जसवन्तसिंह के कोई पुत्र नहीं था किन्तु कुछ ही महीनों बाद लाहौर में फरवरी 19, 1679 ई. को दो रानियों ने क्रमशः अजीतसिंह और दलथंभन नामक पुत्र हुये। पुत्रों के जन्म के बावजूद भी औरंगजेब की मारवाड़ नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यदुनाथ सरकार[16] का कहना है कि बादशाह आलमगीर निम्नांकित कारणों से मारवाड़ को अपने अधिकार में रखना चाहता था—

1 मारवाड़ का सामरिक के साथ-साथ व्यापारिक महत्व भी था। अहमदाबाद और खंभात के बंदरगाह व्यापारिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण थे और दिल्ली से इनका मार्ग मारवाड़ होकर ही जाता था। यहां के व्यापारिक केन्द्र पाली के अजमेर और अहमदाबाद के मध्य में स्थित होने से भी इसका अत्यन्त महत्व था। यहां से गुजरने वाले व्यापारियों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मारवाड़ पर अधिकार कर लेने पर औरंगजेब का नियन्त्रण भारत के पश्चिमी भाग तथा अरब सागर तक हो सकता था। इसके अतिरिक्त मारवाड़ पर अधिकार हो जाने से मेवाड़ को अधीनता में रखा जा सकता था एवं उसे चारों तरफ से घेरा जा सकता था। जिन पहाड़ी प्रदेशों पर मुगल सेनाओं के विरुद्ध मेवाड़ को शरण मिलती थी मारवाड़ पर अधिकार होने के बाद इन सुविधाओं से मेवाड़ को वंचित रखा जा सकता था, क्योंकि मारवाड़ की सीमा इस पहाड़ी प्रदेश से लगी हुई थी।

2 औरंगजेब के प्रति जसवन्तसिंह ने धरमत, दौराई, खजवा के युद्धों में जो बर्ताव किया उसका बदला लेना चाहता था।

3 17 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जोधपुर का राठौड़ राज्य एक शक्तिशाली हिन्दू राज्य था। यदि यह राज्य जसवन्तसिंह के पुत्र व उत्तराधिकारी अजीतसिंह को प्रदान कर दिया जाता तो कदाचित औरंगजेब मंदिरों

---

15 सीतामल : जोधपुर हुकूमत री बही, पृ. 294-95

16 सरकार, हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब, जि. 3, पृ. 214-17

के विनाश तथा हिन्दुओं पर जजिया लगाने की योजना को लागू नहीं कर सकता था क्योंकि जोधपुर नरेश हिन्दू प्रजा की आशा का केन्द्र बिन्दु बन सकता था। अतः अपनी नई हिन्दू नीति का विरोध न हो इसलिए इसको सीधा मुगल साम्राज्य में मिला लेना उचित समझा परन्तु मोहम्मद अतहरअली सरकार के इस विचार से सहमत नहीं है। उसका कहना है कि "यदि औरंगजेब का वास्तविक उद्देश्य यही था तो अजीतसिंह को स्वीकार करके बखूबी इसे पूरा किया जा सकता था। उसके पक्षधर मन्दिरों को गिराने और शरीयत को लागू करने के लिये तैयार थे जिन बातों के लिये इन्द्रसिंह ने कभी भी अपनी स्वीकृति नहीं दी। साथ ही, उस वक्त अजीत जरा-सा बच्चा था और यदि औरंगजेब ने (गलती से) इस बच्चे में भावी महानता के चिह्न देख भी लिये थे, तो यह स्पष्ट बात थी कि महज अपनी उम्र के कारण अजीत कम-से-कम डेढ़ दशकों तक किसी हिन्दू प्रतिरोधक का 'सशक्त अध्यक्ष' नहीं बन सकता था।"[17] किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि जनता का विश्वास तो अपने राजवंश के उत्तराधिकारी के प्रति होता है तथा उसी के नेतृत्व में वह संघर्ष करती है, चाहे वह उम्र में छोटा हो या बड़ा।

4 औरंगजेब मारवाड़ राज्य का विनाश करना चहता था इसीलिये उसने जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद पांच महिनों तक किसी को भी नियुक्त नहीं किया। किन्तु मोहम्मद अतहरअली सरकार की इस मान्यता से सहमत नहीं है। उसने 'वकाई अजमेर' के आधार पर बताया है कि औरंगजेब तो जसवन्तसिंह की रानियों के संतान उत्पन्न होने तक की प्रतीक्षा कर रहा था।[18] किन्तु यह मान्यता स्वीकार्य नहीं है क्योंकि पुत्रोत्पत्ति के बाद भी औरंगजेब ने मारवाड की उत्तराधिकार समस्या को बनाये रखा।

5 रेउ के अनुसार बार-बार छेड़छाड़ से औरंगजेब मन-ही-मन जसवन्तसिंह के प्रति द्वेष रखता था फिर भी औरंगजेब जीते-जी उससे पूर्णतया शत्रुता मोल नहीं ले सकता था। अतः उसकी मृत्यु के बाद उसने बदला लेने की सोची। मारवाड़ के सामन्त लाहौर से रवाना हो दिल्ली पहुंचे। जसवन्तसिंह के एक पुत्र की मृत्यु पैदा होने के कुछ दिनों बाद ही हो गई थी। दूसरा पुत्र अजीतसिंह का जन्म औरंगजेब की सारी योजनाओं के लिये एक बड़े खतरे के रूप में था। मारवाड़ के सामन्तों में आपसी युद्ध प्रारम्भ करने के उद्देश्य से उसने दक्षिण से इन्द्रसिंह को बुलाया और उसे मारवाड़

---

17 इरफान हबीब द्वारा संपादित, मध्यकालीन भारत, अंक 2, पृ. 98
18 वही, पृ. 99

का राज्य देकर ताहिरखाँ के साथ मई 1679 ई. में मारवाड़ की ओर भेजा। इसके एवज में इन्द्रसिंह ने 36 लाख रुपया देना स्वीकार किया। इन्द्रसिंह को मारवाड़ का शासक घोषित कर देने मात्र से ही समस्या का समाधान नहीं हुआ बल्कि जसवन्तसिंह के पुत्र होने के समाचार से राठौड़ सामन्तों में मुगल विरोधी भावनाएँ भी तीव्रतर होती गई और इन्द्रसिंह की योजना राजनैतिक दृष्टि से औरंगजेब के लिए लाभप्रद न हो सकी।

अजीतसिंह हेतु प्रयास—उधर दिल्ली में दुर्गादास व अन्य राठौड़ सामन्तों ने अजीतसिंह के लिये मारवाड़ के राज्य को प्राप्त करने का प्रयास किया परन्तु उन्हें सब कोई सफलता नहीं मिली। मारवाड़ की ख्यात के अनुसार औरंगजेब ने अजीतसिंह को अपने पास रखने की इच्छा प्रकट की और यह आश्वासन दिया कि वयस्क होने पर मारवाड़ का राज्य अजीतसिंह को दे दिया जायेगा। भीमसेन के अनुसार औरंगजेब ने अजीतसिंह को मुस्लिम धर्म स्वीकार करने के बाद राज्य देने का आश्वासन दिया परन्तु वी. एस. भार्गव का मत है कि यह आश्वासन उसने इस समय न देकर कुछ समय बाद में दिया था।

अजीत का मारवाड़ आना—जब राठौड़ सामन्तों ने औरंगजेब की उपर्युक्त सलाह को नहीं माना तो उन पर काफी दबाव डाले जाने लगे। एक प्रमुख राठौड़ सामन्त केसरीसिंह को औरंगजेब ने बंदी भी बनाया जहां उसने आत्म हत्या कर अपने आपको अपमानित होने से बचाया। राठौड़ सामंतों पर और अधिक प्रतिबन्ध लगा दिये गये। फलतः राठौड़ सामन्त यह अनुभव करने लगे कि औरंगजेब का इरादा ठीक नहीं है और बालक अजीतसिंह की रक्षा दिल्ली में रहते हुए नहीं की जा सकती। अतः राठौड़ सामंतों ने दिल्ली से मारवाड़ तक सुरक्षित पहुंचने की योजना बनाई और दुर्गादास के नेतृत्व मे वीरता, दृढ़ता व दूरदर्शिता से बालक अजीत को औरंगजेब से मुक्त करा सकुशल मारवाड़ ले आये। सरकार के अनुसार इस सारी योजना के पीछे दुर्गादास का मस्तिष्क काम कर रहा था।

औरंगजेब की मारवाड़ नीति—इस तरह से अजीतसिंह का हाथ से निकल जाना औरंगजेब ने मुगल साम्राज्य के लिए खतरे का सूचक समझा। उसकी समस्त मनोकामनायें समाप्त होती-सी लगीं। शुरु में औरंगजेब ने एक दूसरे लड़के को अजीतसिंह घोषित कर उसका नाम मुहम्मदीराज रखा। परन्तु उसके इस कार्य से राठौड़ों में किसी प्रकार का संदेह उत्पन्न नहीं हुआ। अजीतसिंह के मारवाड़ चले जाने के कारण मुगल विरोधी संघर्ष और तीव्र हो गया। औरंगजेब ने इन्द्रसिंह और ताहिरखां की निरन्तर असफलता के कारण

पदच्युत कर वहां से वापस बुला लिया। अगस्त 1679 ई. में उसने सरबुलन्दखां के नेतृत्व में मुगल सेनायें मारवाड़ की ओर भेजीं और स्वयं भी सितम्बर 1679 ई. में अजमेर पहुंचा। युद्ध क्षेत्र के पास रहते हुये उसने अपने आपको युद्ध की गति से परिचित रखा। परिणामस्वरूप नवम्बर 1779 ई. तक समस्त मारवाड़ पर मुगलों का अधिकार हो गया। यों औरंगजेब ने मारवाड़ को खालसा कर लिया और उसके विभिन्न विभागों पर मुगल अधिकारियों की नियुक्ति कर दी। यदुनाथ सरकार के अनुसार जहां भी शत्रु सेनायें पहुँचीं वहां निर्दोष जनता को मौत के घाट उतारा गया और मन्दिरों को ढाया गया तथा उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराया गया। यों तब मुगलों की मारवाड़ विजय से दुर्गादास व अन्य राठौड़ सरदारों के सामने अजीतसिंह की सुरक्षा का प्रश्न आया।

राठौड़-सीसोदिया संधि—औरंगजेब, अजीतसिंह को पकड़ना चाहता था और दुर्गादास तथा उसके अन्य साथी-समर्थक उसकी रक्षा करने में प्रयत्नशील थे। तब राजस्थान में मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के अलावा और कोई ऐसा शासक नहीं था जिससे उसको मदद मिलने की आशा हो। इसलिए 'राजविलास' और 'राजरत्नाकर' के अनुसार उन्होंने राजसिंह की सहायता चाही। वास्तव में राजसिंह ही एक मात्र ऐसा शासक था जो औरंगजेब और मुगल सत्ता को चुनौती दे सकता था। फिर भी राठौड़ सामन्तों की इस प्रार्थना ने राजसिंह के सामने विकट समस्या खड़ी कर दी। जी. एन. शर्मा के अनुसार "सहायता न देना राजपूती सम्मान के विरुद्ध होता और शरण देने का अर्थ औरंगजेब से संघर्ष।" राजसिंह जैसे शासक के लिए सम्मान अधिक महत्व रखता था। अजीत, राजसिंह के निकट संबंधी मे से था। मारवाड़ पर मुगल अधिकार हो जाना मेवाड़ के लिए खतरा—इन सभी बातों पर गहराई से विचार करने के बाद राजसिंह ने अजीत को अपने यहां रखना स्वीकार कर लिया। केलवा सहित बारह ग्रामों का पट्टा अजीतसिंह के लालन-पालन व भरण-पोषण के लिए स्वीकृत किया।

'राजविलास' और 'राजरत्नाकर' के उपरोक्त कथन से रेउ सहमत नहीं है। रेउ का कहना है कि अजीतसिंह को मेवाड़ मे रखा गया हो या उससे सहायता मांगी हो यह ठीक नहीं जान पड़ता है। अजीतसिंह से भी अधिक सहायता की आवश्यकता महाराणा को थी और राठौड़ों की मित्रता के लिये राजसिंह का ज्यादा इच्छुक होना उस समय की परिस्थिति के अनुसार रेउ ने ज्यादा उचित माना है। उसका तो यह कहना है कि अनेक बार राठौड़ों ने ही मेवाड़ को सहायता दी है। परन्तु मेवाड़ से कभी भी राठौड़ों को

सहायता नहीं मिली। रेउ का कथन तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ठीक नहीं लगता है। तब मारवाड़ असुरक्षित था, अतः किसी कमजोर शासक के पास अजीतसिंह को रखना विशेषतः सिरोही मे रखना एक बड़ा खतरा था। औरंगजेब को चुनौती देना राजसिंह के अलावा और किसी अन्य राजस्थानी शासक की शक्ति के बाहर था। इसीलिए ओझा को 'राजविलास' का कथन अधिक सत्य प्रतीत होता है। निःसंदेह उपर्युक्त कारणों से राठोड़ व सीसोदिया नजदीक आये।

वी. एस. भार्गव के अनुसार मेवाड़ के राणा राजसिंह के मुगल बादशाह औरंगजेब के साथ व्यक्तिगत रूप से मधुर संबंध थे फिर भी वह मारवाड़ को सहायता देने के लिए तैयार हो गया। इसका कारण यह हो सकता है कि राणा राजसिंह मेवाड़ को पुनः गौरव एवं प्रतिष्ठा के पद पर आसीन करना चाहता था। नेतृत्व विहीन मारवाड़ की सहायता करके राणा राजसिंह ने यह सिद्ध कर दिया था कि संकटकाल में राजपूत शत्रु के विरुद्ध संगठित हो सकते थे। मेवाड़ व मारवाड़ दोनों को यह बात एकदम स्पष्ट थी कि अजीत को मेवाड़ में आश्रय देने का जवाब औरंगजेब युद्ध से देगा। अतः दोनों का समझौता केवल बालक राजा की सुरक्षा तक ही सीमित न रहकर एक सैनिक संगठन के निर्माण के रूप में हुआ।[19] इसमे यह निश्चय किया गया कि (i) राजसिंह अजीत को अपना पैतृक राज्य दिलाने मे सहायता देगा। (ii) मुगल आक्रमण का दोनों सामूहिक रूप से प्रतिरोध करेंगे। इस प्रकार राठोड़-सीसोदिया संधि का निर्माण हुआ।

संधि का महत्व—इस संधि का ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ा महत्व है क्योंकि दोनों ही जातिया राजस्थान में अधिक शक्तिशाली थी। इनका संगठित प्रयास राजस्थान से मुगल प्रभाव को हटाने में सफल हो सकता था। राजसिंह और दुर्गादास के रूप में योग्य नेतृत्व भी मुगल विरोधी अभियान में उपलब्ध हो सका। औरंगजेब की नीतियों के कारण जाट, सिक्ख और सतनामियों के विद्रोह प्रारम्भ हो गये थे जिसके फलस्वरूप मुगल शक्ति का सामना करना इस समय इस संघ के लिए और अधिक सुविधाजनक हो गया था। इस संधि के कारण राजसिंह को अनेक सामरिक लाभ प्राप्त हुये। मेवाड़ और मारवाड़ के बीच अरावली पर्वत के महत्वपूर्ण भागों पर महाराणा का अधिकार हो गया। पूर्व और पश्चिम मे अचानक मुगल सेना पर आक्रमण कर काफी हानि पहुचाई जा सकती थी। इसी ढंग से पूर्वीय प्रदेश उदयपुर से कुंभलगढ़ व

19 वाक्या-ए-रणथंभोर (ह प्र.) पृ. 131-32

राजसमुद्र से सलुम्बर तक पहाड़ी प्रदेशों से घिरा होने के कारण इस ओर आक्रमण करना आसान नही था । इस संधि के महत्व को औरंगजेब ने भली-भांति समझा और एक भयकर चुनौती के रुप में लिया । उसने राजसिंह को एक के बाद एक तीन पत्र भेजे जिसमे अजीतसिंह को सौंप देने के बारे में लिखा था ।[20] परन्तु महाराणा ने इन पत्रों की उपेक्षा की क्योंकि वह तो अजीत की सुरक्षा व सहायता के लिए कटिबद्ध था । अत: औरंगजेब के लिए मेवाड़ के विरुद्ध मुगल सेनायें भेजने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही रहा ।

संघर्ष का प्रारम्भ—मेवाड़ के विरुद्ध औरंगजेब ने अक्टूबर 1679 ई. में तहाव्वरखा के नेतृत्व में एक सेना भेजी और स्वयं भी अजमेर आकर इस संगठन के विरुद्ध मोर्चा बंदी की योजना बनाने लगा । उसने शाहजादा आजम को बंगाल से मेवाड़ पहुंचने व मुअज्जम को दक्षिण से उज्जैन पहुंचने का आदेश दिया । अकबर पहले ही मारवाड़ में था । राजसिंह ने मुगल अभियान के बारे मे ज्ञात होते ही युद्ध की तैयारियां प्रारम्भ कर दी । सामरिक नीति निर्धारण के लिये युद्ध परिषद् का आयोजन किया गया । यद्यपि राठौड़—सीसोदिया सन्धि के कारण सैनिक संख्या में वृद्धि हो गई थी परन्तु राजसिंह जानता था कि राजस्थान विद्रोह औरंगजेब के लिये जीवन व मृत्यु का प्रश्न था । जन विरोध उसके विरुद्ध बढता जा रहा था । राजस्थान मे असफलता अन्य क्षेत्रों मे प्रबल विरोध प्रारम्भ करने का सकेत सिद्ध होगा । अत: यहाँ की सफलता साम्राज्य में उसकी स्थिति दृढ़ करने मे सहायक सिद्ध होगी । उसके सौभाग्य से इस समय मुगल सेना साम्राज्य के किसी अन्य क्षेत्र में व्यस्त नही थी अत: सम्पूर्ण शक्ति राजस्थान समस्या से निपटने के लिये केन्द्रित कर सकता था । दक्षिण व बंगाल से पुत्रों को ससैन्य बुलाना इस बात का स्पष्ट संकेत था । इन सब बातों को मद्देनजर रखते हुए महाराणा ने गरीबदास पुरोहित द्वारा प्रस्तुत योजना स्वीकार कर ली । यह योजना मेवाड़ की सामरिक कमियो को स्वीकार करते हुए, भौगोलिक साधनो का अधिक से अधिक उपयोग करने की थी । शत्रुओं को अधिक से अधिक त्रास, 'मारो और भागो' की नीति का अनुसरण कर ही, दिया जा सकता था । अत: राज्य के मैदानी प्रदेशो में हो रही खेती वाड़ी को पूर्ण नष्ट करने के आदेश प्रचलित किये गये । मेवाड और मारवाड के राज्य व योद्धा परिवारों को भोमट के नैनवाड़ा नामक स्थान पर भेज दिया गया व अन्य महत्वपूर्ण

20 राजविलास, विलास 9

स्थानों पर सैनिक नियत किये गये। राजविलास के अनुसार महाराणा ने अपनी सेना को चार भागोंमें विभक्त कर दिया। सेना की एक टुकड़ीको राजकुमार जयसिंह के नेतृत्व मे 13,000 घुड़सवारों व पैदल को गिर्वा के पहाड़ों मे नियुक्त किया। राजकुमार भीमससैन्य पश्चिम भाग में, प्रधान दयालशाह पर मालवा की ओर रसद मार्ग की देख रेख व सुरक्षा का उत्तरदायित्व डाला गया। चौथी टुकड़ी को दो भागों में बांट कर एक भाग को सांवलदास राठौड़ के नेतृत्व में बदनोर की ओर, दूसरे भाग को गोपीनाथ राठौड़ की अधीनता में देसूरी की नाल की सुरक्षार्थ नियुक्त किया।[21]

उधर औरंगजेब ने जब सुना कि महाराणा ने चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत करवाली व देबारी घाट में सुरक्षात्मक प्रबन्ध मजबूत कर लिये हैं तो स्वयं मेवाड़ की ओर नवम्बर 30, 1679 ई. को अजमेर से रवाना हुआ। मार्ग में जब उसका पड़ाव पुर मे था तब आजम भी उससे आ मिला। आसपास के क्षेत्र में मुगल चौकियां स्थापित की व हसनअलीखां को मेवाड़ नष्ट करने हेतु सात हजार सैनिकों के साथ भेजा। वह स्वयं भी जनवरी 4, 1680 ई. को देबारी पहुंचा। तब वहा से उदयपुर के लिये रवाना हुआ किन्तु राजधानी उसे पूर्णत: खाली मिली तो वह (औरंगजेब) उदयपुर के मन्दिरो को नष्ट करता हुआ पुन: फरवरी 22 को चित्तौड़ की ओर रवाना हुआ। इस समय मेवाड़ में अकबर भी आगया था व औरंगजेब ने अन्य मुगल सेना नायकों को भी बुला लिया था। समस्त मेवाड में मुगल सेनाओं ने विनाश कर दिया। मन्दिर व भवन नष्ट किये जा रहे थे। राजसिंह ने सुरक्षात्मक युद्ध के साथ-साथ आक्रामक नीति भी अपनायी जिससे कि बादशाह का ध्यान विकेन्द्रित हो जाये। उसने अपने पुत्र भीम को ईडर व गुजरात में आक्रमण के लिये भेजा। भीम ने ईडर पर आक्रमण कर मुगल सेना को वहां से खदेड़ दिया। तत्पश्चात बड़नगर को लूटकर वहां से 40 हजार रुपये दंड के वसूल कर अहमदनगर पर आक्रमण किया। राजप्रशस्ति के अनुसार वहां एक बडी व तीन सौ के लगभग छोटी मस्जिदें नष्ट कर दी गईं। जूनागढ, सूरत, पाटन आदि नगर उसकी सैनिक कार्यवाही का क्षेत्र बने।[22] राजसिंह की इस नीति का परिणाम शीघ्र ही प्रकट हुआ। गुजरात आक्रमण के समाचारों से चिन्तित हो औरंगजेब शीघ्र मेवाड़ से रवाना हो अजमेर पहुँचा। अब अकबर ही मेवाड़ में रह गया था। मुगल बादशाह के राज्य से जाते

---

21 वही, विलास 10

22 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 22, श्लोक 26-29

ही मेवाडी सैनिक आये दिन मुगल थानों पर आक्रमण कर उन्हे जन तथा धन से हानि पहुंचाते रहे जिससे सम्पूर्ण सेना में आतंक छा गया। इन परिस्थितियों में अकबर को जो इस समय मेवाड़ का सारा सैन्य संचालन कर रहा था उसे चारो ओर से असफलता ही मिल रही थी। छापामार सैनिकों का सामना करने के लिये उसको मुगल सेना को अनेक छोटी-छोटी टुकड़ियों में विभक्त करना अत्यावश्यक हो गया। मेवाड़ अपने चुने हुए स्थान व समय पर लड रहा था। मुगल सेना की विशालता व अच्छे हथियारों की बहुतायत का प्रभाव छापामार युद्ध के कारण नगण्य-सा रह गया था। मुगल यहां की भौगोलिक स्थिति से भी परिचित नही थे। इसलिये उनकी कठिनाइयां और अधिक बढ़ गईं। अकबर की असफलता के कारण उसको मेवाड़ से मारवाड की ओर भेज दिया। औरंगजेब जानता था कि राजस्थान विद्रोह का पूर्ण दमन मेवाड़ पराजय पर ही निर्भर है अत: अकबर की जगह जून 26 को शाहजादा आजम को नियुक्त किया गया तथा उदयपुर पर तीन ओर से आक्रमण की योजना बनाई गई। उदयपुर (देबारी के द्वार से) राजसमंद और देसूरी से मुगल सेनाओ ने मेवाड़ के आन्तरिक भागों में प्रवेश करने का निश्चय किया। अकबर को मारवाड़ की ओर बढने में विशेष सफलता न मिली और निरन्तर असफलता से अकबर की स्थिति मुगल दरबार में दिन प्रतिदिन खराब होती गई। निरन्तर असफलता ने उसके मन को भी व्यथित किया। इधर मुगल आक्रमणो ने मेवाड़ के मध्य भाग को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। औरंगजेब जब मेवाड मे व्यस्त था तब मारवाड़ में दुर्गादास और अन्य राठौड़ सामन्तों ने जालोर, सोजत, सिवाना, जैतारण आदि स्थानो पर उपद्रव कर मुगल व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर रहे थे। इसलिए मेवाड से वापस अजमेर लौटने के पश्चात् अप्रेल 1680 में उसने मुकर्रमखां को जालोर की ओर जाने का आदेश दिया। इन्द्रसिंह भी अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने में लगा हुआ था, ताकि उसे जोधपुर का राज्य मिल जाय। जैतारण आदि स्थानो पर राठौड विद्रोह को दबाने के लिए उसने अनेक प्रयास किए परन्तु जून 1680 ई. में खतेसर के युद्ध में उसकी करारी हार हुई एवं राठौड़ वंश राज परिवार का होते हुए भी वह अपनी ओर अन्य स्वामिभक्त सामन्तों को मिलाने मे सफल नही हो सका। जोधपुर का खतरा दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था, दक्षिण में जालोर से सिवाना, उत्तर में डीडवाना और उत्तर पूर्व में सांभर आदि स्थानों पर राठौड़ विद्रोह उग्र रूप धारण करता जा रहा था। उधर अकबर जो चित्तौड़ से मारवाड की ओर गया, अपनी असफलताओं से खिन्न हो उठा, औरंगजेब भी उससे रुष्ट था

जिससे राजपूतों ने उसे अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। राजसिंह ने भी अकबर को राजपूतों से संधि करने पर मदद करने का वादा किया। जब यह समझौते की बातें चल रही थी इसी बीच अक्टूबर 22, 1680 ई. को महाराणा राजसिंह का देहान्त हो गया और मेवाड़ से जो समुचित सहयोग इस संधि में होना चाहिए था वह न हो सका।

महाराणा राजसिंह का व्यक्तित्व एवं सांस्कृतिक उपलब्धियाँ—ओझा के अनुसार "महाराणा राजसिंह रणकुशल, साहसी, वीर, निर्भीक, सच्चा क्षत्रिय, बुद्धिमान, धर्मनिष्ठ और दानी राजा था। उसने उस समय के सबसे प्रतापी बादशाह औरंगजेब के हिन्दुओं पर जजिया लगाने, मूर्तियाँ तुड़वाने आदि अत्याचारों का प्रबल विरोध किया। बादशाह के डर से श्रीनाथजी आदि मूर्तियों को लेकर भागे हुए गुसाईं लोगों को आश्रय देकर तथा उन मूर्तियों को अपने राज्य में स्थापित करा कर उसने अपनी धर्मनिष्ठा का परिचय भी दिया। बादशाह से सम्बन्ध की हुई चारुमती से उसकी इच्छानुसार उसके धर्म की रक्षा के लिए उसने निर्भयता के साथ विवाह किया, अजीतसिंह को अपने यहां आश्रय दिया और जजिया कर देना स्वीकार न किया। इन सब बातों के कारण उसे औरंगजेब से बहुत लड़ाइयां लड़नी पड़ी। इन लड़ाइयों में उसने जो वीरता, रणकुशलता तथा नीतिमत्ता दिखाई वह प्रशंसनीय थी।....इतना होने पर भी उसमें कुछ अदूरदर्शिता अवश्य थी। उसने शुरु में ही हिन्दुओं के पक्षपाती एवं साधुस्वभाव दाराशिकोह का पक्ष न लेकर हिन्दू विरोधी, कट्टर मुसलमान औरंगजेब का पक्ष लिया। महाराणा में क्रोध की मात्रा भी कुछ अधिक थी। किसी कार्य को करने से पहले उस पर वह अधिक विचार न करता था। क्रोध के आवेश में आकर उसने राजकुमार, रानी, पुरोहित, चारण की हत्याएं कर डालीं। इतना होते हुए भी वह बड़ा दानी था। वह स्वयं कवि तथा विद्वानों का सम्मान करने वाला था।"[23] एस. आर. *शर्मा का मत है कि मध्यकालीन भारत के किसी भी शासक ने जनहित* के कार्यों पर इतना धन खर्च नहीं किया जितना राजसिंह ने किया। किसी भी मुगल शासक ने यहां तक कि महानतम मुगल सम्राट ने आमदनी के अनुपात में इतनी राशि लाभदायक कार्यों के लिए लगाई हो। रामप्रसाद व्यास का कहना है कि "महाराणा राजसिंह का काल मेवाड़ में सर्वतोमुखी *उन्नति का काल था। मेवाड़ की महत्ता, उसकी शक्ति, उसकी वह चिरन्तन* राजश्री राणा प्रताप के बाद से ही क्षीण होने लगी थी। मेवाड़ का

---

23 ओझा, उदयपुर, जि. 2, पृ. 579-80

गौरवमय जन जीवन रुग्णावस्था में पहुंच चुका था। एक बार फिर मेवाड़ की विगत आभा को चमकाने व गौरवान्वित करने तथा जन जीवन को संजीवनी प्रदान करने का श्रेय राणा राजसिंह को दिया जा सकता है। राजसिंह के शासन काल मे मेवाड शांति जनित वैभव में वृद्धि हुई। मेवाड का यह दुर्भाग्य था कि राजसिंह के उत्तराधिकारी उसकी महत्ता को चिरस्थायी बनाये रखने मे सफल नहीं हुए। . मेवाड़ के गौरवमय इतिहास मे मेधावी महाराणाओं की परम्परा में राजसिंह निर्विवाद रूप से अन्तिम महान राजा स्वीकार किया जा सकता है।"

सांस्कृतिक उपलब्धियाँ—राजसिंह केवल उच्च प्रशासक, योग्य कूटनीतिज्ञ, निर्भीक सेनानायक ही नही अपितु साहित्य और कला का भी आश्रयदाता था। उसका काल महती क्रिया का युग था। उसके काल मे सांस्कृतिक क्षेत्र मे अपूर्व उन्नति हुई। वह स्वयं साहित्यकार था। उसका लिखा हुआ छप्पय प्राप्य है। साथ ही साथ साहित्यकारों व कलाकारों का आश्रयदाता भी था। उसके समय का साहित्य संस्कृत, डिंगल व पिंगल मे मिलता है। इस काल मे रचित संस्कृत साहित्य को दो भागों में बाटा जा सकता है—परम्परागत संस्कृत साहित्य एवं मौलिक साहित्य। वेद, पुराण, उपनिषद, महाभारत व रामायण आदि कई संस्कृत ग्रन्थो की नकलें की गईं। पुरोहित गरीबदास का प्रतिलिपियां कराने मे अत्यधिक योगदान था। वैसे वह स्वयं भी प्रकांड पंडित था। इसके अतिरिक्त रणछोड, रामराय आदि ने भी प्रतिलिपियां करवाईं। परम्परागत साहित्य की प्रतिलिपियों के अलावा राजसिंह के समय अनेक विद्वानों ने मौलिक साहित्य की भी रचना की। रणछोड भट्ट का इसमें प्रमुख स्थान है। 'राजप्रशस्ति महाकाव्यम्' इसकी अनुपम कृति है। इसका निर्माण राजसिंह की आज्ञा से किया गया था। सम्पूर्ण को 25 बड़ी-बड़ी शिलाओं पर उत्कीर्ण कर राजसमुद्र पर ताको मे लगा दिया था। शिलायें काले पत्थर की हैं व प्रत्येक 3 फीट लम्बी ढाई फीट चौडी है। महाकाव्य चौबीस सर्गों मे विभाजित है। मूलतः महाकाव्य ऐतिहासिक है। यद्यपि इसमें मेवाड़ का प्राचीन काल से इतिहास है तथापि राजसिंह का इतिहास प्रामाणिक है। राजनैतिक इतिहास के साथ-साथ 17 वी शताब्दी के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दशा का भी इसमे अच्छा वर्णन है। इसकी भाषा प्रवाह युक्त, व्यवस्थित तथा विषयानुकूल है। रणछोड़ भट्ट की अन्य प्रशस्तियां और भी हैं एक इन्द्रसरोवर बाध पर तथा दूसरी त्रिमुखी बावड़ी पर लगी हुई है। इसके अतिरिक्त भट्ट ने 'अमरकाव्य' नामक

शासकोंका वर्णन है। आकार में यह राजप्रशस्ति से छोटा पर भाषा व कविता की दृष्टि से अधिक उत्तम है। उसकी अपेक्षा इसकी भाषा अधिक प्रौढ और वर्णन शैली व्यवस्थित तथा विषय सामग्री अधिक व्यापक है।[24] कवि सदाशिव भी राजसिंह के आश्रय में था। उसने 'राजरत्नाकर' नामक महत्व-पूर्ण ग्रन्थ की रचना की। भाषा की दृष्टि से इसका महत्व रणछोड़ भट्ट के काव्यों से भी अधिक है। इसी प्रकार जगन्नाथ पालीवाल ने 'राजपट्टाभिषेक पद्धति' ग्रन्थ का निर्माण किया। इसमें महाराणा राजसिंह के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में वर्णन है। राज्याभिषेक की सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। बाल्मीकि रामायण, यजुर्वेद, सामवेद से विशेष सामग्री लेकर वर्णन किया गया है। वि. सं. 1709 माघ शुक्ला पूर्णिमा को इसकी रचना पूर्ण हुई। 'राजसिंह प्रभोवर्णनम्' ग्रन्थ का रचयिता लाल भट्ट राजसिंह कालीन था। इसमें कुल 102 श्लोक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ग्रन्थ का मूल्य नगण्य-सा है किन्तु महा-राणा राजसिंह के गुणों का साहित्यिक भाषा में अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन है। मुकन्द श्रोत्रिय ने 'राजसिंहासन' नामक काव्य लिखा।

संस्कृत के अतिरिक्त डिंगल व पिंगल में भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। मान कृत 'राजविलास' इनमें प्रमुख है। इसकी रचना जैन यति मान ने की है। यह 18 विलासों में विभक्त है। इसका इतिवृत्त ऐतिहासिक है। बाप्पा रावल से लेकर राजसिंह के जीवन काल के अन्तिम तीन वर्षों तक का इसमें वर्णन है। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार "पूरा का पूरा ग्रन्थ साहि-त्यिक सौंदर्य से परिपूर्ण है। परन्तु इसके वे स्थल जहां सेना, समर भूमि का, युद्ध का वर्णन आया है, विशेष रूप से प्रभावोत्पादक एवं चित्रमय है।" इसी प्रकार 'सगत रासो' का गिरधर आशिया, 'राज प्रकाश' का राव किशोरदास, 'गुण गोविन्द' का राव कल्याणदास रचयिता था।

वास्तुकला व चित्रकला—साहित्य के साथ-साथ इस काल में कला के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। वास्तुकला का अनुपम उदाहरण राजसमुद्र है। इस सागर की लम्बाई पाच किलो मीटर व चौड़ाई 2 किलो मीटर है। इसका बांध 'नौ चौकी' नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि बाध के नीचे वाले तीन बड़े चबूतरों पर तीन-तीन छतरियों वाले मंडप बने हुये हैं जिनका योग नौ होता है। मंडपों की बनावट किसी समाधि छत्री जैसी है। गोपीनाथ शर्मा का मत है कि "इन मडपों को तीन-तीन छत्री समूहों में इस प्रकार बनाया गया है कि वे मंडप अपने आकार प्रकार से अनुपम दिखाई देते हैं। समाधि

24 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, पृ. 4

छत्रियों या गरुड़ अथवा नन्दी की छत्री की भांति इन मंडपों पर शिखर या गुंबज नहीं है, परन्तु छज्जे आदि के प्रयोग में, हिन्दू शैली के दिखाई पड़ते हैं। फिर भी इन मंडपों का राजस्थानी शिल्पशास्त्र के इतिहास में अपने ढंग का प्रथम प्रयोग है।....आगे जाकर यह शैली अपने रूप में उत्तरोत्तर अपनाई जाने लगी, जिसके कतिपय नमूने जगनिवास, जगमन्दिर, मोहन मन्दिर आदि पिछोला झील के प्रासादों में देखने को मिलते हैं।" इन मंडपों के स्तम्भों पर व छतों में सुन्दर खुदाई का काम है। जिनमें पशु-पक्षी तथा स्त्री मूर्तियाँ बड़ी रोचक है। सुन्दर खुदाई उस युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक जन जीवन की सुन्दर झांकी प्रस्तुत करती है। राजसमुद्र के अलावा अनेक जलाशयों का निर्माण कराया। उसके काल में भवनों व मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। सर्वऋतु महल व बाग महाराणा ने बनवाये। अम्बामाता का मन्दिर भी इसी काल में बना है। उसके मन्त्री दयालदास ने राजसमुद्र के पास पहाड़ी पर संगमरमर का आदिनाथ का चतुर्मुख जैन मन्दिर का निर्माण कराया।

चित्रकला की दृष्टि से मेवाड़ में 17 वीं शताब्दी का अत्यधिक महत्व है। राजसिंह व उसके पिता जगतसिंह के शासनकाल में यह बहुत उन्नत थी। इस युग में उदयपुर में विस्तृत चित्रण कार्य हुआ। गल्पगाथायें, पौराणिक प्रथाएं एवं शौर्य प्रदर्शन इन चित्रों का मुख्य आदर्श था। 16 वीं शताब्दी में व्याप्त ग्रामीणता व स्थूलता के स्थान पर सुघरापन व परिपक्वता चित्रकला में राजसिंह के समय दृष्टिगोचर होने लग गयी थी। नाथद्वारा शैली का आरंभ भी महाराणा राजसिंह के समय की देन है। चित्रकला के अनुरूप ही संगीत कला को राजसिंह ने संरक्षण दिया। इस प्रकार राजसिंह की उपलब्धियां राजनैतिक व सांस्कृतिक क्षेत्र में बेजोड़ हैं।

अकबर का विद्रोह व अंत—इधर दुर्गादास अकबर को अपनी ओर मिलाने का प्रयास करता रहा और अन्त में वह अपने इस प्रयास में सफल भी हो गया। जनवरी 1, 1681 ई. को अकबर को सम्राट घोषित किया गया। उसने औरंगजेब की कटु आलोचना की और राठौड़ सैनिकों सहित अजमेर की तरफ बढ़ने लगा। औरंगजेब उस समय अजमेर में असुरक्षित अवस्था में था। उसकी सारी सेनायें इधर-उधर बिखरी हुई थी। यदि बिना समय नष्ट किये यह सम्मिलित सेना अजमेर पर आक्रमण कर देती तो स्थिति राजपूतों के पक्ष में हो सकती थी किन्तु अकबर ने अपना अधिकांश समय यों ही नष्ट कर दिया और धीरे-धीरे अजमेर की ओर बढ़ने से औरंगजेब को अपनी सुरक्षा का पूरा अवसर प्राप्त होगया। उसने चालाकी से, अकबर को जब वह अजमेर

के निकट पहुँच चुका था, मित्र विहीन कर दिया। उसके राजपूत समर्थक उसे खेमे में अकेला छोड़ कर अपने राज्य की ओर लौट आये। कुछ समय पश्चात् राजपूतों को अपनी भूल का पता लगा किन्तु उस समय तक काफी देर हो चुकी थी और बाध्य हो दुर्गादास ने अकबर को दक्षिण मे ले जाना ही उपयुक्त समझा। तब दुर्गादास द्वारा अकबर का साथ देने के दो कारण हो सकते हैं—एक, अकबर को शम्भाजी के दरबार मे ले जा कर कदाचित दुर्गादास राठौड़ मराठा मैत्री स्थापित करना चाहता था। दूसरा, अकबर को दक्षिण ले जा कर दुर्गादास ने औरगजेब का ध्यान मारवाड़ से हटाकर दक्षिण की ओर कर दिया। सरकार का मानना है कि "अकबर के विद्रोह से दिल्ली का सम्राट तो बदला परन्तु इससे महाराणा को ऐसी शांति मिली जिसकी उसको आशा नही थी।"

मेवाड़-मुगल संधि—अकबर के दक्षिण की ओर प्रयास करने के फलस्वरूप औरंगजेब को अपनी नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। उसको अपना सारा ध्यान दक्षिण भारत की ओर केन्द्रित करना जरूरी हो गया। चूंकि मेवाड़ के सैनिक बड़नगर, विशालनगर, मालवा व धार आदि मे लूट-खसोट कर रहे थे, अतः मुगल साम्राज्य को भी नुकसान होने लगा। इसी बीच मेवाड़ में राजसिंह का उत्तराधिकारी जयसिंह, जिसमे अपने पिता की भांति न तो सैनिक प्रतिभा थी न प्रशासनिक योग्यता ही, औरंगजेब से सुलह करना चाहता था। इधर औरंगजेब को भी मेवाड़ से संधि करने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। तब महाराणा के चचेरे भाई श्यामसिंह[25] की मध्यस्थता से अततः दोनों पक्षों मे सधि होना तय हुआ। जून 14, 1981 ई. को राजसमुद्र पर महाराणा तथा आजम की भेंट हुई और अन्त मे मेवाड़ व मुगलों के बीच जो सधि हुई उसकी शर्तों के अनुसार[26]—1 मेवाड़ के मांडल, पुर व वदनोर के परगने औरगजेब को जजिया के रूप में दे दिये गये। 2 औरंगजेब ने अपनी समस्त सेना मेवाड़ से हटा देना स्वीकार किया। 3 महाराणा को पाँच हजारी मनसबदार का पद दिया गया और महाराणा ने यह भी स्वीकार किया कि वह राठौड़ों को किसी प्रकार की सहायता नही देगा।

निःसंदेह उपर्युक्त शर्तों से मेवाड़ व मुगलों के मध्य तो संघर्ष समाप्त हो

---

25 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 23, श्लोक 32-33

26 मासिरे-आलमगीरी, पृ. 208; राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 23, श्लोक 34-62

गया किन्तु मारवाड से बराबर चलता रहा और यह संघर्ष अब दो स्थानो पर चलने लगा। प्रथम दक्षिण मे अकबर, राठौड़ और मराठों ने संयुक्त रूप से मुगलों के विरोध का निश्चय किया और दूसरा मारवाड़ मे जो मुगलो के अधीन था किन्तु दिन-प्रति-दिन वहां मुगल विरोधी भावनाएं तीव्रतर होती गई और सामन्तो ने बिना राजा, राजधानी व नेतृत्व के संघर्ष जारी रखा।

दुर्गादास का मराठा सहायता प्राप्त करने का प्रयास—अकबर के विद्रोह की असफलता के पश्चात् दुर्गादास ने अकबर को महाराष्ट्र मे ले जाकर वहाँ के शासक शंभाजी से सहायता प्राप्त करने का प्रयास किया। महाराष्ट्र की सीमा में प्रवेश करते समय शंभाजी के उच्च पदाधिकारियों ने उनका स्वागत किया और पाली नामक स्थान पर उनको ठहराने की व्यवस्था की गई। शंभाजी ने उन्हें पूर्ण सहायता देने का आश्वासन दिया। अजितोदय के अनुसार शभाजी ने प्रारम्भ मे दुर्गादास और अकबर के प्रति बड़ी संदेह की भावना रखी परन्तु उनकी यह भावना अल्प समय तक ही रही। ओर्मे का कहना है कि दुर्गादास ने जब शभाजी की हत्या का एक प्रयास विफल कर दिया तब शभाजी ने अकबर और राठौड़ों को शीघ्र सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की। अपने इस प्रयास में शंभाजी राजस्थान के अन्य शासको को भी सम्मिलित करना चाहता था एवं उसकी इच्छा थी कि राजस्थानी शासको को भी सम्मिलित कर एक संगठित मुगल विरोधी अभियान प्रारम्भ किया जाए। शभाजी ने इसी उद्देश्य से प्रेरित हो आमेर के शासक रामसिंह को एक पत्र लिखकर यह कहा कि अकबर और दुर्गादास को गत दो वर्षों से अपने पास रखे हुये हूँ और मेरी इच्छा है कि यवन शासक के विरुद्ध एक संयुक्त प्रयास किया जाय। अगर आप हमारे साथ सम्मिलित हो जाये तो सब कुछ प्राप्त करना हमारे लिये संभव हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामसिंह का प्रत्युत्तर कोई उत्साहवर्द्धक नही था। इसलिये शंभाजी ने कुछ समय पश्चात् एक पत्र और लिखकर रामसिंह का उसके धार्मिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहा और शभाजी ने अपने पत्र में यह आशय प्रकट किया कि हिन्दू धर्म पर जब अनेक प्रकार की कठिनाइया आ रही हैं फिर भी वह चुप है। शंभाजी ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि वह दुर्गादास व अकबर को मराठा सैनिको सहित उत्तर भारत में भेजेगा तब रामसिंह उसकी मदद करेगा। दक्षिण मे दुर्गादास ने शंभाजी को सिधियो व पुर्तगालियो के विरुद्ध सहायता दी और मराठा सैनिक जब उन स्थानो से मुक्त हुये तब इन्होने दुर्गादास के नेतृत्व में अहमदाबाद मे युद्ध ।। अहमदाबाद मे इन्हे विजय न मिल पाई और शांति वार्ता भी सफल

न हो पाई। इस तरह से 1684 ई. से 86 ई. तक इनके उत्तरीभारत में आने के सारे प्रयास असफल हुये। दुर्गादास व अकबर की आशाएं धूमिल होने लगीं तब अकबर चारों ओर से निराश हो पर्शिया की ओर चला गया और दुर्गादास भी पुनः मारवाड़ लौट आया। इस ढंग से मुगलो के विरुद्ध राजस्थान और मराठों का संगठन बनाने का एक बहुत अच्छा अवसर इनके हाथ से निकल गया। राजसिंह की मृत्यु व शंभाजी की अकर्मण्यता के कारण यह संभव नहीं हो सका और निराश हो दुर्गादास को वापस लौटना पड़ा। फिर भी मारवाड़ और मेवाड़ को इन घटनाक्रमो से काफी लाभ हुआ। यह सत्य है कि इनसे बादशाहत में कोई परिवर्तन नहीं आया परन्तु जिस समय मेवाड़ में लड़ाई का अधिक जोर था, मुगल सेनायें मेवाड़ को चारों ओर से घेर चुकी थी और मेवाड़ की पूर्ण बरबादी की जा रही थी ऐसे समय में औरंगजेब का वहां से चला जाना मेवाड़ के लिये काफी लाभदायक रहा, मेवाड़ अधिक बरबादी से बचा क्योंकि मेवाड़ में दबाव अपने आप कम हो गया और मेवाड़ में पूर्णतः शांति की स्थापना हो गई और इस कारण संधि होने में भी मेवाड़ को सहायता मिली।

मुगल-मारवाड़—इधर मारवाड़ की दशा पूर्ववत ही बनी रही। वहां पर निरन्तर लड़ाइयां होती रही। इन लड़ाइयों के साथ अनेक प्रकार की बीमारियां भी फैलती गई जिससे भूमि उजाड़ होने लगी थी। यदि बादशाह मारवाड़ में और अधिक सेना भिजवा सकता तो राठौड़ों की शक्ति समाप्त हो सकती थी किन्तु अकबर और दुर्गादास के दक्षिण मे चले जाने से औरंगजेब को भी सेना लेकर उनके पीछे जाना पड़ा। अतः मारवाड़ में मुगल सेना का प्रभाव व संख्या सीमित हो गई, जो राठौड़ों के लिए एक वरदान सिद्ध हुई। जैसे ही मुगल सेना का प्रभाव मारवाड़ में कम हुआ, राठौड़ पहाड़ों तथा जंगलों से निकल कर मुगल पड़ावों पर आक्रमण करने लगे। ओझा के अनुसार तो ऐसा समय भी आया जब बादशाह के लिये मारवाड़ में किसी को भेजना कठिन प्रतीत हुआ। राठौडों ने मारवाड में स्थित मुगल सेनाओं को तंग ही नहीं किया अपितु उनके राज्य से निकलने वाले व्यापारियों को लूटना शुरु किया और बाध्य होकर व्यापारियों को अपनी सुरक्षा के लिये चुंगी या चौथ देनी पड़ती थी। मुगल सेनानायकों ने इस कर को वसूल करने पर रोक लगाने मे कुछ भी कार्यवाही नहीं की और उन्होंने इस चुंगी का हिस्सा सामन्तों को देना स्वीकार किया। इस प्रकार करीब तीस वर्ष तक मारवाड़ मे युद्ध होता रहा। यह सम्पूर्ण युद्ध तीस वर्षीय काल के नाम से जाना जाता है। किन्तु मुख्य रूप से यह संघर्ष 1679 ई. से 1687

ई. तक सहा गया। अतः इस काल को मुक्ति के लिये संघर्ष का काल कहना अधिक उपयुक्त होगा। मुगलों को इस लड़ाई में काफी हानि हुई। फलतः मुगल सेनाओं में भी राजपूतों की नई भर्ती होना बन्द-सी हो गई। औरंगजेब के जाने के बाद असदखां ने महाराणा जयसिंह के भाई राजा भीमसिंह के माध्यम से राठौड़ सोनग से सम्पर्क करके अजमेर में वार्ता का एक प्रयास किया गया। राठौड़ सामंत वार्तालाप के लिये जब अजमेर जा रहे थे तो मार्ग में मेड़ता से कुछ दूरी पर शनिवार, अक्टूबर 8, 1681 ई. को राठौड़ सोनग की मृत्यु हो गई। फलतः वार्तालाप स्थगित करनी पड़ी। यों तब इस वार्तालाप का भग होना दुर्भाग्य पूर्ण सिद्ध हुआ और आने वाले लंबे समय तक फिर वार्तालाप प्रारम्भ न हो सकी। राठौड़ सामंतों ने भी वार्तालाप का स्थगित होना ठीक नहीं माना। अतएव राठौड़ सोनग के बड़े भाई अजबसिंह ने अपने कई साथियों के साथ मुगलों के विभिन्न स्थानों पर आक्रमण किये। तब मेड़ता से कुछ दूरी पर अक्टूबर 1681 ई. में असदखां से लड़ते हुए उसकी मृत्यु हो गई। इसलिये वार्तालप की संभावनाएं समाप्त हो गई।[27] राठौड़ विभिन्न दलों में भिन्न-भिन्न नेतृत्व के अधीन बिना किसी योजना के मुगलों पर आक्रमण करते रहे। इस समय राठौड़ों का कोई शासक न था। दुर्गादास के दक्षिण में चले जाने पर उनका कोई सर्वमान्य नेता नहीं रहा, शासक व नेतृत्व के अभाव में भी बिना राजधानी, दुर्ग व बिना किसी संगठन के मारवाड़ के राठौड़ सामंत मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे, और इसी संघर्ष के कारण मुगल मारवाड़ पर स्थाई अधिकार प्राप्त करने में सफल नहीं हुए। दुर्गादास के दक्षिण में होने के समय राठौड़ सामंतो के बहुत कहने पर मुकन्ददास खीची ने अजीतसिंह को जब राठौड़ सामन्तो के सामने उपस्थित करके राजतिलक किया, तब यह संघर्ष और अधिक तीव्र हो गया। अजीतसिंह को प्रकट करना दुर्गादास को पसन्द नहीं था परन्तु मुकन्ददास खीची, जिसकी देख रेख में अजीतसिंह को रखा गया था, उसके लिए राठौड़ सामन्तों से बाध्य होकर अजीतसिंह को प्रकट करना आवश्यक हो गया, यद्यपि अजीतसिंह को प्रकट करना उचित नहीं था, क्योंकि इस समय औरंगजेब को दक्षिण में निरन्तर सफलता मिलती जा रही थी। मारवाड़ में राठौड़ों की सैनिक संख्या दिन-प्रति-दिन कम होती जा रही थी और दुर्गादास राज्य से दूर था, ऐसे समय में उसे प्रकट करने की मांग करना खतरे से खाली नहीं था। अजीतसिंह को बन्दी बना कर या उसका वध कर मुगल बादशाह

---

27 रघुबीरसिंह, दुर्गादास राठौड़, पृ. 99-100

संघर्ष को स्थायी रूप से शांत कर सकता था, परन्तु मुकुन्ददास खीची के लिये प्रकट करने के अलावा अन्य कोई मार्ग नही था। मुगलों द्वारा अजीतसिंह की मृत्यु का भ्रम फैलाने से सामन्तों में युद्ध की प्रेरणा कम होती जा रही थी एवं उनको उत्साहित करने के लिये अजीतसिंह को गुप्त स्थान से बाहर लाना आवश्यक हो गया। दुर्गादास इस घटना से रुष्ट हुआ और दक्षिण से लौट आने पर अजीतसिंह के पास आने के बजाय अपनी जागीर में चला गया। दुर्गादास का नेतृत्व मारवाड़ के लिये आवश्यक था। इसलिये अजीतसिंह ने पूर्ण प्रयास कर उसको अपने पास बुला लिया और राठौड़ों को पुन: नये ढंग से संगठित कर मुगलों के विरुद्ध नवीन रूप से मोर्चा स्थापित करने की योजना बनाई जाने लगी। उधर महाराष्ट्र में भी शंभाजी की मृत्यु के बाद तीस वर्षीय स्वतन्त्रता संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिससे औरंगजेब का ध्यान दक्षिण में ही केन्द्रित रहा जिसका लाभ उठा दुर्गादास ने दूर-दूर मुगल प्रान्तो पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। रघुवीरसिंह का भी मानना है कि दुर्गादास के हाथों में सारा उत्तरदायित्व आ जाने का तुरन्त व महत्वपूर्ण परिणाम निकला। सभी राठौड सैनिक पूरे मारवाड में घूमने लगे। तब उनका क्षेत्र जालोर से मेड़ता हो गया। मारवाड़ में स्थित मुगल सेनाओं में उनका आतंक छा गया। तब कासिमबेग व अन्य मुगल सेनानायकों के प्रयास भी प्रभावशाली नही हो पाये थे। 1690 ई. मे दुर्गादास ने सिफदरखा (अजमेर का गवर्नर) के विरुद्ध महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की तो इससे औरंगजेब काफी चिन्तित हुआ। उसने शुजातखा को मारवाड़ मे भेजा। वह अनेक राजपूतों को अपनी ओर मिलाने में सफल हुआ। इन्द्रसेन के पुत्र मोहकमसिंह को मेड़ता का फौजदार नियुक्त किया, साथ ही मारवाड से होकर जाने वाले माल पर चौथ देना भी उसने स्वीकार किया। यों 1691 ई. में मारवाड मे अपेक्षाकृत शांति रही परन्तु अगले वर्ष ही जून के महिने से पुन: मुगल आक्रमण बढने लगे।

इधर चूंकि अकबर के पुत्र व पुत्री दोनों ही राठौड़ों के पास थे। अत: औरंगजेब की यह तीव्र अभिलाषा थी कि किसी भी तरह से उनके पास से इन बच्चो को ले आना चाहिए। उसे बराबर यह भय बना हुआ था कि यदि मुगल परिवार का कोई व्यक्ति राठौडों के पास रहा तो बादशाह के विरुद्ध विद्रोह करने मे अनेक स्थानों से उसे सहायता मिल सकती थी। साथ ही अजीतसिंह का विवाह महाराणा की भतीजी से होना भी एक नये खतरे का सूचक था। खफीखां का भी मानना है कि इस वैवाहिक सबध ने अजीतसिंह के असली न होने के संदेह को एकदम समाप्त कर दिया। इसलिये औरंगजेब

राठौड़ों से संधि करने को अत्यधिक उत्सुक था। अतः 1696 ई. मे इसी उद्देश्य से ईश्वरदास को जोधपुर का अमीन बनाकर भेजा। उसकी इस नियुक्ति के काल मे उसको दुर्गादास व अन्य राठौड़ सामंतो से मिलने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। अन्त मे इस शर्त पर दुर्गादास ने अकबर की पुत्री को सौंपना स्वीकार किया कि जब तक संधि वार्ता पूर्ण न हो जाय तब तक मारवाड़ मे स्थित मुगल सेनायें निष्क्रिय रहे। उसकी यह शर्त मान ली गई। दुर्गादास स्वयं अकबर की पुत्री को लेकर मई 20, 1698 ई. को औरंगजेब के दरबार मे उपस्थित हुआ। इस समय औरंगजेब दुर्गादास को उच्च मनसब देना चाहता था किन्तु अजितोदय के अनुसार उसने (दुर्गादास) उस समय तक मनसब लेना अस्वीकार किया जब तक कि अजीतसिंह को मारवाड़ का राज्य न मिल जाय। औरंगजेब इसके लिए तैयार नहीं था। अतः संधि वार्ता भंग हो गई तथा पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अब राजपूतों ने अन्य पड़ोसी राज्यो पर भी आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस समय मे दक्षिण की स्थिति भी औरंगजेब के लिये कठिनाइयां उपस्थित करने लग गई थी। अतः मुगलो द्वारा संधि प्रारम्भ करने की इच्छायें दृष्टिगोचर होने लगी। इधर अजीतसिंह भी निरन्तर के युद्धों मे तंग आ गया था। अब उसकी इच्छा भी स्थायी रूप से एक स्थान पर रह कर जीवन बिताने की थी। यों दोनों ही पक्षों के कारण तब संधि होने मे कोई कठिनाई नही हुई। अजीतसिंह को मुगल मनसबदार बना दिया गया तथा सिवाना, जालोर व सांचोर के परगने दे दिये गये। फिर भी इस संधि से संघर्ष का अंत नही हुआ। अजीतसिंह को पूर्ण रूप से मारवाड़ नही मिला था और दुर्गादास भी औरंगजेब के प्रति सदेहशील था। इसलिए मुगल दरबार में उपस्थित होने के निमन्त्रण को तब अस्वीकार कर दिया गया। औरंगजेब ने तो दुर्गादास को बंदी बनाने की भी सोची। उसने गुजरात के सूबेदार अपने पुत्र आजम को दुर्गादास को बंदी बनाने के आदेश भी दिये। दुर्गादास उस समय पाटन में था और उसे जब ये समाचार मिले तो वहां से भाग कर वह मेड़ता की ओर आ गया। इस प्रकार पुनः मारवाड-मुगल संघर्ष प्रारम्भ हो गया जो औरंगजेब की मृत्यु-पर्यन्त बना रहा। हालांकि इस मध्य संधि वार्ता के प्रयास भी चलते रहे।

राजस्थान का केन्द्रीय शक्ति (मुगल)के विरुद्ध विद्रोह (1708-1710ई.)—औरंगजेब की मृत्यु के साथ ही उत्तराधिकार-संघर्ष प्रारम्भ हुआ। तब उसके दोनो पुत्र मुअज्जम एवं आजम ने अजीतसिंह को कई प्रलोभन देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। परन्तु वह तो तटस्थ रहकर मारवाड़ राज्य के अधिक से अधिक भाग को अपने अधिकार में लाने का प्रयास करता रहा।

मारवाड़ के अनेक भागों से मुगल थाणों को उसने समाप्त कर दिया। रघुबीरसिंह के मतानुसार "औरंगजेब की मृत्यु के बाद ही वहां के नायब-फौजदार जाफरकुलीखां को जोधपुर से भगा कर अजीतसिंह ने मार्च 12, 1707 ई. को प्रथम बार अपनी इस वंश परम्परागत राजधानी मे प्रवेश किया तथा जोधपुर के अपने पैतृक किले को गंगा जल और तुलसी दल से शुद्ध किया।" यों जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद फिर से जोधपुर राठोड़ शासक के अधिकार में आ गया। पुनः रघुबीरसिंह के शब्दों में "यों 28 वर्षों के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन साधना सफल हुई।" इधर जब मुगल उत्तराधिकार संघर्ष छिड़ा हुआ था तब उधर अजीतसिंह ने इसका लाभ उठाते हुए मेड़ता व अन्य क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। कुछ ही महीनों मे पाली व सोजत के परगने भी उसके अधिकार मे आ गये। इस बीच जून 8 को जाजव नामक स्थान पर उत्तराधिकार युद्ध हुआ जिसमे मुअज्जम विजयी हुआ जो जून 11 को बहादुरशाह के नाम से गद्दी पर बैठा। इस युद्ध में आमेर के शासक सवाई जयसिंह ने प्रारम्भ में आजम का साथ दिया तथा उसके भाई विजयसिंह ने मुअज्जम का। दोनो भाइयों का दो अलग-अलग समर्थन देने के कारण आमेर व मुगल संबंधों पर इस का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। हालांकि आजम की मृत्यु के बाद वह मुअज्जम के पक्ष में चला गया। किन्तु नये सम्राट से जयसिंह का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता और बहादुरशाह भी जयसिंह के प्रति हमेशा शंकित ही रहा। उसकी इच्छा उसके समर्थक विजयसिंह को राज्य दिलाने की बनी रही। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह की सहानुभूति मुअज्जम के साथ थी; इसलिये जाजव के मैदान मे विजय के समाचार सुन महाराणा ने अपने भाई तख्तसिंह को उपहार व बधाई संदेश सहित बहादुरशाह के दरबार में भेजा। राजपूतों की यों असहयोग की नीति से बहादुरशाह उनसे असतुष्ट था। अतएव सर्वप्रथम उसका ध्यान राजस्थान की ओर गया। सतीशचन्द्र का मानना है कि उसकी प्रवृत्ति व दृष्टिकोण के अनुरूप वह समझौता की नीति को पंसद करता था। यहां तक कि 1681 ई. में भी मेवाड़ के महाराणा से गुप्त संधि की थी जिसके अनुसार जजिया को समाप्त करने के आश्वासन पर उसको उत्तराधिकार के लिये सहायता देने का मेवाड़ ने विश्वास दिलाया। इसी प्रकार की संधि राजस्थान के अन्य शासकों से भी हुई थी। परन्तु समय के साथ इन सम्बन्धों का कोई महत्व नहीं रहा और बहादुरशाह को अपने संघर्ष में किसी भी राजस्थानी शासक की सहायता नहीं मिली। अतएव उसने इन शासकों को सजा देने की सोची और इसी उद्देश्य की पूर्ति

मे वह दिसम्बर 1707 ई. के अन्तिम दिनों मे राजधानी से रवाना होकर राजस्थान की ओर आया और सर्वप्रथम आमेर पहुंचा । वहां पर बिना किसी कठिनाई के मुगलों का सहज ही में अधिकार हो गया। यहां बहादुरशाह तीन दिन ठहरा। तब तक सवाई जयसिंह भी वहां पहुंच गया था किन्तु उसने कोई युद्ध नही किया। वह तो यह प्रयास करता रहा कि किसी भी तरह से आमेर उसी के अधिकार में बना रहे। इतिहासकारों का मत है कि बहादुरशाह ने आमेर को खालसा कर, सैय्यद हुसैन खां को वहां का फौजदार नियुक्त किया तथा शेष राज्य को जयसिंह के भाई विजयसिंह को दे दिया। बहादुरशाह की यह नीति अदूरदर्शितापूर्ण थी। निःसंदेह जयसिंह ने शुरु में बहादुरशाह का साथ नही दिया परन्तु बाद में उसका समर्थक हो गया था। उधर उसने प्रारम्भ के समर्थकों को अपनी-अपनी जागीरें दे दी थी तब जयसिंह के साथ ही यह अदूरदर्शितापूर्ण सौतेला व्यवहार क्यों किया ? स्वयं जयसिंह इससे बड़ा असंतुष्ट हुआ। अतः अब राजस्थान मे एक नवीन विद्रोह का सूत्रपात हुआ। जयसिंह का भाई विजयसिंह बहादुरशाह का समर्थक था किन्तु उसे पारितोषिक मे आमेर देना किसी भी दशा में उचित नही था। इस घटना ने प्रथम बार कछावा व मुगल सम्बन्धों मे तनाव उत्पन्न कर दिया। फलतः सवाई जयसिंह को बाध्य हो मारवाड़ के अजीतसिंह का समर्थन करना पड़ा।

मारवाड़—आमेर के पश्चात् बहादुरशाह मारवाड़ की ओर बढा। तब उधर अजीतसिंह भी युद्ध करने के लिए तैयार नही था। अतः वह मुगल दरबार मे मेड़ता उपस्थित हुआ। उस समय दक्षिण में हुये कामबख्श के विद्रोह के समाचार मिलने लगे। इसलिये समस्या की गंभीरता को देखते हुए अजीतसिंह व जयसिंह को साथ लेकर, बहादुरशाह चित्तौड के पास होता हुआ दक्षिण की ओर रवाना हुआ। यो इन दोनो ही राजस्थानी शासकों को अपने साथ ले जाने के लिए पीछे बहादुरशाह का यही तात्पर्य रहा होगा कि कहीं वे लोग उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठा, संगठित होकर उपद्रव न कर दें। साथ ही कामबख्श के विरुद्ध उसकी सैन्य शक्ति मे वृद्धि भी हो जाय।

उधर मेवाड़ का महाराणा अमरसिंह इस समय चित्तौड़ मे उपस्थित था तथा उसने राजस्थान की तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं से पूर्ण दिलचस्पी रखी थी। उसी के कहने से ही अमरसिंह ने अधीनता स्वीकार की थी। अब जब महाराणा ने बहादुरशाह के चित्तौड़ होते हुये दक्षिण भारतवर्ष जाने के समाचार सुने तो वह चित्तौड़ छोड़कर उदयपुर चला गया और मुगल दरबार मे उपस्थित नही हुआ। बहादुरशाह इससे बड़ा क्रोधित हुआ

और कामबख्श के विद्रोह को दबाने के बाद पुनः मेवाड़ आकर महाराणा को सजा देने की घोषणा की। वी. एस. भटनागर का कहना है कि वास्तव में अगर देखें तो बहादुरशाह का क्रोध बेकार था। 1615 ई. की संधि के अनुसार महाराणा को मुगल दरबार में अनुपस्थित रहने की आज्ञा थी। इस संधि में यह स्पष्ट था कि महाराणा को मुगल दरबार में उपस्थित होने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था। इसलिए महाराणा ने शिष्टाचार की समस्या के समाधान के लिये चित्तौड़ छोड़ना ही ठीक समझा। बहादुरशाह को क्रोधित होने के बजाय महाराणा की प्रशंसा करनी चाहिये थी। उसके अनुचित क्रोध व सजा देने की घोषणा ने बिना कारण ही अमरसिंह को, जिसकी सहानुभूति अब तक बहादुरशाह के प्रति रही, नाराज कर दिया।

बहादुरशाह ने जयसिंह व अजीतसिंह के प्रति जिस नीति का इस समय तक पालन किया उस पर सतीशचन्द्र के अनुसार उसके वजीर मुनीमखाँ का गहरा प्रभाव जान पड़ता है। मुनीमखाँ राजपूतों को झूठे आश्वासन देकर शाही शिविर में रखना चाहता था और साथ ही चुपचाप इनके राज्यों पर शाही अधिकार कर लेना चाहता था। इधर इन दोनों ही शासकों को काफी दिनों तक मुगल दरबार में रहने पर भी जब अपना-अपना राज्य पुनः मिलने की संभावना नहीं रही तो उन्होंने आपसी विचार-विमर्श किया। उन्होंने अपनी इन परिस्थितियों आदि से मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह को भी बराबर अवगत रखा। उनके मध्य अनेक पत्रों का आदान-प्रदान होता रहा। यों पत्रों के आदान-प्रदान एवं विचार-विमर्श के उपरान्त ये शासक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बहादुरशाह के दक्षिण में जाने की अपेक्षा अवसर पाते ही राजस्थान की ओर प्रस्थान कर देना चाहिये। इस प्रकार से सारी योजना बना लेने के पश्चात् जब सम्राट ने अप्रेल 20, 1708 ई. को नदी के निकट माण्डलेश्वर या महाबलेश्वर[28] नामक स्थान पर से कूच किया तब अजीतसिंह, जयसिंह व दुर्गादास ने शिकार के बहाने अपने सैनिकों तथा कुछ आवश्यक सामान लेकर खफीखां के अनुसार उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान कर दिया। बहादुरशाह को चूंकि दक्षिण मे जाना अत्यावश्यक था अतः इनका पीछा नहीं किया गया। ये राजपूत शासक प्रतापगढ़ होते हुए उदयपुर के पास पहुंचे तब महाराणा अमरसिंह अप्रेल 29 को अपनी राज-

---

28 सतीशचन्द्र, पार्टीज एण्ड पालिटिक्स एट दी मुगल कोर्ट, पृ. 34; रघुबीरसिंह, मालवा इन ट्रांजिशन, पृ. 96

धानी से कुछ दूर उदयसागर की पाल पर आकर ठहरा और दूसरे दिन अप्रेल 30 को गाडवा गांव तक गया और इसका स्वागत-सत्कार किया।[29]

त्रिदासकीय सम्मेलन—प्रारम्भिक औपचारिकता के पश्चात वे उदयपुर आए तथा कई दिनों तक वहीं रहे। तब परस्पर काफी विचार विमर्श के दौरान इन्होंने अपना संगठन बनाकर राजस्थान को मुगलों से मुक्त कराने का निश्चय किया। कतिपय राजस्थानी साधनों से तो यह भी पता चलता है कि उनका उद्देश्य तब मुगलों को न केवल राजस्थान से खदेड़ने का था अपितु हिन्दुस्तान की बादशाहत तक को अपने अधीन कर दिल्ली की गद्दी पर मेवाड़ के महाराणा को बिठाने का निर्णय लिया। जयसिंह ने तो इस योजना को स्वीकृति भी दे दी परन्तु अजीतसिंह को यह योजना पसन्द नहीं आई। महाराणा अमरसिंह दूरदर्शी एवं बुद्धिमान था। उसने इस आपसी मतभेद को देखकर, दिल्ली पर अधिकार करने की योजना को स्थगित करने की सलाह दी। महाराणा की बुद्धिमता से यह मतभेद अधिक समय तक नहीं रहा। तब यह भी निश्चय किया गया कि आमेर व मारवाड़ वास्तविक उत्तराधिकारी को मिले। यों इन मैत्री सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिये वैवाहिक सम्बन्धों का निश्चय भी किया गया था। कुछ शर्तें तय करने के उपरान्त अमरसिंह की पुत्री चन्द्रकुंवर का विवाह जयसिंह के साथ होना निश्चित हुआ। चूंकि मेवाड़ का सामाजिक सम्मान अन्य राज्यों की तुलना में कहीं अधिक उच्च था, अतः सवाई जयसिंह भी इस सुअवसर को व्यर्थ में नहीं खोना चाहता था। जयसिंह एक महत्वाकांक्षी शासक था। मेवाड़ राजघराने के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर वह अपना सामाजिक सम्मान बढ़ाना चाहता था अतएव अग्र लिखित शर्तों के आधार पर मई 25, 1708 ई. को यह वैवाहिक संबंध स्थापित हुआ।[30]

1 मेवाड़ की राजकुमारी पटरानी होगी चाहे वह अन्य रानियों से छोटी ही क्यों न हो।

---

29 ओझा, उदयपुर, जि. 2, पृ. 603; एच. सी. टिक्कीवाल (जयपुर एण्ड दी लेटर मुगल्स, पृ. 23) ने गाडवा गाव में मई 12 को मिलना लिखा जो ठीक नहीं है।

30 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 771; वंशभास्कर, भा. 4, पृ. 3017-18; टिक्कीवाल (जयपुर एण्ड दी लेटर मुगल्स, पृ. 23) ने विवाह की तारीख जून 6, 1708 ई. दी है जो ठीक नहीं है।

2 मेवाड़ की राजकुमारी से उत्पन्न पुत्र चाहे वह छोटा ही क्यों न हो आमेर राज्य का उत्तराधिकारी होगा।

3 मेवाड़ की राजकुमारी से उत्पन्न पुत्रियों का विवाह मुगलों से नहीं किया जायेगा।

यह मैत्री व विवाह अनेक दृष्टि से महत्वपूर्ण था। मेवाड़ तथा आमेर के बीच विगत कई वर्षों से जो पारस्परिक वैमनस्य की भावना बनी हुई थी, उसका अन्त हुआ। जयसिंह की प्रतिष्ठा में अभिवृद्धि हुई तथा मेवाड़ के सामाजिक सम्मान में निश्चित वृद्धि हुई। इन सब ही में संगठन का राजनैतिक पक्ष सर्वाधिक महत्व का था। 1526 ई. में राजपूत राजाओं का जो संघ बना था, उसके बाद पुनः पारस्परिक एकता का राजस्थान में संभवतः प्रथम प्रयास ही था।

इधर जब बादशाह को उक्त दोनों राजपूत नरेशों के पलायन कर, उदयपुर पहुँचने के समाचार मिले तो उसने आमेर का राज्य विजयसिंह को सौंपने का फरमान जारी किया। उसका दक्षिण में जाना आवश्यक था अतः मुगल सेना ने इनका पीछा तो नहीं किया किन्तु उसके पुत्र जहांदरशाह ने महाराणा अमरसिंह को पत्र लिख कर सूचित किया कि दोनों ही दरबार से भाग कर आये हैं, अतः उन्हें अपने यहां आश्रय न दें। साथ ही लिखा कि इन दोनों की क्षमा प्रार्थना भी भिजवा दें ताकि उनके अपराधों को क्षमा किया जा सके। इस पत्र के जवाब में महाराणा ने इन दोनों ही के भाग आने की परिस्थितियों का वर्णन करते हुए क्षमा प्राप्ति के लिए प्रार्थना पत्र भिजवा दिये। परन्तु कुछ समय तक जब बहादुरशाह से कोई संतोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ तो उन्होंने सैनिक शक्ति से अपना राज्य लेने का निश्चय किया। इस प्रकार राजस्थान में दूसरे मुगल विरोधी विद्रोह का सूत्रपात हुआ। उस समय तक ये शासक उदयपुर में ही रहे और अपनी भावी योजना के बारे में विचार विमर्श करते रहे। जयसिंह और अजीतसिंह मेवाड़ की सेना सहित जून 1708 ई. में जोधपुर की ओर गये। तब उन्हें इसे अपने अधिकार में लाने में पूर्ण सफलता मिली।[31]

उदयपुर से प्रस्थान करते समय ही इन शासकों ने जयसिंह के दीवान रामचन्द्र को एक बड़ी सेना देकर आमेर की ओर भेजा, जिसमें उन्हें सफलता मिली। अतः 1708 ई. में यों आमेर से मुगल थाणे हटा दिये गये। आमेर पर जयसिंह का अधिकार हो गया। इस भांति दोनों ही शासक अपनी

---

31 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 774-78

राजधानी प्राप्त करने में सफल हुये। त्रिराष्ट्रीय संधि का इन्हें सुखद परिणाम मिला तथा मुगल संघर्ष का प्रथम दौर समाप्त हुआ।

यों राजधानी प्राप्त करने के उपरान्त भी इन्हें यह भय था कि मुगलों से संघर्ष कभी भी हो सकता है। अतः अपनी स्थिति को और अधिक मजबूत करने के लिये उन्होंने अपने संघर्ष को व्यापक रूप देना शुरु किया। साथ ही अन्य क्षेत्रों में योजनाबद्ध मुगल विरोध प्रारम्भ हो, इसके लिये प्रयास किये गये। मराठा, बुन्देला व अन्य शासकों को अपने क्षेत्रों में मुगल विरोधी अभियान प्रारम्भ करने के लिये पत्र लिखे गये। सवाई जयसिंह ने बहादुरशाह को एक पत्र लिखकर यह कोशिश की कि कामबख्श की समस्या में वह थोड़े समय तक और उलझा रहे तो राजस्थान के लिये उचित रहेगा। इधर राजस्थान में नियुक्त मुगल सूबेदार ने छुटपुट रूप से बढ़ते हुए राजपूत प्रभाव को रोकने का प्रयास किया जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इसीलिये बहादुरशाह के पुत्र जहांदरशाह ने महाराणा को एक पत्र लिखकर इन उपद्रवों को समाप्त करने के लिए कहा परन्तु इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। राजस्थानी सेना अजमेर को भी अपने अधिकार में करने की सोचने लगी। तब अक्टूबर 1708 ई. में सांभर नामक स्थान पर मुगल सेना ने उनका सामना करने हेतु युद्ध किया। इस युद्ध मे प्रारम्भिक विजय मुगलो के हाथ रही परन्तु राजपूतों द्वारा अंत में शाही शिविर को लूट लिया गया। अतएव राजपूतों का पलड़ा भारी हो गया। यद्यपि इस युद्ध में साधारण-सी सफलता मिली फिर भी यह युद्ध राजस्थान के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में था। इससे राजपूतों की प्रतिष्ठा बढ़ी। यह राजस्थान के दो महत्वपूर्ण राज्यों जोधपुर एवं आमेर का शाही सेना के विरुद्ध सम्मिलित प्रयत्न था। अतः दोनों ही शासकों ने सम्मिलित रूप से ही इस पर आधिपत्य जमा लिया। सांभर-युद्ध के पश्चात् अजीतसिंह मारवाड़ की ओर चला गया। तद्पश्चात् कई परगनो पर अधिकार करता हुआ वह जयसिंह के साथ आमेर आया तथा उसको (जयसिंह) आमेर के सिंहासन पर बिठा कर पुनः मारवाड लौट गया। 1709 ई. में महाराणा ने बदनोर के ठाकुर सांवलदास के पुत्र जसवन्तसिंह की अध्यक्षता में एक सेना भेजकर पुर व मांडल के परगनों पर अपना अधिकार कर लिया। इस बीच उधर कामबख्श का विद्रोह समाप्त हो गया था। अतः बहादुरशाह ने पुनः अपना ध्यान राजस्थान की ओर केन्द्रित किया।

बहादुरशाह के दबार में चूंकि कई व्यक्ति राजपूतो के प्रति कठोर नीति अपनाने के पक्ष में थे, अतः फिरोजजंग को अजमेर का अधिकारी नियुक्त किया, साथ ही बहादुरशाह ने यह घोषणा की कि राजपूत-विद्रोह को दबाने

के लिये वह स्वयं सेना का नेतृत्व करेगा। इन घटनाओं ने इन राजस्थानी शासकों में भय पैदा किया। तब इन शासकों की आर्थिक दशा भी कोई अच्छी नही थी। अतः इन्होंने भी संधि की नीति या समझौता नीति अपनाने पर अधिक जोर दिया। उधर बहादुरशाह दक्षिण से लौटता हुआ राजस्थान की ओर आया किन्तु इस बीच सिक्खों के विद्रोह के कारण उसे शीघ्र ही राजस्थान छोड़ना पड़ा। तब उसने भी स्थिति को देख यह अनुभव किया कि समझौता ही उचित है। अतः दोनों ही शासकों को उनके राज्य वापस देने का फरमान जारी किये। इस प्रकार 1710 ई. में मारवाड़ व आमेर पर अजीतसिंह व जयसिंह का वैधानिक रूप से अधिकार मान लिया गया और मारवाड़ में चलने वाले तीस वर्षीय युद्ध का यहां आकर अन्त हुआ।

परिणाम—राजपूत युद्धों में सबसे अधिक हानि मुगल साम्राज्य को उठानी पड़ी। मुगल साम्राज्य की सारी प्रतिष्ठा और धन जन का भीषण संहार ही नहीं हुआ अपितु सारे देश में अराजकता की स्थिति व्याप्त हो गई। इसके कारण राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था, आर्थिक स्थिति व सैनिक शक्ति तेजी से विशृंखलित हो गई। निरन्तर युद्धों से साम्राज्य की दशा निराश प्रायः हो गई। वास्तव में मुगल साम्राज्य का अधःपतन इसी संघर्ष से प्रारम्भ होता है।

इसी संघर्ष का प्रभाव पड़ोसी मुगल प्रदेशों पर भी पड़ा। सभी राज्यों में मुगलों के शत्रु सिर उठाने लगे। जाटों का विद्रोह तो सीधा इसी का परिणाम था। साथ ही जिस राजपूत सहयोग को अकबर ने कठिन श्रम करके प्राप्त किया उसका औरंगजेब एवं उसके उत्तराधिकारियों ने राजपूत विरोधी नीति अपना कर अन्त कर दिया जिससे मुगल सत्ता राजपूत सहयोग से वंचित हो गई। राजपूतों का सहयोग प्राप्त करके बादशाह मुगल साम्राज्य में होने वाले समस्त विद्रोह को समाप्त कर सकता था। परन्तु उसको राजपूत विरोधी नीति के कारण यह सहयोग नहीं मिल सका। और साथ ही साथ राजपूतों से लड़ने के लिये सेना के अधिकांश भाग को इधर ही केन्द्रित करना पड़ा। 1710 ई. में फरमान प्राप्त कर लेने के बाद भी दोनों शासकों में मुगल बादशाह के प्रति संदेह की भावनायें बनी रही और जब भी इन्हे बुलाया गया तब दरबार में उपस्थित होने में इन्होंने आनाकानी की। जयसिंह अपने पद की वृद्धि के साथ-साथ मालवा की सूबेदारी मांगता था। इसी तरह से अजीतसिंह भी गुजरात की सूबेदारी व रणथंभोर के दुर्ग की मांग बार-बार रखने लगा और उनको अपने इच्छित प्रदेशों की सूबेदारी

न मिलने से 1711 ई. में मुगल दरबार में दोनों इस बात पर उपस्थित हुये कि उन्हें उनके इच्छित प्रदेशों की सूबेदारी अगर न मिले तो वे अपने राज्य में लौट आने को स्वतन्त्र होंगे। अतः जब जयसिंह और अजीतसिंह के मुगल दरबार में उपस्थित होने पर भी उनकी इच्छा-पूर्ति नहीं हुई तो वे अपने राज्यों में लौट आये और 1712 ई. तक मुगल दरबार से दूर ही रहे। दक्षिण में मराठों का प्रभाव व प्रसार हो रहा था, मराठा आये दिन मुगल प्रदेशों पर आक्रमण करने लगे, उनको दबाना अब किसी के लिये संभव नहीं था। इन लम्बे युद्धों का असर राजस्थान की आर्थिक स्थिति पर पड़ा, यद्यपि अजीतसिंह को मारवाड़ पुनः प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई। परन्तु यहां पर भी युद्ध के बुरे परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। अकाल व तलवार ने मिलकर मारवाड़ की धरती को पूर्ण रूप से निर्जन कर दिया। 1712 ई. मे बहादुरशाह की मृत्यु के उपरान्त जब जहांदरशाह तथा उसके मरने पर फर्रुखसियर ने जयसिंह और अजीतसिंह को प्रसन्न रखने की नीति अपनाई तो ये दरबार मे उपस्थित हुये। जहांदरशाह ने तो हिन्दू शासकों को संतुष्ट रखने के लिये जजिया कर हटा लिया और जब फर्रुखसियर शासक बना तो उसने पाया कि मालवा विद्रोह का केन्द्र बनता जा रहा है। वहां शांति स्थापित करने के लिये उसने जयसिंह के मनसब को सात हजारी कर दिया और उसको 1713 ई. में मालवा का सूबेदार नियुक्त किया और उसने नया पद संभालने के साथ-साथ मालवा में बढते हुए मराठा प्रभाव को रोकने में सफल हुआ। इसी तरह से जहांदरशाह के बाद जब फर्रुखसियर सैय्यद बन्धुओं की सहायता से दिल्ली के तख्त का स्वामी बना तब अजीतसिंह जोधपुर पर नियुक्त शाही अफसरों को निकालने, उनके मकानों को नष्ट करने तथा अज़ान को बंद कराने आदि कार्यों में लग गया। अतएव इसे दंड देने के लिये बादशाह ने हुसैनअलीखां को एक बड़ी सेना के साथ मारवाड़ भेजा। अजीतसिंह मेड़ता से नागोर गया परन्तु वहां भी मुगल फौज निकट आ चुकी थी। अंत मे राठोडो ने हुसैनअलीखा की शर्तों के अनुसार संधि करली जिसमें अजीतसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह बादशाह के साथ करना स्वीकार किया और अपने पुत्र अभयसिंह को बादशाह की सेवा में भेजा।

संधि की शर्त के अनुसार अजीतसिंह की पुत्री का विवाह 1715 ई. मे बादशाह के साथ कर दिया। परन्तु जब सैय्यद बन्धुओं और बादशाह में अनबन हो गई तो अजीतसिंह दरबारी षडयंत्र में सम्मिलित हो गया जिससे फर्रुखसियर की हत्या कर दी गई और मुहम्मदशाह के बादशाह बनने से महाराजा को अहमदाबाद का सूबेदार नियुक्त किया गया।

इस प्रकार से आमेर और मारवाड़ के शासकों ने अपने इच्छित प्रदेशों की सूबेदारी प्राप्त कर फिर से अपनी भक्ति या श्रद्धा मुगल साम्राज्य को सौंप दी और यों एक लम्बे संघर्ष का अन्त हुआ किन्तु राजस्थान में मुगल सत्ता लुप्त प्रायः होने से, राजस्थानी राज्यों में आपसी संघर्ष प्रारम्भ होगये। मुगलों के पतन द्वारा जो शक्ति की रिक्तता हुई उसकी पूर्ति थोड़े समय पश्चात ही मराठों ने की, जिनका प्रभाव राजस्थान के लिये अहितकारी सिद्ध हुआ।

जसवन्तसिंह का चरित्र एवं उपलब्धियाँ—जसवन्तसिंह का जन्म दिसम्बर 26, 1626ई. को बुरहानपुर में हुआ था। 12 वर्ष की अल्पायु में अपने पिता की मृत्यु के बाद वह मारवाड़ की गद्दी पर बैठा था। यद्यपि जसवन्तसिंह सबसे बड़ा लड़का नहीं था तथापि गजसिंह की इच्छा के अनुसार इसको गद्दी प्राप्त हुई और मुगल बादशाह शाहजहाँ ने भी इसको स्वीकार किया। इसके बड़े भाई अमरसिंह को नागौरका राज्य दे दिया था। इसी कारण जसवन्तसिंह शाहजहां के प्रति पूर्ण वफादार रहा। शाहजहां और दारा की कृपा के कारण ही जसवन्तसिंह की शीघ्र पदोन्नति होने लगी। यह शाहजहा के काफी विश्वास पात्रों मे से था। अतः विभिन्न अवसरों पर आई हुई कठिन परिस्थितियों व महत्वपूर्ण सैनिक अभियानों मे इसकी नियुक्ति की गई। 1645ई. में जसवन्तसिंह को आगरा की सूबेदारी मिली और अगले वर्ष ही औरंगजेब के साथ उसे कंधार भेजा गया। 1656 ई. में वह 6 हजारी मनसबदार हो गया और जब बादशाह के पुत्र बागी हो गये तो उनको दबाने का काम भी उसे ही सौंपा गया। उत्तराधिकार संघर्ष के समय उसका मनसब 7 हजार का कर दिया। धरमत के युद्धका वह प्रमुख नेता था, जहां उसने अपनी कार्यकुशलता का अच्छा परिचय दिया। उत्तराधिकार संघर्ष के दौरान उसका रुख औरंगजेब विरोधी रहा। इसलिये औरंगजेब के गद्दी पर बैठने के बाद मुगल बादशाह हमेशा ही जसवन्तसिंह के प्रति शंकालु बना रहा। अतः उसने जसवन्तसिंह की नियुक्ति अपने राज्य से दूर दक्षिण में मराठों के विरुद्ध तथा उत्तर पश्चिममे जमरुदमें ही अधिकांशतः की। इसके कारण औरंगजेब 'जसवन्तसिंह को जोधपुर राज्य से दूर रख सकता था। जी. एन. शर्मा के अनुसार "जसवन्तसिंह के राजनैतिक जीवन मे कुछ विरोधाभास दिखाई देते हैं जिनमें उसने शुजा व दारा के साथ किये गये समझौते तथा शिवाजी के साथ गठबंधन बताये जाते हैं। यदि जसवन्तसिंह ने अपने समय को नहीं पहचाना होता तो औरंगजेब जैसा कूटनीतिज्ञ सम्राट उसे चैन से नहीं रहने देता और मारवाड़ राज्य की प्रजा को कई प्रकार के कष्टों को भोगना

पड़ता।" मिर्जाराजा जयसिंह की मृत्यु के बाद औरंगजेब का जसवन्तसिंह के प्रति रुख और अधिक कठोर होता गया और इसीलिये जब औरंगजेब ने जसवन्तसिंह की मृत्यु के समाचार सुने तो 'तारीखे मुहम्मदशाही' के अनुसार औरंगजेब ने कहा "दर्वाजए कुफ शिकस्त" अर्थात् आज धर्म विरोध का दरवाजा टूट गया। परन्तु जब महल में बेगम ने यह हाल सुना तो कहा "इमरोज जाये दिल गिरिफ्तगीस्त के ईं सुनीं रुकने दौलत बशिकस्त" अर्थात आज शोक का दिन है कि बादशाहत का ऐसा स्तम्भ टूट गया। औरंगजेब के शासनकाल मे जब तक वह रहा अपने राज्य से दूर ही रहा यहां तक कि उसकी मृत्यु बाहर ही हुई। इस तरह से उसने 41 वर्ष तक राज्य किया और उसके शासनकाल में मारवाड़ ने हर क्षेत्र मे काफी उन्नति की।

योग्य प्रशासक के रूप में—जसवन्तसिंह ने 41 वर्ष तक राज्य किया जिसमें प्रथम 20 वर्ष तो बड़ी ही शांति से बीते किन्तु अन्तिम 21 वर्ष में उसे अत्यधिक कष्टों में रहना पड़ा। प्रथम बीस वर्षों में जसवन्तसिंह के अल्प आयु होने के कारण राज्य कार्य अपने अन्य सरदारों को सौंपना पड़ा। द्वितीय भाग में अधिकांश समय राज्य के बाहर ही व्यतीत हुआ फिर भी राज्य में प्रशासकीय व्यवस्था सुधारने मे उसने महत्वपूर्ण कदम उठाये। उसे अपने मंत्रियों एवं सेनापतियों द्वारा राज्य मे सुव्यवस्था बनाये रखने मे काफी सहायता मिली। यदि कभी किसी ने उसके राज्य को नुकसान पहुँचाने का प्रयास किया तो जसवन्तसिंह उन्हें तत्काल हटा कर उनके स्थान पर योग्य व्यक्तियों को नियुक्त किया। उसकी वजह से राज्य में घूस प्रथा समाप्त हो गई। इस प्रथा की समाप्ति के लिये उसने दोहरी नीति अपनाई, एक तो राज्य कर्मचारियों के वेतन में वृद्धि की तथा दूसरी रिश्वत लेने वाले को दण्ड देना प्रारम्भ किया। मारवाड़ के सभी इतिहासकार जसवन्तसिंह के इस क्षेत्र मे किये गये कार्यों की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। इन सबका मानना है कि जसवन्तसिंह की अनुपस्थिति में यह प्रथा प्रायः समाप्त-सी हो गई थी।

वीर एवं दूरदर्शी—रेउ ने जसवन्तसिंह के चरित्र का वर्णन करते हुए लिखा कि महाराजा जसवन्तसिंह बड़े वीर, मनस्वी, प्रतापी, दूरदर्शी नीति-निपुण विद्वान, कवि, दानी और गुणग्राहक थे। इनकी वीरता व दूरदर्शिता का प्रमाण देते हुए रेउ ने आगे लिखा है कि औरंगजेब जैसे बढ़ते हुए सूर्य की परवाह न कर समय-समय पर उसका विरोध करता रहा और एक बार तो इन्होंने स्वय उसी की सेना पर आक्रमण कर उसका खजाना लूट लिया था फिर भी बादशाह आलमगीर खुलकर इनका विरोध न कर सका। यद्यपि मन

ही मन वह इनसे बहुत जलता था, तथापि इन्हें अपने देश से दूर रखने के सिवा इनका कुछ भी न बिगाड़ सका। 'मारवाड़ के मूल इतिहास' के लेखक आसोपा के अनुसार तो जसवन्तसिंह के डर से औरंगजेब ने जजिया नहीं लगाया और जब औरंगजेब ने मंदिरों को ध्वस करने की नीति अपनाई तो उसने काबुल मे मस्जिदें तोड़ने की आज्ञा जारी कर दी।

विद्वान तथा कला प्रेमी—जसवन्तसिंह जैसा वीर, साहसी और कूटनीतिज्ञ था वैसा विद्या तथा कला प्रेमी भी था। वह स्वयं विद्वान तथा विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने विद्वानों को इनाम आदि दे कर सम्मानित किया। उसकी विद्वत्ता का पता उसके साहित्यिक ग्रन्थों से लगता है। 'भाषा भूषण' ग्रन्थ उसकी महत्वपूर्ण कृति है। रीति और अलंकार का यह अनुपम ग्रन्थ है। मिश्र बन्धु ने इस पुस्तक की समीक्षा करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार इसमें अर्थालंकार कहे गये हैं उसी रीति से अब भी कहे जाते हैं। इस ग्रन्थ के कारण जसवन्तसिंह भाषा अलंकारों के आचार्यों की श्रेणी में एक उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित है। यह ग्रन्थ अलंकारों के ग्रन्थ में बहुत महत्वपूर्ण है। इसके अलावा अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अनुभव प्रकाश', 'आनन्द प्रकाश', 'सिद्धान्त बोध', 'सिद्धान्त सार' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक है। जसवन्तसिंह स्वयं रचयिता था और साथ ही साहित्यकारों का आश्रयदाता भी था। उसके समय के आश्रित विद्वानों में सूरत मिश्र, नरहरिदास, नवीन कवि, बनारसीदास आदि प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से कई ग्रन्थों की रचना की थी। उसने साहित्यकारों को खूब दान दक्षिणा दी। 'उम्मेद भवन' में स्थित 'पुस्तक प्रकाश' नामक पुस्तकालय की स्थापना का श्रेय भी जसवन्तसिंह को ही है। मुहणोत नैणसी उसका मंत्री था और ख्यात का लेखक भी। ओझा के अनुसार उसकी ख्यात तथा मारवाड़ रा परगना री विगत राजस्थान के ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अध्ययन के अनुपम ग्रन्थ हैं।

कृषि उत्पादन—जसवन्तसिंह ने राज्य मे कृषि उत्पादन पर भी विशेष ध्यान दिया। यद्यपि मारवाड़ रेगिस्तानी प्रदेश था तथापि भूमि कर ही राज्य का विशेष साधन था। अतः कृषि उत्पादन में वृद्धि करना आवश्यक समझा गया। उसने अपने शासन काल में काफी भूमि को उत्पादन योग्य बनाया। रेउ के अनुसार तो उसने काबुल से मिट्टी और अनार के बीज जोधपुर भेजे और राजधानी के आसपास अनेक उद्यान लगाये। उसने फलों के उत्पादन में भी महत्वपूर्ण कदम उठाया। जोधपुर नगर के बाहर राई का बाग भी उसी के समय का लगाया हुआ था।

जसवन्तसिंह ने अपने समय में अनेक तालाव और उद्यानों को बनाकर स्थापत्य के प्रति अपनी रुचि का परिचय दिया। उसने अनेक नगरों का भी निर्माण कराया। 'मआसिर-उल-उमरा' के अनुसार तो उसने मारवाड़ के बाहर भी जहां-जहाँ भी उसकी नियुक्ति होती थी वहां-वहां नगर निर्माण व तालाबों का बनाना उसकी नीति का ही एक अंग था। उसने औरंगाबाद के पास जसवन्तपुरा व जसवन्तसागर नामक तालाव भी बनाया। जसवन्तपुरा में उसने एक सुन्दर बाग और संगबस्त की इमारत बनवाई। आगरा के पास कचहरी का भवन बनवाया जो राजपूत मुगल शैली का सुन्दर नमूना है। उसकी रानी अतिरंगदे ने 'जान सागर' बनवाया जिसे शेखावतजी का तालाव कहते हैं। चूंकि जसवन्तसिंह अधिक समय तक राज्य से बाहर रहा था, अतः इस काल में अधिक भवनों का निर्माण नहीं हो सका।

जसवन्तसिंह के राज्य मे आंतरिक सुरक्षा व शांति बराबर बनी रही। जसवन्तसिंह ने योग्य व्यक्तियों को उच्च पदो पर नियुक्त कर राज्य मे अपनी अनुपस्थिति को पूरा कर दिया। प्रसिद्ध इतिहासकार मुहणोत नैणसी को भी उसने दीवान के पद पर नियुक्त किया और नैणसी ने अपने भाई सुन्दरदास के कहने पर विद्रोही सामंतो को कुचल, राज्य मे व्यवस्था स्थापित की। किन्ही कारणों से जसवन्तसिंह का नैणसी से मनमुटाव हो जाने के कारण उसने इन दोनों भाइयो को 1673 ई. में बन्दी बना लिया और तब दोनो ने अपमानित होने के भय से आपस में एक दूसरे की हत्या कर दी। जसवन्तसिंह के लिये इस प्रकार का व्यवहार अनुचित था परन्तु ऐसी घटनाओं की शेष शासनकाल मे कभी पुनरावृत्ति नही हुई। राठौड़ सामंत संतुष्ट थे। जसवन्तसिंह ने भी उन्हे संतुष्ट रखने का प्रयास किया और इसी के परिणाम स्वरूप उसकी मृत्यु के बाद उत्पन्न हुये उसके पुत्र अजीतसिंह को जिस ढंग से सहयोग व सहायता मिली वह अद्वितीय है। बिना राजधानी, बिना शासक व सर्वमान्य नेता के अभाव मे भी उन्होने मुगल शक्ति का बराबर सामना किया और इस तरह से महाराजा जसवन्तसिंह के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते रहे।

जसवन्तसिंह की राजनैतिक दूरदर्शिता व जनता के लिए स्वच्छ प्रशासन बहुत बड़ी देन थी। इसीलिए जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद 30 वर्षीय संघर्ष का जो सूत्रपात हुआ वहा मारवाड़ की जनता ने भी मुगल विरोधी अभियान में एक सक्रिय सहयोग दिया। इस तरह से जसवन्तसिंह का राजस्थान की राजनीति मे एक अमूल्य देन है। मुगल दरबार मे अपनी प्रतिष्ठा स्थापित कर उसने राजस्थान ही नहीं अपितु बहुसंख्यक जनता के हितों को सुरक्षित

रखा। स्वाभाविक रूपसे यही कारण है कि औरंगजेब ने जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद अपनी हिन्दू विरोधी नीति प्रारम्भ की और अब उसकी इस नीति मे कोई बाधक नही रहा। जसवन्तसिंह एक कुशल सेनानायक न होते हुए भी अपने कुशल शासन प्रबन्धक होने के कारण इस कमी को कभी उसने खटकने नही दिया। इसलिए उसका काल मारवाड ही नही अपितु शेष राजस्थान के लिए भी एक महत्व का था।

दुर्गादास—दुर्गादास का जन्म सोमवार, अगस्त 13, 1638 ई. को सालवा में हुआ था। उसका पिता आसकरण जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह का मन्त्री था। अपनी पत्नी से अप्रसन्न होने के कारण आसकरण ने उसे तथा उसके पुत्र दुर्गादास को छोड़-सा दिया था। इसलिए माता व पुत्र दोनो ही लुणवा गांव मे रहने लगे, जहां उसने अपनी शिक्षा भी प्राप्त की और थोडी-सी जमीन मिली हुई थी उस पर खेती बाडी करके अपना निर्वाह किया। इस दृष्टि से शिवाजी और शेरखां की भांति दुर्गादास का प्रारम्भिक जीवन भी कष्टमय था। शिवाजी की मां की तरह दुर्गादास की मां ने भी उसमे मारवाड तथा उसके राजवंश के प्रति भक्ति भावना भर दी थी। यद्यपि आसकरण ने दुर्गादास को काफी उपेक्षित किया और उसकी कोई परवाह नहीं की, फिर भी 1655 ई मे एक ऐसा अवसर आया कि उसका जीवन ही पूर्णतया बदल गया। अपने गाव मे रहते हुए एक बार जब वह खेती की रखवाली कर रहा था तो सरकारी राईके ने खड़ी फसल पर ऊँट चढ़ा दिये। दुर्गादास ने उसे मना भी किया किन्तु उसने बहुत बुरा भला कहा। यहां तक कि जसवन्तसिंह के किले को धोला ढूंढा कहा जिस पर छप्पर का अभाव बताया। इस अपमानजनक बात को सुनकर दुर्गादास ने उसे मार दिया। जब इसकी सूचना महाराजा के पास पहुंची और आसकरण के पुत्र द्वारा की गई हत्या की शिकायत हुई तो महाराजा ने आसकरण से उसके पुत्र के बारे में पूछा, तब उसने दुर्गादास को अपना लड़का मानने से मना कर दिया। परन्तु जब जसवन्तसिंह ने दुर्गादास को अपने पास बुलाया तो उसने साहस पूर्वक अपना अपराध स्वीकार करते हुए राईके को मारने का कारण भी स्पष्ट कर दिया। दुर्गादास की इस निर्भीकता से महाराजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे अपनी सेवा मे रखते हुए कहा कि यह लड़का बड़ा सपूत है और कभी काम पड़ा तो डगमगाते हुए मारवाड़ को यही कंधा देगा। जसवन्तसिंह की यह बात एक भविष्यवाणी के रूप मे सिद्ध हुई।

जसवन्तसिंह को दुर्गादास पर इतना अधिक विश्वास हो गया था कि युद्धकाल मे उसे सदैव अपने साथ रखा और वह जसवन्तसिंह की मृत्यु तक

17 हजार रु. वार्षिक आय की जागीर का उपभोग करता रहा। नवम्बर 28, 1678 ई. को जमरूद में जसवन्तसिंह की मृत्यु हो जाने से मारवाड़ पर संकट के बादल घिर आए। औरंगजेब ने मारवाड़ को मुगल साम्राज्य का अंग बना दिया फिर भी दुर्गादास विचलित नहीं हुआ और उसने महाराजा की दो विधवा रानियों एवं उनसे उत्पन्न अजीतसिंह व दलथंभन नामक पुत्रों की सुरक्षा का दायित्व निभाते हुए औरंगजेब के चंगुल से बचाकर उन्हें मारवाड़ तक पहुंचाने में सफल रहा। दलथंभन का देहान्त रास्ते में ही हो गया था किन्तु दुर्गादास ने अजीतसिंह को सुरक्षित रखते हुए उसे मारवाड़ का राज्य दिलाना चाहा और अंततः वह इसमें सफल भी हुआ।

दुर्गादास वीर ही नहीं अपितु कूटनीतिज्ञ भी था। मारवाड़ में जब अजीतसिंह की सुरक्षा के कोई आसार नजर नहीं आये तो वह उसे लेकर मेवाड़ में आगया। जहां महाराणा राजसिंह ने उसे शरण देते हुए 12 गांवों सहित केलवा का पट्टा दे दिया और दुर्गादास को कहा कि आप चिन्ता न करें, बादशाह सीसोदिया व राठौड़ों की संयुक्त सेना का सामना नहीं कर सकता है। तब राठौड़-सीसोदिया संधि भी हो गई थी और दोनों की संयुक्त शक्ति ने मुगलों के दांत खट्टे कर दिये। युद्ध के दौरान दुर्गादास ने यह भी अनुभव किया कि मुगलों की शक्ति का अधिक समय तक सामना करना राज्य के लिए संभव नहीं है तब उसने आजम को अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया परन्तु शाहजादा आजम की माता के कारण उसको सफलता नही मिली। इस प्रारम्भिक असफलता से दुर्गादास निरुत्साहित नहीं हुआ और औरंगजेब के दूसरे पुत्र अकबर को अपनी ओर मिलाने मे सफल हुआ। वास्तव में दुर्गादास की यह एक बहुत बड़ी कूटनीतिक विजय थी। यद्यपि औरंगजेब की सतर्कता के कारण दुर्गादास के उद्देश्यों की पूर्ति न हो सकी एवं अकबर का विद्रोह भी असफल हुआ तथापि दुर्गादास ने हिम्मत न हारी। महाराणा राजसिंह की मृत्यु हो जाने व मेवाड द्वारा मुगलों से संधि कर लेने के बाद भी दुर्गादास ने अकबर का पूरा साथ देते हुये सच्ची मित्रता निभाई थी। यद्यपि बीच में औरंगजेब ने अपनी चाल से दोनो के बीच संदेह उत्पन्न कर मित्रता मे अवरोध की स्थिति पैदा कर दी थी किन्तु बादशाह अधिक समय तक इसमें सफल नहीं रहा और शीघ्र ही दुर्गादास ने अकबर को अपनी शरण मे ले लिया तथा उसकी बराबर सुरक्षा करता रहा। दुर्गादास के प्रयासों से शंभाजी से वार्ता करना संभव हो सका। उसने दक्षिण भारत में रहते हुए शंभाजी की सहायता की और शंभाजी के माध्यम से ही समस्त राजपूत-शासकों को संगठित करने का प्रयास प्रारम्भ किया, किन्तु शंभाजी की अयोग्यता

और राजपूतों के मनोबल में कमी आ जाने के कारण दुर्गादास को सफलता नही मिली। फिर भी अकबर को दक्षिण में ले जाने से दुर्गादास ने अपने राज्य में मुगल सेना का प्रभाव कम कर दिया। अब औरंगजेब अपनी पूरी शक्ति मारवाड़ मे न लगा सका और सभी सरदारों ने जगह-जगह विद्रोह के झडे खड़े कर दिये। दक्षिण भारत मैं रहते हुये भी दुर्गादास का ध्यान पूर्ण रूपेण मारवाड़ की ओर था। अतः उसे अपने राज्य की गतिविधियों के सभी समाचार निरन्तर मिलते रहते थे। अन्ततः बादशाह को अजीतसिंह व दुर्गादास के साथ संधि हेतु बाध्य होना पड़ा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद बहादुरशाह के साथ जयसिंह व अजीतसिंह को दक्षिण की ओर जाते हुये पुनः नर्बदा से लौटा कर लाने वाला दुर्गादास ही था और इसी के कारण मारवाड़ व अजमेर पर पुनः राजपूत शासक अजीतसिंह व जयसिंह का अधिकार स्थापित हो सका था। आजम के बुलाने पर अजीतसिंह अजमेर जाने के लिये तैयार हो गया था किन्तु दुर्गादास ने ही उसे रोका था।

दुर्गादास पूर्णतः स्वामिभक्त था। उसने कदम-कदम पर अपने स्वामी का साथ दिया था। उसे राज्य में उच्च पद प्राप्त करने की विशेष लालसा न थी। यदि वह चाहता तो मुगल साम्राज्य में उच्च मनसब प्राप्त कर सकता था परन्तु उसे मारवाड़ की स्वतन्त्रता अधिक प्रिय थी। 1694 ई. में औरंगजेब द्वारा उच्च पद देने के प्रस्ताव को भी दुर्गादास ने इसी आधार पर अस्वीकार किया कि अजीतसिंह को मारवाड़ देने के लिये औरंगजेब तैयार नही था। स्वयं अजीतसिंह ने जब अपनी मांग कम करके औरंगजेब से जागीर प्राप्त करने की इच्छा जाहिर की तभी दुर्गादास ने मुगल मनसब स्वीकार किया। इसमें कोई संदेह नही कि दुर्गादास के प्रयासों से ही अजीतसिंह को मारवाड राज्य प्राप्त हो सका और जसवन्तसिंह की भविष्यवाणी को पूरा किया। अजीतसिंह और दुर्गादास के बीच कई अवसरों पर मन-मुटाव भी हुये किन्तु अपने इस मन-मुटाव को उसने कभी भी स्थाई रूप नहीं दिया और आवश्यकता पड़ने पर अजीतसिंह को पूरी सेवा देने के लिये हमेशा तैयार रहा। दुर्गादास का हृदय बड़ा विशाल था। वह एक प्रतिभाशाली, सिद्धान्तवादी व्यक्ति था। उसने विश्वासघात नही किया। मारवाड़ में मुसलमानो के अत्याचार होने के बावजूद भी उसने बादशाह के पौत्र एवं पौत्रियों को बड़ी सावधानी से बचाये रखा। इतना ही नही अपितु उसने इस्लाम धर्म, को जरा भी अवहेलना न करते हुये उन बच्चो को कुरान शरीफ आदि की विधिवत शिक्षा भी दिलाई। उसने जोधपुर के अमीन ईसरदास नागर का विश्वास प्राप्त करके औरंगजेब के पौत्र व पौत्री को कुशलतापूर्वक उनके

दाराजान के पास पहुंचाने का प्रबंध कराया। हिन्दुओं के प्रति कट्टर विरोध रखने वाले औरंगजेब को दुर्गादास की इस सहृदयता का ज्ञान हुआ तो वह सचमुच आश्चर्य में पड़ गया। दुर्गादास के इस उदार व्यवहार और उसकी यह समान दृष्टि देखकर औरंगजेब भी दुर्गादास के सब अपराधों को भूल गया और उसने उसको मनसब देना स्वीकार कर लिया। दुर्गादास को राव की उपाधि दी गई तथा पाटण का फौजदार बनाकर वहां भेज दिया। औरंगजेब को दुर्गादास पर बहुत अधिक विश्वास हो गया था। उसने अपने विद्रोही पुत्र को लाने के लिये भी दुर्गादास को ही भेजा था किन्तु उसने अन्त समय तक अकबर की मित्रता निभाई थी। उसे सरकारी सेवा करने पर इनाम-इकराम भी मिलते रहे। यों एक विपक्षी का विश्वास प्राप्त कर लेना एक कुशल कूटनीतिज्ञ के लिये ही संभव है। मुगलों ने उसे मारने के प्रयत्न भले ही किये हों किन्तु दुर्गादास ने कभी भी हत्या एवं षड्यंत्रों का मार्ग नही अपनाया था। वास्तव मे जो कार्य वर्षों की लड़ाइयां न कर सकी थी वह दुर्गादास के सद्व्यवहार ने कर दिखाया।

दुर्गादास राठोड़ डिंगल भाषा मे गीत भी लिखा करता था। उसने कवियों को प्रश्रय दिया तथा यथा सम्भव सहायता भी की। कुम्भकरण साद्दू अपनी रचना 'रतन रासो' के साथ दुर्गादास के पास महाराष्ट्र पहुंचा, तब उसने व्यक्तिगत रूप से तो कवि का पूरा आदर किया ही साथ ही उसे मराठा राजा शंभाजी के पास भी भिजवाया जहा उसे आदर व भेंट आदि दी गई। दुर्गादास राठौड़ जब पाटण का फौजदार था, तब जैन साधु मोहन विजय ने 'मानतुंग मानवती रास' की रचना की थी जिसमे दुर्गादास का भी उल्लेख है।

दुर्गादास की वीरता, स्वामिभक्ति, राजनैतिक योग्यता तथा निर्लोभी व्यक्तित्व के कारण उसकी प्रतिभा काफी बढ गई थी जिसे अजीतसिंह सहन नही कर सका और अपने मुंह लगे ईर्ष्यालु लोगो के बहकावे मे आकर महाराजा ने दुर्गादास के सब कार्यों को भूलकर मारवाड से निकाल दिया। दुर्गादास भी अत्यधिक स्वाभिमानी था तथा किसी की दया पर आश्रित रहने वाला नही था। यो अन्तिम समय मे मन-मुटाव होने पर दुर्गादास ने मारवाड़ में रहकर अजीतसिंह का विरोध करने के बजाय अपनी प्रिय मातृभूमि को छोड मेवाड़ के महाराणा की शरण मे जाना अधिक उपयुक्त समझा। महाराणा ने उसे केलवा की जागीर देकर अपने पास रखा तथा पांच सौ रुपये दैनिक खर्च के दिये। बाद में उसे रामपुरा का हाकिम भी बना दिया था। इस पद पर रहते हुए दुर्गादास ने सिद्ध कर दिया कि वह

एक योग्य प्रशासक भी है। वहां पर उसने आंतरिक अशांति को समाप्त कर परगने की बहुमुखी प्रगति की किन्तु 1717 ई. के अन्तिम महिनों में मालवा की ओर मराठा उपद्रव बढने लगे। अत: नवम्बर मे दुर्गादास मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के दीवान बिहारीदास पंचोली को रामपुरा सौंप कर अपना अन्तिम जीवनकाल प्रार्थना व पूजा मे व्यतीत करने के लिये सीधा उज्जैन चला गया जहां क्षिप्रा नदी के पवित्र तट पर शनिवार, नवम्बर 22, 1718 ई. को अस्सी वर्ष तीन माह और अट्ठाईस दिन पूर्ण कर के मृत्यु की गोद में सो गया। आज भी क्षिप्रा के उत्तरी किनारे पर लाल पत्थर की सुन्दर छोटी किन्तु सुदृढ़ छत्री बनी हुई है जो उस यशस्वी पुरुष का गुणगान करती हुई उसके त्याग, स्वामिभक्ति, साहस का स्मरण करा देती है।

दुर्गादास एक साधारण सरदार था किन्तु उसने विश्व को दिखा दिया कि एक साधारण मनुष्य भी धैर्य, बुद्धि, साहस और उचित नीति का अवलम्बन कर सब कुछ कर सकता है। इसीलिये दुर्गादास महाराणा प्रताप के समान राजस्थान ही नही अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष मे स्वतन्त्रता का प्रतीक है। इतिहास उसका नाम स्वतन्त्रता सेनानी एव स्वामिभक्त के रूप मे सदैव स्मरण करेगा। वह एक कूटनीतिज्ञ, शूरवीर व एक महान योद्धा था। राज्य तथा देश की स्वतन्त्रता के लिये आत्मोत्सर्ग करने वाले दुर्गादास जैसे वीर बहुत ही कम पाये जाते हैं।

अध्याय 6

मराठा-युग

मराठा प्रसार और राजपूत प्रतिरोध (1710-1760 ई.)

17 वी शताब्दी में मराठों का उत्थान भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। शिवाजी ने यत्र-तत्र बिखरी हुई दक्षिण की मराठा शक्ति को संगठित किया जिससे मराठा-मुगल सम्पर्क 16 वी शताब्दी के अन्त में प्रारंभ हुआ। राजपूत शासकों का मराठों से संबंध प्रारम्भ में मुगल सेनानायकों के रूप में हुआ। औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य पारस्परिक फूट व अन्य कारणों से पतनोन्मुख होता गया। औरंगजेब अपने पूर्ण प्रयासों के उपरान्त भी मराठों को नष्ट नहीं कर सका। अत: उसकी मृत्यु के बाद वे ही मराठा पुन: विकट रूप में खड़े हो गए। वैसे औरंगजेब के अन्तिम दिनों में ही मराठों ने मुगल प्रान्तों में लूट मार प्रारम्भ कर दी जो उसकी मृत्यु-पर्यन्त निरन्तर बनी ही रही। मुगल सम्राट बराबर एक के बाद एक बदलते रहे। वे अपनी ही आन्तरिक समस्याओं में इतने अधिक उलझे हुए थे कि मराठों को लूटमार से न रोक सके। राजस्थान के साथ मराठों का सीधा संबंध उनके मालवा-गुजरात में प्रवेश के साथ ही प्रारम्भ होता है। मालवा में सर्वप्रथम मराठा आक्रमण 1699ई. में हुआ।[1] 1706ई. में दक्षिण गुजरात में उन्होंने मुगल सेनाओं को हराया, तद्पश्चात औरंगजेब की मृत्यु के कुछ समय बाद ही वे अहमदाबाद तक पहुँचकर 'कर' वसूल करने लगे। इन प्रारम्भिक आक्रमणों के समय मराठों का उद्देश्य केवल मात्र मुगल सम्राट का ध्यान विकेन्द्रित करने से था। परन्तु यह सीमित उद्देश्य अधिक दिनों तक नहीं रहा और शीघ्र ही उत्तरी भारत में प्रसार, मराठा नीति का आवश्यक अंग बन गया था। मराठों के मालवा-गुजरात पर आक्रमण की चिन्ता न केवल मुगल सम्राट को ही हुई अपितु राजस्थानी शासकों के लिए भी यह गहन चिन्ता का विषय बन गया जिसके दो कारण थे।

1 मुगल शक्ति के पतन का लाभ उठाने की आशा में उन्होंने मराठा शक्ति को बाधक समझा।

---

1 रघुवीरसिंह, मालवा इन ट्रांजिशन, पृ. 54-55

2 शक्तिशाली मराठों का इन प्रदेशों में प्रवेश भी इनके लिए खतरे की सूचना थी। क्योंकि इसके पश्चात् इन प्रान्तों की सीमा पर लगे हुए राजस्थानी राज्य मुख्यत: मेवाड़, बून्दी और कोटा की बारी थी। यह स्वाभाविक ही था कि दिल्ली तक जाने की इच्छा रखने वाले मराठा बीच में पड़ने वाले भाग राजस्थान को भी अपने प्रभाव में लाना चाहते थे। शक्तिहीन एवं पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य ने मराठा व राजस्थान को आमने-सामने ला खड़ा किया। मराठे भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मुगल साम्राज्य कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। इधर राजपूतों को भी मराठों के विरुद्ध मुगल साम्राज्य से सहायता की आशा नहीं थी। अतएव उन शासकों का प्रयास मराठों के उत्तरी भारत में बढ़ने को सीमित करने का था। इस बार मराठा नर्मदा नदी को पार कर, मार्ग में अव्यवस्था फैलाते हुए मंदसौर के निकट मेवाड़ के क्षेत्रों में प्रवेश कर धन वसूल करने लगे। यों मई 1711 ई. में मराठों का प्रथमत: मेवाड़ में प्रवेश देख, महाराणा संग्राम सिंह इस अप्रत्याशित घटना से बड़ा चिन्तित हुआ। उसके द्वारा सवाई जयसिंह को भेजे गये पत्रों से स्पष्ट होता है कि तब मराठों के विरुद्ध मेवाड़ में योजनाएं बनाई जा रही थीं।[2] साथ ही कई समकालीन पत्रों से यह भी स्पष्ट होता है कि मराठा-प्रमार की नीति से राजस्थानी शासक काफी चिन्तित थे और इसे रोकने के उपाय ढूंढ रहे थे।

उधर मुगल-सम्राट भी मराठों को रोकने के लिए चिन्तित था। उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा शक्तिशाली सूबेदार मालवामें नियुक्त किया जाय जो मराठों को खदेड़ सके। आमेर का शासक सवाई जयसिंह इस दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ योग्य था। अत: अक्टूबर 1713 ई. में उसे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया तथा मारवाड के अजीतसिंह को गुजरात का। सवाई जयसिंह ने मालवा में अपनी सूबेदारी के काल में मेवाड़ तथा अन्य राजस्थानी शासकों की सहायता से अनेक स्थानों पर मराठों को पराजित किया। परन्तु जयसिंह की इन विजयों का प्रभाव अधिक समय तक नहीं रहा। 1715 ई. में उसे जाटों के विरुद्ध भेज दिया गया और उसकी अनुपस्थिति में पुनः मराठा आक्रमण शुरू हो गये जिनका सामना राजस्थानी सैनिक नहीं कर सके। इसके तुरन्त बाद ही 1720 ई. में बाजीराव के पेशवा बनने पर उत्तरी भारत में मराठा विस्तार की एक निश्चित पद्धति का विकास हुआ। नये पेशवा का उद्देश्य मुगल साम्राज्य के दूरवर्ती प्रदेशों पर अपना अधिकार करना

2 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ: 7

था। वह मराठा पताका अटक तक फहराने के लिए कटिबद्ध था।[3] इसलिए 1723 ई. में मालवा में ससैन्य प्रवेश कर, उसने यहां 'चौथ' वसूल की। मुगल सम्राट उसको रोक नहीं सका। तब राजस्थानी शासक भी भयाक्रान्त थे।

मराठा-आक्रमणों को रोकने का प्रयास—यों तो राजस्थानी शासकों की महत्वाकांक्षा एवं सुरक्षा को 1711 ई. में प्रथम आघात पहुंचा जबकि मराठा संकट प्रारम्भ हो गया। नवीन आक्रमणों से महाराणा संग्रामसिंह को बड़ा आक्रोश था। फलतः उसने इन आक्रमणों को रोकने के लिये सवाई जयसिंह व अन्य शासकों से सहायता की मांग की, परन्तु महाराणा की इस अपील का कोई परिणाम नहीं निकला।[4] मराठों ने अब रामपुरा, कोटा और बून्दी पर भी आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। यों इस विपत्ति ने राजस्थानी शासकों में पारस्परिक सहयोग की भावनाएं उत्पन्न कीं। सवाई जयसिंह एवं महाराणा संग्रामसिंह ने इन आक्रमणों के विरुद्ध मुगल सम्राट से भी सैनिक सहायता लेने का प्रयास किया किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल सम्राट ने इन आक्रमणों को अधिक गम्भीरता से नहीं लिया। सवाई जयसिंह ने निजाम को भी सारी स्थिति से अवगत कराया परन्तु वास्तविक रूप से देखा जाय तो निजाम भी यह नहीं चाहता था कि मराठों के प्रसार में किसी प्रकार अंकुश लगाया जाय। इस प्रकार निजाम व मुगल सम्राट से आवश्यक सहायता न मिलने पर जयसिंह ने कोटा व जोधपुर को अपने सैनिक संगठन में सम्मिलित करने का प्रयास किया। इन सब ही गतिविधियों की सूचना जब मराठों को मिली तो सैनिक प्रदर्शन की अपेक्षा समझौता वार्ता शुरु की गई। इसी उद्देश्य से छत्रपति शाहू ने अपने दो पदाधिकारी गोपालपंत और आपाजीपंत को महाराणा संग्रामसिंह के पास भेजा। लेकिन वार्ता सफल नहीं हुई और 1726 ई. में पुनः मराठों ने कोटा व बून्दी पर आक्रमण किया। जोधपुर एवं मेवाड़ को भी उन्होंने अछूता नहीं रखा तब राजस्थानी शासकों ने पुनः संगठित होने का प्रयास किया। ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थानी शासकों ने मराठा समस्या की गंभीरता को समझा किन्तु उसके हल के लिये कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया, केवल परस्पर पत्रों के आदान-प्रदान से ही सैनिक संगठन की आवश्यकता पर जोर दिया जाता

---

3 किनकाइड एण्ड पारसनीस, ए हिस्ट्री ऑफ दी मराठा पीपुल, पृ. 224

4 के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशंस, पृ. 21-22

रहा। वे पत्रों द्वारा विचार-विमर्श की नीति से ही समस्या के समाधान का अनुमान लगाने लगे।[5] बिना सैनिक प्रदर्शन की पूर्ण इच्छा के कूटनीति भी व्यर्थ थी। अतः मराठा-प्रसार बढ़ता ही रहा और 1728 ई. मे डूंगरपुर और बांसवाड़ा के शासकों ने तो मराठों को 'खिराज' देना भी स्वीकार कर लिया। मेवाड़ ने छत्रपति शाहू से सीधा सम्पर्क किया परन्तु स्थिति की गंभीरता में तब भी कोई अन्तर नहीं आया। सामरिक एवं सुरक्षा की दृष्टि से मालवा, मुगल साम्राज्य व राजस्थान के लिए महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। शाहू से वार्ता करने हेतु एक शिष्ट मण्डल भी भेजा गया किन्तु इन सभी का कोई सुपरिणाम नही निकला। सवाई जयसिंह तीसरी बार 1732 ई. मे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया। मेवाड़ ने भी अपनी सेना जयसिंह की सहायता के लिए मालवा में भेजी परन्तु मन्दसौर के युद्ध मे सम्मिलित सेना की मराठों के हाथ करारी हार हुई। इससे राजस्थानी शासकों, विशेषकर जयसिंह की प्रतिष्ठा को बड़ा आघात पहुचा। इस पराजय से यह स्पष्ट हो गया कि मेवाड़ व आमेर की सेना भी मराठो से युद्ध करने के लिये पर्याप्त न थी।

बून्दी-समस्या—इस बीच बून्दी-उत्तराधिकार संघर्ष के कारण मराठों ने राजस्थान को अपना युद्ध-स्थल बना दिया। सवाई जयसिंह ने दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में अपना प्रभाव बढाने की दृष्टि से बून्दी के शासक बुद्धसिंह को गद्दी से हटाकर 1730 ई. में करवर के हाडा दलेलसिंह को सिंहासनारूढ़ किया। रघुबीरसिंह के शब्दों में बून्दी का यह नया शासक सवाई जयसिंह का एक सामन्त बन गया और बून्दी का प्राचीन स्वतन्त्र राज्य अब आमेर का ही एक अंग मात्र समझा जाने लगा। परन्तु जयसिंह की इस सफलता ने राजस्थान में नई उलझन पैदा कर दी, फलतः मराठो ने यहा की राजनीति में प्रथम बार प्रवेश किया। बुद्धसिंह ने पहले उदयपुर में, फिर बेगूं में शरण ली। तब उसे यहां एक ऐसा साथी मिला जिसकी उसे आशा नही थी। दलेलसिंह के बड़े भाई प्रतापसिंह ने जब अपने छोटे भाई को गद्दी पर बैठे

---

5 रा. पु. अ. बीकानेर, ड्राफ्ट खरीता एण्ड परवाना, बं. नं. 3, पत्र सवाई जयसिंह का महाराणा संग्रामसिंह को दि. वैशाख सुदी 6, वि. सं. 1783 (मंगलवार, अप्रेल 26, 1726 ई.) देखिये पत्र सवाई जयसिंह का धायभाई नगराज को, रावत संग्रामसिंह को, महाराणा संग्रामसिंह को, महाराजा अभयसिंह को, रावराजा [illegible] राव दुर्जनशाल को।

कूटनीतिक वार्तालाप की गई। यों विस्तृत बातचीत के बाद जब विचारणीय विषय निश्चित हो गया तब खुला व मुख्य सम्मेलन बुधवार, जुलाई 17 को प्रारम्भ हुआ जिसमें उदयपुर का महाराणा जगतसिंह, जयपुर का सवाई जयसिंह, जोधपुर का महाराजा अभयसिंह, कोटा का महाराव दुर्जनशाल, नागोर का राजा बख्तसिंह सम्मिलित हुए। सम्मेलन की अध्यक्षता महाराणा जगतसिंह ने की जिसमें मराठा आक्रमणों के विरुद्ध एक समझौता किया गया[6] तथा उसे लिपिबद्ध कर उपस्थित शासकों ने जुलाई 17 को अपने हस्ताक्षर किये जिसकी शर्तें निम्नलिखित थी[7]—

1 राजस्थान के सभी शासक धर्म की शपथ लेकर एक दूसरे की विपत्तियों में मित्रतापूर्ण सहयोग देंगे तथा एक का अपमान दूसरे का अपमान समझा जायेगा।

2 किसी एक शासक के शत्रु को दूसरा शासक किसी भी प्रकार का सहयोग और आश्रय नहीं देगा।

3 मराठों के विरुद्ध वर्षा ऋतु के पश्चात् कार्य प्रारम्भ किया जायेगा तब सब ही शासक रामपुरा मे एकत्रित होंगे। यदि कोई शासक किसी कारणवश उपस्थित नहीं हो सकेगा तो अपने राजकुमार को भिजवा देगा।

4 यदि राजकुमार अनुभवहीनता वश कोई गलती करे तो महाराणा द्वारा ही उसे ठीक किया जायेगा।

5 यदि कोई नई कार्यवाही शुरू की जाय तो सभी शासक एकत्रित हो उसमे सहयोग दें।

यों वर्षा ऋतु के उपरान्त सम्मिलित होने का संकल्प कर सभी शासक अपने-अपने राज्यो में लौट गये।

हुरडा सम्मेलन राजस्थान के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। 1527 ई. के खानुआ युद्ध के पश्चात राजस्थान मे प्रथम बार एक संगठन का निर्माण हुआ जिसमें राजस्थान के शासकों ने अपने समान स्वार्थों के हितार्थ एक बार पुनः मेवाड़ के महाराणा की अध्यक्षता मे अपने शत्रु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तैयार किया। राजस्थानी शासक अब भी इतने शक्तिशाली थे कि उनका संगठन काफी प्रभावशाली सिद्ध हो सकता था। परन्तु इस सम्मेलन का कोई उल्लेखनीय परिणाम नहीं निकला। इस बार की एकता केवल कागज पर ही अंकित होकर रह गई। सम्मेलन के निर्णय के

---

6 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 15-19

7 रा. पु. अ. बीकानेर, श्यामलदास कलक्शन, डो. एस. नं. 7

देखा तो वह ईर्ष्यावश युद्धसिंह को सहयोग देने को तैयार होगया। सूर्यमल्ल मिश्रण के अनुसार दलेलसिंह के विरुद्ध सहायता प्राप्त करने के लिए यह दक्षिण में मराठों के पास गया तथा 6 लाख रुपया देकर मल्हारराव होलकर और राणोजीसिंधिया को बून्दी पर चढ़ाई करने हेतु ले आया। तब अप्रेल 22, 1734 ई. को इस मराठा सेना ने बून्दी को अपने आधिपत्य में कर लिया। बुद्धसिंह की रानी ने मल्हारराव होलकर के राखी बांध कर अपना भाई बनाया। यों राजस्थान के आन्तरिक मामलों में मराठों का यह प्रथम हस्तक्षेप था। इसके बाद से तो मराठा आक्रमणों का कोई तांता-सा बंध गया। इस घटना ने राजस्थानी शासकों की आंखें खोल दी।

राजस्थान के सभी शासकों का भय समान था। महाराणा जगतसिंह तत्कालीन स्थिति का लाभ उठा अपने साम्राज्य की सीमा वृद्धि करना चाहता था। उसने यह भी सोचा कि यदि मालवा पर मराठों का अधिकार हो गया तो वे मेवाड़ के पड़ोस में होने के कारण आये दिन आक्रमण कर, यहां की शांति को भंग कर सकते हैं, अतः वह राजस्थान के सभी शासकों को एक मत कर मालवा पर अधिकार करने हेतु बल दे रहा था। सवाई जयसिंह नेतृत्व विहीन राजस्थान में अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था। वह मालवा के कुछ भाग को रामपुरा में मिलाकर अपने राज्य की सीमावृद्धि कर अपने छोटे पुत्र माधोसिंह के लिए एक अलग-सा राज्य बनाना चाहता था जिससे कि भविष्य में उत्तराधिकार संघर्ष न हो। साथ ही वह मंदसौर-पराजय का बदला भी लेना चाहता था। जोधपुर-महाराजा अभयसिंह के गुजरात की सूबेदारी के समय पिलाजी गायकवाड़ की हत्या के प्रश्न को लेकर मारवाड़-मराठा सम्बन्ध कटु हो चुके थे। वह गुजरात को मराठों से सुरक्षित कर अपने राज्य को विस्तृत करने के लिए मारवाड़ में मिलाना चाहता था। कोटा चूंकि सबसे कम शक्तिशाली था अतः उसे मराठों का अत्यधिक खतरा था। ऐसी स्थिति में मराठों के विरुद्ध राजस्थानी शासकों को अब संगठित शक्ति का सहारा लेने के सिवाय और कोई विकल्प नजर नही आ रहा था।

हुरड़ा सम्मेलन—तब मराठों को शक्ति द्वारा निकालने का निश्चय करने हेतु उदयपुर, जयपुर, जोधपुर, कोटा और नागोर के शासकों के संयुक्त प्रयासो से एक सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन मेवाड़ के उत्तर-पूर्वी छोर पर स्थित हुरडा नामक गाव मे हुआ। राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार में सुरक्षित जोधपुर की खरीता बहियों के पत्रों से स्पष्ट है कि

कूटनीतिक वार्तालाप की गई ! यों विस्तृत बातचीत के बाद जब विचारणीय विषय निश्चित हो गया तब खुला व मुख्य सम्मेलन बुधवार, जुलाई 17 को प्रारम्भ हुआ जिसमे उदयपुर का महाराणा जगतसिंह, जयपुर का सवाई जयसिंह, जोधपुर का महाराजा अभयसिंह, कोटा का महाराव दुर्जनशाल, नागोर का राजा बखतसिंह सम्मिलित हुए। सम्मेलन की अध्यक्षता महाराणा जगतसिंह ने की जिसमें मराठा आक्रमणो के विरुद्ध एक समझौता किया गया[6] तथा उसे लिपिबद्ध कर उपस्थित शासको ने जुलाई 17 को अपने हस्ताक्षर किये जिसकी शर्तें निम्नलिखत थीं[7]—

1 राजस्थान के सभी शासक धर्म की शपथ लेकर एक दूसरे की विपत्तियों मे मित्रतापूर्ण सहयोग देंगे तथा एक का अपमान दूसरे का अपमान समझा जायेगा।

2 किसी एक शासक के शत्रु को दूसरा शासक किसी भी प्रकार का सहयोग और आश्रय नही देगा।

3. मराठो के विरुद्ध वर्षा ऋतु के पश्चात् कार्य आरम्भ किया जायेगा तब सब ही शासक रामपुरा में एकत्रित होगे। यदि कोई शासक किसी कारणवश उपस्थित नही हो सकेगा तो अपने राजकुमार को भिजवा देगा।

4 यदि राजकुमार अनुभवहीनता वश कोई गलती करे तो महाराणा द्वारा ही उसे ठीक किया जायेगा।

5 यदि कोई नई कार्यवाही शुरू की जाय तो सभी शासक एकत्रित हो उसमे सहयोग दें।

यों वर्षा ऋतु के उपरान्त सम्मिलित होने का संकल्प कर सभी शासक अपने-अपने राज्यो में लौट गये।

हुरडा सम्मेलन राजस्थान के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। 1527 ई. के खानुआ युद्ध के पश्चात राजस्थान मे प्रथम बार एक संगठन का निर्माण हुआ जिसमें राजस्थान के शासको ने अपने समान स्वार्थों के हितार्थ एक वार पुनः मेवाड़ के महाराणा की अध्यक्षता मे अपने शत्रु के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा तैयार किया। राजस्थानी शासक अब भी इतने शक्तिशाली थे कि उनका संगठन काफी प्रभावशाली सिद्ध हो सकता था। परन्तु इस सम्मेलन का कोई उल्लेखनीय परिणाम नही निकला। इस बार की एकता केवल कागज पर ही अंकित होकर रह गई। सम्मेलन के निर्णय के

---

6 जे. के. ओझा, मेवाड का इतिहास, पृ. 15-19

7 रा. पु. अ. बीकानेर, श्यामलदास कलक्शन, डो. एस. न. 7

अनुसार वर्षा ऋतु के बाद सभी शासकों को ससैन्य रामपुरा में एकत्रित होना था। परन्तु वहां पर कोई भी उपस्थित नहीं हुआ। यों "हुरड़ा सम्मेलन ऐतिहासिक तो हो गया लेकिन इतिहास नही बदल सका।"

असफलता के कारण—यह देखने पर बड़ा आश्चर्य होता है कि राजपूतों में एकता के सभी आवश्यक तत्व विद्यमान थे, जैसे-समान जाति, भाषा, रीति-रिवाज, परम्परा आदि, फिर भी अपने शत्रु का मुकाबला करने हेतु संगठित होने की तीक्ष्ण बुद्धि का अभाव था। वे अपने आपसी झगड़ों में इतने अधिक उलझे हुये थे कि उनमें ऊपर उठकर सोचने की क्षमता का अभाव था।

प्रतिभा सम्पन्न और क्रियाशील नेतृत्व का अभाव हुरड़ा सम्मेलन की असफलता का एक अन्य प्रमुख कारण था। महाराणा जगतसिंह में संगठित राजस्थान का नेतृत्व करने की क्षमता नहीं थी। वह न तो कुशल कूटनीतिज्ञ था और न ही एक योग्य सेनानायक। अपनी विलासी प्रवृत्ति तथा आंतरिक कलह के कारण ही वह बाह्य मामलों पर ध्यान केन्द्रित न कर सका।[8]

जयपुर के शासक सवाई जयसिंह ने इस सम्मेलन हेतु सर्वाधिक प्रयास किये। वह तत्कालीन राजस्थानी शासकों में सबसे अधिक योग्य भी था। अपने अथक परिश्रम व योग्यता के आधार पर वह नेतृत्व प्राप्त करने का सम्मान पाने को उत्सुक था। किन्तु जयपुर की सामाजिक प्रतिष्ठा कुछ कम थी, साथ ही अन्य राजपूत शासक भी जयसिंह को संदेह की दृष्टि से देखते थे। अतः जब उसे नेतृत्व का सम्मान नहीं मिला तो उसने निर्णय क्रियान्वित करने में उदासीनता की भावना रखी। सूर्यमल्ल मिश्रण का तो यह भी कहना है कि हुरड़ा सम्मेलन के तत्काल बाद सवाई जयसिंह ने राजपूत शासकों का हुरड़ा के पास स्थित आगूचा ग्राम में एक और सम्मेलन किया परन्तु इसमे भी उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकी। यों उसकी उदासीनता के साथ-साथ सम्मेलन के निर्णय केवल मात्र कागज पर ही रह गये।

हुरड़ा में लिए गए निर्णयों की अस्पष्टता भी सम्मेलन की अफलता के लिए एक कारण था। वर्षा के बाद कौन कितनी सेना के साथ रामपुरा में एकत्रित होगा, इस संदर्भ में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं था। अतः वर्षा के बाद किसी ने भी इस तरफ ध्यान नहीं दिया।[9]

---

8 के. एस गुप्ता, मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स, पृ. 41

9 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 21

राजपूत नरेशों में आपसी द्वेष भी पूर्ण व्याप्त था। प्रत्येक शासक की अपनी महत्वाकाक्षाएं थी जो प्राय: सार्वजनिक हित के विरुद्ध पड़ती थीं। कोई भी नरेश सामूहिक हित के लिए अपने स्वार्थों को त्यागने के लिए उद्यत नहीं था। इस प्रकार योग्य नेतृत्व के अभाव, हठधर्मिता और कूटनीतिक अयोग्यता के कारण राजस्थानी शासक मराठों का यह प्रभाव व विस्तार रोकने में असफल रहे। इस सम्मेलन की असफलता के परिणामस्वरूप मालवा और राजस्थान में मराठा-आक्रमण बहुत बढ़ गए। राजस्थानी शासक और मुगल सम्राट दोनों ही अपने-अपने राज्य की सुरक्षा के लिए पुन: चिन्तित हुए और फिर से मराठा विरोधी अभियान की विस्तृत योजना बनाई गई।

मुगल अभियान और राजस्थानी शासकों का योगदान—वंशभास्कर के अनुसार राजस्थानी शासकों ने भी हुरड़ा सम्मेलन के पश्चात् मुगल सम्राट के साथ हो, मराठों को खदेड़ने में सहायता देने का निर्णय किया। इस योजना के अन्तर्गत मराठों के विरुद्ध दो तरफ से मुगल सेना भेजने का निश्चय किया। एक सेना का नेतृत्व वजीर कमरुद्दीन को सौंपा गया तो दूसरी का बख्शी खानदौरां को। वजीर के नेतृत्व में मालवा की ओर भेजी गई सेना को कोई विशेष सफलता नहीं मिली। खानदौरा के नेतृत्व मे आई हुई सेना के साथ जयसिंह, अभयसिंह एवं दुर्जनशाल भी ससैन्य सम्मिलित हो गये परन्तु मुकन्दरा के पार करते ही मराठों ने इस सेना को चारों ओर से घेर लिया तथा राजस्थान के कई राज्यों में घुस कर मराठों ने लूटमार शुरु की। तब फरवरी 28, 1735 ई. को सांभर के धनाढ्य शहर को खूब लूटा। अंत मे मालवा की चौथ के रूप मे 22 लाख रु. देना स्वीकार कर मराठो से समझौता करना पड़ा। इन घटनाओ ने राजस्थान मे मराठा लूटमार बढाने में पर्याप्त सहयोग दिया। जयसिंह ने अनुभव किया कि न तो राजस्थान सगठित हो सकता है और न ही मुगल सम्राट मराठों के आक्रमण का सफलता पूर्वक सामना ही कर सकता है। अत: उसने मराठों से समझौता की नीति प्रारम्भ करने हेतु मुगल दरबार में प्रयास शुरु किया। इस नीति का विरोध वजीर व महाराजा अभयसिंह ने किया, जिससे जयसिंह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका तथा उसका मुगल दरबार मे प्रभाव कम हो गया। तब स्थिति को अपने पक्ष मे करने के लिए उसने पेशवा बाजीराव को उत्तरी भारत में आने का निमन्त्रण भेजा। उसने मराठा दूत को यह भी आश्वासन दिया कि पेशवा की यात्रा का समस्त खर्चा वह स्वयं वहन करेगा तथा बाजीराव के जयपुर पहुंचने पर सम्राट से बातचीत करेंगे।

बाजीराव की राजस्थान यात्रा—सवाई जयसिंह के निमन्त्रण व मुगलों द्वारा मराठा विरोधी नीति अपनाने के समाचार पाकर बाजीराव ने उत्तरी भारत की यात्रा करना निश्चित किया। अतएव अक्टूबर 1735 ई. में वह पूना से अपने प्रमुख अधिकारियों के साथ उत्तरी भारत के लिए रवाना हुआ। पेशवा के आगमन के समाचारों से शेष राजस्थान को भय और निराशा हुई। वह सर्व प्रथम डूंगरपुर आया तथा फरवरी 1736 ई. के प्रथम सप्ताह में उदयपुर पहुंचा। महाराणा उसे अपनी राजधानी से दूर ही रखना चाहता था परन्तु जब यह संभव नहीं हुआ तो उसने उसे स्वागत-सत्कार की उचित व्यवस्था कर, उदयपुर के 'आहाड़' ग्राम के पास चम्पा बाग में ठहराया गया जहां उसे अतिथि सत्कार में 5000/- रु. एवं भेंट आदि दी गई।[10] दूसरे दिन उसके सम्मान में दरबार का आयोजन किया जहां बाजीराव ने बड़ी ही नम्रता का परिचय दिया। प्रारम्भिक औपचारिकता के पश्चात् 'चौथ' संबंधी बातचीत शुरु हुई जिसमें महाराणा जगतसिंह द्वि. ने 'चौथ' के रूप में बनेड़ा का परगना अपने पास ठेका के रूप में रख कर, वहां से प्राप्त आमदनी पेशवा को देने का निश्चय किया। महाराणा ने 1735 ई. से 1743 ई. तक ग्यारह लाख पच्चीस हजार रु. देना स्वीकार किया और उसके बाद एक लाख पच्चीस हजार रु. प्रति वर्ष देना भी स्वीकार करना पड़ा। वंशभास्कर से ज्ञात होता है कि महाराणा ने पेशवा को पिछोला झील में स्थित जगमंदिर महल देखने को आमन्त्रित किया। तभी एक संदेह युक्त वार्ता फैल गई जिससे बाजीराव ने इस आमंत्रण को अपने मारने के लिए एक षड्यन्त्र समझा। वह इस बात से बड़ा क्रुद्ध हुआ। तब महाराणा ने उसे सात लाख रुपये देकर शांत किया। यों कोई एक सप्ताह भर ठहरने के पश्चात् बाजीराव नाथद्वारा व जहाजपुर होता हुआ जयपुर राज्य की ओर बढ़ा तथा भंभोला नामक स्थान पर उसकी सवाई जयसिंह से भेंट हुई। इस बीच मुगल दरबार से दूतों का आदान-प्रदान रहा परन्तु वार्ता सफल नहीं हुई। परिस्थितियों को प्रतिकूल देखकर, जयसिंह ने बाजीराव को दक्षिण भारत में लौटने को कहा। तब बाजीराव के पास विशेष सेना भी नहीं थी। अतः जयसिंह की सलाह मानते हुए वह पुष्कर होता हुआ दक्षिण भारत की ओर लौट गया। जिस समय बाजीराव मेवाड़ व जयसिंह के साथ व्यस्त था, उस समय होलकर व सिंधिया राजस्थान के अन्य स्थानों में जाकर वहां के शासकों को 'चौथ' देने के लिए बाध्य कर रहे थे। शाहपुरा, मेड़ता आदि स्थानों पर वे

---

10 वंशभास्कर, भाग 4, पृ. 3235-36

गये तथा नागौर के बख्तसिंह से 'कर' वसूल करते हुए अप्रैल के अन्तिम दिनों में बाजीराव से आकर मिले। पेशवा ने इस यात्रा के मध्य राजस्थान एवं विशेषत: मेवाड़ से 'चौथ' वसूल कर राजपूत शासको एवं मुगल बादशाह की अशक्तता को समझ लिया।[11] यो बाजीराव की राजस्थान यात्रा का परिणाम यह निकला कि अब राजस्थानी शासकों ने मराठो की भी अधीनता स्वीकार करली। मुगलों की अधीनता के साथ-साथ राजस्थानी राज्य अब मराठों के कर दाता भी हो गए। इसलिए जब जब भोपाल के युद्ध में कोटा ने मराठों के विरुद्ध निजाम को सैनिक सहायता दी तो मराठों ने कोटा पर आक्रमण कर दिया और 10 लाख रु. का कर निश्चित किया।

नादिरशाह का आक्रमण—अगले वर्ष राजनैतिक घटनाओ ने मराठा व राजपूतों को सहयोगी बनने का सुअवसर दिया। 1739 ई. मे नादिरशाह दिल्ली की ओर बढ़ा। उसके अजमेर आगमन की संभावनाओ से समस्त राजस्थान आतंकित हो उठा। नादिरशाह का यह अभियान वास्तव मे मराठों के विरुद्ध भी था। अत: बाजीराव ने राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया। बाजीराव ने राजपूत शासको को नादिरशाह के विरुद्ध सेना एकत्रित करने का आग्रह किया परन्तु नादिरशाह के शीघ्र लौट जाने से संगठन की आवश्यकता नही रही। तब राजस्थान मे आपसी युद्ध प्रारम्भ हो गया। राजस्थान को एकता के सूत्र में बांधने के लिए फिर प्रयास शुरु किये गये। उधर अगले दो वर्षों तक मराठों के अन्यत्र व्यस्त होने से उनका राजस्थान की ओर ध्यान नही जा सका परन्तु 1741 ई में मालवा प्राप्त होते ही अब राजस्थान में उनकी नीति अधिक आक्रामक हो गई। मेवाड़ की आंतरिक दशा भी अच्छी नहीं थी। महाराणा जगतसिंह व उसके पुत्र में मन-मुटाव था। सवाई जयसिंह के प्रति राजस्थान में सदैव ही संदेह बना रहा। अभयसिंह व बख्तसिंह के झगडे चल रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में मराठा विरोधी अभियान नही चल सकता था। जयपुर उत्तराधिकार संघर्ष में उनके विरोध के बजाय दोनों दलों को मराठा सहायता की आवश्यकता पड़ी। इसलिए राजस्थानी शासक मराठों के प्रति सतर्क और शक्तिशाली होते हुए भी उनके प्रसार को रोकने में एकदम असफल रहे। यों मराठों के इन प्रारम्भिक आक्रमणों की सफलताओं ने उनकी महत्वाकांक्षाओं को और बढ़ा दिया। अब उनका उद्देश्य राजस्थान को अपने प्रभाव क्षेत्र मे लाने का था।

---

11 के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स, पृ. 48

जयपुर व जोधपुर का उत्तराधिकार संघर्ष उनके इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हुआ।

सवाई जयसिंह का व्यक्तित्व—सवाई जयसिंह राजस्थान के शासकों में अन्तिम महत्त्वपूर्ण शासक था। उसका जन्म 1668 ई. में हुआ था और वह अपने पिता की मृत्यु के बाद 12 वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। उसने शासन काल में उसने अधिकांश समय राज्य के बाहर सैनिक अभियानों, मुगल राजनीति व मालवा में मराठों के प्रसार को रोकने में बिताया। मध्यकालीन भारत और मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास में सवाई जयसिंह की गणना महान् शासक, सेनापति, विद्वान, आश्रयदाता और नक्षत्र एवं गणितविद्या के ज्ञाता के रूप में की जाती है। वह एक ऐसा प्रभावशाली और गुणी व्यक्ति था जिसे अपना कार्यकाल विकट परिस्थितियों में प्रारम्भ करना पड़ा।

ज्योतिष विद्या में रुचि—राज्य कार्यों में अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी सवाई जयसिंह ने अन्य क्षेत्रों में प्रमुखतः नक्षत्र शास्त्र और गणित के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। खगोल विद्या के प्रति उसका जो अत्यधिक प्रेम था उसके पीछे उसके गुरु जगन्नाथ का पूरा हाथ था। श्रोझा ने सवाई जयसिंह को कुम्भा व राजा भोज के समान माना है। कर्नल टॉड का कहना है कि जयसिंह के राज्यकाल में जयपुर भारतीय विद्या का केन्द्र बन गया। भारतीय इतिहास के अंधकार-युग में वेधशालाओं का निर्माण जयपुर राजवंश की अपूर्व देन है। वह ज्योतिष का असाधारण ज्ञाता था। उसके दरबार में अनेक ज्योतिषी रहते थे। ग्रह अन्तर को दूर करने के लिए उसने अनेक ज्योतिष ग्रन्थों व सारणियों का अध्ययन किया। अपने इस कार्य के लिए उसने यूरोप के प्रमुख ज्योतिषी जॉन फ्लेम स्टीट का ग्रन्थ भी देखा किन्तु उसमें भी अन्तर पड़ता देख, उसे संतोष नहीं हुआ। अतः उसने अपने समय तक का शुद्ध ग्रह गणित तैयार करना शुरु किया। इस कार्य के लिए सवाई जयसिंह ने पुर्तगाली विद्वानों की मदद ली, अनेक भाषाओं के ज्योतिष ग्रन्थों का अध्ययन किया। और इन सब के बाद मथुरा, उज्जैन, जयपुर, बनारस और दिल्ली में वेधशालायें बनवाईं। इन नये यन्त्रों की सहायता से उसने सम्राट मुहम्मदशाह के शासनकाल में एक नई सारणी तैयार कर उसका नाम सम्राट के नाम पर ही 'जीजमुहम्मदशाही' रखा जो 1733 ई. में प्रकाशित हुई। श्रोझा का कहना है कि जयसिंह ने हिन्दुस्तान में वह काम किया जो पोप ग्रेवरी ने यूरोप में किया। जयसिंह ने अपने आश्रित विद्वानों से अरबी ग्रन्थों का संस्कृत में अनुवाद कराया तथा 'सम्राट सिद्धान्त' और 'सिद्धान्त-कौस्तुभ' ग्रन्थों की रचना की। केवलराम ज्योतिषी ने 'लागेरोथम' नामक

फ्रेंच ग्रन्थ का संस्कृत में अनुवाद किया और उसका नाम 'विभाग सारिणी' रखा। केवलराम ने आठ ग्रन्थों की रचना की जो नक्षत्रों की सही स्थिति व गति बताने में बड़े सहायक है। जयसिंह ने केवलराम को 'ज्योतिषराय' की उपाधि से विभूषित किया था। जयसिंह के साथ दो फ्रांसीसी खगोल शास्त्री भी थे।[12] इसी तरह से दैव भट्ट के पुत्र पुण्डरीक ने जयसिंह कल्पद्रुम नामक धर्म ग्रन्थ की रचना की। जयसिंह ने अपनी ज्योतिष-शालाओं में तीन प्रमुख यन्त्रों का निर्माण किया—सम्राट यन्त्र, फल प्रकाश यन्त्र और राजयन्त्र। इस प्रकार की वेधशालाओं के निर्माण द्वारा खगोल विद्या का ज्ञान सुस्पष्ट कर जयसिंह ने, रघुबीरसिंह के शब्दों में राजस्थान में वैज्ञानिक अध्ययन एवं खोज की प्रवृत्ति को प्रारम्भ किया।

नगर निर्माण में रुचि—सवाई जयसिंह ने नगर निर्माण में भी अत्यधिक रुचि ली। उसने अपने राज्य के लिए एक नई राजधानी का निर्माण किया और एक ऐसे सुन्दर नगर की रचना की। रघुबीरसिंह का कहना है कि इसका निर्माण कर उसने स्थापत्य कला का अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया। उसने अपनी नई राजधानी को हिन्दू संस्कृति का केन्द्र बना डाला। इस नगर अर्थात् जयपुर की नींव नवम्बर 18, 1727 ई. को डाली गई। इसे बसाने के लिये केवल भारत के ही नहीं अपितु दूरवर्ती देशों के विद्वान विशेषज्ञों द्वारा नक्शा बनाने के बाद नगर निर्माण कार्य शुरु किया गया। नक्शा तैयार करने के लिए एक बंगाली ब्राह्मण विद्याधर भट्टाचार्य को आमंत्रित किया गया था। इस नगर की विशेषता विस्तृत और सीधी सड़कें, चौराहे, तथा विशाल राज भवन आदि है। "1729 ई तक नगर का एक बड़ा भाग, जिसमें बाजार, मन्दिर, मकान आदि सभी थे, बनकर तैयार हो गया। यह पहला नगर था जो नक्शे के आधार पर बनाया था और जिसकी इमारतों, सड़कों और बस्तियों में इतनी एकरूपता थी। जयपुर, फतेहपुर सीकरी की भांति नहीं था जो मुख्य रूप से शाही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बनवाया गया था और जहां प्राकृतिक सुविधाओं का विशेष अभाव था। यहां नौ में से सात खंड जन साधारण के मकानों व दुकानों के लिए निर्धारित किये गये।[13] अजफरी लिखता है कि उसने जयपुर नगर को साफ-सुथरा पाया। यहां तक कि बरसात की मौसम में भी कीचड़ व दल-दल नहीं है। चौपड़ का बाजार तो ऐसा लगता है जैसे पैमाने से नाप कर

---

12. बी. एस. भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 204
13 वही, पृ. 206

बराबर बराबर बनाया गया हो। यहां की गलियों और रास्तो की सैर से आत्मा को शांति मिलती है तथा यहां की आबो हवा बहुत ही अच्छी है जिससे तबियत को ताज़गी मिलती है।[14] 1832 ई. में जो फ्रांसिसी विद्वान आया उसने अपने मेमोयर्स में लिखा है कि दिल्ली में सिर्फ एक चांदनी चौक है लेकिन जयपुर में उससे मिलते जुलते बहुत से चांदनी चौक हैं।

साहित्य मर्मज्ञ—नगर निर्माण के साथ-साथ साहित्य और कला के अन्य क्षेत्रों में भी सवाई जयसिंह की देन कम नहीं है। उसके दरबार में अनेक कवि एवं साहित्यकार रहते थे। मुगलों के पतन से दरबार में इनको आश्रय मिलना बंद हो गया था। इसलिये साहित्यकारों को अन्य प्रान्तीय सूबेदार व मुगल सम्राट के अधीनस्थ शासकों के यहां जाकर शरण लेनी पड़ी। सवाई जयसिंह उनका प्रमुख आश्रयदाता था। तब अधिकांशत: धर्म शास्त्र पर रचनाएं लिखी गई। उसके शासनकाल के प्रारम्भ में सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान महाराष्ट्रीय ब्राह्मण रत्नाकर भट्ट पौण्डरीक था। सबसे प्रसिद्ध विद्वानों में कवि कलानिधि श्री कृष्ण भट्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है जो पूर्व में बून्दी के महाराव बुद्धसिंह के यहां था। वह संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी तथा बृजभाषा का पंडित था। उसने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमे 'ईश्वरविलास महाकाव्य' सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है। श्री हरिहर, हरिकृष्ण, श्रीकृष्ण भट्ट, सूरतमिश्र के साथ-साथ उसके दरबार में खुशालचन्द्र जैसा विद्वान भी था जिसने अनेक संस्कृत काव्यों का अनुवाद किया तथा हरिपुराण, उत्तरपुराण आदि ग्रन्थ लिखे। 'सूर्यप्रकाश' का रचयिता कर्णीदान को भी यहां आश्रय मिला हुआ था। हालांकि बाद में अभयसिंह के कहने पर वह जोधपुर चला गया तो भी उसका सम्मान जयपुर मे कम नहीं रहा। जयसिंह के आश्रय मे विविध विषयों पर साहित्य लिखा गया जिसमें विविध औषध सग्रह, भक्त माला, श्यामखंड आदि मुख्य हैं।

समाज सुधारक—सवाई जयसिंह समाज सुधारक भी था। उसने ब्राह्मणो में प्रचलित भेद भावो को समाप्त किया। साधुओं मे व्याप्त व्यभिचार को मिटाने के लिए उसने मथुरा के पास वैरागपुरा नगर बसाया तथा उन्हे ग्रहस्थ बनाने का प्रयास किया। राजपूतों के विवाह के समय खर्चा कम करने के लिए भी उसने अनेक नियम बनाए और यह आदेश किया कि शादियो में

---

14 एस. बी. पी. निगम, अकाउन्ट ऑफ राजस्थान इन दी वाकियात-ए-अजफरी (अप्रकाशित शोध-निबन्ध), पृ. 5

वार्षिक आमदनी से ज्यादा खर्चा न हो। मुद्रा प्रणाली में वजन निश्चित किया व सिक्के जारी किये।

उदार व धर्मात्मा—जयसिंह बड़ा उदार व धर्मात्मा शासक भी था। उसने स्वर्ण के तुलादान दिये और लगभग 30 करोड़ रुपया धार्मिक कार्यों तथा पुरस्कार में खर्च किये। कुएं व धर्मशालाओं का निर्माण किया तथा धार्मिक यात्रियों के लिए मुफ्त खाने का प्रबन्ध किया। इसके काल की मुख्य घटना यज्ञ है जिसमें भारत के विभिन्न भागों से वेद पारंगत विद्वानों को बुलाया और इस यज्ञ के लिए जो सामग्री एकत्रित की गई थी उसका मूल्य करीब एक लाख रुपया था।

वास्तु-कला—सवाई जयसिंह ने पुरातन सांस्कृतिक परम्परा के अनुकूल देवालयों का भी निर्माण कराया। बृजनाथ का मन्दिर व आनन्दकृष्णजी का मन्दिर सवाई जयसिंह द्वारा निर्मित देवालयों में उत्कृष्ट है। उसने मुगल ढंग की कुछ इमारतें भी बनवाई थी। आमेर के किले में 'दीवाने खास' की इमारत उसी के द्वारा बनवाई गई थी। यों तो राजमहल वाले क्षेत्र में सबसे अधिक सुन्दर इमारतें हैं किन्तु उनमें भी चन्द्रमहल सर्वाधिक भव्य है। सबसे नीची मंजिल 'प्रीतम निवास' शरद ऋतु में काम आती थी। दूसरी मंजिल 'शोभा निवास' में फूल पौधे चित्रित थे। तीसरी मंजिल 'सुख निवास' में शीशे, चांदी, तांबे व सीप के पालिश के चमकदार टुकड़े लगे हुए है। चौथी 'छवि निवास' एवं पांचवी 'शीश महल' मंजिल है। सबसे ऊपर मुकुट बना हुआ है। जयसिंह ने कई इमारतों के अतिरिक्त जयगढ़ व नाहरगढ़ भी बनवाए। "उसकी इमारतों में रंगों का सामजस्य, सादगी, स्वाभाविक आकर्षण व मजबूती प्रचुर मात्रा में मिलते है। उसकी अधिकांश इमारतों में मेहराबनुमा गुम्बद, लम्बे नुकीले लटकते हुए छज्जे, जड़ाऊ के स्थान पर सादा व सजीला चूने का काम, व रंगों से बाहरी सजावट, लाल पत्थर के स्थान पर संगमरमर का अधिक प्रयोग, तथा गुम्बद, छज्जों व मेहराबों में पारस्परिक हिन्दू शैली का प्रयोग मिलता है।[15] इस प्रकार सवाई जयसिंह वीर, बुद्धिमान, विद्वानों का आश्रयदाता और कूटनीतिज्ञ था। वह अपने विचारों एवं धुन का पक्का था। ओझा के शब्दों में साम-दाम-दण्ड नीति से अपना कार्य निकालने में वह सदा तत्पर रहता था। इसीलिए ओझा ने तो जयसिंह को अपने समय का चाणक्य बताया है। इतना सब होते हुए भी उसके चरित्र में उस युग की सारी भली बुरी प्रवृत्तियां तथा समकालीन गुण दोषों का मिश्रण

---

15 वी. एस. भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 207-8

था। उसकी राजनैतिक महत्वाकांक्षा चरम सीमा पर थी। इसके दुष्परिणाम उसकी मृत्यु के बाद उसके राज्य को ही नहीं बल्कि समस्त राजस्थान को भुगतना पड़ा।

जयपुर उत्तराधिकार संघर्ष—सितम्बर 21, 1743 ई. को जयपुर के शासक सवाई जयसिंह की मृत्यु हो गई। उसके मरने के साथ ही जयपुर में उत्तराधिकार संघर्ष प्रारम्भ हो गया। महाराणा अमरसिंह की पुत्री चन्दकुंवरी का विवाह सवाई जयसिंह के साथ मई 25, 1708 ई. में इस शर्त पर हुआ था कि मेवाड़ की राजकुमारी से यदि कोई पुत्र उत्पन्न होगा तो वह गद्दी का हकदार होगा चाहे दूसरी रानियों से उत्पन्न पुत्र उससे बड़े ही क्यों न हों।[16] यद्यपि यह शर्तनामा महाराणा के गौरव का सूचक था किन्तु यह राजस्थान की राजनीति में नई गुत्थियां डाल गया। सवाई जयसिंह का ज्येष्ठ पुत्र ईश्वरीसिंह था। राजपूत उत्तराधिकार परम्परा के अनुसार वह जयसिंह का उत्तराधिकारी था। विवाह के समय तो जयसिंह ने इस विवाह के दुष्परिणामों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया था। परन्तु जब दिसम्बर 30, 1728 ई. को मेवाड़ की राजकुमारी से माधोसिंह पैदा हो गया तब जयसिंह को शर्तनामे से जयपुर की भावी राजनीति में घटित होने वाली घटनाओं के पहलू स्पष्ट दिखाई देने लगे। जयसिंह ने महाराणा के सहयोग से माधोसिंह के लिए रामपुरा का परगना प्राप्त कर लिया था परन्तु माधोसिंह इससे संतुष्ट नहीं था। सवाई जयसिंह की मृत्यु के पश्चात ईश्वरीसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह को इसमें अपना अपमान नजर आया क्योंकि 1708 ई. की शर्तों के अनुसार जयपुर का राज्य माधोसिंह को मिलना चाहिए था। अतः महाराणा जगतसिंह जयपुर उत्तराधिकार के संदर्भ में माधोसिंह का पक्ष लेकर युद्ध की तैयारियां करने लगा। इस कार्य में महाराणा ने अन्य राजस्थानी शासकों की सहायता लेना उपयुक्त समझा। कोटा का महाराव दुर्जनशाल भी बून्दी राज्य जयसिंह के मनोनीत से लेकर उम्मेदसिंह हाड़ा को दिलाना चाहता था। इस प्रकार महाराणा व महाराव दुर्जनशाल के स्वार्थ समान थे। इसलिए महाराणा से विचार विमर्श करके कोटा व मेवाड़ की सम्मिलित सेना को 1743 ई. के अन्तिम दिनों में जयपुर की ओर प्रस्थान करने के आदेश दिये।

महाराणा के उपरोक्त कार्यों की सूचना जब ईश्वरीसिंह को मिली तो वह भी एक विशाल सेना लेकर मेवाड़ की तरफ बढ़ा तथा पंडेर नामक ग्राम

---

16 रा. पु. अ. बीकानेर, कपटद्वार, 1496 सी।

में डेरे डाले। महाराणा व दुर्जनशाल की सेना ने बनास नदी के किनारे जामोली में पड़ाव डाल रखा था। जामोली व पंडेर के बीच सोलह मील की दूरी थी। दोनो ही तरफ की सेनायें कोई चालीस दिन तक एक-दूसरे के सामने पड़ी रही किन्तु लड़ाई की पहल किसी ने भी नही की।[17] इसी मध्य ईश्वरीसिह ने कूटनीति का सहारा लेकर महाराणा व दुर्जनशाल मे मतभेद करा दिया तथा महाराणा से एक संधि कर ली जिसके अनुसार टोंक का परगना माधोसिह को दे दिया गया।

इधर माधोसिह केवल टोंक का परगना पाकर संतुष्ट नही था। उसने सम्पूर्ण जयपुर राज्य को प्राप्त करने की इच्छा महाराणा के सामने प्रकट की। महाराणा ने अनुभव किया कि मेवाड़ की सैनिक शक्ति इस कार्य के लिए यथेष्ठ नही है, उधर राणोजी सिंधिया व मुगल सम्राट की सहानुभूति भी ईश्वरीसिह की तरफ है। अत: महाराणा ने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु एक ओर कोटा के अलावा जोधपुर व अन्य राज्यों से सैनिक समझौता किया तो दूसरी ओर अपने ही राज्य में अधिकाधिक सैनिक एकत्रित करने शुरु किये। महाराणा जगतसिह ने माधोसिह को गद्दी पर बैठाने के लिये एक लाख सैनिक एकत्रित करना तथा दो करोड़ रुपया तक खर्च करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।[18] इतना ही नही महाराणा ने मराठों को अपनी ओर मिलाना भी उपयुक्त समझा। अत: उसने अपने विश्वस्त सरदारो को मल-हारराव होल्कर की सहायता लेने के लिये भेजा। होल्कर ने एक लाख रुपया लेना स्वीकार कर माधोसिह को जयपुर राज्य दिलाने का वचन दिया। मलहारराव होल्कर की सहायता का आश्वासन पाकर महाराणा ने माधो-सिह-और अपनी सेना के साथ फरवरी 1744 ई. में आक्रमण हेतु जयपुर के लिए प्रस्थान किया। महाराणा ने इस बार बहुत उपयुक्त समय चुना क्योंकि इस समय ईश्वरीसिह दिल्ली गया हुआ था। परन्तु जयपुर के सामन्त ईश्वरीसिह की अनुपस्थिति से निराश नही हुए तथा मेवाड़की सेना का सामना करने के लिए अपनी सेना का संगठन किया लेकिन जयपुर के सामंत ईश्वरी-सिह की अनुपस्थिति मे युद्ध नही करना चाहते थे। अत: उन्होंने महाराणा के साथ छल कर उसे बताया कि वे माधोसिह को जयपुर की गद्दी पर बिठाने को उत्सुक हैं। जब ईश्वरीसिह दिल्ली से लौटेगा तो उसे गिरफ्तार कर आपके

17 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 1230-31

18 रा. पु. अ. बीकानेर, आमेर रिकॉर्ड बं. 1801/6, डी. एस. नं. 23, बं. 1801/1, डी. एस. नं. 187

सुपुर्द कर देंगे। इस प्रकार सामंतों ने महाराणा के आक्रमणार्थ आने की सूचना ईश्वरीसिंह को पहुँचा दी। सूचना मिलने पर ईश्वरीसिंह सेना सहित जयपुर लौट आया। उधर उसके योग्य मन्त्री राजमल खत्री ने मराठों को अपनी तरफ मिलाने का प्रयास किया जिसमें वह सफल हो गया। एच. एन. सिन्हा का कहना है कि इस प्रकार से भारी रिश्वतें लेकर बिना परवाह व सावधानी के एक राजपूत राजा के विरुद्ध दूसरे राजपूत राजा की सहायता करने की क्षतिप्रद प्रथा आरम्भ हुई। इससे मराठों की इज्जत को नुकसान पहुँचा और वे राजपूतों के घृणा के पात्र हो गये। महाराणा इस स्थिति को देख कर स्तंभित रह गया तथा मराठों को कुछ रुपये देकर उदयपुर लौट आया।

उपरोक्त असफलता से महाराणा निरुत्साहित नहीं हुआ। वह नवम्बर 5, 1746 ई. को महाराव दुर्जनशाल से माधोसिंह सहित नाथद्वारा में मिला। मेवाड़ के वकील खुमाणसिंह को होलकर से सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिये भेजा। होल्कर ने अन्य मराठा सरदारों का विरोध होते हुए भी अपने पुत्र खाण्डेराव को 2 लाख रुपये लेकर सेना सहित भेजना स्वीकार कर लिया।

राजमहल का युद्ध—भारतसिंह के नेतृत्व मे मेवाड की सेनाएं जयपुर की ओर बढ़ी। मार्ग मे इस सेना के साथ कोटा व शाहपुरा की सेनाएं भी सम्मिलित हो गईं। होल्कर ने भी अपने पुत्र खांडेराव के नेतृत्व मे एक हजार घुड़सवार भिजवा दिये। महाराणा के इन कार्यकलापों को देखकर ईश्वरीसिंह भी शान्त नही बैठा रहा अपितु उसने एक बड़ी सेना नारायणदास के नेतृत्व मे भिजवा दी। जब दोनों की सेनायें एक दूसरे से दो मील की दूरी पर थीं तो उनमें शान्ति सन्धियों के वार्तालाप होने लगे। जयपुर के सेनापतियों ने ईश्वरीसिंह को महाराणा की मांगें स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित किया क्योंकि महाराणा के साथ मराठों की सहायता थी। परन्तु ईश्वरीसिंह ने सामन्तों की सलाह स्वीकार न कर लड़ने का पूर्ण इरादा कर लिया व हरगोविन्द नाटाणी के नेतृत्व मे शीघ्रता पूर्वक एक सेना और भिजवा दी। मार्च 1, 1747 ई. को बनास नदी के किनारे पर राजमहल मे दोनों सेनाओं में भयानक संग्राम हुआ जिसमे दोनों ही पक्षो को भारी हानि उठानी पड़ी किन्तु विजय ईश्वरीसिंह की हुई। महाराणा पराजित होकर लौट गया व ईश्वरीसिंह पर दुबारा आक्रमण की योजना बनाने लगा। मलहारराव होल्कर ने भी उसे सुझाव दिया कि एक बड़ी सेना लेकर इनसे युद्ध करेंगे।

मराठा सहायता प्राप्त करने का प्रयास—महाराणा जगतसिंह द्वि. ने राजमहल की हार के पश्चात् यह अनुभव किया कि बिना सभी मराठा

सरदारों के सहयोग के माधोसिंह को जयपुर की गद्दी नहीं दिलवा सकते। यद्यपि मल्हारराव होल्कर महाराणा का सहायक था किन्तु रामचन्द्र बाबा व सिन्धिया आदि उसके विरुद्ध थे। अतः महाराणा ने अपने वकील कनीराम को पेशवा का सहयोग प्राप्त करने हेतु भेजा। कनीराम ने पेशवा को वार्तालाप के दौरान बताया कि ईश्वरीसिंह 24 लाख रुपये वार्षिक आय के परगने माधोसिंह को देने के लिए तैयार हो गया था किन्तु मराठा सरदारों ने सारा मामला बिगाड़ दिया। वकील ने पेशवा को 15 लाख रुपये देने का प्रस्ताव रखा, यदि वह माधोसिंह को 24 लाख रुपये की जागीर दिलाने के लिये यथेष्ट सैनिक सहायता दे दे। मलहारराव होल्कर ने भी पेशवा को माधोसिंह का पक्ष ग्रहण करने पर महाराणा द्वारा उसे बीस लाख रुपये नजराने के देने की बात कही।

यो पेशवा बीस लाख रुपये के लोभ से बहुत प्रभावित हुआ किन्तु इस विषय में उसने प्रत्युत्तर दिया कि ऐसा कार्य मराठों की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल है। महाराणा ने पेशवा से व अन्य मराठा सरदारों से सम्पर्क स्थापित करने के साथ साथ दुर्जनशाल व खान्डेराव से मिलकर जयपुर पर आक्रमण करने की योजना को कार्यान्वित करने के प्रयास प्रारम्भ किये। महाराव दुर्जनशाल, खान्डेराव व महाराणा के मध्य यह निश्चित हुआ कि तीनों मिलकर जयपुर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करे।

सम्मिलित सेना ने खारी नदी पर जाकर डेरा डाला। वीरविनोद एवं वंशभास्कर से ज्ञात होता है कि तब जयपुर की सेना से इनका हल्का-सा युद्ध हुआ जिसमें जयपुर की सेनाओ को भारी हानि उठानी पड़ी। किन्तु आमेर रिकॉर्ड से ज्ञात होता है कि तब शीघ्र ही शान्ति वार्ता के प्रयास प्रारम्भ हो गये। फलतः खारी नदी के किनारे किसी प्रकार का युद्ध नहीं हुआ।[19] उधर संधि वार्तालाप प्रारम्भ अवश्य हुआ किन्तु प्रत्येक के अपने-अपने स्वार्थों के कारण कोई फल नहीं निकला। ईश्वरीसिंह व माधोसिंह का झगड़ा चरम सीमा तक पहुंच चुका था। अतः पेशवा दोनों मे समझौता कराने के उद्देश्य से जयपुर की तरफ बढा। माधोसिंह ने पेशवा को निवाई में आमन्त्रित किया। इस वार्तालाप में ईश्वरीसिंह स्वय उपस्थित नहीं हुआ वरन् अपना एक प्रतिनिधि भिजवा दिया। वार्तालाप में यह निश्चित किया गया कि माधोसिंह को टोंक, टोडा, मालपुरा के परगने एवं फागी तथा बरवाड़ा गांव उसके हिस्से के अनुसार दे दिये जायेंगे। इसके बदले में माधोसिंह मराठों को

---

19 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 79-80

दस लाख रुपये नजर के रूप में देगा तथा भुगतान के सम्बन्ध में होल्कर ने अपनी व्यक्तिगत जमानत दी।

यों पेशवा ने मध्यस्थता करके माधोसिंह व ईश्वरीसिंह के मध्य समझौता करवा दिया किन्तु ईश्वरीसिंह ने इसकी परवाह न करते हुए टोंक को अपने कब्जे में कर लिया। ईश्वरीसिंहका प्रतिरोध करने हेतु माधोसिंह ने बून्दीके उम्मेद-सिंह सहित सेना ले युद्ध के लिये प्रस्थान किया। जयपुर की सीमा पर पहुँचने पर मराठा सेना भी उसमें सम्मिलित हो गई। जोधपुर के शासक ने भी अपनी सेना इनकी सहायतार्थ भिजवाई। गंगाधर तांत्या के नेतृत्व मे सम्मिलित सेनायें आगे बढ़ी। बगरु (सांभर कस्बे से 13 मील पूर्व मे स्थित) के समीप पहुंचने पर ईश्वरीसिंह ने इनका सामना किया। अगस्त 1, 1748 ई. को दोनों में युद्ध प्रारम्भ हो गया। परन्तु भारी वर्षा के फलस्वरूप उस दिन युद्ध स्वत: ही समाप्त हो गया। दूसरे दिन दोनों सेनाओं के मध्य भयंकर युद्ध हुआ परन्तु विजय किसी की भी नहीं हुई। युद्ध के तीसरे दिन ईश्वरीसिंह के सहयोगी पूरनमल जाट ने मराठा सरदारों *को पीछे ढकेल दिया।* इसके पश्चात् भारी वर्षा के कारण युद्ध कुछ दिन स्थगित रहा। अगस्त 14 को युद्ध पुन: प्रारम्भ हुआ। यह युद्ध तीन दिन तक चलता रहा। इस भयानक युद्ध में ईश्वरीसिंह की हार हो गई।[20]

बगरु की हार के पश्चात् जयपुर की सेना हतोत्साहित हो गई। परन्तु ईश्वरीसिंह के मंत्री केशवदास ने प्रलोभन दे कर मराठा सरदार गंगाधर तांत्या को अपनी ओर मिला लिया। उसकी सहायता से मल्हारराव को हर्जाना दे कर संधि कर ली। संधि के अनुसार बून्दी उम्मेदसिंह को पुन: दे दी गई व माधोसिंह को चारों परगने प्राप्त हो गये।[21]

माधोसिंह द्वारा मराठा सहायता से गद्दी प्राप्त करना—*संधि के पश्चात्* ईश्वरीसिंह ने अपने विश्वासघाती सरदारों को दण्ड देने का निश्चय किया। *मंत्री केशवदास को भी इसी कारण अनेक यातनाएं सहन करनी पड़ी* जिसके कारण वह बहुत क्रोधित हुआ। वह सितम्बर 21, 1750 ई. को जयपुर की तरफ बढ़ा। यद्यपि ईश्वरीसिंह ने उसे रोकने के लिए अनेक प्रयास किये, परन्तु वह अपने प्रयासों में सफल नहीं हो सका। ईश्वरीसिंह के सेनापति हर-गोविन्द नाटाणी ने भी ईश्वरीसिंह से कटुता उत्पन्न हो जाने के कारण सेना की तैयारी नहीं की। ईश्वरीसिंह को जब अपने सेनापति की *कुटिलता का पता*

---

20 के. एस. गुप्ता, मेवाड एण्ड दी मराठा रिलेशन्स, पृ. 62-63

21 वंशभास्कर, भा. 4, पृ. 3483-3527

लगा तो उसने अपमान से बचने के लिये विष खा कर आत्म हत्या करली। उसकी आत्म हत्या के पश्चात् दिसम्बर के द्वितीय सप्ताह में होल्कर ने जयपुर पहुँच कर माधोसिंह को गद्दी पर बिठा दिया।

उत्तराधिकारी संघर्ष का तो अन्त हो गया, परन्तु जयपुर की दयनीय दशा का अभी अन्त नही हुआ। माधोसिंह को गद्दी मराठों की सहायता से प्राप्त हुई थी। अतः अब सफलता के साथ-साथ उनकी धन की मांग भी बढती गई, परन्तु जयपुर राज्य की आर्थिक दशा शोचनीय थी जिससे मराठों की धन पिपासा को शान्त करना कठिन था। इसी समय जयप्पा सिंधिया भी धन वसूल करनेके लिये जयपुर आया। मराठोंकी योजना राज्य का 1/3 भाग हड़पने तक की थी। माधोसिंह के सामने विषम स्थिति थी। मराठों से मुक्ति पाने के लिये पहले तो यह योजना बनाई कि प्रमुख सेनानायकों को खाने पर बुलाकर विष मिश्रित खाने से उनका काम तमाम कर दिया जाये। किन्तु इस योजना को वह क्रियान्वित नहीं कर सका। तब उसने दूसरी योजना के अनुरूप मराठा सैनिकोको जयपुर देखनेके लिये आमंत्रित किया। उसने सैनिकों के जयपुर में आने के बाद शहर के सारे दरवाजे बंद कर दिये गये और तब जयपुर के सैनिक इन पर टूट पड़े जिससे हजारों मराठा सैनिक मारे गये तथा जो सैनिक वहां से भाग निकले उनको भी अनेक दिक्कतो का सामना करना पड़ा।

इस प्रकार जयपुर उत्तराधिकार संघर्ष ने राजस्थान की राजनीति में मराठा प्रभाव बढाने में सहायता दी तो दूसरी ओर राजस्थान-मराठा संबंधों की आधारभूत नीव रखी गई उसका रूप भी बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण रहा। तब राजस्थान मे 'उत्तराधिकार संघर्ष' को लेकर जोधपुर मे भी मराठा सहायता प्राप्त करने के प्रयास चल रहे थे।

जोधपुर (उत्तराधिकार) में आन्तरिक संघर्ष—(1749-60 ई.) जयपुर में उत्तराधिकार सघर्ष समाप्त नही हुआ उससे पूर्व ही जोधपुर में भी उत्तराधिकार संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। इसलिये राजस्थान मे मराठा विरोधी भावनाओं का स्थान मराठा सहायता प्राप्ति की होड़ ने ले लिया था। जोधपुर के महाराजा अभयसिंह की अजमेर मे जून 19, 1749 ई. को मृत्यु हो गई थी। उसके पश्चात जुलाई 13, 1749 ई. को रामसिंह जोधपुर में सिंहासनारूढ हुआ। गद्दी पर बैठने के समय रामसिंह की आयु 19 वर्ष की थी।[22] वह सर्वथा अयोग्य, अदूरदर्शी, अभिमानी और उग्र प्रकृति का

---

22 मारवाड़ की ख्यात, भा. 2, पृ. 163

था।[23] अभयसिंह ने अपने काका बखतसिंह की सहायता से अजीतसिंह का वध करके राज गद्दी प्राप्त की थी इसलिए उसने अपने काका को इस सहायता के बदलेमे नागोर का किला दिया था। अभयसिंह के शासनकालमें तो कुछ छोटे-मोटे झगड़ो को छोड़ नागोर से सामान्य संबंध बने रहे परन्तु उसके उत्तराधिकारी रामसिंह के समय स्थितिमें परिवर्तन आगया। रामसिंह की अनुदारता के फलस्वरूप जोधपुर के अनेक सामन्त उससे नाराज होकर बखतसिंह के पास चले गये थे। तब नागोर में उनको सम्मान व आश्रय मिला। इस पर रामसिंह से रहा नही गया और उसने क्रुद्ध हो नागोर पर आक्रमण कर दिया जो शीघ्र ही जोधपुर उत्तराधिकार संघर्ष के रूप में परिवर्तित हो गया। दोनों ही शासक अपनी शक्ति को बढाने की होड़ में बाह्य सहायता प्राप्ति के लिये प्रयास करने लगे। रामसिंह को जब जयपुर के ईश्वरीसिंह से सहायता प्राप्त हुई तो बखतसिंह ने भी जयपुर गद्दी के दावेदार माधोसिंह का समर्थन प्राप्त कर लिया था। इतना ही नहीं बखतसिंह ने तो मुगल सम्राट से मान्यता भी ले ली थी। अब दोनों ही पक्ष मराठा सहायता प्राप्त करने के प्रयास में जुट गये थे। रामसिंह को ईश्वरीसिंह के माध्यम से पेशवा की मदद मिल गई थी तथा होल्कर ने भी उसकी सहायता के लिए अपने पुत्र को ससैन्य भेजा। इधर मीरबख्शी सलावतखां, बखतसिंह के साथ हो गया था। दोनों ही पक्षों के बीच अप्रेल 14, 1750ई. को पीपाड़में घमासान युद्ध हुआ जो अनिर्णायक रहा। इस बीच बखतसिंह ने अपने विरुद्ध आई हुई मराठा सेना को धन का प्रलोभन देकर तटस्थ कर दिया तथा कई सामन्त युद्ध क्षेत्र में रामसिंह का साथ छोडकर दूसरी ओर चले गये थे। रघुबीरसिंह के अनुसार "शाही सैनिक मारवाड की गर्मी मे घबरा उठे थे, दोनोही पक्ष झगडा बढाना नहीं चाहते थे, एवं जब बीचमे पड़ कर समझौता करवानेके लिए ईश्वरीसिंह तत्पर हुआ, तब बखतसिंह के पक्ष ने हानि लाभ का कुछ भी विचार न कर अप्रेल 16, 1750 ई. को सलावतखा ने रामसिंह के साथ सधि करली।" सधि के अनुसार रामसिंह ने सलावतखा को तीन लाख रुपये तो नकद तथा चार लाख रुपये किश्तो मे मुगल बादशाह को 'राजकर' के रूप मे देना स्वीकार किया।[24] यद्यपि बखतसिंह इस सधि से संतुष्ट नहीं था तथापि स्वीकार करने के अलावा उसके पास तब और कोई विकल्प भी नही था। अतः वह क्रोधित होकर पीपाड़ छोड़, नागोर की ओर चला गया। बखतसिंह को जब

---

23 रघुबीरसिंह, पूर्व आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ. 171

24 जी. आर. परिहार, मारवाड़ एण्ड दी मराठाज, पृ. 66

यह विश्वास हो गया कि बाह्य सैनिक जो रामसिंह की सहायतार्थ आये थे पुन: मारवाड़ से चले गये तभी उसने नवम्बर 27, 1750 ई. को रामसिंह पर आक्रमण कर दिया। नि:संदेह बखतसिंह ने रामसिंह को इस युद्ध में पराजित तो कर दिया था किन्तु यह निर्णायक नहीं था। फिर भी इस युद्ध के परिणामस्वरूप परिस्थितियां बखतसिंह के पक्ष मे होती चली गई। इस बीच उसका समर्थक माधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठ गया था। माधोसिंह ने मराठों को तटस्थ करने में सहायता दी। यों बखतसिंह का पक्ष प्रबल होता जा रहा था तभी उचित अवसर देखकर उसने रामसिंह को मेड़ता में पराजित कर जून 21,1751ई. को जोधपुर पर अधिकार कर लिया। जोधपुर हाथ से निकल जाने के बाद भी रामसिंह निरुत्साहित नहीं हुआ और मराठों की निरन्तर बदलती हुई नीति के बावजूद भी वह उनकी सहायता प्राप्त करने के उद्योग में लगा रहा। रामसिंह के मराठा सहायता प्राप्ति के प्रयासों को देखकर बखतसिंह भी शांत बैठने वाला नहीं था और वह भी मराठा सहायता प्राप्त करने में लग गया। बखतसिंह ने होल्कर को 2 लाख रुपये देने का वादा किया तो रामसिंह के दूत जगन्नाथ ने जयप्पा सिंधिया को दो महिने का अग्रिम सैनिक खर्च दे दिया। सिंधिया ने मई 1752 ई. मे अजमेर पर अधिकार कर लिया। इस बीच उसे दक्षिण लौटना पडा अत: उसने आक्रमण का नेतृत्व अपने सेनानायक साहिब पटेल को सौंप दिया किन्तु पटेल, बखतसिंह के समक्ष टिक नही सका। जुलाई 18, 1752 ई. को उनके मध्य हुए युद्ध में उसे करारी हार का सामना करना पड़ा। प्रतिकूल परिस्थितियों को देख साहिब पटेल ने रामसिंह को निस्सहाय छोड दिया और वह तथा मराठा सैनिक दक्षिण की ओर लौट गये। बखतसिंह जानता था कि मराठा पुन: आयेंगे अत: राजस्थान के शासको का मराठा विरोधी गठबन्धन के निर्माण का उसने प्रयास किया। नि:संदेह राजस्थान के सभी शासक अपने-अपने क्षेत्रों मे मराठा गतिविधियो से बहुत चिन्तित व दु:खी थे। अत: बखतसिंह के मराठा-विरोधी गठबंधन के प्रयास का सभी ने स्वागत किया। गठबन्धन की योजना के स्वरूप को निश्चित करने के उद्देश्य से बखतसिंह और माधोसिंह कई बार मिले भी थे परन्तु योजना को अन्तिम रूप देने के पूर्व ही सितम्बर 21,1752ई. को मारवाड़ से दूर सीधोली नामक स्थान पर बखतसिंह की मृत्यु हो गई। बखतसिंह की मृत्यु से जोधपुर का उत्तराधिकार संघर्ष समाप्त नहीं हुआ। उसके पुत्र विजयसिंह को भी इसमे बराबर उलझे रहना पड़ा। इस समय तक मराठा दिल्ली की राजनीति मे मुक्त हो गये थे और अब राजस्थान में कर वसूल करने के लिए रघुनाथराव

होल्कर, सिंधिया आदि कोटा, बून्दी व जयपुर आये। तब रामसिंह ने यों मराठा उपस्थिति का लाभ विजयसिंह के विरुद्ध उठाना चाहा था।

रामसिंह ने सिंधिया की सहायता से किशनगढ़ को लूट लिया तथा अजमेर पर अधिकार कर पुष्कर तक गया। इतना ही नहीं उसने आसपास के इलाकों को भी लूटा था। साथ ही विजयसिंह की सेना का उसे सामना करना पड़ा, जिसमे प्रारम्भिक विजय तो विजयसिंह को मिली किन्तु द्वितीय युद्ध में उसका तोपखाना पीछे रह जाने के कारण युद्ध का स्वरूप ही बदल गया। अवसर प्राप्त होते ही मराठों ने तोपखाने पर अधिकार कर लिया। कर्नल टॉड के अनुसार अब तोपखाने का मुंह मराठों को हराकर लौटने वाले राठौड़ सैनिकों के विरुद्ध होने लगा जिससे उनकी विजय पराजय मे बदल गई। टॉड ने आगे लिखा है कि यद्यपि राठौड़ सैनिकों ने अपना युद्ध कौशल दिखलाया था तथापि उनका व्यूह भंग हो गया तथा विजयश्री सिंधिया को मिली। विजयसिंह पराजित होकर पीछे हटा तथा नागोर की ओर चला गया। उपरोक्त विजय के पश्चात् जयप्पा सिंधिया ने अपनी व रामसिंह की सेना के चार भाग किये—सेना के मुख्य भाग ने नागोर को घेर लिया तथा अन्य तीन भागों ने क्रमशः जोधपुर, जालोर व फलोदी पर आक्रमण किये। नागोर में विजयसिंह ने जयप्पा सिंधिया का सामना किया परन्तु दुर्ग में रसद समाप्तप्राय:-सी थी अतएव इन परिस्थितियों में ऐसा लग रहा था कि किसी भी समय नागोर पर जयप्पा का अधिकार हो सकता था। अत: विजयसिंह ने संधि वार्ता प्रारम्भ करने का प्रयास किया। तब पेशवा भी यह नही चाहता था कि युद्ध निर्णयात्मक रूप से किसी एक के पक्ष में समाप्त हो जाय। ऐसा होने से मराठा हस्तक्षेप का अवसर समाप्त हो सकता था। जयपुर उत्तराधिकार संघर्ष का अन्त होते ही माधोसिंह की मराठा विरोधी नीति पेशवा के लिए एक शिक्षा थी। परन्तु जयप्पा ने पेशवा के निर्देशन का ध्यान नहीं रखा। यहाँ तक कि विजयसिंह के दूत ने जब शांति स्थापना के लिए रघुनाथराव व अन्य मराठा सरदारों मे सहायता चाही तो जयप्पा ने इसका विरोध किया। लेकिन कुछ समय बाद घटना चक्र बदला। जयप्पा की स्थिति इतनी सुदृढ नहीं रही। ग्रीष्म ऋतु प्रारम्भ हो जाने से नागोर में पानी की कमी हो गई। राजस्थानी शासकों की भी सहायता विजयसिंह को प्राप्त हो गई। नागोर का घेरा चलता रहा। दोनो ही पक्ष पूर्ण विजय की स्थिति मे नही थे अत: विजयसिंह के समर्थकों ने अपने उद्देश्य प्राप्त करने हेतु जुलाई 24, 1755 ई. मे जयप्पा का वध कर दिया।

जयप्पा की मृत्यु से मराठा सेना में अव्यवस्था फैल गई। उपर्युक्त समय

देखकर राठौड़ सेना ने किले से निकल कर मराठा सेना पर आक्रमण कर दिया। प्रारम्भ मे तो मराठों को पीछे हटना पड़ा किन्तु शीघ्र ही जयप्पा के भाई दत्ताजी ने बिखरी हुई सेना को एकत्र कर पुन: नागोर को घेरने की तैयारी की। इसी मध्य रघुनाथराव ने भी मारवाड़ पर आक्रमण किया। इन सभी मराठा सेनाओं का एक साथ सामना करने में असमर्थ पाकर विजयसिंह बीकानेर चला गया तथा गजसिंह को साथ लेकर माधोसिंह की सहायता प्राप्त करने हेतु जयपुर की ओर बढ़ा, किन्तु माधोसिंह ने सहायता से इन्कार कर दिया। इस समय मारवाड़ में अकाल पड़ा हुआ था तथा मराठों को रसद प्राप्त करने में कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। अत: उन्होने विजयसिंह से संधि करना उपयुक्त समझा। फरवरी 1756 ई. मे दोनों के मध्य संधि हुई जिसके अनुसार मराठों को अजमेर, गढ़ बीठली का दुर्ग व इनके आसपास के दुर्ग मिले। विजयसिंह ने 50 लाख रुपया युद्ध क्षति का भी देना स्वीकार कर लिया। मराठों ने विजयसिंह पर 1,50,000 रुपये वार्षिक कर भी निश्चय किया। राज्य का आधा भाग रामसिंह को मिल गया। रामसिंह से सिंधिया की अलग मे एक संधि हुई।[25] इस प्रकार मारवाड़ के गृह युद्ध ने मारवाड का विभाजन ही नही किया अपितु उसकी आर्थिक दशा को शोचनीय बना दिया। व्यापार नष्ट हो गया और कृषि पूर्णरूप से बर्बाद हो गई। मराठों की मांगें दिन प्रतिदिन बढ़ती गईं। आर्थिक दशा के बिगड़ने के कारण राज्य उन्हें निश्चित किये हुए कर नहीं दे सका। कर वसूल करने के लिए मराठा सेनायें आये दिन मारवाड़ में प्रवेश करने लगी। लूट व बर्बादी की पुनरावृति होने लगी। इसमे शासक की बेबसी भी दिखाई देती है। वह कर को कम कराने का प्रयास करता था किन्तु मराठा प्रलोभन कम नही होते थे। यह स्थिति मारवाड़ में ही नहीं अपितु समस्त राजस्थान में व्याप्त थी।

मराठे तथा राजस्थान के अन्य राज्य—राजस्थान का कोई भी वर्ष ऐसा नहीं गया जब एक से अधिक मराठा सरदारों ने आकर धन वसूल न किया हो। 1755 ई. मे रघुनाथराव व होल्कर मेवाड में आये। उसी वर्ष सदाशिवराव, गोविन्दराव व कान्होजी जादव ने मेवाड़ से धन वसूल किया। अगस्त 1756 ई. में दुर्जनशाल की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नही होने से अजीतसिंह गद्दी पर बैठा। मराठों की बिना स्वीकृति के गद्दी पर बैठने के कारण राणोजी सिंधिया कोटा में उत्तराधिकारी कर लेने के लिये आया। नये शासक के सम्मुख 40 लाख रुपया देने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प

---

25. जी. आर. परिहार, मारवाड़ एण्ड दी मराठाज, पृ. 88-89

नहीं था। उसी वर्ष होल्कर व रघुनाथराव ने कोटा आकर 7 हजार रुपये वसूल किये। रघुनाथराव ने जावद पहुंच कर एक लाख रुपया वसूल किया तथा जयपुर पहुंच कर माधोसिंह से 11 लाख रुपये की मांग की। माधोसिंह को 6 लाख रुपया तुरन्त देना स्वीकार करना पड़ा। अगले वर्ष जनकोजी सिंधिया ने राजस्थान का दौरा किया तथा जयपुर से 36 लाख रुपये की धन राशि लेना निश्चय किया। मेवाड़ से भी धन एकत्रित किया गया तथा कोटा पहुंचने पर महाराव अजीतसिंह के उत्तराधिकारी शत्रुशाल से नजराने के रूप में 2 लाख रुपये लिये। राजस्थान की दयनीय दशा का फिर भी अन्त नहीं था। 1759 ई. में होल्कर फिर जयपुर आया किन्तु इसी बीच अब्दाली के कारण मराठों का ध्यान उधर केन्द्रित हो गया।

अतः राजस्थान में 1759 ई. से 1761 ई. के प्रारम्भिक दिनों में अपेक्षाकृत शान्ति रही। मराठों ने अपनी नीति से राजस्थान को मित्र बनाने की अपेक्षा शत्रु बनाये रखा। इसीलिये अब्दाली के आक्रमण के समय मराठा उससे सहायता प्राप्त नहीं कर सके। वास्तवमें मराठा हस्तक्षेप से राजस्थानी शासक इतने रुष्ट थे कि उन्होंने अब्दाली को आक्रमण का निमंत्रण दिया तथा उससे बराबर सम्पर्क बनाये रखा। राजस्थान राज्य पुराअभिलेखागार में उपलब्ध रिकॉर्ड से स्पष्ट है कि विजयसिंह व माधोसिंह के बीच मराठा विरोधी अभियान के बारे में पत्र व्यवहार होता रहा था। मराठा-अब्दाली संघर्ष में यद्यपि राजस्थानी शासकों ने तटस्थता की नीति अपनाई परन्तु यह तटस्थता अब्दाली के लिए हितकर रही। इतना ही नहीं माधोसिंह ने मराठा विरोधी सगठन को संगठित करने हेतु योजना बनाने के लिये राजस्थान के महत्वपूर्ण शासकों के प्रतिनिधियों को जयपुर आमंत्रित किया। पानीपत के मैदान में मराठा हार के समाचारों से जयपुर में प्रसन्नता व्यक्त की गई। माधोसिंह ने इस पराजय के समाचार लाने वाले व्यक्ति को इनाम आदि भी प्रदान किया था।

मराठों के पराजित होने के समाचार मिलते ही राजस्थानी राज्यों ने मराठों को कर देना बन्द कर दिया किन्तु आपसी द्वेष व संदेहशीलता के कारण राजपूत-मराठा विरोधी संगठन का निर्माण नहीं कर सके। फिर भी विभिन्न राजपूत शासकों ने अपने-अपने प्रदेश से मराठों को खदेड़ने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मेवाड़ ने अपने राज्य में स्थित मराठा ठिकानों पर आक्रमण कर दिया। कूंडावतों ने रामपुरा पर अपना अधिकार कर लिया। माधोसिंह अक्टूबर 1761 ई. में सेना लेकर राज्य के दक्षिणी भाग की ओर रवाना हुआ। लाखेरी के पास उसका मराठों से सामना हुआ, जिनको हरा

कर उसने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। होल्कर इस समय इन्दौर में था। उसने जब मराठों की पराजय के समाचार सुने तो वह माधोसिंह से बदला लेने के लिये रवाना हुआ तथा मार्ग मे कोटा की सैन्य सहायता लेकर उसने माधोसिंह को भटवाड़े के युद्ध में करारी हार दी और पुनः अपनी सर्वोच्चता स्थापित कर दी। रामपुरा को भी मराठों ने पुनः हस्तगत कर लिया। अतः एक वर्ष से भी कम समय मे राजस्थान पर मराठा प्रभाव फिर से स्थापित हो गया।

इस प्रकार राजपूत-मराठा सम्बन्ध राजपूतों के लिये तो विनाशकारी सिद्ध हुए ही, इसके साथ-साथ यह मराठों के लिये भी लाभदायक प्रमाणित नही हुए। पानीपत-युद्ध के पश्चात भी मराठा सम्बन्धों मे कोई परिवर्तन नही हो सका था।

मेवाड़ में गृह युद्ध—अप्रेल 3, 1761 ई. को सत्रह वर्षीय अल्पायु महाराणा राजसिंह द्वि. की निःसंतान मृत्यु हो गई। तब उसकी झाली राणी गुलाब कुंवर गर्भवती थी। अतः उत्तराधिकार का प्रश्न एक नई समस्या के रूप में प्रकट हुआ। तत्कालीन परिस्थितिमे गर्भ-प्रकट तक मेवाड़की गद्दी पर किसी को न बिठाना भी असम्भव था और न ही किसीके निकटके संबंधी को स्थायी रूप से गद्दी पर बिठाना उचित था, क्योंकि यदि झाली राणी से पुत्र उत्पन्न हो गया तो वास्तविक उत्तराधिकारी वही बनेगा। इसके अलावा एक बार किसी को गद्दी पर बैठा देने के बाद उसे हटाना कठिन हो जाता है। अतः उत्तराधिकार के इस प्रश्न से चिन्तित मेवाड़ के सामंत-सरदारों ने काफी विचार-विमर्श किया। तब राजमाता ने उनसे कहा कि जो भी राज्य उत्तराधिकारी हो उसे गद्दी पर बिठा दिया जाय। अन्ततः सभी सामंत-सरदारों एवं अधिकारियों ने मिलकर प्रसन्नतापूर्वक स्व. महाराणा राजसिंह के काका अरिसिंह जो अड़सी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, को उसी दिन मेवाड़ की गद्दी पर बिठाया। तब प्रारम्भिक औपचारिकताएं सम्पन्न की गई। वास्तव में यह एक अच्छी शुरुआत थी किन्तु गद्दी पर बैठने के साथ ही उसको कठिनाइयां भी प्रारम्भ हो गई। तब मराठों का बहुत अधिक दबाव था किन्तु अरिसिंह ने उनका सामना साहसपूर्ण तैयारियों से किया। अमरदास चंडक की अध्यक्षता में मराठों का सामना करने हेतु उसने जावद मे अपनी सेना एकत्रित की। मेवाड़ के सौभाग्य से यहां की सैनिक तैयारी के समाचारो से अवगत हो मराठों के पैर उखड गये। मराठा विरोधी सैनिक-प्रदर्शन की इस प्रारम्भिक सफलता से महाराणा ने अपना संतुलन खो दिया। वह अपने सामन्तों के प्रति भी व्यवहार में रूखा हो गया। उसने शक्ति या सैनिक प्रदर्शन से ही

प्रशासन को संचालित करने की नीति अपना ली जिससे उसे सामन्तों का एकमत हो सहयोग नही मिल सका।[26]

महाराणा का दुर्व्यवहार—महाराणा बनने के बाद अब अरिसिंह गद्दी छोड़ने को कतई तैयार नहीं था। वह भलीभांति समझ गया कि इस क्षेत्र मे सामन्त ही बाधक हो सकते हैं, अतः उसने शक्ति एवं सख्ती से काम लेना शुरू किया। यों भी वह काफी क्रोधित स्वभाव का था। अतएव गद्दीनशीनी के उपरान्त शोक निवृति के कुछ दिन बाद ही अरिसिंह एकलिंगजी गया। तब वहां से पुनः लौटते समय वह अपना घोड़ा तेजी से दौड़ाता हुआ चीरव के तंग घाटे मे पहुंचा, जहां कई सामत-सरदार चल रहे थे। महाराणा ने अपना रास्ता साफ करने के लिये छड़ीदारों से कहा किन्तु रास्ते की विकटता एवं तंगाई के कारण तब एकाएक रास्ता नही निकल सका। अतः कुछेक सरदारों के घोड़ों पर छड़ियाँ मारी गईं। इस अपमान को कड़वी घूंट की तरह निगलते हुए वे सरदार शांति से चलते रहे। परन्तु घाटे से निकलने के उपरान्त सभी सरदार आम्बेरी की बावड़ी के निकट ठहर गये। उन्होंने यह निश्चय किया कि शुरु में ही महाराणा का व्यवहार रूखा है तो बाद में क्या होगा? इस भांति परस्पर काफी विचार-विमर्श के बाद महाराणा अरिसिंह को हटाने का निर्णय लिया।[27]

उधर कुछ समय उपरान्त झाली राणी के गर्भ से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रतनसिंह रखा गया। नवजात शिशु को अरिसिंह के शिकार से बचाने हेतु उसका लालन-पालन गुप्त रूप से किया जाने लगा। वह अपने मामा के यहां (राजराणा जसवन्तसिंह) गोगून्दा के निकट तलावली के किले मे पल रहा था। परन्तु यह बात प्रसिद्ध होने लगी। यों राजकुमार के जन्म के समाचार से, ओझा ने लिखा है कि जनता में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई परन्तु महाराणा अड़सी के लिए यह एक अप्रत्याशित घटना थी। महाराणा के उग्र स्वभाव में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नही आया। उसने तो केवल अपने मुंह लगे सामंत-सरदारों की बात मान कर, राज्य के हित अथवा अहित को कभी नही देखा। इसी क्रम में उसने राज्य हितैषी कर्मचारियों को पदच्युत कर अन्यो को नियुक्त किया, यथा—अमरचन्द को हटाकर जसवन्तराय पंचोली को अपना प्रधान बनाया तथा महता अगरचन्द को अपना सलाहकार नियुक्त किया। महाराणा को इन कार्यवाहियों से मेवाड़ी सामन्त सरदार

---

26 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 126-29

27 वीरविनोद, भा. 2, पृ. 1543-44

एवं उच्च पदाधिकारी तो नाराज थे ही किन्तु इसी बीच जब उन्हें झाली राणी से पुत्र उत्पन्न होने के समाचार ज्ञात हुये तो महाराणा को राज्यच्युत करने का सुग्रवसर मिल गया। अब सामन्तों के षड्यंत्रों ने नया रूप लिया। उन्होंने नये राजकुमार को गद्दी का उत्तराधिकारी मान कर अरिसिंह को हटाने का प्रयास किया। ऐसी स्थिति में महाराणा को पर्याप्त दूरदर्शिता से काम लेना चाहिये था। परन्तु उसने इसके विपरीत दमनकारी नीति का आश्रय लिया। उसने अपने सैनिको पर अधिक विश्वास न कर बाह्य सैनिकों मे सिन्ध व गुजरात के मुसलमान सैनिको को बुलाया। साथ ही उसने बर्बरता से अनेक सामन्तों को मौत के घाट उतार दिया परन्तु इससे असंतोष और अधिक बढ़ा। महाराणा को अपने काका नाथसिंह (बागोर-महाराज) का भय निरन्तर बना हुआ था। अत: उसने भैंसरोड़गढ़ के रावत लालसिंह को काका नाथसिंह का काम तमाम करने के लिए नियुक्त कर, बागोर भेजा। इसके लिए उसे 'सोलह' के सरदारो में स्थान देकर सम्मान देने का लोभ भी दिया। तब फरवरी 4, 1764 ई. को बागोर में नर्मदेश्वर का पूजन करते हुये नाथजी के कटार भोक कर हत्या कर दी।[28]

महाराणा अरिसिंह नाथजी की हत्या करके ही शांत नहीं हुआ। वह तो कानों का कच्चा था। अतएव अपने मुंह लगे लोगों की बातो में आकर सलुम्बर के रावत जोधसिंह को विष युक्त पान का बीड़ा देकर हत्या कर दी।

महाराणा को हटाने का प्रयास—मेवाड़ी सामन्त-सरदारों के विद्रोह को भड़काने के लिए उपर्युक्त घटनाएं पर्याप्त थी। अतएव महाराणा को हटाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हुए सामन्तों मे देवगढ़ का जसवन्तसिंह विद्रोही दल का नेता था। उसने 1764 ई. में रतनसिंह को कुम्भलगढ़ ले जाकर मेवाड़ का महाराणा घोषित किया। बसन्तपाल देवपुरा को मुख्य प्रधान पद दिया गया। धीरे-धीरे मेवाड़ राज्य के कई प्रमुख ठिकाने यथा—सादड़ी, गोगुन्दा, देलवाड़ा, बेगूं, कोठारिया, कानोड़ तथा भींडर भी रतनसिंह का पक्ष लेते हुए देवगढ के साथ हो गये। ऐसा कहा जाता है कि रतनसिंह कोई सात वर्ष की अल्पायु मे ही चेचक से मर गया। परन्तु विद्रोही सामन्तों ने महाराणा को हटाने के विचार से उसी उम्र के एक अन्य बालक को रतनसिंह के नाम से गद्दी पर बिठाये रखा। यह दंत कथा कहां तक सत्य है? इस संबध में कुछ भी नही कहा जा सकता है किन्तु इतना अवश्य है कि मेवाड़ के इति-

---

28 रा. पु. अ. बीकानेर, श्यामलदास कलक्शन नं. 183; अर्जदाश्त बंडल, डी. एस. न. 174

हास में रतनसिंह 'फितुरी' के नाम से जाना जाता है। इस बीच कोटा से आये झाला जालिमसिंह का सहयोग महाराणा अड़सी को मिल गया। अतएव महाराणा का उत्साह काफी बढ गया। उसने झाला जालिमसिंह को राजराणा की उपाधि तथा चीतासेड़े की जागीर दी। शाहपुरा के राजा उम्मेदसिंह एवं बनेडा के राजा रायसिंह को अपनी ओर मिलाने के लिये अरिसिंह तथा रतनसिंह के पक्ष ने बड़े प्रयास किये किन्तु रतनसिंह इसमें असफल रहा और अन्ततः दोनों ही ने महाराणा अड़सी का पक्ष ग्रहण किया। उधर रतनसिंह के पक्ष को जोधपुर के महाराजा विजयसिंह का सहयोग भी प्राप्त हो गया। तब महाराणा अड़सी को जयपुर के सवाई माधोसिंह से भी सहायतार्थ आश्वासन मिल गया था। यों दोनों ही पक्षोंने अपने-अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाना शुरु कर दिया जिसमें अरिसिंह शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में करने में अधिक सफल हुआ तथा विद्रोह को समाप्त करने का प्रयास वह तीव्रगति से करता रहा। विद्रोही सामन्तों के लिए यह कठिन समस्या थी। ऐसी दशा में अड़सी ने रतनसिंह के विद्रोह को कुचलने की दृष्टि से शीघ्र ही एक सेना कुम्भलगढ की ओर भेजी।[29] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तब हुआ युद्ध अनिर्णायक रहा।

मराठा सहायता के प्रयास—महाराणा अरिसिंह की शक्ति का सामना करने के लिए अब एक मात्र मराठा सहायता ही उनके लिए विकल्प रह गई थी तब रतनसिंह के पक्ष ने मेवाड़ में नियुक्त मराठा सेनानायकों को अपनी ओर मिलाने का प्रयास करने लगे जिसमे यशवन्तराव बाबले, तथा सदाशिव गगाधर आदि मराठा सेनानायकों ने तीन लाख रुपये नकद लेने के वचन पर रतनसिंह का समर्थन करने का वचन दिया।[30] साथ ही पेशवा का भी समर्थन प्राप्त करने का उन्होंने प्रयास किया। इसके लिए 36 लाख रुपये देने का वचन पेशवा को दिया। यह स्पष्ट है कि मेवाड़ का राजनीतिक जीवन निम्न स्तर का हो गया, नैतिक पतन अपनी गहरी जड़ें जमाने लगा। *कुछ स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामरिक बातों को तिलांजली दे दी गई।* आवश्यक तो यह था कि, आंतरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने वालो को मेवाड से निकाल बाहर करे परन्तु दोनो पक्षो की चेष्टाएं ऐसी हो रही थी जिसने बाह्य हस्तक्षेप को बढावा दिया। मराठा समर्थित सेनाओं ने मेवाड मे लूटमार मचाना शुरू किया। जब महाराणा अरिसिंह ने यह देखा कि शक्ति संतु-

---

29 के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स, पृ. 88-89
30 बनेड़ा आर्काइव्ज, जि. 1, पृ. 56

सन बिगड़ता जा रहा है तो उसने मराठा पदाधिकारियों से [illegible] आरम्भ किया तथा उन्हें अपने पक्षमें लाने का प्रयास किया। [illegible] कोटा के झाला जालिमसिंह ने भी पूरी सहायता की। [illegible] एवं बहीरजी ताकपीर को 20लाख रुपये देने का वचन देकर अरिसिंहने उन्हें अपनी ओर मिला लिया तथा अन्य मराठा सरदार विष्णु महादेव और शिवकान्त भट्ट के माध्यमसे पेशवा का सहयोग भी उसने प्राप्त करने का प्रयास किया। अरिसिंह के इन प्रयासों के कारण रतनसिंह द्वारा मराठों को 36 लाख रुपये दिये जाने के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। पेशवा ने तो महाराणा अरिसिंह को यह भी आश्वासन दिया कि उसकी प्रभुसत्ता वह सम्पूर्ण मेवाड़ में स्थापित कर देगा। इन सबके उपरान्त भी रतनसिंह के समर्थक हताश नहीं हुए। पेशवा की नीति में परिवर्तन लाने के लिये उन्होने महादजी सिंधिया को अपनी ओर मिलाने का निश्चय कर, वे रतनसिंह को उज्जैन तक ले गये, जहां सिंधिया ठहरा हुआ था। वर्तालाप के बाद 50 लाख रुपये देने के आश्वासन पर सिंधिया ने रतनसिंह के पक्ष का समर्थन किया। इन घटनाओं से स्पष्ट है कि मराठों की न तो कोई नीति थी और न उनकी एकरूपता ही। यों सारी बातचीत कर लेने के उपरान्त रतनसिंह एवं उसके समर्थको ने नवम्बर 22, 1768 ई. को उज्जैन छोड़ प्रस्थान किया।

उधर महादजी युद्ध की तैयारियों में निमग्न हो गया। वह शीघ्र ही उदयपुर आक्रमण करने वाला था परन्तु अपनी सैनिक तैय्यारियो के कारण अनायास ही विलम्ब होता जा रहा था। इस बीच महाराणा अरिसिंह ने अपने कुछ सामन्तों को सिंधिया के पास समझाने-बुझाने के लिए भेजा परन्तु उस पर कोई प्रभाव नही पड़ा। अतएव वे सामन्त पुनः उदयपुर लौट आये। इस वार्ता की असफलता में महाराणा ने 'देलवाड़ा' के राजा झाला राघवदेव का हाथ समझा था, अतः उसे मरवा दिया।

क्षिप्रा का युद्ध—जो जब उपर्युक्त वार्ता असफल रही तब महाराणा के समक्ष युद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नही बचा था अतएव अड़सी ने सिंधिया को अपने राज्य से दूर ही रखना उचित समझ, कई प्रमुख सामत-सरदारों के नेतृत्व मे एक विशाल सेना उज्जैन की ओर रवाना की। इस बार भी मेवाड़ी सेनानायकों ने सिंधिया को अपनी नीति मे परिवर्तन करने का आग्रह किया। परन्तु जब इसमे उन्हें सफलता नहीं मिली तो दोनों ही पक्ष की सेना मे जनवरी 13, 1769 ई. को क्षिप्रा-नदी के किनारे युद्ध प्रारम्भ हुआ जो तीन दिन तक छुट-पुट रूप से चलता रहा। मेवाड के सामंत भी इस 'त्रिदिवसीय' छुटपुट से परेशान हो गये थे। वे घमासान लड़ाई

कर निर्णय की स्थिति पर पहुंच जाना चाहते थे। अतः चौथे दिन रविवार, जनवरी 16 को मेवाड़ के सभी राजपूत सरदारों ने केसरिया बाना पहिन, तुलसी की मंजरियों और रुद्राक्षमाला पगड़ी मे रखकर सुबह कोई नो बजे के लगभग सिंधिया को सेना पर आक्रमण कर दिया। इस घमासान युद्ध में प्रारम्भ में मेवाड की सेना को सफलता प्राप्त हुई परन्तु जयपुर व अन्य स्थानो से और अधिक सैनिक सहायता मिल जाने के कारण अन्तिम रूप से सिंधिया की जीत हुई। मेवाड़ के कई सैनिकों के साथ-साथ प्रमुख सेनानायक सामत भी युद्ध स्थल मे काम आये तथा कई बन्दी बना लिये गये।

मेवाड़-सेना की पराजय के कारण—महाराणा अरिसिंह के सैनिकों की क्षिप्रा के युद्ध मे जो पराजय हुई उसके निम्नांकित कारण थे।[31]

1 "महाराणा की सेना ने उज्जैन पहुंचने के बाद सिंधिया से समझौता वार्ता के प्रयत्नो में दिन खराब किये।

2 जनवरी 13 से युद्ध प्रारम्भ हो जाने के बाद मेवाड़ ने निर्णायक युद्ध लडने का बीड़ा जनवरी 16 को उठाया। इस बीच छुट-पुट आक्रमणों से विरोधी पक्ष को संभलने का मौका मिल गया। तब मेवाड के सैनिको की शक्ति व्यर्थ मे ही बिगड़ रही थी।

3 मेवाड़ की सेना का नेतृत्व एवं संचालन किसी एक सेनापति के हाथ में न होकर विभिन्न सामन्तों के हाथ में था।

4 प्रथम आक्रमण के समय मराठा-सेना के भाग जाने से मेवाड़ की सेना निश्चिन्त होकर शहर को लूटने लगी।

5 रावत जसवन्तसिंह द्वारा भेजी गई नागा सैनिको की सहायता एक अप्रत्याशित घटना थी।

6 कालेखा पठान जो कि किरण लगा केसरिया रुमाल अपने भाले के साथ बाधकर सैनिकों को राजा उम्मेदसिंह की सेनापति के रूप मे उपस्थिति या जीवितावस्था का बोध करा रहा था अचानक ही, धोखा देकर मराठों के साथ मिल गया।

7 दूसरी बार आक्रमण के समय मेवाड़ की सेना पूर्णतः एकत्रित नहीं की जा सकी थी।

8 राजपूत-सैनिकों में अनुशासन का अभाव था।

9 मेवाड़ से बाहर सुदूरस्थ युद्ध होने पर भी उनके पास कोई आरक्षित सेना नही थी।"

---

31 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 166-67

उदयपुर का घेरा—अड़सी के लिए यह एक दुःखद घटना थी किन्तु इसका अन्त यहीं तक नहीं था अपितु युद्ध में विजय के पश्चात भी सिंधिया ने उज्जैन से रवाना हो, अप्रेल के दूसरे सप्ताह में महाराणा अड़सी को पद-च्युत करनेके अभिप्राय से उदयपुर को आ घेरा। यह घेरा कोई छः महिने तक चलता रहा फिर भी सिंधिया अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सका। अड़सी ने युद्ध विभीषिका से तंग आकर बातचीत का दौर भी प्रारम्भ किया। मेवाड़ के भाग्य से अन्य मराठा सरदार तुकोजी होलकर के आ जाने से स्थिति ने पल्टा खाया। होलकर, सिंधिया-विरोधी था, उसका दबाव भी संधि वार्तालाप की ओर था। रघुबीरसिंह के अनुसार "एक बार तो महादजी भी तुकोजी से सहमत हो गया और अड़सी के साथ संधि की सारी शर्तें भी तय हो गई परन्तु तब एकाएक महादजी ने पुनः रतनसिंह का पक्ष ले लिया, जिससे चिढ़ कर तुकोजी जून 2 को वहा से लौट गया। घेरा लस्टम-पस्टम चलता रहा और साथ ही संधि की भी बातचीत होती रही।"

समझौता—महादजी भी शीघ्र युद्ध समाप्त करना चाह रहा था। अतः जुलाई 21, 1769 ई. को महादजी ने अड़सी के साथ एक समझौता कर लिया जिसमें महाराणा द्वारा 60 लाख रुपये देने का वचन प्राप्त कर सिंधिया ने घेरा उठा लिया। साथ ही यह भी निश्चित किया कि रतनसिंह मन्दसौर मे रहेगा और 75000/- रुपये की वार्षिक आय की जागीर उसे दे दी जायेगी। इतना ही नहीं शेष रकम के बदले सिंधिया ने मेवाड के जावद, जीरण और नीमच के परगने भी अपने अधिकार में कर लिये जो कि हमेशा-हमेशा के लिये मेवाड़ के अधिकार से निकल गये। यों इस समझौते के पश्चात सिंधिया अपने पदाधिकारियों को महाराणा अड़सी से सहयोग करने का निर्देश देकर 1769 ई. के अन्त में स्वयं मेवाड़ से चला गया।

रतनसिंह का विद्रोह जारी—इस समझौते से मेवाड़ मे शाति स्थापित नही हो सकी। रतनसिंह कुम्भलगढ़ में ही रहा। साथ ही विद्रोही सामन्त भी उसका समर्थन करते रहे। यहां तक कि जयपुर से सहयोग प्राप्त कर वे निरन्तर मेवाड़ मे ससैन्य आते रहे। परन्तु मराठा-सहयोग के अभाव मे रतनसिंह की स्थिति दिन-प्रति-दिन दयनीय होती गई। महाराणा अड़सी ने उनके विरुद्ध दबाव बनाये रखा और स्थिति यहाँ तक आ गई कि 1771 ई. तक विद्रोह केवल नाम मात्र का रह गया। तब कोई दो बार नागा सैनिक एवं एक दफा यूरोपीय सेनानायक समरु ससैन्य मेवाड़ पर चढ आया किन्तु दोनों ही बार आये नागा सैनिकों की हार हुई तथा समरु से समझौता हो गया। यों रतनसिंह के पक्षधरों के सारे प्रयास असफल हो गये। इतना

चित्तौड़ के किले पर भी महाराणा अरिसिंह का अधिकार हो गया और कुम्भलगढ के किले से निकालने तथा उसी के पड़ोस के मेवाड़ के परगनों का उसके हाथमें नहीं पड़ने देनेके प्रयत्नोमें ही गोडवाड़ का परगना जोधपुर राज्य के अधिकार मे चला गया। अड़सी के दुर्भाग्य का भी अन्त नही था। निरंतर के संघर्षों के बाद स्थापित शांति का यह आनन्द नही ले सका। बून्दी से उसके सम्बन्ध दिन-प्रति-दिन बिगड़ते गये और अन्त में इसका परिणाम मार्च 1773 ई. में उसके वध के रूप में मिला। अड़सी की मृत्यु ने ग्रह-युद्ध को पुन: तेज कर दिया। नया महाराणा हमीरसिंह केवल चार वर्ष का ही था। अतः मेवाड़ दरबार में सत्ता के लिये षडयंत्र और प्रतिषडयन्त्र का दौर प्रारम्भ हुआ। नवीन परिस्थितियों ने पुन: सामन्तों के विद्रोह को भड़का दिया। फलतः यहां मराठा हस्तक्षेप बढ़ने लगा। आये दिन मराठा मेवाड मे आने लगे तथा लूटपाट कर यहां पर अशान्ति फैलाने लगे। उन्हें नाम मात्र को ही यहां से हटाया जा सका था। अतएव इन सब ही का यह परिणाम रहा कि बालक महाराणा प्रतिकूल परिस्थितियों पर अपना नियन्त्रण स्थापित न कर सका। अब महाराणा ने सिंधिया को मेवाड़ में आकर शांति स्थापित करने के लिये निमन्त्रण दिया। परिणामतः सिंधिया ने महाराणा से लाखों रुपये लिये और विद्रोही सामन्तों से भी काफी भूमि प्राप्त की। अहिल्याबाई होल्कर भी इस लूट मे पीछे रहने वाली नहीं थी। उसने निम्बाहेडा पर अपना आधिपत्य कर लिया। मराठों के विभिन्न दलो ने यहां आकर लूटमार मचाना प्रारम्भ कर दिया। इसी मध्य अल्पायु महाराणा की चार वर्ष के शासन काल के उपरान्त ही मृत्यु हो गई।

अब स्व. महाराणा हमीरसिंह के स्थान पर उसका छोटा भाई भीमसिंह गद्दी पर बैठा। उसका ध्यान भी सर्व प्रथम रतनसिंह को समाप्त करने की ओर ही गया। धीरे-धीरे कई सामंतोने रतनसिंह का साथ छोड दिया। मार्च 1782 ई. में तो उसका प्रमुख समर्थक देवगढ का रावत राघवदास भी महाराणा की तरफ मिल गया था। यों रतनसिंह को भले ही पूर्ण रूप से समाप्त नहीं किया जा सका परन्तु उसके प्रभाव को अवश्य ही नष्ट कर दिया गया था। आगामी दस वर्ष तक रतनसिंह जीवित तो रहा परतु यदाकदा ही मेवाड़ की शांति को भंग कर सका। इस प्रकार से उसकी उपस्थित ही मेवाड़ मे मराठा-आगमन के लिए पर्याप्त थी।

कुम्भलगढ मे रतनसिंह की स्थिति भी कोई विशेष ठीक नही थी। तब अम्बाजी इगले ने दिसम्बर 7, 1792 ई. को कुम्भलगढ पर आक्रमण कर रतनसिंह को किले से बाहर निकाल दिया किन्तु दो वर्ष बाद गोडवाड़ पर-

गने में उपद्रव मचाना शुरु कर दिया तो महाराणा ने शीघ्र ही अपने सामतों के सहयोग से उपद्रवियों को पराजित कर दिया। 1794 ई. में गुमानभारती के नेतृत्व में जब आठ हजार जोगियों ने कुम्भलगढ पर आक्रमण कर दिया तब सतीदास के नेतृत्व में मेवाड़ की फौज भेजी गई जिसके साथ बनेड़ा का राजा हमीरसिंह भी था। युद्ध में जोगियों की पराजय हुई और गुमानभारती युद्ध स्थल मे ही मारा गया। इसके बाद रतनसिंह के बारे मे हमें समकालीन रिकॉर्डस् से कोई जानकारी नही मिलती है।[32] मेवाड के इस गृह युद्ध ने सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एव राजनैतिक विकास के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया।

परिणाम—इस गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप लाखों रुपये मराठो को दिये गये परंतु उनकी धर्म लोलुपता समाप्त नहीं हुई साथही मेवाड़ राज्य के समीपवर्ती कई क्षेत्र उसके (मेवाड) हाथ से निकल गये क्योंकि धन के एवज मे भूमि देकर ही मराठों को सतुष्ट किया जा सकता था। अतः इस गृह-युद्ध के मध्य धन व जमीन की जैसी क्षति मेवाड़ को उठानी पड़ी, वैसी अन्य किसी भी काल में नही हुई। यद्यपि रतनसिह व उसके साथी समर्थक मेवाड़ की गद्दी में परिवर्तन नही ला सके परन्तु मेवाड की दशा को और अधिक हीन बनाने में वे सफल हुये। मेवाड़ भूमि केवल मराठों को ही नहीं देनी पड़ी अपितु गोडवाड़ प्रदेश मारवाड़ को देना पड़ा।

इस प्रकार गृह-युद्ध ने मेवाड़ की दशा को हीन व कमजोर बना दिया और यह आगे चलकर मराठा हस्तक्षेप को बढ़ावा देने का निमंत्रण सिद्ध हुआ।

राजस्थान में मराठा-प्रसार (1760-1782 ई.) मराठों के निरन्तर हस्तक्षेप के कारण उनके खिलाफ सम्पूर्ण राजस्थान मे घृणा का वातावरण व्याप्त हो गया। इसलिये अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मराठो को राजस्थान से कोई सहायता प्राप्त नही हुई। राजपूत शासक अब्दाली-मराठा संघर्ष मे तटस्थता की नीति अपनाते रहे। सदाशिवराव भाऊ जिसके नेतृत्व मे मराठा सेनायें अब्दाली के विरुद्ध भेजी गई थी, ने भी राजपूत सहयोग प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उसने यहां के शासकों के पास अपने प्रतिनिधि भेजे किन्तु जैसा कि राज्य पुरा अभिलेखागार में रखे पत्रों से स्पष्ट है कि मराठो के प्रति राजपूतों की कोई सहानुभूति नही थी। अतः वे उदासीनता की नीति अपनाकर युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करते रहे।

---

32 के. एस. गुप्ता, बनेड़ा आर्काइव्ज, जि. 2, पृ. VII

इतना ही नहीं जयपुरके महाराजा माधोसिंह ने तो मराठा-विरोधी मोर्चा स्थापित करने का प्रयास भी किया। अब्दाली-मराठा सघर्ष जनवरी 14, 1761 ई. को पानीपत के मैदान में हुआ जिसमे मराठों की करारी हार हुई और जन-धन की अपार क्षति के साथ-साथ उनकी प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात पहुंचा। राजस्थान मे इस पराजय की प्रतिक्रिया प्रसन्नता के रूप मे हुई। न केवल यहां से मराठों को दिये जाने वाले धन को रोक दिया गया अपितु राजस्थानी शासको का मनोबल इतना बढ़ गया कि उन्होने यहा से मराठों को निकालने के प्रयास प्रारम्भ कर दिये। सवाई माधोसिंह ने तो मराठो के विरुद्ध बाह्य सहायता प्राप्त करने के प्रयास में नजीबखां, याकूब अली और यहा तक कि सम्राट शाहआलम II को भी लिखा। उसने राजस्थानी नरेशों को भी मराठा विरोधी अभियान में सम्मिलित होने के लिये पत्र लिखे परन्तु राजस्थान के शासको की परस्पर इर्ष्या द्वेष से जयपुर के शासक को कोई आशाजनक व उत्साहवर्द्धक सहायता नही मिली। फिर भी माधोसिंह अक्टूबर 1761 ई. में एक बड़ी सेना लेकर आगे बढा। रघुबीरसिंह के शब्दो मे "मराठो के प्रति उसने अवज्ञापूर्ण भाव दिखाया और राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर उनके रहे सहे थानों और किलों पर भी अधिकार करने के हेतु उनके विरुद्ध उसने अपनी सेना के दल भेजे। कोटा राज्य को अपने अधीन करने को माधोसिंह का प्रयत्न कई वर्षों से चल रहा था, एवं माधोसिह की इस ससैन्य चढाई से कोटा राज्य पर उसके आक्रमण की भी पूरी पूरी संभावना दीख पड़ने लगी।" उधर इन्दौर मे मल्हारराव होल्कर को माधोसिंह की तैयारियो एवं इरादों की मालूम पड़ी तो वह माधोसिंह का सामना करने के लिये उत्तर की ओर बढा। राह में कोटा राज्य के सैनिक भी मराठो के साथ मिल गये थे। तब मांगरोल व भटवाड़ा के बीच मल्हारराव होल्कर की सेना से माधोसिंह की मुठभेड़ हुई। मथुरालाल शर्मा के कोटा राज्य के इतिहास में यह युद्ध भटवाड़े के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। यदुनाथ सरकार ने बताया कि यह युद्ध नवम्बर 28, 1761 ई. को प्रारम्भ हुआ और दूसरे दिन नवम्बर 29 को संध्या होते होते समाप्त हुआ। रघुबीरसिंह ने भी सरकार की मान्यता को ही स्वीकार किया है किन्तु राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार बीकानेर मे सुरक्षित कोटा अनुभाग के पत्रो से ज्ञात होता है कि यह युद्ध नवम्बर 29, 1761 ई. को प्रारम्भ हुआ जो तीन दिन के युद्ध के बाद दिसम्बर 1 को दोपहर बाद समाप्त हुआ।[33] जयपुर-सेना की पूर्णतया हार हो गई। इस युद्ध में झाला जालिम-

33 रा. पु. अ. बीकानेर, कोटा अनुभाग, भंडार न. 1, बस्ता नं. 58, सम्वत् 1818-20

सिंहने महत्वपूर्ण भाग लिया था जिससे वह काफी प्रसिद्ध हो गया। जयपुर के सैनिकों को विवश होकर पीछे हटना पड़ा और होल्कर की सेना ने जयपुर तक लूटमार मचाई। तब मराठों के साथ जयपुर राज्य का एक समझौता भी हुआ। यों मराठों ने शीघ्र ही राजस्थान के अन्य क्षेत्रों में भी अपना प्रभाव पुन: स्थापित कर लिया और पानीपत के युद्ध के बाद कोई एक वर्ष के अन्दर-अन्दर ही मराठा प्रभाव पूर्ववत रूप से यहां पर स्थापित हो गया। भटवाड़ा का युद्ध वास्तव मे मराठा प्रभाव के पुनर्स्थापना मे विशेष महत्वपूर्ण है। अब राजस्थान में उनकी कार्यवाहियां पुन: प्रारम्भ हो गई। सवाई माधोसिंह की पराजय ने राजपूतों की सैनिक निर्बलता को स्पष्ट कर दिया और मराठा-विरोधी अभियान राजस्थान में प्रायः स्थगित-सा हो गया।

राजस्थान में सर्वत्र मराठा प्रभाव स्थापित हो गया। यहां के शासकों ने अपने झगड़े सुलझानेके लिये भी मराठा-सहयोग हेतु प्रयास किये किन्तु मराठो की मांग के कारण ये समझौते स्थायी नहीं हो सके और राजस्थान में पुन: मराठा विरोधी संगठन बनाये जाने लगे। परन्तु रघुवीरसिंह का कहना है कि राजपूत शासकों की आपसी ईर्ष्या में राजस्थान का भार मराठों को सौंप दिया। इसलिए 1761ई.में मराठोंने कोटा, मेवाड़, जयपुर से कर वसूल करना शुरु कया। 1762-64 ई. तक मराठा अधिकांशत: दक्षिण मे ही व्यस्त थे। अत: उनका राजस्थान में कोई विशेष हस्तक्षेप नही रहा। राजस्थानी शासकों ने भी मराठो की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उन्हें वार्षिक कर देना बंद कर दिया किन्तु जैसे ही मराठा दक्षिण से मुक्त हुये तब मे पुन: राजस्थान में मराठा मांगें, सैनिक प्रदर्शन करा कर, पूरी की जाने लगी। होल्कर, सिंधिया ने अपना प्रभाव जमा लिया। यहां तक कि होल्कर व सिंधिया भी परस्पर झगड़ने लग गये। राजस्थान में दु:खद घटनायें घटने लगी, जिसमें मेवाड़ की राजकुमारी कृष्णाकुमारी का दु:खद अंत विशेष उल्लेखनीय है। फलत: राजस्थानी शासको एवं जनमानस को मराठों से घृणा हो गई और यही कारण है कि कम्पनी से संघर्ष में मराठों को राजस्थान से कोई सहायता नहीं मिली और अब यहां के शासकों का झुकाव अंग्रेजों की ओर बढ़ने लगा।

अध्याय 7

संधियों का युग

(1810 ई.—1818 ई.)

कृष्णाकुमारी की दर्दनाक एवं दयनीय घटना के उपरान्त भी अगले करीब सात-आठ वर्षों तक कोई शांति नहीं रही और अंग्रेज जो भारत में धन कमाने आये थे ब्रिटिश ईस्टइंडिया कम्पनी की स्थापना कर, धीरे-धीरे अपनी लोलुप दृष्टि को यहाँ की राजनीति पर गड़ाना प्रारम्भ किया और देखते ही देखते व्यापारी अंग्रेज शासक अंग्रेज बन गये। राजस्थानी शासकों एवं अंग्रेजों के बीच संधियों में सहायक परिस्थितियाँ निम्नांकित थी—

पिंडारी-मराठा उपद्रव—कृष्णाकुमारी (महाराणा भीमसिंह की पुत्री) की मृत्यु से भी मेवाड़ तथा राजस्थान में शांति स्थापित नहीं हो सकी। विगत दशक की घटनाओं के कारण होलकर और सिंधिया के स्थान पर अमीरखां का प्रभाव यहाँ बढता गया। वास्तव में 1810 से 1818 ई. के युग को राजस्थान में अमीरखां के युग की संज्ञा दें तो भी अनुपयुक्त नहीं होगा। अमीरखां राजस्थान में होलकर के अधीनस्थ सेनानायक के रूप में आया परंतु 1810 ई. में वह सर्वेसर्वा होगया। अक्टूबर 1811 ई. में यशवंतराव होलकर की मृत्यु के कारण अब होलकर घराने में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रहा जो राजघराने के हितों को सुरक्षित रख सके। होलकर का उत्तराधिकारी चार वर्ष का बालक मल्हारराव था। होलकर की विधवा तुलसीबाई ने सारा प्रशासन अपने हाथ में लेलिया परन्तु होलकर घराने की दशा दिन-प्रति-दिन बिगड़ती गई। अमीरखां जो अब तक अर्द्ध स्वतंत्र था रघुबीरसिंह के शब्दों में, अब स्वतंत्र होकर होलकर घराने पर उसने अपना प्रभाव स्थापित कर दिया। वह करों को वसूल करने लगा। वह धन लोलुप, नृशंस व अत्याचारी था और अगले सात व आठ वर्षों तक समस्त राजस्थान को रौंदता रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि सिंधिया अभी भी प्रभावशाली था किन्तु उसके आंतरिक झगड़ों के कारण राजस्थान की ओर ध्यान नहीं दे पा रहा था। उसके सेनानायक उसके लिए एक समस्या हो गये थे। बापू सिंधिया, जग्गू बापू, अंबाजी पंतजैसों के पास में करीब दस-दस हजार सैनिक थे। ये बिना दौलतराव की परवाह किये हुए राजस्थान में मन माने ढंगसे धन वसूल कर रहे थे।

दौलतराव का शासन संगठन अस्त-व्यस्त था। अमीरखां को राजस्थान से निकालना उसके लिए भी असभव था। अमीरखां ने विभिन्न राज्यों में अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये जिन्होने अत्याचारों के अलावा और कुछ नही किया जैसे 1810 ई. में मेवाड़ में जाने के पूर्व उसने जमशेदखां को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया। उसने मेवाड़ में इतनी लूटमार की कि उसका काल आज भी मेवाड़ में 'जमशेदगर्दी' के नाम से मशहूर है। इसी प्रकार उसके दूसरे प्रतिनिधि मुहम्मदशाह खान ने जयपुर व जोधपुर मे अत्याचारों में कोई कमी नही की। अमीरखां ने राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप ही नही किया अपितु पदाधिकारियों की हत्या की राजनीति का भी सूत्रपात किया। जोधपुर में इन्द्रराज व देवनाथ का वध इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। जोधपुर से अमीरखां की मित्रता होते हुए भी धन वसूल करने में उसके प्रतिनिधि मुहम्मदखान ने किसी भी प्रकार की रियायत नही बताई। मेवाड़ की स्थिति तो इतनी खराब हो गई थी कि अपने निजी दैनिक व्यय के लिये भी कोटा के जालिमसिंह झाला पर निर्भर रहना पड़ता था। अमीरखा, उसके प्रतिनिधि और मराठा सेनानायकों के अत्याचारों से उत्पीड़ित होकर जयपुर व अन्य राज्यों के शासको ने 1812 ई. में भी अंग्रेजों से सधि करने के प्रस्ताव भेजे[1] किन्तु अहस्तक्षेप नीति के कारण इसका कोई परिणाम नही निकला। अब तो अमीरखां के हौंसले और बढ गये। परिणामस्वरूप 1812 ई. में जयपुर ने अमीरखां को 12 लाख रुपया देना स्वीकार किया। उसी वर्ष किशनगढ, बून्दी तथा अन्य स्थानों के शासकों को भी धन राशि देने के लिए बाध्य किया। 1813 ई. मे अमीरखा ने जयपुर छोड़ा परन्तु उसके पहले ही बापूजी सिंधिया ने वहाँ आक्रमण किया और राज्य की बहुत बर्बादी की। इस प्रकार बापूजी जयपुरसे मेवाड़ की ओर आया। उसने महाराणा की स्थिति इतनी दयनीय बना दी कि उसने अपने प्रतिनिधि ठाकुर अजीतसिंह को दौलतराव सिंधिया के पास ग्वालियर इस उद्देश्य से भेजा कि सिंधिया अपने सेनानायको पर कुछ अंकुश लगा सके[2] परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। बापूजी के अलावा जसवन्तराव भाऊ व अन्य मराठों ने भी सैनिक अभियान जारी रखा। महाराणा भीमसिंह ने भी ब्रिटिश सहायता के लिये

---

1 रा. पु. अ. बीकानेर, जोधपुर अनुभाग, खास रुक्का परवाना बही नं. 2, पृ. 134

2 पी. आर. सी., जि. 14, पत्र सं. 53, 59, 65, 67, 88, 104 तथा 107

प्रयास किया परन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। पिंडारी और मराठों की लूट दिन-प्रति-दिन बढती गई। मेवाड़ ही नही अपितु समस्त राजस्थान भी इससे अछूता नही था। अतः दिन-प्रति-दिन इन शासको को यह अनुभव होता गया कि ईस्ट इंडिया कम्पनी से संधि करने के अतिरिक्त उनकी सुरक्षा के लिये कोई दूसरा विकल्प नही है।

सामन्तों का रुख—राजपूत राज्यों एवं अंग्रेजों से संधि का दूसरा कारण सामन्तों का शासको विरोधी रुख है।[3] एम. एस. जैन तथा कालूराम शर्मा ने तो सामन्ती समस्या को ही ईस्ट इंडिया कम्पनी से समझौते का प्रमुख कारण माना है। इनका तो यह मानना है कि "राजपूत शासको द्वारा ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार करने का मुख्य कारण यह था कि वे अपने सामन्तों की शक्ति को नियंत्रित करने तथा अपनी निरंकुश सत्ता की वृद्धि के लिये किसी सर्वोच्च सत्ता का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य समझते थे और इसीलिए उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी से संधि करना उपयुक्त समझा।" अपने मत की पुष्टि करते हुए शर्मा ने लिखा है कि संधियों में, पिंडारी तथा मराठो ने जो क्षेत्र इन राज्यों से छीन रखे थे, उनको वापिस दिलवाने का कोई उल्लेख नही मिलता है। उसका यह भी मानना है कि द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के पश्चात मराठो की शक्ति इतनी कमजोर हो गई थी कि उन्होने किसी भी राजपूत राज्य के विरुद्ध विजय अभियान नही किया तथा यदा कदा अपने खिराज को वसूल करने के लिए वे बल का प्रयोग करते थे। बिना शक्ति प्रदर्शन के राजपूत शासक भी नियमित रूप से कर नही देते थे। और वैसे भी उन्होने अंग्रेजों को उतना ही कर देना स्वीकार कर लिया था जितना मराठों को देते हुए आये थे। अतः इस दृष्टि से भी इन शासकों को किसी प्रकार की राहत नहीं मिली। शर्मा का तो यह भी कहना है कि अमीरखां व्यक्तिगत रूप से कोई प्रबल शक्ति नहीं था, केवल राजपूत शासकों की कमजोरी का फायदा उसने अपने बुलन्द हौसले से उठाया और नवम्बर 1817 ई. मे अर्थात् राजपूत राज्यो द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी से समझौता करने से पूर्व हीं अमीरखां ने तो अंग्रेजो से संधि करली। इस प्रकार इन संधियों के पूर्व ही अमीरखां का आतंक खत्म हो चुका था। निःसंदेह सामन्त भी इन शासको के लिए कम सिर दर्द नही थे। प्रत्येक राज्य के सामन्तों मे

---

3 रा. पु. अ. बीकानेर, जोधपुर अनुभाग, खरीता बही नं. 9, पृ. 150; हकीकत बही नं. 6, पृ. 479, 482, 611; खास रुक्का परवाना, बही नं. 2, पृ. 135; सनद बही नं. 59, पृ. 154

गुटबंदियां थीं। सामन्त शासकों के विरुद्ध भी अपनी गतिविधियां रख रहे थे जैसे मेवाड़ में शक्तावत-चूण्डावत के झगड़े, जोधपुर में पोकरण का सवाईसिंह व मानसिंह का विरोध, धोकलसिंह को मानसिंह के स्थान पर शासक बनाने का प्रयास आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिससे स्पष्ट होता है कि समस्त राजस्थान मे सामन्त या तो आपसी संघर्षों में व्यस्त थे या अपने शासकों के विरुद्ध गतिविधियाँ जारी रखे हुये थे। परन्तु यह मत कि केवल मात्र सामन्तों के कारण ही अंग्रेजों की शरण में गये, उपयुक्त नही लगता है क्योंकि इस पूरे काल मे मराठों ने राजस्थान में अराजकता और अव्यवस्था फैलाने मे कोई कमी नहीं रखी। होल्कर और सिंधिया की शक्तियां कमजोर हो गई थीं किन्तु उनके सेनानायकों ने बिना किसी अंकुश के मनमाने ढंग से धन वसूल करना शुरु कर दिया था। इस लूटमार से केवल सामन्त और शासक ही प्रभावित नहीं हुये अपितु कृषक व आम जनता को भी दुष्परिणाम भोगने पड़े। इस लूट-खसोट से हुई अराजकता का वर्णन करते हुये कर्नल टॉड ने लिखा है कि दस वर्ष पहले (1806 ई. मे) भीलवाड़ा में 6 हजार अच्छे घर थे किन्तु जब 1818 ई. में कम्पनी से संधि के पश्चात उदयपुर जाते हुये जब वह यहाँ आया तब उसे गलियां सुनसान मिली और कोई भी आदमी वहाँ नहीं रह रहा था। मराठा और पिंडारियों के आक्रमणों से किसानों की खड़ी फसलें नष्ट होने लगी। इनके सैनिकों को टिड्डी दल की संज्ञा दी जाती थी। यहाँ तक कि धन वसूल करने में बापूजी सिंधिया ने तो अनेक व्यक्तियों को जिसमें ब्राह्मण वगैरह भी थे, बन्दी बनाकर अजमेर में रख दिया जिसमें से कुछ की तो मृत्यु बन्दी के रूप में ही हो गई और शेष संधि के पश्चात ही छुटकारा प्राप्त कर सके। यों मराठा और पिण्डारियों की गतिविधियों ने राज्य की स्थिति को अपार दुर्दशा कर दी और शासकों की स्थिति को दयनीय बना दी। इसी कारण से शासकों के गिरे हुये मनोबल का लाभ उठाने का प्रयास सामन्तों ने किया। वास्तव मे सामन्तो की शासक विरोधी गतिविधियो को गति प्रदान करने में मराठों की आतंककारी नीति ने विशेष योग दिया। अतएव अंग्रेजों से संधि करना उनको आवश्यक जान पड़ा।

3 अंग्रेजों की आवश्यकता—लार्ड वेलेजली के पश्चात उसके उत्तराधिकारियों ने अहस्तक्षेप की नीति अपनाई। अलवर और भरतपुर को छोड़ कर कम्पनी ने 1805 ई. मे अन्य राजस्थानी राज्यों से संधि विच्छेद कर ली। इन राज्यों के बहुत प्रयासों के उपरान्त भी अंग्रेजों ने अपनी नीति में परिवर्तन नहीं किया। यद्यपि अंग्रेज पदाधिकारियो का एक वर्ग अहस्तक्षेप की नीति से सहमत नहीं था जैसा कि चार्ल्स मेटकाफ ने पिण्डारियों की

गतिविधियों को देखकर 1811 ई. में उच्च अधिकारी को लिखा कि अफसोस है कि राजपूत राज्य हमारे संरक्षण मे नही है। वे तो अहस्तक्षेप की नीति के निरन्तर जारी रहने को आत्म हत्या के समान मानते थे। 1813 ई. में लार्ड हेस्टिंग्ज के गवर्नर जनरल बनने के पश्चात नीति में परिवर्तन की सम्भावनायें दिखने लगीं। वेलेजली ने, जैसा कि एम. एस. मेहता ने लिखा है—भारत में अंग्रेजों की श्रेष्ठता स्थापित की तो हेस्टिंग्ज सार्वभौमिकता स्थापित करना चाहता था। इस उद्देश्य में राजपूत राज्य उसको स्वाभाविक मित्र प्रतीत हुए क्योंकि इनके साथ संधि होने से सिंधिया, होल्कर और अमीरखां के प्रभाव को सीमित किया जा सकता था। साथ ही साथ कम्पनी को मध्य भारत में सामरिक तथा राजनीतिक लाभ मिल सकते थे। राजपूतों से मित्रता होने पर यहां के साधनों का उपयोग कम्पनी के आंतरिक व बाह्य शत्रुओं के खिलाफ आक्रामक व प्रतिरक्षात्मक उद्देश्यो के लिए किया जा सकता था। इसी कारण उसने (हेस्टिंग्ज) फरवरी 1814 ई. में गृह सरकार को पत्र लिखा किन्तु तब भी गृह सरकार नीति में परिवर्तन करने को तैयार नहीं थी। अगले वर्ष जब राजस्थान के राज्यों से मित्रता के संदेश मिलने लगे तब उसने पुन: गृह सरकार को लिखा। इस बार उसको नीति मे परिवर्तन करने के लिए स्वीकृति दे दी थी परन्तु नेपाल-युद्ध में व्यस्त होने के कारण उसने इस ओर कदम नही बढ़ाया। गोरखा या नेपाल के युद्धों से मुक्त होने के बाद राजपूत राज्यों की मित्रता की आवश्यकता और अधिक तीव्र हुई। पिंडारी, ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के लिये भी सिर दर्द बनने लग गये थे। 1816 ई. में उन्होने दक्षिण मे पूर्ण शक्ति से आक्रमण किया। निजाम के राज्य को काफी हानि उठानी पड़ी थी। कम्पनी की मद्रास प्रेसीडेंसी मे भी पिंडारियो ने काफी धन-जन की क्षति की। इसके समाचार इंगलैण्ड मे जब बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के पास पहुंचे तो वे इतने अधिक उत्तेजित हुए कि उन्होने पिंडारियों के खिलाफ कठोर नीति के पालन के लिए हेस्टिंग्ज को छूट दी और इस कार्य के लिये भारतीय शासको की मदद लेने के लिये उसको स्वतंत्र किया और इस प्रकार हेस्टिंग्ज को अपनी नीति को क्रियान्वित करने का एक अच्छा अवसर मिला।

हेस्टिंग्ज ने मेटकॉफ को इन शासकों से संधि के बारे मे बातचीत प्रारम्भ करने के आदेश दिये। चार्ल्स मेटकॉफ राजस्थानी राज्यों के साथ संधि करने को काफी उत्सुक था।[4] इसलिए मेटकॉफ ने राजस्थानी शासकों को एक

---

4 एम. एस. मेहता, लार्ड हेस्टिंग्ज एण्ड दी इंडियन स्टेट्स, पृ. 128

परिपत्र भेजा जिसमें उसने उनके प्रतिनिधियों को कम्पनी से संधि-वार्ता के लिये दिल्ली भेजने के लिए कहा। परिपत्र में निम्नांकित शर्तें थीं[5] —

1 मराठों को दिया जाने वाला कर अंग्रेजों को दिया जायेगा।

2 अंग्रेज इसका हिसाब मराठों से करेंगे।

3 कोई भी संधि कर्ता राज्य अन्य शक्तियों से राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रखेंगे।

परन्तु अभी भी राजपूतों से सीधी संधि करने में एक बड़ी बाधा थी। 1805 ई. की संधि के अनुसार मेवाड़, जयपुर, जोधपुर आदि राजस्थानी राज्यों को मराठों के प्रभाव क्षेत्र में मान लिया गया था। इन शर्तों में जब तक परिवर्तन न हो, राजपूत राज्यों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना संधि का उल्लंघन होता। अतः हेस्टिंग्ज ने राजस्थान के राज्यों से संधि वार्ता के साथ साथ सिंधिया से शर्तों में परिवर्तन करने के लिए जोर देना शुरु किया। गवर्नर जनरल का यह स्पष्ट मत था कि मराठा परिवर्तन के लिये तैयार न हो तो भी मराठों से हुई संधि की शर्तों की उपेक्षा कर राजपूत राज्यों से समझौता किया जाय। सिंधिया पर दबाव डालने के लिए अंग्रेजों ने एक सैनिक योजना बनाई जिससे भयभीत होकर दौलतराव सिंधिया ने नवम्बर 5, 1817 ई. को अंग्रेजों से नई संधि की जिसमें यह स्वीकार कर लिया कि ब्रिटिश सरकार उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बून्दी तथा अन्य चम्बल के बायें क्षेत्र के राज्यों से समझौता करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। सिंधिया ने यह भी स्वीकार किया कि बिना ब्रिटिश स्वीकृति के किसी भी रूप में इन राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। शान्तिपूर्ण इस प्रकार से यह संधि होना हेस्टिंग्ज की एक महान उपलब्धि थी। अब कम्पनी राजपूत राज्यों से समझौता करने में स्वतन्त्र हो गई। राजपूत राज्य भी समझौता करने को उत्सुक थे। अतः सभी प्रमुख राज्यों ने अपने प्रतिनिधि बातचीत के लिए दिल्ली भेजे। इस प्रकार मराठा और पिंडारियों के अत्याचारों से, सामन्तों का विरोध तथा अंग्रेजों की आवश्यकता के कारण अधिकांश राजपूत राज्यों और कम्पनी के बीच एक ही वर्ष में संधियां हो गईं। विभिन्न राज्यों से होने वाली शर्तें करीब-करीब समान थी। इन संधियों के अनुसार राजपूत राज्यों ने अधीनस्थ के रूप में ब्रिटिश सरकार को सहयोग देना

---

5 प्रिन्सेप, हिस्ट्री ऑफ दी पॉलिटिकल एण्ड मिलिट्री ट्रांसेक्शन्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मार्किस ऑफ हेस्टिंग्ज, जि. 2; के. एस. गुप्ता, मेवाड़ एण्ड दी मराठा रिलेशन्स, पृ. 194

स्वीकार किया। ब्रिटिश सरकार की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लिया। इन संधियों के अनुसार इन राज्यों ने यह भी स्वीकार किया कि—

1 वे अन्य किसी शासक व राज्य से बिना ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति और पूर्व सूचना के समझौता नही करेंगे।

2 राज्यों ने ब्रिटिश सरकार को किसी भी प्रकार के झगड़े को सुलझाने के लिए मध्यस्थ स्वीकार किया।

3 मराठों को दिया जाने वाला कर अंग्रेज सरकार को दिया जायेगा।

4 सरकार की मांग पर राज्य सामर्थ्य के अनुसार सैनिक सेवायें भी प्रदान करेंगे। परन्तु आंतरिक मामलों में सम्पूर्ण अधिकार शासक के होंगे तथा अंग्रेजी कानून उन राज्यों मे लागू नहीं होंगे।

ब्रिटिश सरकार ने वाह्य आक्रमणों से रक्षा का वचन भी दिया। विभिन्न राज्यों से दिया जाने वाला कर इस प्रकार निश्चित किया—उदयपुर दो लाख रु., जयपुर चार लाख रु., जोधपुर एक लाख आठ हजार रु., कोटा एक लाख 87 हजार रु., बून्दी एक लाख 20 हजार रु., झालावाड़ 80 हजार रु आदि।

कोटा—अंग्रेजों से संधि करने में सबसे पहला राज्य कोटा था। आश्चर्य है कि सबसे अच्छी प्रशासनिक व्यवस्था यहां होते हुए भी इस राज्य ने सबसे पहले दिसम्बर 26, 1817 ई. को संधि की[6] और इसी से की गई संधि की शर्तें अन्य राज्यों के लिये आधार बनी। संधि की शीघ्रता का कारण जालिमसिंह झाला था जो इस समय यहां का मुख्य प्रशासक था किन्तु वास्तव मे सर्वेसर्वा था। 18 वीं शताब्दी के भारतीय कूटनीतिज्ञों में उसका सर्वोच्च स्थान है। उसने कठिन परिस्थितियो में भी अपनी बुद्धिमता और कूटनीतिज्ञता के आधार पर कोटा को सुरक्षा प्रदान की। समस्त राजस्थान में उसका प्रभाव फैला हुआ था। उदयपुर का महाराणा तो अपने दैनिक खर्चे के लिये पूर्णतया उसी पर आश्रित था। उसका जन्म 1739 ई. में हुआ था किन्तु उसकी प्रसिद्धि दिसम्बर 17, 1761 ई. में भटवाड़ा के युद्ध के बाद तेजी से फैली। अंग्रेजी शक्ति का उसने पूर्व अनुमान ही लगा लिया था। अतः उसने उनके साथ शीघ्र समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा। अंग्रेजों से उसका संपर्क द्वितीय आंग्ल-मराठा युद्ध के समय से ही शुरू होता है। कर्नल मॉनसन की करारी पराजय के बाद जालिमसिंह के कारण ही उसकी सेनायें सकुशल निकल सकी। परिणामस्वरूप होलकर

6 एचिसन, ट्रीटीज़ एण्ड एन्गेजमेंट्स, पृ. 149-50

ालिमसिंह से बहुत नाराज हुआ। अगले दस वर्षों तक जालिमसिंह का ्ट इंडिया कपंनी से कोई औपचारिक सपर्क नही रहा। संभवतया इसके पीछे ग्रेजों की अहस्तक्षेप की नीति रही हो। इस बीच मे अंग्रेज पदाधिकारियों वह यदा-कदा मिलता रहा। जालिमसिंह की पिंडारियों के प्रति मित्रता ी नीति थी। अनेक पिंडारियों को उसने अपने यहाँ बसाया। चालीस के रीब छोटे-बड़े पिंडारियो के प्रमुख को उसने अपने यहाँ जागीर दे रखी ी। अमीर खा व करीम खा से उसकी मित्रता थी।[7] जब अंग्रेजो ने ्डारी विरोधी अभियान प्रारंभ किया तो जालिमसिंह पर भी अपनी नीति रिवर्तन के लिये जोर डाला गया। कर्नल टॉड को इस सम्बन्ध में जालिम- ाह से मिलने के लिये कहा गया। जालिमसिंह ने ब्रिटिश प्रभाव को बढते ो देख कर समस्त शक्ति से अंग्रेजो को सहायता दी जिसकी लार्ड हेस्टिग्ज ादि ने भी बहुत सराहना की। टॉड ने दिसम्बर 10, 1817 ई. को अपनी रकार को एक पत्र लिखा जिसमे पिण्डारी-अभियान में जालिमसिंह के सह- ोग की प्रशंसा की। जॉन मॉल्कम ने भी उसे एक महत्वपूर्ण व्यक्ति की सज्ञा ी। हेस्टिग्ज ने उसकी सेवाओ से प्रसन्न होकर चार परगने देना चाहा किन्तु ालिमसिंह ने अपनी बजाय अपने स्वामी कोटा के महाराव उम्मेदसिंह को े का आग्रह किया। अब मेटकाफ के परिपत्र को स्वीकार कर सबसे पहले ोटा ने अपने प्रतिनिधि को दिल्ली भेजा और संधि पर हस्ताक्षर किये। धि पत्र में ग्यारह धाराएँ थी। ग्यारहवी धारा मे संधि पर हस्ताक्षर करने ालों के नाम हैं तथा अन्य शर्तें इस प्रकार थी—

1 ब्रिटिश सरकार व कोटा के बीच परस्पर मैत्री व सद्भाव सदैव बने हेंगे।

2 एक पक्ष का मित्र व शत्रु दूसरे का मित्र व शत्रु समझा जावेगा।

3 ब्रिटिश सरकार ने कोटा राज्य को अपने संरक्षण में लेना स्वीकार ्र उसकी सुरक्षा का वचन देती है।

4 महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी सदैव ब्रिटिश सरकार की अधी- ता मे रहते हुये हमेशा सहयोग देते रहेंगे।

5 ब्रिटिश सरकार से पूछे बिना कोटा राज्य किसी भी शक्ति से संधि

---

7 रा. पु. अ. बीकानेर, कोटा अनुभाग, बस्ता नं. 3, भंडार 1, संवत् 1858-61, 1863; बस्ता नं. 4, भंडार 3, संवत 1866, 1867; बस्ता नं. 7, भंडार 3, संवत 1873-74; बस्ता नं. 14, भडार 6, संवत 1874

या मित्रता नहीं करेगा। परन्तु अपने मित्रों एवं सम्बन्धियों के साथ उनका मित्रतापूर्ण पत्र-व्यवहार पूर्ववत् जारी रहेगा।

6 महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी किसी भी राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे तथा किसी अन्य के साथ विवाद हो जाने पर उसे ब्रिटिश सरकार ही निपटायेगी।

7 कोटा राज्य अब तक मराठों को जो कर दे रहा था वह अब ब्रिटिश सरकार को दिल्ली में देगा।

8 अंग्रेजों के सिवाय कोई अन्य शक्ति कोटा से कर लेने का दावा नहीं करेगी। यदि किसी शक्ति ने ऐसा किया तो ब्रिटिश सरकार उसे जवाब देगी।

9 ब्रिटिश सरकार की मांग पर कोटा राज्य अपनी सामर्थ्य के अनुरूप सैनिक सहायता देगा।

10 महाराव तथा उसके उत्तराधिकारी पूर्णतया अपने राज्य के शासक रहेंगे तथा वहाँ ब्रिटिश सरकार के दीवानी व फौजदारी नियम लागू नहीं किये जायेंगे।

गुप्त संधि—इस समय तक जालिमसिंह काफी वृद्ध हो चुका था। कोटा के हाड़ा जागीरदार तथा राजकुमारों के मन में उसके प्रति काफी ईर्ष्या थी। जालिमसिंह ने यद्यपि अंग्रेजों से दी जाने वाली सनद को स्वीकार नहीं की तथापि वह अपने उत्तराधिकारियों के लिये चिंतित अवश्य था। अंग्रेजों की उसने कठिन समय में मदद की। रामप्यारी शास्त्री ने तो इतना लिखा है कि राजपूताना, मध्यभारत और वास्तव में दक्षिण व पूर्व में किसी व्यक्ति ने निरंतर अंग्रेजों के प्रति इतना सद्भाव नहीं रखा जितना जालिमसिंह ने। 1799 ई. से लेकर अपनी मृत्यु तक उसने अंग्रेजों से अपने संबंध अच्छे बनाये रखे। पिंडारी-अभियान में उसने अंग्रेजों को महत्वपूर्ण सेवायें दी और जिस शीघ्रता से संधि की शर्तों को स्वीकार किया उसके कारण अंग्रेजों के मन में उसके प्रति विशेष सद्भाव था। अतः ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी उसके प्रति काफी उदारता बताई। कोटा के महाराव से हुई संधि में दो धाराओं वाली गुप्त शर्तों का भी समावेश कर दिया था जिसके अनुसार (i) महाराव उम्मेदसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी कोटा राज्य के राजा स्वीकार किये गये। (ii) कोटा राज्य में जालिमसिंह को जो विशिष्ट अधिकार और शक्तियाँ थीं उसके उत्तराधिकारियों के लिये भी स्वीकृत कर दी। इस पूरक धारा पर 6 व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे—मेटकाफ, महाराव उम्मेदसिंह, राजराणा जालिमसिंह, महाराज शिवदान सिंह, हुलचंद और शाह जीवनराम।

हस्ताक्षर की तारीख फरवरी 20, 1818 ई. है और मार्च 7 को संधि मान्य हो गई थी। शास्त्री का मानना है कि इस सारे समझौते में कुछ असंगतियाँ हैं। छहों व्यक्तियों के हस्ताक्षर दिल्ली में हुये परन्तु ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे यह सिद्ध होता हो कि महाराव उम्मेदसिंह उस वक्त दिल्ली में उपस्थित हुआ हो। शिवदानसिंह, हूलचन्द, जीवनराम के हस्ताक्षर होना भी एक असमंजस का कारण है। इसमे कोई संदेह नहीं है कि गुप्त शर्तों का खयाल मुख्य संधि के बाद ही आया होगा। अंग्रेज जालिमसिंह को विशिष्ट सेवाओं के लिये पारितोषिक प्रदान करना चाहते थे परन्तु कोटा और यहां के शासको के लिये भी यह संधि उपयुक्त नही थी। जालिमसिंह के लिये भी यह संधि प्रतिष्ठा बढ़ाने वाली नहीं थी। कोटा मे वह और अधिक अलोकप्रिय हो गया। उसके जीवन पर भी अनेक आघात किये गये। महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु के बाद जालिमसिंह के अधिकारो को भी चुनौती दी जाने लगी। नये शासक किशोरसिंह का उससे आये दिन झगड़ा होने लगा। यहां तक कि दोनों के बीच खुले रूप से झगड़े होने लगे। ब्रिटिश एजेन्ट कर्नल टॉड का समर्थन अधिकांशतः जालिमसिंह के पक्ष में ही रहता था और स्थिति यहां तक पहुंची कि अपना राजमहल छोड़ महाराव कोटा के दक्षिण में पांच मील दूर रंगवाडी में जाकर रहने लग गया। कर्नल टॉड उस समय कोटा मे ही विद्यमान था किन्तु वह भी शासक और प्रशासक के बीच के झगड़ों को रोक नही सका। महाराव को भाग कर बूंदी में शरण लेनी पड़ी और उसके बाद वह न्याय प्राप्त करने के लिये दिल्ली भी पहुंचा परंतु वहाँ भी उसको कोई सहानुभूति नही मिली। इतना ही नही स्थिति यहां तक पहुंची कि अक्टूबर 1, 1821 ई. को मगरोल मे दोनों के बीच युद्ध हुआ जिसमें अंग्रेजों की सहानुभूति जालिमसिंह के प्रति रही। अतः जालिमसिंह का पलड़ा भारी रहा और महाराव किशोरसिंह को नाथद्वारा की ओर जाना पड़ा। जालिमसिंह की स्थिति दिन-प्रति-दिन कोटा में खराब होती गई। ब्रिटिश सरकार भी दोनोंके बीच समझौता करानेमें उत्सुक थी। अतः 1822ई. में एक नया समझौता हुआ जिसके अनुसार संधिकी गुप्त शर्तें रख ली गई और महाराव को कुछ अधिक विशेषाधिकार प्रदान किये गये। किशोरसिंह को पुनः कोटा लाया गया किन्तु कुछ समय बाद ही जुलाई 1824 ई. में जालिमसिंह की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु से कोटा मे एक युगकी समाप्ति कही जा सकती है। अंग्रेजोसे उसके अच्छे संपर्क बने रहे थे। उसको उनका निरंतर समर्थन मिला और अंत में जाकर के उसके उत्तराधिकारियों के लिये एक स्वतंत्र राज्य झालावाड़ की स्थापना हुई।

जोधपुर—इसी प्रकार जोधपुर से जनवरी 6, 1818 ई. को संधि हुई।[8] इस संधि के होने से एम. एस. मेहता का मानना है कि इससे ईस्ट इंडिया कम्पनी की राजनैतिक प्रतिष्ठा बढी क्योकि जोधपुर एक महत्वपूर्ण राज्य था जिसका पश्चिमी राजस्थान में विस्तृत क्षेत्र था।

मेवाड़—जोधपुर से संधि हो जाने के एक सप्ताह बाद में ही जनवरी 13, 1818 ई. को मेवाड से भी ब्रिटिश सरकार की संधि हो गई जिसके अनुसार महाराणा ने ब्रिटिश सरकार की अधीनता एवं सर्वोच्चता स्वीकार करली और ब्रिटिश सरकार की जानकारी और स्वीकृति के लिये बिना किसी राज्य से संबंध न रखने का भी वचन दिया। कम्पनी ने यह वचन दिया कि मेवाड़ से छिने हुये प्रदेशों के बारे में जांच पड़ताल कर पुनः दिलाने का ध्यान रखेंगे। इस संधि पर अपना मत व्यक्त करते हुये एम. एस. मेहता ने लिखा है कि मेवाड़ ने इतना सम्पूर्ण समर्पण किसी भी शक्ति के आगे इसके पूर्व नही किया। मेवाड़ संधि के लिए बहुत अधिक उत्सुक था। यहाँ तक कि मेटकाफ को भी कुछ आपत्ति होने का सदेह था, वो भी उन्होने नही की, जैसे मेटकाफ इस मत का था कि पूर्व इतिहास और राजवंश के सम्मान को देखते हुये अगर कुछ संशोधन भी करना पड़े तो वह स्वीकार कर लेगा परंतु मेवाड़ के प्रतिनिधि अजीतसिंह ने कोई परिवर्तन का सुझाव नही दिया। अतः ए. सी. बनर्जी ने तो मेवाड के प्रतिनिधि अजीतसिंह की आलोचना की। संभवतः मेवाड की प्रशासनिक दुर्व्यवस्था, आर्थिक जर्जरता के कारण यहां की स्थिति इतनी विषम थी कि किसी भी शर्त पर समझौता के अतिरिक्त और कोई विकल्प नही था। अतः साधारण परिवर्तन के लिये जोर देना कोई आवश्यक नही माना।

उसी वर्ष किसनगढ, बीकानेर, डूंगरपुर, बांसवाडा, प्रतापगढ से भी ब्रिटिश सरकार की संधियां हो गईं। जैसलमेर से हुई संधि में किसी प्रकार का खिराज लेने की व्यवस्था नहीं थी क्योकि यह राज्य मराठों को खिराज नहीं देता था।

जयपुर—महत्वपूर्ण राज्यों मे जयपुर ही ऐसा राज्य था जिसने संधि पर हस्ताक्षर करने में सबसे अधिक देरी की। जयपुर का शासक प्रारम्भ में संधि करने को बहुत उत्सुक था परतु अब उतनी उत्सुकता नहीं थी। जयपुर पर दबाव डालने के लिये मेटकाफ ने अमीरखां को जयपुर राज्य के कुछ हिस्सों

---

8 रा. पु. अ. बीकानेर, खरीता बही नं. 12, पृ. 327-28; एचीसन, ट्रीटीज एण्ड एन्गेजमेंट्स, पृ. 128-29, 159-61

पर अधिकार करने के लिए प्रेरित किया। साथही जयपुर के सामंतों को कंपनी ने सीधा वार्तालाप करने के लिये प्रोत्साहित किया। इस से भयभीत हो कर जयपुर ने भी अप्रेल 2, 1818 ई. को संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। संधि की शर्तें अन्य राज्यों से हुई के अनुरूप ही थी। इसी वर्ष राजस्थान के शेष राज्यों से भी संधि हो गई थी। केवल मारवाड़ के विरोध के कारण सिरोही से तत्काल संधि न हो सकी जिससे वे 1824 ई. मे जाकर संधि पर हस्ताक्षर कर सके।

इस प्रकार एक ही वर्ष मे संपूर्ण राजस्थान अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया। संधि की शर्तों के अनुसार भले ही आंतरिक स्वतंत्रता स्वीकार करली हो परंतु वास्तविक रूप से दिन-प्रति-दिन अंग्रेजो हस्तक्षेप बढ़ता गया और शासकों की शक्ति केवल नाम मात्र की रह गई। फिर इन संधियों के कारण इन राज्यो को शांति व सुरक्षा प्राप्त हुई। वास्तव मे देखा जाय तो इनका अस्तित्व भी इन संधियो के कारण बना रह सका।

अध्याय 8

1857 के विद्रोह में राजस्थान का योगदान

यों तो 1818 ई. तक राजस्थान के विभिन्न राज्यों ने अंग्रेजों से संधि करली थी किन्तु राजस्थान मे उनके (अंग्रेजो) विरुद्ध असंतोष की भावनायें अत्यधिक व्याप्त थीं। भरतपुर-दुर्ग का संघर्ष इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने तो ब्रिटिश विरोधी ताकतों को बराबर सहायता दी। डूंगरपुर के महाराव जसवंतसिंह को जब गद्दी से अलग किया गया तब उसका विरोध समस्त राजस्थान में हुआ। जयपुर में ब्लेक की हत्या, लुडलो पर घातक आक्रमण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आम जनता मे ब्रिटिश-विरोधी भावना थी। यहां के शासक अधीनता स्वीकार करने के बाद भी अंग्रेजों द्वारा किये गये आंतरिक हस्तक्षेप से असतुष्ट थे। कोटा के महाराव किशोरसिंह ने तो अंग्रेजों का खुल कर मुकाबला किया। मांगरोल नामक स्थान पर दोनो मे युद्ध युद्ध हुआ। सामन्त तो अंग्रेजी प्रभाव से सर्वाधिक असंतुष्ट थे। कोटा, जोधपुर लिजीयन, शेखावाटी ब्रिगेड़ की स्थापना इस बात का प्रमाण है कि ब्रिटिश विरोधी सामन्तो को नियंत्रण में रखने के लिये उनका निर्माण किया गया। इस प्रकार 1857 ई. के विप्लव के प्रारम्भ होने के समय राजस्थान में सभी ओर अंग्रेज-विरोध था। बांकीदास के लेखन से भी स्पष्ट है कि प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजी प्रभाव के विरुद्ध था। सूर्यमल्ल मिश्रण ने भी कई जागीरदारों को पत्र लिख कर अंग्रेज-भक्त शासकों की निन्दा की थी।

क्रांति के कारण—आश्चर्य है कि कम्पनी से संधि के पश्चात राजस्थान मे आन्तरिक शांति स्थापित हुई, आर्थिक क्षेत्र मे भी प्रगति हुई, इसके बावजूद भी राजस्थान का विभिन्न वर्ग अंग्रेजों के विरुद्ध था। नि.संदेह विभिन्न संधियों से शांति तो अवश्य स्थापित हुई किन्तु स्वतंत्रता समाप्त हो गई। अत: प्रदेश के सभी वर्गों—शासक, सामन्त, सामान्य जनता में अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावना पनपने लगी।

शासकों में असन्तोष—यद्यपि कम्पनी से संधि का सीधा लाभ शासकों को प्राप्त हुआ; उन्हें मराठा, पिंडारी आदि की अराजकता से मुक्ति प्राप्त हुई तथापि अंग्रेजों के प्रति असंतोष की भावना उनमें कम नहीं थी। इस असंतोष का प्रमुख कारण संधि की शर्तों की मूल भावना के विपरीत आचरण है। संधि की शर्तों मे शासकों की आंतरिक स्वतंत्रता का स्पष्ट प्रावधान था परन्तु वास्तविक स्थिति इस से बिल्कुल भिन्न थी। करीब-करीब सभी राजस्थानी राज्यों में अंग्रेजी हस्तक्षेप दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा था। इस हस्तक्षेप का रूप प्रशासन, उत्तराधिकार प्रश्न, राज्य में प्रमुख पदों की नियुक्तियां आदि को लेकर विशेषतया था। मेवाड में कर्नल टॉड सर्वेसर्वा था। भरतपुर, डूंगरपुर आदि राज्यों में उत्तराधिकार में अंग्रेजों की मनमानी रही। मारवाड़ के मानसिंह ने अंग्रेज-विरोधी भावना स्पष्ट व्यक्त की। जयपुर में झूठाराम प्रश्न को लेकर तीव्र मतभेद थे। डलहोजी की 'गोद प्रथा' अंग्रेज विरोधी भावना को बढाने में सहायक सिद्ध हुई। परन्तु शासकों ने गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "विलासिता व ऐश्वर्य के नशे मे अपने कर्त्तव्य निर्धारण का विवेक छोड दिया था। राजकीय आन्तरिक विडम्बनाओं ने इन्हें अत्यधिक किंकर्त्तव्यविमूढ बना दिया। इनके लिये सिवाय अंग्रेजों की सहायता लेने व देने के, जिसे वे दिल से ठीक न भी समझते हों, कोई चारा नही था।"[1]

सामन्तों की मनोदशा—अंग्रेजों से संधि का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव सामन्तों की स्थिति पर पड़ा। संधि के पूर्व तक शासक को मुख्यतः सामन्तो पर ही निर्भर रहना पड़ता था। अतः उनके विशेषाधिकारों का उसे पूरा ध्यान रखना पड़ता था। संधि के पश्चात सामन्तों पर उसकी निर्भरता समाप्तप्राय होगई। अंग्रेज सामान्यतः शासक-सामन्त संघर्ष में शासकों का पक्ष लेते थे। परिणामस्वरूप सामन्तों की दशा और अधिक दयनीय होगई थी। मारवाड़ के मानसिंह ने अपने सामन्तो के प्रति बहुत ही कठोर नीति अपनाई किन्तु निरन्तर प्रयासों के उपरान्त भी उन्हें अंग्रेजी सत्ता से कोई सहायता नही मिली। तब लगभग सभी राज्यो मे इसी प्रकार की दशा विद्यमान थी। सामन्त अपनी दुखद स्थिति का उत्तरदायी मुख्यतः अंग्रेजो को ही मानते थे। अतः उनके प्रति भी सामन्तों का रोष कोई कम नहीं था। आउवा, सलुम्बर तो इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

---

1 गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निवन्ध राजस्थान, पृ. 161

सामान्य जनता की भावना—ग्राम जनता में भी अंग्रेज-विरोधी भावना तीव्रतर थी। अंग्रेजों की ईसाई-धर्म प्रचार नीति, सामाजिक सुधार आदि को राजस्थान की साधारण जनता ने अपने धर्म व जीवन में अंग्रेजो के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। नमक उत्पादन तथा अफीम की खेती सम्बन्धी नियमों ने जनता में यह स्पष्ट भावना भरदी कि आर्थिक उन्नति में अंग्रेज बाधा उत्पन्न कर रहे है। अतः जनता मे अंग्रेजो के प्रति अत्यधिक असंतोष था। इस असतोष का व्यापक रूप डाकू, लुटेरों के प्रति जनता की भावना मे देखा जा सकता है। डूंगजी द्वारा नसीराबाद की छावनी को लूटना ग्राम जनता मे बहुत ही प्रसन्नता का कारण बना। डूंगजी के कार्यों पर अनेक गीत रचे गये थे। अंग्रेज विरोधी शासक व सामन्तों—मानसिंह, केशरीसिंह की प्रशंसा मे साहित्य का निर्माण हुआ।[2]

विद्रोह का प्रारंभ—इस प्रकार से 1857 के पूर्व राजस्थान में अंग्रेज-विरोधी भावना गहरी थी। ऐसे समय में जब 1857 का विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो राजस्थान भी इससे अछूता नही रह सका और सर्व-प्रथम मई 28, 1857 ई. को नसीराबाद मे सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। राजस्थान में मुख्यतः चार सैनिक छावनियाँ थी जो नसीराबाद, नीमच, देवली व अजमेर में स्थित थीं। इसके अतिरिक्त एरनपुरा, खेरवाड़ा, कोटड़ा आदि अन्य स्थानों में भी सैनिक टुकड़ियाँ रखी गई थीं। मेरठ व दिल्ली में सैनिक विद्रोह के समय राजस्थान मे स्थित ब्रिटिश एजेन्ट लॉरेन्स आबू मे था। उसका ऐसा मानना था कि यहा किसी भी प्रकार की शाति भंग नही होगी। नसीराबाद के विद्रोह ने उसको सही स्थिति से अवगत कराया। समस्त राजस्थान में तब एक भी अंग्रेज सैनिक नही था, अतएव लॉरेन्स की चिन्ता और अधिक बढ़ जाना स्वाभाविक ही था। डीसा व बम्बई से यूरोपियन सेनाओं को शीघ्र राजस्थान मे भेजने के आदेश दिये गये। राजस्थानी शासकों को भी सहयोग देने की अपील की गई जिसका समर्थन एक आध अपवाद स्वरूप छोड़कर सभी शासकों ने किया।

नसीराबाद के विद्रोही सैनिक सीधे दिल्ली की ओर रवाना हुये। यह एक आश्चर्य है कि अजमेर इतना पास स्थित होते हुये भी सैनिकों ने अजमेर को अपने अधिकार मे नही किया और यह इसलिए आश्चर्यजनक है कि उस समय अंग्रेजों द्वारा उसकी रक्षा का उपयुक्त प्रबन्ध भी नही किया गया था।

---

2 नाथूराम खड़गावत, राजस्थान्स रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 9

ट्रेवर का मत है कि अजमेर लेने में इनको भय था। अतः इन्होंने अपनी शक्ति इधर लगाना ठीक नहीं समझा। डीसा व बम्बई से सैनिक पहुंचने के समाचारों से भी ये भयभीत थे। ट्रेवर ने तो यह भी लिखा है कि उनकी लूट की प्रवृत्ति के कारण स्थानीय व्यक्तियों से उनका संघर्ष भी होने की सम्भावना थी। इसलिए अजमेर के बजाय दिल्ली की ओर चले गये परन्तु खड़गावत ने ट्रेवर के इस मत का खण्डन किया है। उसके अनुसार दो कारणों से प्रेरित होकर वे दिल्ली की ओर गये।

1 दिल्ली में उनकी सहायता की तीव्र आवश्यकता थी।

2 अपने कार्य को वैधानिक रूप देना चाहते थे। वे मुगल बादशाह बहादुरशाह से फरमान प्राप्त करना चाहरहे थे क्योंकि सभी ने बहादुरशाह को अपने बादशाह के रूप में स्वीकार किया।[3] वाल्टर व हैथकोट ने मेवाड़ के सैनिकों की सहायता से इन सैनिकों का पीछा किया परन्तु उन्हें सफलता प्राप्त न हुई। सक्सेना के मत मे सम्भवतः इसका कारण यह था कि मेवाड़ व मारवाड़ के जागीरदारों ने नसीराबाद के विप्लवकारियों को अपने प्रदेश से से आसानी से गुजर जाने दिया। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि मेवाड़ व मारवाड़ की सहानुभूति विप्लवकारियों के साथ थी।

नसीराबाद के पश्चात जून 1857 में नीमच में विद्रोह हुआ। अगर उदयपुर या मेवाड़ के सैनिक अंग्रेजों को उचित समय पर सहायता न पहुँचाते तो अनेक स्त्री पुरुषों को विद्रोही अपने अधिकार में रख लेते। मेवाड़ के महाराणा ने इन अंग्रेजों की रक्षा ही नहीं की अपितु उनकी देखभाल हेतु विशेष सहायता भी दी। उधर विप्लवकारी भी दिल्ली की ओर रवाना हो गये। इसके बाद देवली आदि स्थानों पर भी विद्रोह हुये परन्तु अगस्त व सितम्बर मे क्रांति का वातावरण राजस्थान में अपनी चरम सीमा पर था। नसीराबाद व नीमच के विद्रोह ने स्थानीय जनता को भी प्रभावित किया। शावर्स जो इस समय मेवाड़ में रेजीडेन्ट था उसको जनता ने सार्वजनिक रूप से अपमानित किया। स्वयं शावर्स स्वीकार करता है कि अंग्रेज-विरोधी वातावरण ने न केवल अंग्रेजों, अपितु महाराणा को भी आश्चर्यचकित कर दिया था।[4] नीमच की ओर भेजी हुई मेवाड़ी सेनाओं ने अंग्रेजों का विरोध तक करना शुरू कर दिया था। अर्जुनसिंह सहीवाला ने बड़ी कठिनाई से इस

---

3 नाथूराम खड़गावत, राजस्थान्स रोल इन स्ट्रगल ऑफ 1857 पृ. 18-20

4 सी. एल. शॉवर्स, मिसिंग चेप्टर ऑफ द इंडियन म्यूटिनी पृ. 11-15

सामान्य जनता की भावना—ग्राम जनता में भी अंग्रेज-विरोधी भावना तीव्रतर थी। अंग्रेजों की ईसाई-धर्म प्रचार नीति, सामाजिक सुधार आदि को राजस्थान की साधारण जनता ने अपने धर्म व जीवन में अंग्रेजों के हस्तक्षेप की संज्ञा दी। नमक उत्पादन तथा अफीम की खेती सम्बन्धी नियमों ने जनता मे यह स्पष्ट भावना भरदी कि आर्थिक उन्नति में अंग्रेज बाधा उत्पन्न कर रहे हैं। अतः जनता में अंग्रेजो के प्रति अत्यधिक असंतोष था। इस असंतोष का व्यापक रूप डाकू, लुटेरों के प्रति जनता की भावना में देखा जा सकता है। डूंगजी द्वारा नसीराबाद की छावनी को लूटना ग्राम जनता में बहुत ही प्रसन्नता का कारण बना। डूंगजी के कार्यों पर अनेक गीत रचे गये थे। अंग्रेज विरोधी शासक व सामन्तों—मानसिंह, केशरीसिंह की प्रशंसा मे साहित्य का निर्माण हुआ।[2]

विद्रोह का प्रारंभ—इस प्रकार से 1857 के पूर्व राजस्थान में अंग्रेज-विरोधी भावना गहरी थी। ऐसे समय में जब 1857 का विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो राजस्थान भी इससे अछूता नहीं रह सका और सर्व-प्रथम मई 28, 1857 ई. को नसीराबाद मे सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। राजस्थान में मुख्यतः चार सैनिक छावनियां थीं जो नसीराबाद, नीमच, देवली व अजमेर में स्थित थी। इसके अतिरिक्त एरनपुरा, खेरवाड़ा, कोटड़ा आदि अन्य स्थानों में भी सैनिक टुकडियां रखी गई थी। मेरठ व दिल्ली मे सैनिक विद्रोह के समय राजस्थान मे स्थित ब्रिटिश एजेन्ट लॉरेन्स आबू में था। उसका ऐसा मानना था कि यहां किसी भी प्रकार की शाति भंग नही होगी। नसीराबाद के विद्रोह ने उसको सही स्थिति से अवगत कराया। समस्त राजस्थान मे तब एक भी अंग्रेज सैनिक नही था, अतएव लॉरेन्स की चिन्ता और अधिक बढ जाना स्वाभाविक ही था। डीसा व बम्बई से यूरोपियन सेनाओं को शीघ्र राजस्थान मे भेजने के आदेश दिये गये। राजस्थानी शासकों को भी सहयोग देने की अपील की गई जिसका समर्थन एक आध अपवाद स्वरूप छोड़कर सभी शासको ने किया।

नसीराबाद के विद्रोही सैनिक सीधे दिल्ली की ओर रवाना हुये। यह एक आश्चर्य है कि अजमेर इतना पास स्थित होते हुये भी सैनिकों ने अजमेर को अपने अधिकार में नहीं किया और यह इसलिए आश्चर्यजनक है कि उस समय अंग्रेजों द्वारा उसकी रक्षा का उपयुक्त प्रबन्ध भी नही किया गया था।

---

2 नाथूराम खड़गावत, राजस्थान्स रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 9

ट्रेवर का मत है कि अजमेर लेने में इनको भय था। अतः इन्होंने अपनी शक्ति इधर लगाना ठीक नहीं समझा। डीसा व बम्बई से सैनिक पहुंचने के समाचारों से भी वे भयभीत थे। ट्रेवर ने तो यह भी लिखा है कि उनकी लूट की प्रवृत्ति के कारण स्थानीय व्यक्तियों से उनका संघर्ष भी होने की संभावना थी। इसलिए अजमेर के बजाय दिल्ली की ओर चले गये परन्तु खड़गावत ने ट्रेवर के इस मत का खण्डन किया है। उसके अनुसार दो कारणों से प्रेरित होकर वे दिल्ली की ओर गये।

1 दिल्ली में उनकी सहायता की तीव्र आवश्यकता थी।

2 अपने कार्य को वैधानिक रूप देना चाहते थे। वे मुगल बादशाह बहादुरशाह से फरमान प्राप्त करना चाहरहे थे क्योंकि सभी ने बहादुरशाह को अपने बादशाह के रूप में स्वीकार किया।[3] वाल्टर व हैथकोट ने मेवाड़ के सैनिकों की सहायता से इन सैनिकों का पीछा किया परन्तु उन्हें सफलता प्राप्त न हुई। सक्सेना के मत मे सम्भवतः इसका कारण यह था कि मेवाड़ व मारवाड़ के जागीरदारों ने नसीराबाद के विप्लवकारियों को अपने प्रदेश में से आसानी से गुजर जाने दिया। यह तथ्य इस बात का संकेत है कि मेवाड़ व मारवाड़ की सहानुभूति विप्लवकारियों के साथ थी।

नसीराबाद के पश्चात् जून 1857 में नीमच में विद्रोह हुआ। अगर उदयपुर या मेवाड़ के सैनिक अंग्रेजों को उचित समय पर सहायता न पहुँचाते तो अनेक स्त्री पुरुषों को विद्रोही अपने अधिकार में रख लेते। मेवाड़ के महाराणा ने इन अंग्रेजों की रक्षा ही नहीं की अपितु उनकी देखभाल हेतु विशेष सहायता भी दी। उधर विप्लवकारी भी दिल्ली की ओर रवाना हो गये। इसके बाद देवली आदि स्थानों पर भी विद्रोह हुये परन्तु अगस्त व सितम्बर में क्रांति का वातावरण राजस्थान में अपनी चरम सीमा पर था। नसीराबाद व नीमच के विद्रोह ने स्थानीय जनता को भी प्रभावित किया। शावर्स को इस समय मेवाड़ में रेजीडेन्ट था उसको जनता ने सार्वजनिक रूप से अप- मानित किया। स्वयं शावर्स स्वीकार करता है कि अंग्रेज-विरोधी वातावरण ने न केवल अंग्रेजों, अपितु महाराणा को भी आश्चर्यचकित कर दिया था।[4] नीमच की ओर भेजी हुई मेवाड़ी सेनाओं ने अंग्रेजों का विरोध [illegible] करना शुरू कर दिया था। अर्जुनसिंह सहीवाला ने [illegible]

---

3 नाथूराम खड़गावत, राजस्थान्स रोल इन स्ट्रगल ऑफ 1857 [illegible] 18-20

4 सी. एल. शॉवर्स, मिसिंग चेप्टर ऑफ द इंडियन म्यूटिनी [illegible]

स्थिति में परिवर्तन किया।[5] निम्बाहेड़ा शहर पर विद्रोहियों ने अधिकार कर लिया था जो मेवाड़ की सेना की सहायता से वापिस दिया जा सकता था। शावर्स ने यह भी लिखा है कि भारत में होने वाली घटनाओं को राजस्थान इतना प्रभावित करने लग गया था कि शाहपुरा में जहां एक ओर उनका पीछा करते हुये अंग्रेज सैनिकों व पदाधिकारियों हेतु अपने शहर के दरवाजे को बंद कर दिया। वहाँ के राजा ने उनका किसी प्रकार से स्वागत नहीं किया। टोंक में भी विद्रोहियों का बहुत आत्मीयता से स्वागत किया गया। परंतु विद्रोह का सर्वप्रमुख केन्द्र मारवाड़ में आउवा नामक स्थान था। अगस्त में एरिनपुरा स्थित जोधपुर की सेनाओं ने विद्रोह कर दिया। विप्लवकारियों ने कई अंग्रेजों को बंदी बना लिया। ऐसे समय में आउवा के ठाकुर खुशालसिंह ने विप्लवकारियों का साथ देना शुरू किया। इसका मुख्य कारण यह माना जाता है कि पिछले कुछ वर्षों से ठाकुर खुशालसिंह व जोधपुर के महाराजा के संबंध तनावपूर्ण थे और वर्तमान परिस्थितियों मे खुशालसिंह ने अवसर से लाभ उठाना चाहा, परन्तु समकालीन पत्रों व परिस्थितियों को देखें तो सक्सेना का उपरोक्त मत उपयुक्त नजर नहीं आता है। वास्तव मे आउवा में जो विद्रोह हुआ वह एक जन-जाग्रति का प्रतीक है। खुशालसिंह के आउवा से चले जाने के उपरांत भी यह विद्रोह होता रहा। इतना ही नहीं अनेक अन्य सामन्तों ने भी अपनी पूर्ण सहानुभूति आउवा को विद्रोही जनता व सामन्तो के साथ रखी। ज्वालासहाय ने तो लिखा है कि जोधपुर व बीकानेर मे इतनी अधिक ब्रिटिश विरोधी भावना थी कि अनेक ब्रिटिश प्रात के लुटेरोंको भी अपने यहां शरण देने हेतु शासकोंको बाध्य होना पडा। जोधपुर लीजियन के सैनिको ने शहर मे घूम-घूम कर अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये जनता को प्रोत्साहित किया। इसलिये आउवा का विद्रोह ब्रिटिश विरोधी भावना के कारण था न कि केवल मात्र एरिनपुरा के विद्रोहियो के कारण मे। आउवा के अतिरिक्त और भी कई सामन्तों ने इसका साथ दिया।[6] आउवा के विरुद्ध अंग्रेज सेनायें गई अवश्य थीं किंतु पहली बार भेजी गई सेना को करारी हार का सामना करना पड़ा। विप्लवकारियों ने एजेन्ट मॉकमेसन का सिर धड़ से अलग कर दिया और आउवा के किले पर लटका दिया जो एक प्रकार से उनकी विजय का प्रतीक था परन्तु निरंतर अंग्रेज सेनाओ का सामना विप्लवकारी नहीं कर सके व

---

5 सहीवाला अर्जुनसिंह का जीवन चरित्र, प्रथम भाग, पृ. 59
6 नाथूराम खड्गावत, राजस्थान्स रोल इन द स्ट्रगल ऑफ 1857, पृ. 32-37

जनवरी 1858 ई. में झाउवा पर ब्रिटिश सैनिकों का अधिकार हो गया। इस सैनिक कार्यवाही के दौरान अनेक निहत्थे नागरिकों की हत्या की गई। यहा पर अंग्रेजों ने भयंकर अत्याचार किये। जनता को आतंकित किया गया। यहा तो विद्रोह समाप्त हो गया परन्तु कोटा की ओर जन-विरोध जोरों से फूट पड़ा।

कोटा में भी जन विद्रोह तेजी से फैल रहा था। इस विरोध ने उग्र रूप उस समय ले लिया जब मेजर बर्टन नीमच से कोटा पहुंचा। इसके पहुंचने के दिन ही दिल्ली का पतन हुआ था। जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध तीव्र जन आक्रोश था। जनरल लॉरेन्स की रिपोर्ट के अनुसार यह विरोध इतना फैला कि उसके दो पुत्रों को जनता ने मौत के घाट उतार दिया। कोटा महाराव की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि वह अपने परिवार को उदयपुर भेजनेकी सोचने लग गया था। समस्त शहर व महलपर विद्रोहियों का अधिकार हो गया था। करौली से प्राप्त सैनिक सहायता से ही विद्रोहियों को महल से हटाया जा सका तथा बाद में अंग्रेज सैनिकों की सहायता से इस विद्रोह को समाप्त किया जा सका।

ट्रेवर व लॉरेन्स यह स्वीकार करते हैं कि इस विद्रोह में कोटा के पदाधिकारियो का पूरा हाथ था। प्रारम्भ में उनका विरोध अंग्रेजो के प्रति था और जब उनको यह पता लगा कि महाराव अंग्रेज सैनिकों को बुलाने का प्रयास कर रहा है तब उन्होने अपना विरोध महाराव के प्रति भी प्रदर्शित किया। प्रारम्भ में तो वे महाराव का नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार थे, महाराव भी अपने राज्य में व्याप्त ब्रिटिश विरोध के प्रति सतर्क था इसलिये उसने बर्टन को कोटा न आने की सलाह दी। कोटा भी इस प्रकार एक अलग घटना न होकर खडगावत के मत से राजस्थान मे व्याप्त अंग्रेज-विरोध का प्रतीक थी।

तांत्या टोपे का राजस्थान में आगमन—तात्या टोपे का राजस्थान में आगमन 1857 ई. के विद्रोह में काफी महत्वपूर्ण है। खडगावत के शब्दों मे, उसके अभियान ने राजस्थान में एक नई उत्तेजना पैदा की। स्थानीय शासकोसे लेकर साधारण जनतातक इससे प्रभावित हुई। कतिपय भयके कारण से तो अन्यों को तांत्या टोपे से सहानुभूति के कारण ग्वालियर में असफलता के बाद तांत्या टोपे राजस्थान की ओर मुड़ा। उसे यह आशा थी कि जयपुर व हाड़ोती से सहायता मिलेगी परन्तु जयपुर से सहायता मिलने की आशा न होने से वह लालसोट की तरफ आया। कर्नल होम्स उसका बराबर पीछा कर रहा था। ऐसी अवस्था में तांत्या टोंक की ओर मुड़ा, वहा के नवाब

से तो सहायता नहीं मिली परन्तु सेना ने तांत्या का समर्थन किया। इसके बावजूद उसको वहां पर विशेष सफलता नहीं मिली इसलिये वह उदयपुर व सलुम्बर की ओर सहायतार्थ आया। सलुम्बर का राव विप्लवकारियों के प्रति पूरी सहानुभूति रख रहा था। उसने तांत्या को सैनिक सहायता भी दी, फिर भी पीछा करती हुई अंग्रेज सेना का वह अधिक सामना नहीं कर सका। सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुठभेड़ अगस्त 9, 1885 ई. में रावर्ट की सेना से हुई। तांत्या यहां से सकुशल निकल गया परन्तु इसके पाँच दिन पश्चात ही दूसरी मुठभेड़ में जो बनास नदी के किनारे हुई थी उसमें तांत्या को करारी हार का सामना करना पड़ा। मुंशी ज्वालासहाय के अनुसार राजस्थान में सब ओर से निराश होकर तांत्या महाराष्ट्र की ओर जाने की सोच रहा था परन्तु वर्षा ऋतु के कारण वह चम्बल नदी को पार नहीं कर सका। तब वह बूंदी-कोटा की ओर आया। निरन्तर पराजय के पश्चात ही तांत्या झालावाड़ को अपने अधिकार में करने में सफल हुआ। स्थानीय जनता से भी उसको काफी सहायता मिली। जोधपुर के सामन्तों ने भी उसे सहायता दी। ऐसा प्रतीत होता है कि वह एक योजनाबद्ध तरीके से चल रहा था परन्तु इस बीच ही सितम्बर 5 को हैमिल्टन की सेना से व सितम्बर 15 को माइकल की सेना से उसकी हार हुई। अतः निराशाजनक स्थिति में उसने राजस्थान छोड़ दिया परन्तु पुनः वह इसवाल आया। इस बार उसने बांसवाड़ा की ओर से राजस्थान में प्रवेश किया। दिसम्बर 12 को यहाँ उसने अपना अधिकार कर लिया था परन्तु वह स्थाई नहीं रह सका था इस लिये वह सलुम्बर की ओर आया जहां उसे सब प्रकार की सहायता दी गई। फिर भी निरन्तर ब्रिटिश सैनिकों से पीछा किये जाने के कारण उसे राजस्थान छोड़ना पड़ा। एक बार वह दौसा व सीकर की तरफ आया। जहाँ अंग्रेज सेनाओं से उसका मुकाबला हुआ। इस पराजय के पश्चात तांत्या जंगल की ओर भाग गया परंतु नरवर के राजपूत जागीरदार मानसिंह द्वारा उसके साथ विश्वासघात किया गया था और उसे ब्रिटिश सैनिकों के हवाले कर दिया गया। अंत में अप्रेल 1859 ई. में उसे फांसी दे दी गई। तांत्या टोपे का समर्थन करने के कारण सीकर के शासक को भी बंदी कर लिया गया व 1862 ई. में उसको भी मौत की सजा दे दी गई। तांत्या टोपे की इस असफलता से राजस्थान में विप्लवकारियों में निराशा उत्पन्न हुई। भरतपुर तथा अन्य स्थानों में अंग्रेज-विरोध चल रहा था वह भी समाप्त हो गया। इस प्रकार 1857 ई. का महान विद्रोह राजस्थान में समाप्त हो गया।

असफलता के कारण—खड़गावत ने इसके कारण बताते हुये अपना मत प्रकट किया है कि मुख्य उत्तरदायित्व यहाँ के शासकों का है। इसमें कोई संदेह नही कि समस्त राजस्थान मे अंग्रेजों के प्रति विद्रोह की भावना रही। उनके प्रभाव को समाप्त करने की समाज के प्रत्येक वर्ग की इच्छा थी। और वे अनेक वर्षों से एक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में थे परन्तु दुर्भाग्य इस बात का है कि जब यह अवसर मिला तब यहां पर उदासीनता बनी रही। शासकों के पास भी समस्त सैनिक शक्ति केन्द्रित थी। उनको यह भय था कि राजनैतिक अव्यवस्था में उनके सामन्त उन्हीं के विरुद्ध न हो जायें। अपने हित को ध्यान मे रखते हुये यहां के अधिकाश शासको ने केन्द्रीय शक्ति के प्रति पूर्ण भक्ति रखी। इसी प्रकार से जो सामन्त ब्रिटिश-विरोधी थे, उनका भी उद्देश्य अपने सीमित स्वार्थों की रक्षा करना था। उनमे कोई सिद्धान्त का आधार नहीं था। सामन्तो का बहुत बड़ा भाग ब्रिटिश विरोधी होते हुये भी संगठित रूप से अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान न कर सका। जनता में भी अंग्रेजों के प्रति असंतोष था। विभिन्न स्थानों पर विद्रोहियों को उन्होने पूरा समर्थन दिया। एक लम्बे समय से सामन्तशाही पद्धति में जो जीवन-यापन कर रहे थे व इसीलिये नेतृत्व हेतु अपने शासकों की ओर देख रहे थे परन्तु शासकों का इरादा दूसरा ही था। यहां की जनता की सहानुभूति बहादुरशाह के प्रति थी। सभी विद्रोहियो से उनका स्नेह था। अंग्रेजों से उनको घृणा थी परन्तु अभाव था तो केवल मात्र नेतृत्व का था व नेतृत्व केवल मात्र यहां के विभिन्न शासक ही दे सकते थे परन्तु न तो उन्हे स्वतंत्रता का प्रेम था और न ही उनमे इतनी क्षमता व योग्यता थी। अधिकांश शासक अपनी प्रशासनिक व्यवस्थाओं के प्रति उदासीन थे। इसलिये इस सारे असंतोष को उचित नेतृत्व के अभाव में सुव्यवस्थित रूप से प्रकट होने का असवर नही मिला। साथही आश्चर्यजनक तथ्य यह भी है कि दिल्ली के निकट होते हुये भी किसी भी प्रमुख विद्रोही नेता का ध्यान राजस्थान की ओर नहीं गया। यह भी स्पष्ट है कि प्रमुख विप्लवकारियों ने यहां की जनता में व्याप्त असतोष को पूर्ण रूप से आंका नही। बर्टन का वध, शावर्स का अपमान, टोंक-शाहपुरा आदि स्थानों पर अंग्रेज सैनिकों के लिये द्वार बंद, चारों सैनिक छावनियों मे विद्रोह, यह सब व्यापक रूप से हुआ फिर भी सर्वमान्य नेता के अभाव में इसका कुछ भी प्रतिफल नहीं निकला। इस अभाव का सर्वाधिक उत्तरदायित्व यहाँ के शासकों को है जैसे—जयपुर का शासक तब सवाई रामसिंह था, व अंग्रेजों को हर संभव सहायता देने का इच्छुक था तो उसका दीवान व उसकी सेनायें ब्रिटिश विरोधी थी। सबसेना

के अनुसार इस बात के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं कि 1857 ई. के विप्लव के समय जयपुर की सेनाओं ने ब्रिटिश सेनाओं को सहायता नहीं दी व उनके विरुद्ध अनेक कठिनाइयां उत्पन्न करने में सहयोग दिया। अनेक उच्च पदाधिकारी ब्रिटिश विरोधी भावना रखते थे। इतना सब होते हुये भी रामसिंह की अंग्रेजों के प्रति पूर्ण भक्ति के कारण अनेक पदाधिकारियों को बंदी बना लिया गया तथा सैनिकों को अंग्रेजों के प्रति भक्ति रखने हेतु यहां के शासक ने निरंतर प्रेरित किया।

अलवर की स्थिति भी जयपुर की भांति ही थी। अलवर में भी शासक व शेष वर्ग अलग-अलग वर्गों में बंटे हुये थे। यहां पर भी दो प्रकार की शक्तियां काम कर रही थीं। एक ओर ब्रिटिश समर्थक सेनाओं का नेतृत्व अलवर महाराजा कर रहा था तो दूसरी ओर ब्रिटिश विरोधी सैनिकों का साथ अलवर प्रशासनिक अधिकारी व सेनायें दे रही थीं। यही स्थिति बीकानेर में थी। संभवतः सभी देशी राजा बीकानेर के महाराजा को हर संभव सहायता देने में सबसे आगे थे। विप्लव को दबाने में इसने व्यक्तिगत दिलचस्पी दिखाई व अनेक स्थानों पर सैनिकों का नेतृत्व करते हुये विप्लवकारियों को कुचलने में योगदान दिया।

धौलपुर, करौली के शासकों ने भी अंग्रेजों के प्रति अपनी पूरी भक्ति भावना रखी परन्तु अंग्रेजों को सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहयोग मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह से मिला। राजस्थान के अधिकांश शासकों का ध्यान मेवाड़ की ओर था। अपनी नीति निर्धारित करने के पहले वह मेवाड़ के रुख के बारे में जानने को उत्सुक था। विद्रोह के प्रारम्भ होने के साथ-साथ ही अनेक पत्र महाराणा को लिखे हुये मिले हैं जिससे प्रतीत होता है कि राजस्थान के शासक एक-सी नीति अपनाने के लिये विचार-विमर्श कर रहे थे। परंतु मेवाड़ के महाराणा स्वरूपसिंह का प्रारम्भ से ही रुख अंग्रेजों के पक्ष में था। विद्रोह के शुरु होने के साथ-साथ ही अपनी सारी सैनिक शक्ति अंग्रेजों की सहायतार्थ रख दी। इसलिये जब मेवाड़ के आस-पास विद्रोहियों के केन्द्र बने हुये थे तब यहां की जनता में भी अप्रत्याशित रूप से अंग्रेज-विरोधी भावना थी परन्तु महाराणा के समर्थन से यह भावना फुसफुसी ही बनी रही। नीमच के सैनिक विद्रोह को दबाने, निम्बाहेड़ा को पुनः अंग्रेजों के अधिकार में लाने में मेवाड़ का यथेष्ट योगदान रहा। निम्बाहेड़ा पर पुनः नियंत्रण अंग्रेजों के लिये एक महत्वपूर्ण घटना थी। अंग्रेज सेनाओं के मनोबल को ऊँचा उठाने में बहुत सहायता की। ब्रिटिश प्रतिष्ठा को जो नीमच व आउवा में धक्का लगा उसको पूरा किया। इस प्रकार मेवाड़ व

राजस्थान में अन्य शासकों के ब्रिटिश समर्थकों के कारण राजस्थान में 1857 का विप्लव सफल न हो सका।

परिणाम—इस असफलता के बाद अन्य स्थानों के समान ही अंग्रेजों ने आम जनता के प्रति नृशंसतापूर्ण व्यवहार किया। सूर्यमल्ल मिश्रण ने 'वीर सतसई' में कोटा में जो अंग्रेजों का व्यवहार था उसका वर्णन करते हुये लिखा है कि बहुत से व्यक्तियों को फांसी दी, बहुतों को गोली मारी, बहुत-सी स्त्रियों की इज्जत खराब की तथा काफी रुपया लेकर महाराव को कोटा वापस दे दिया गया। कोटा में जो उनका अमानुषिक व्यवहार था वैसा ही राजस्थान के अन्य भागों मे भी अंग्रेजों का व्यवहार बना रहा। अतः 1857 के विद्रोह ने अंग्रेज सेना की नृशंसता की दुःखद स्मृतियां ही परिणाम में दी। अब यहां पर अंग्रेजी प्रभाव और अधिक तेजी से बढ़ने लगा। राज्यों को दृष्टि से एक महत्वपूर्ण परिवर्तन केवल मात्र यह हुआ कि कम्पनी की अपेक्षा इन राज्यों का सीधा संबंध अब ब्रिटिश ताज से हो गया।

अध्याय 1

सांस्कृतिक परम्परा

सामाजिक जीवन

राजस्थान के विभिन्न राज्य अपनी शक्ति एवं शौर्य के लिए जितने विख्यात हैं उतने ही अन्य कृत्यों के लिए भी प्रसिद्ध हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि यहां के सामाजिक वातावरण एव परिवेश में जीवन के प्रति पूर्ण सरसता रही है। राजनैतिक दृष्टिकोण से चाहे कितने ही उतार-चढाव आये हों किन्तु सामाजिक जीवन से सम्बन्धित सभी दशाओं मे कोई विशेष परिवर्तन नजर नहीं आता है। यहां के निवासी परम्परागत सामाजिक रीति-रिवाज, त्योहार, उत्सव, आमोद-प्रमोद आदि में पूर्ण आनन्द लेते थे। यों भी देखा जाय तो मानव एक सामाजिक प्राणी है, उसे समाज से किसी भी दशा मे विलग नही किया जा सकता है। साथ ही समाज राज्य का एक प्रमुख घटक भी है। ऐसी दशा में किसी भी राज्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन नितान्त आवश्यक हो जाता है। राजस्थान के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित पहलुओं को हम इस भांति समझ सकते हैं—

वर्ण एवं जाति व्यवस्था—वैदिककाल से ही भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित रहा है। राजस्थान के समाज मे भी सैद्धान्तिक दृष्टि से तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में चार वर्ण विद्यमान थे, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो यही वर्णव्यवस्था कालान्तर में धंधों एवं पेशों के आधार पर कई जातियों एवं उप-जातियों में विभक्त हो गई। यों राजस्थान में ऊँच-नीच, पद-प्रतिष्ठा तथा जन्मजात विशिष्ट प्रवृत्तियों पर आधारित सामाजिक संगठन का आधार जाति व्यवस्था थी जिसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—उच्च वर्ग, मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग।

प्रथम वर्ग में हम उन जातियों को रख सकते हैं जो शासक वर्ग तथा शक्ति के निकट थी जैसे राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ, ओसवाल आदि। इन्हें विशेषाधिकार प्राप्त थे जो सामान्य जनता को नहीं थे। राजपूत यद्यपि संख्या में कम थे तथापि राज्यों में सामन्तवादी व्यवस्था होने के कारण प्रशासन से अधिक जुड़े हुये थे। राजकीय एवं सैनिक व्यवस्था में इनका सर्वाधिक योगदान था। इस दृष्टि से यह राजस्थानी राज्यों का एक प्रशासक

वर्ग था जो रचनात्मक कार्य किया करता था। शासन से लेकर निम्न पद तक प्रायः यही वर्ग कार्यरत था। यहां के राजपूत सूर्यवंशी एवं चन्द्रवंशी शाखाओं से जुड़े हुये थे। साथ ही अग्निकुल की चार प्रमुख राजपूत शाखाएं भी थी। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "कान्हड़दे प्रबंध में कई राजपूत वंशों के साथ हूणों को भी इसी वंश-परंपरा के साथ सम्मिलित किया गया है। इसमें 36 कुलों का उल्लेख करते हुए 16 कुलों का ही वर्णन दिया है जिससे प्रतीत होता है कि कई कुल प्रसिद्ध माने जाने लगे हो और अन्य नगण्य हो गये हों। परमारों और प्रतिहारों के स्थान मे इसी युग में राठौड़ और चौहान प्रतिष्ठित बन गये और उन्हें अपना आश्रित बना लिया।" यहां गहलोत, राठौड़, चौहान, पंवार, झाला, देवड़ा, भाटी, सोलंकी आदि राजपूत थे। अन्य वर्गों की भांति राजपूत कुल भी कई उपकुलों व परिवारों में विभाजित थे जैसे—मारवाड़ के राठौड़ ही कूंपावत, उदावत, चांपावत, जोधावत, पत्तावत, मेड़तिया आदि उपकुलों में थे।

राज्य की सुरक्षार्थ सर्वस्व न्योछावर कर अपने को युद्धस्थल मे होम देना इनके लिये साधारण बात थी। मुंहता नैणसी री ख्यात के अनुसार राजपूत मरने से कभी भी भय नहीं खाता था। वह मृत्यु को सहज स्वीकार करता था। तलवार आदि का घात लगने पर किसी प्रकार का दुख-दर्द व्यक्त करना कायरता मानता था। युद्ध के मैदान मे आगे रहना और वीरता से लड़ते हुए मारे जाना जीवन की चरम उपलब्धि मानी जाती थी।[1] इनकी महत्वपूर्ण सैनिक एव असैनिक सेवाओं के बदले में समय-समय पर राज्य की ओर से इनाम-इकराम व जागीरें प्रदान की जाती थी। युद्ध मे खेत रहे सैनिकों के परिवार को राज्य इनाम आदि के साथ-साथ जीवन निर्वाह के लिये रुपया आदि देकर सम्मान बढाता था। जागीरदार भी अपनी जागीरों मे सैनिकों एवं उनके परिवार के साथ इसी भांति व्यवहार करते थे।

पुरुषों की तरह राजपूत स्त्रियां भी वीरोचित गुणों से सम्पन्न होती थी। समय पड़ने पर वे शासन की बागडोर तक संभालती थीं। युद्धप्रिय राजपूतों का शस्त्र प्रेम के साथ-साथ काव्य आदि से भी बड़ा अनुराग था। वे अपने यहां ब्राह्मण, चारण, राव, भाट आदि को आश्रय देते थे। राजपूतों के काव्यानुराग को समझने के लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि वे युद्ध-स्थल मे भी अपने साथ ढोल नगाड़े एवं चारणों आदि को ले जाते थे। तब वीर

---

1 मनोहरसिंह राणावत, इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ, पृ. 215

रस पूर्ण कवितायें सुनकर उत्साह में और अधिक वृद्धि हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। राजपूत सिद्धान्तवादी थे। शरणागत की रक्षा, स्वामी भक्ति, वचनबद्धता, कुलाभिमान की भावना उनमें पूर्णतः व्याप्त थी। राजपूत वैर परंपरा को निभाना अपना परम कर्त्तव्य मानता था। उसको दूर करने हेतु वैवाहिक संबंध स्थापित करना ही एकमात्र संभावित उपाय हो सकता था। यही एक ऐसा वर्ग था जिस में उपजातियां नही बनी। फलतः उनके खान-पान एवं विवाह आदि सम्बन्धों में भी कोई कठिनाई नहीं आई। कालांतर मे इस वर्ग में उत्पन्न षड्यंत्र, वैभव एवं विलासिता, स्वार्थ-सिद्धि, वर्गों की पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एवं एक दूसरे को नीचा दिखाने की भावना ने राजस्थानी राज्यों को पतन की ओर अग्रसर किया। परिणाम-स्वरूप 19 वीं शताब्दी तक राजपूत जाति के प्रभाव एवं सम्मान मे कमी आने लग गई।

समाज एवं राज्य स्तरीय सेवाओं में कायस्थों का योगदान भी महत्व-पूर्ण रहा था। शिक्षा एवं प्रतिभा की दृष्टि से यह जाति बड़ी तेज होती थी। सत्ता के प्रति वफादार रह कर राज्य की सेवा करना इस जाति का प्रमुख गुण था। राज-काज मे प्रचलित भाषाओं के ये अच्छे जानकार होने के कारण राज्य सेवा में इन्हे उच्च पद दिये जाने लगे। मेवाड़ मे राजकीय कर उगाहने के लिये प्रारम्भ मे 'पंचकुल' नामक एक समिति थी जिसका प्रत्येक सदस्य 'पंचकुली' (पंचोली) कहलाता था। चूंकि राज्य के अहलकारो में इनकी संख्या अधिक थी अतः 'पंचकुल' मे भी इनका आधिक्य होना स्वाभाविक ही था। अतः कालान्तर में पंचोली शब्द कायस्थो का सूचक हो गया था। कायस्थो के अतिरिक्त पंचोली उपनाम ब्राह्मणो, वैश्यों तथा गूजरों मे भी व्याप्त था। 14 वी शताब्दी से ही मेवाड़ मे बिहारी दास पंचोली के पूर्वज उच्च पदासीन हो, राज्य की सेवा कर रहे थे। भटनागर कायस्थ जाति का एक अन्य रूप 'सहीवाला' नाम से जाना जाता था। 'सही-वाला' परिवार के लोग महाराणा द्वारा स्वीकृत पट्टों व परवानो पर 'सही' का विशिष्ट चिन्ह अंकित करते थे जिससे ये 'सहीवाला' के नाम से प्रसिद्ध हो गये।[2] कुशल प्रशासक के साथ-साथ युद्ध के समय ये सैनिक सेवा भी देते थे। 16 वी शताब्दी के मारवाड़ मे रतना पचोली, मान पचोली, 17 वी शताब्दी में गोर्धन पचोली, बछराज, हरनारायण आदि ने बड़ी वीरता के साथ स्वामी भक्ति प्रदर्शित की। जयपुर में उदयचंद, कनीराम, केवलराम,

---

2 जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 282-83

गजसिंह एवं खुशालचंद आदि ने महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया।[3] इसी भांति राजस्थान के अन्य राज्यों में भी कायस्थ, सैनिक एवं प्रशासकीय सेवा में रत थे।

समाज में ब्राह्मणों का सम्मान एवं प्रतिष्ठा पूर्ववत् चली आ रही थी। इनका प्रमुख कार्य धर्माचार्यों एवं शिक्षकों के रूप में था। शासक से लेकर सामान्य व्यक्ति तक का पुरोहित ब्राह्मण ही होता था। पुरोहित की प्रतिभा एवं प्रतिष्ठा को मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह द्वितीय ने स्वीकार करते हुए उसका आसन अपनी गद्दी के सामने लगाना प्रारम्भ किया था। राजपरिवार से संबंधित पुरोहित राजगुरु कहलाते थे। ये राजकुमारों को शिक्षा देते थे। इसके अतिरिक्त वह राजपरिवार के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी भस्मी एवं 'छार' गंगा में विसर्जित करता था। प्रायः ब्राह्मण के दरबार मे आने पर शासक सिंहासन से उठता था और ब्राह्मण उसे आशीर्वाद देकर पुनः गद्दी पर बैठने को कहता था। विद्यानुरागी पंडित ब्राह्मणों ने अपनी विद्वता एवं प्रतिभा से दरबार में विशेष सम्मान प्राप्त किया। उनके द्वारा रचित काव्य, साहित्य, इतिहास, ज्योतिष, चरित्र, कर्मकाण्ड तथा धार्मिक कृतियां अपना विशेष महत्व रखती हैं। कुछ ब्राह्मण मन्दिरो में सेवा-पूजा का कार्य भी करते थे। धीरे-धीरे इनका यह कार्य पैतृक होता चला गया। समकालीन आधार-सामग्री से पता चलता है कि राज-पुरोहितों, मन्दिरों की सेवा-सुश्रूषा करने वाली तथा विद्वान पंडित ब्राह्मणों को राज्य की ओर से प्रायः सासन (माफी) जागीर मिली होती थी। इस भूमि पर राज्य की ओर से कोई कर नही लिया जाता था।

समय-समय पर प्रधान एवं मुसाहिब के पद पर नियुक्त होकर ब्राह्मण अपनी प्रतिभा एवं प्रशासनिक कुशलता का परिचय देते थे, यथा—महाराणा अड़सी एवं हमीरसिंह के काल मे सनाढ्य ब्राह्मण अमरचन्द प्रधान था। इसी तरह रेउ से भी जानकारी मिलती है कि जोधपुर राज्य मे शम्भूदत्त जोशी एवं हंसराज जोशी ने दीवान के पद को सुशोभित किया था। ये राज्य की कूटनीतिक एवं सैनिक कार्यवाहियों में भी महत्वपूर्ण भाग लेते थे। इस दृष्टि से मराठों के साथ की गई समझौता वार्ता व सधियों मे अमरचंद बड़वा का विशेष हाथ रहा था। खरीता बही नं. 12 से ज्ञात होता है कि जोधपुर राज्य एवं अंग्रेजो के बीच होने वाली संधि पर जोधपुर महाराजा की ओर से अभैराम व्यास तथा विशनराम व्यास ने हस्ताक्षर किये थे। सैनिक

---

3 जी. एन. शर्मा, सो. ला. ई. में रा., पृ. 93-94

सेवा की दृष्टि से मेवाड़ के गरीबदास पुरोहित, मधुसूदन भट्ट, नंदराम पुरोहित, बनीराम व्यास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। मारवाड़ के दुर्गादास राठौड़ के साथ भी कई ब्राह्मण योद्धा थे। महाराजा अभयसिंह के समय के सेनापतियों में फतो व्यास, दीपचंद पुरोहित, सूजो आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। जयपुर, बून्दी, कोटा, बांसवाड़ा, भरतपुर में भी कई ब्राह्मण उच्च पदों पर आसीन थे।

वैश्य जाति के महता, भण्डारी, बोल्या, कोठारी आदि राजकीय सेवा में रत होने के कारण उच्च वर्ग के अन्तर्गत आते थे। बीकानेर के महाराजा रायसिंह के समय में कर्मचन्द एक योग्य प्रशासक था। जयपुर में 1764 ई. में कनीराम तथा 1800 ई. में अमरचन्द, दीवान के पद पर आसीन थे। मेवाड़ में भामाशाह तथा उसके वंशज प्रधान के पद पर रहे थे। ताराचन्द गोड़वाड़ का प्रशासक था। अमोपजी बोल्या स्वय महाराणा जगतसिंह द्वितीय का मन्त्री रहा और इसके पश्चात उसके पुत्र एवं पौत्र समय-समय पर प्रधान रहे। इतना ही नहीं वैश्यों का सैनिक पद पर एवं युद्ध के अवसरों पर भी महत्वपूर्ण योगदान रहा। अचलदास खीची की वचनिका में पता चलता है कि बीकानेर राज्य में तालू, हरपति, बालू आदि अच्छे योद्धा थे। आसकरण, रामचन्द्र दीपावत, सार्वतसिंह व हेमराज ने दुर्गादास तथा शाहजादा अकबर को औरंगजेब से बचाने में उल्लेखनीय सहायता प्रदान की। महाराणा सांगा ने भारमल को रणथम्भोर का किलेदार बनाया। महाराणा जगतसिंह द्वितीय के काल में शाह भीमजी कोठारी बक्षी था। इसी प्रकार से महाराणा अड़सी के समय मौजीराम बोल्या फौजदार रहा था।

मध्यम वर्ग के अन्तर्गत वे जातियां थी, जो व्यापार-वाणिज्य एवं उच्च पेशों के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह कर रही थी। उनका उच्च वर्ग के साथ निकट सम्बन्ध था। वैश्य कई जातियों एवं शाखाओं में विभाजित थे। प्रमुखत: उनमे ओसवाल, पोरवाल, चित्तौड़ा, खंडेलवाल, माहेश्वरी, नरसिंहपुरा, नागदा आदि थे। वैश्य समुदाय का प्रमुख कार्य व्यापार तथा साहूकारी था। तोतला, तोशनीवाल, बिराणी, समदाणी, अजमेरा, नागोरी, खमेसरा, बावेल, बिड़ला, सिंघवी, सर्राफ, बजाज आदि उपजातीय वैश्य यहां के प्रमुख व्यापारी थे। 'चारण' जाति का सम्बन्ध राजपूतों के साथ काफी निकट का था और यही कारण है कि चारणों को राजपूतों का भाई भी कहा गया है। ये राजपूतों के सलाहकार एवं सहायक होते थे। फिर भी चारण राजपूतों की याचक जाति ही मानी गई है। विभिन्न अवसरों पर

ये राजपूतों की प्रशंसा करते थे। और बदले में इनाम-इकराम पाते थे। चारण भी कई उप-जातियों मे विभाजित थे, यथा —आशिया, सिढ़ायच, मेहडू, महियारिया, बारहठ, दधवाड़िया, आढा, दूला, सांदू, लालस आदि। युद्ध के समय चारणों द्वारा सैनिक सेवा देने के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। चारणों की ही तरह भाट जाति थी किन्तु इन दोनों में बड़ा अन्तर था। चारणों का सम्बन्ध तो केवल राजपूतों से ही था जबकि भाट सभी जातियो के होते थे। चारणों की तुलना में इनकी स्थिति निर्बल थी।[4]

आभूषणों से सम्बन्धित कार्य जोहरी और स्वर्णकार किया करते थे। गूजरों का बड़ा आदर था। उनकी स्त्रियां राजपूतो के घरों में धाय के रूप मे नियुक्त की जाती थी।

निम्न वर्ग के अन्तर्गत परम्परागत चले आ रहे धन्धों एवं पेशों के आधार पर विद्यमान जातियां थीं। इस वर्ग का कार्य उच्च एवं मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बन्धित साधन-सुविधाओं को उपलब्ध कराना था। माली अधिकांशत: साग-सब्जी की खेती करते थे। बीकानेर एवं जैसलमेर के जाट कृषि कार्य ही करते थे। आर. पी. व्यास के अनुसार "मारवाड़ मे जाटों से भूमि का अधिक लगान लिया जाता था क्योंकि वे अच्छे किसान होने के कारण अधिक उपज पैदा करते थे। जैतारण के समीप लूनी नदी के इलाके में कलबी जाति के लोग कृषि कार्य में रत थे। झालावाड़ के कीर व धाकड़, जयपुर के कोर, बीकानेर के कळबी एवं विश्नोई खेतिहर थे।" अहीर, गारी, रेबारी प्राय: पशुपालन करते थे। अत: वे परम्परागत रूप से ग्वाले कहलाते थे। रेबारी लोग प्राय: भेड़, बकरी एवं ऊंट पालते थे। इस जाति की बाहुल्यता मारवाड़ के बाली एवं देसूरी परगनो मे देखी जा सकती है। पटवा, लुहार, दरजी, लखारा, छीपा, गांछी, सिकलीगर, सुथार, ठठेरा, कुम्हार, धोबी, नाई, तेली, तम्बोली, कसारा, सालवी आदि निम्नवर्गीय अपने अपने पैतृक धन्धों में रत थे। कई ब्राह्मण भी हेय दृष्टि से देखे जाते थे और उनका समाज मे कोई सम्मान नही था। अत: हम उन्हे निम्न वर्ग के अन्तर्गत रख सकते हैं जैसे रसोई का काम करने वाले, आचारज ब्राह्मण जो व्यक्ति की मृत्युपरांत भोजन, कपड़ा आदि वस्तुएं दान स्वरूप लेते थे, भिक्षा-वृत्ति करने वाले ब्राह्मण आदि इस संदर्भ में उल्लेखनीय थे। राजस्थान की

---

4 देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य, वि. सं. 1650-1750 (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), पृ. 149-154

जातीय व्यवस्था के अन्तर्गत 'मुसलमानों' का भी अपना स्थान था। यह एक अल्प संख्यक जाति थी जिसके अपने रीति-रिवाज एव प्रथाएं थी। कई लोग जबरन धर्म परिवर्तन द्वारा इस्लाम धर्म के अनुयायी बन गये जिनमे फतेहपुर, झुन्झुनू व शेखावाटी के कायमखानी तथा मेवात के मेव कहलाते हैं। इनके रीति-रिवाज एवं परम्परायें पूर्ण हिन्दुओं की तरह ही हैं। हिन्दुओं के साथ रहने से दोनों ही जातियों में परस्पर प्रभाव पड़े बिना न रह सका। मुसलमानों में भी आन्तरिक जातिवाद कई रूपों में उभरा था जैसे—पींजारा, भड़भून्जा, नालबन्द, कुंजड़ा, जुलाहा, बगगर, लखारा, हलालखोर (मेहतर) पुनः जहां से वे मूलतः आये थे आदि के आधार पर भी मुलतानी, तुरक आदि वर्गों में बंट ही नहीं गये थे, समाज में भी उसी नाम से जाने जाते थे।[5] यह जाति अपने-अपने पैतृक व्यवसाय के अतिरिक्त राज्य को सैनिक सेवा भी देती थी। राजस्थान में मुसलमानों के साथ धार्मिक रूप में सामाजिक स्तर पर खान-पान के अलावा कोई भेद-भाव नहीं किया जाता था। पहाड़ी एवं जंगली जातियों मे भील, मीणे एवं मेर प्रमुख रही है। सामाजिक दृष्टि से इनका कोई सम्मान नही था किन्तु यह एक लड़ाकू जाति थी। अतः राजस्थानी शासकों ने कई अवसरों पर इनकी सहायता ली थी। भील प्रायः मेवाड़, प्रतापगढ़, सिरोही, डूंगरपुर, बांसवाड़ा के इलाकों में अधिक मिलते हैं। इनकी 16 शाखाएं थी। मेवाड़ राज्य में भीलों का महत्व राजपूतों से कम नहीं था। यहाँ के राज्य चिन्ह मे एक ओर राजपूत तथा दूसरी ओर भील को दर्शाया गया। इस ढग से यह एक रक्षक जाति के रूप में थी। महाराणा अमरसिंह द्वितीय के राज्याभिषेकोत्सव तक तो 'भील मुखिया' अपने अंगूठे को तीर से चीर कर नवीन महाराणा के तिलक से अभिषेक करता था। परन्तु इसके पश्चात इस प्रथा का कोई विवरण प्राप्त नही होता।

इनके प्रमुख शस्त्रों में तीर, *कामठा, तलवार, कटार, ढाल एवं कभी-*कभी बन्दूक भी थी। मेहमाननवाजी एवं स्त्रियोचित सम्मान इस जाति में कूट-कूट कर भरा हुआ था। ये राजस्थान में अस्पृश्य नही थे। इनका धन्धा प्रायः पशु-पालन, खेती, शिकार, घास एवं लकड़ी बेचना रहा था किन्तु अवसर पाकर चोरी एवं डकैती करने से भी नहीं चूकते थे। भीलों की भांति

---

5 मनोहरसिंह राणावत, इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ, पृ. 228

ही एक अन्य लड़ाकू जाति "मीणा" थी। ये कोटा, बून्दी, सिरोही, जयपुर, जहाजपुर एवं मांडलगढ़ की तरफ अधिक थे। इनकी एकसौ चालीस शाखा थी। यह वीर एवं लुटेरी जाति अपने हथियारों में तलवार, कटार, तीर कामठा और बंदूकें रखती थी। लड़ाई के समय खैराड़ के मीणा हुड़कारी करते थे। भरतपुर एवं धौलपुर के कई मीणा खेती करते थे।

भील एवं मीणों के अतिरिक्त 'मेर' जाति के लोग भी लड़ाकू थे। ये अधिकांशतः मेरवाड़ा क्षेत्र में रहते थे। 'मेर' अपने को हिन्दू कहते थे किन्तु हिन्दू धर्म के नियमों का पालन नहीं करते थे। ये देवी, देवजी, भालाजी, शीतलामाता, रामदेवजी व भैरव की पूजा करते और होली, दिवाली तथा दशहरा का त्यौहार मानते थे। युद्ध के समय इस जाति की वीरता को नहीं भुलाया जाता था। चमार, थोरा, रेगर, भंगी, बलाई, भांभी जाति के लोगों को 'चाडाल' कहते थे। ये अछूत समझे जाते थे। इनकी बस्ती गांव या नगर के बाहर एक तरफ होती थी। पैतृक धंधों में अधिक आय नहीं थी। अतः वे अपनी आमदनी बढ़ाने के विचार से कृषि कार्य भी करते थे।[6] कालबेलिया, सांसी, साटिया, बागरिया, गाडोलियालोहार, कांजर व बनजारा अपने अपने धंधों में व्यस्त थे। सांसी, साटिया व कांजर अवसर पाकर चोरी व डकैती भी कर बैठते थे।

राजस्थान के सामाजिक संगठन के अंतर्गत हमें प्रजातंत्रीय स्वतंत्रता एवं समानता के दिग्दर्शन नहीं होते हैं और समाज का यह वर्गीकरण मोटे-तौर पर दो रूपों में नजर आता है—एक शासक वर्ग जो उच्च था और दूसरा शासित वर्ग जो निम्न था। शासक वर्ग ने शासितों पर काफी ज्यादतियां की। इस संदर्भ में मध्यम वर्ग तो फिर भी बचा रहा किन्तु निम्न वर्ग की स्थिति बड़ी खराब हो गई थी। ऐसी दशा में जब जनसंख्या बढ़ती जा रही थी और वर्ग विशेष उसे खपा नहीं पा रहा था तब उसे मजबूरन अपने वर्ग से नीचे के वर्ग की ओर देखना पड़ा और अपने जीवन निर्वाह के लिये न चाहते हुये भी वह कार्य उसे करना पड़ा जैसे ब्राह्मणों या वैश्यों द्वारा कृषि कार्य अपनाना। वर्णों से वर्गों की स्थिति तक आने में तो कोई भी वर्ण अथवा जाति किसी भी पेशे अथवा धंधे को अपना सकती थी किन्तु जब वर्ग-भेद स्पष्ट हो गया तो किसी भी कार्य की स्वतंत्रता धूमिल होती हुई-सी नजर आती है। उदाहरणार्थ, वैश्य समुदाय की जो जातियां शासक वर्ग के निकट जाकर उच्च वर्ग में आ गई उसने कभी भी अन्य जाति को पास

6 शेरिंग, हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि. 3, पृ. 78-82

में नहीं फटकने दिया, नहीं तो उनकी मान मर्यादा में कमी आने का डर था। ऐसी स्थिति में विभिन्न जातियों द्वारा अपने जीवन-निर्वाह हेतु विभिन्न पेशे अथवा धंधे अपना लिये गये जिससे तत्कालीन 'राजस्थानी समाज में कार्य करने की स्वतंत्रता थी' कहने की भूल कर बैठते हैं। वैसे शत्रु के दरवाजा खटखटाने पर पारस्परिक वर्ग-भेद या वैमनस्य को भुला कर सभी वर्ग एक साथ अपने राज्य की सुरक्षार्थ लड़ने को कटिबद्ध हो जाते थे जिसका ज्वलंत उदाहरण उपर्युक्त वर्णित वर्ग-विश्लेषण में स्पष्टतः दिखाया गया है।

ज्योतिष तथा अन्य ब्राह्मणोचित कार्यों की अनिश्चितता के कारण जब उन्हें पर्याप्त लाभ नहीं हुआ तो उन्होंने अपने जीवनयापन के लिए अन्य पेशे प्रारम्भ कर दिये थे। कई ब्राह्मणों ने व्यापार और शिल्पकारी करना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप, जब पेशों के आधार पर जातिया बनने लगीं तो व्यापार करने वाले 'ब्राह्मण', 'बोहरा' व शिल्पी कार्य करने वाले 'खाती', 'सूत्रधार'(सुथार) या 'गजधर' कहलाने लगे जैसे ननवणा, बोहरा, पालीवाल बोहरा आदि। इस तरह से बीकानेर के पालीवाल व सारस्वत, भरतपुर के गौड़, जोधपुर के नन्दवाना व श्रीमाली तथा बांसवाड़ा के नागर ब्राह्मण अच्छे. व्यापारी थे। शासकों द्वारा समय समय पर भूमि देने से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों ने कृषि कार्य अपना लिया था। 15 वीं से 18 वी शताब्दी के कई साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है। यथा—वासुदेव तिवाड़ी, गणपत आमेटा, माधा पंड्या, वेणीराम पंड्या, शम्भूराम, दौलत राम ओझा, हरनाथ जोशी आदि ने मेवाड़ में अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़ कर कृषि कार्य अपना लिया था। इसी भांति, अजमेर के सुखवाल ब्राह्मण, जयपुर के बागड़ा, सांचोर के सांचोरा, बीकानेर के श्रीमाली व पालीवाल ब्राह्मणों ने कृषि करना शुरु कर दिया था। जोधपुर एवं बीकानेर के माली कृषि में अधिक लाभ न होने से व्यापार करने लग गये थे। इस तरह सभी वर्ग व जाति के लोगों ने अपनी सुविधा के अनुसार कार्य करना शुरु कर दिया था जिससे जातीय वर्गों की दूरी कम होती गई। सामाजिक संगठन के अनुशासन को बनाए रखना प्रत्येक जाति का प्रमुख कर्त्तव्य माना जाता था। जाति पंचायतें अपनी जाति के विकास हेतु खान-पान, विवाह, उत्सव, रीति-रिवाजों के संबंध में समय-समय पर नियम बनाती थी। ये पंचायतें अपनी जाति के लोगों से इन नियमों का सख्ती से पालन करवाती थीं। जातीय शिष्टाचार का पंच लोग बड़ा ध्यान रखते थे। परंपरागत चले आ रहे रिवाजों को ही मान्यता दी जाती थी। जाति से निकालना सबसे बड़ा एवं कठोर दण्ड था। मुसलमानों का मुखिया काजी होता था जो शरीअत के

अनुसार जातीय मामलों को सुलझाता था। इन जातीय पंचायतों के फैसलों को राज्य की सरकारें भी मान्यता देती थीं।

अंतर्जातीय संबंध—राजस्थान में जातीय भेद एवं छुआछूत होते हुये भी परस्पर वर्गों एवं जातियों के बीच कोई चौड़ी खाई नहीं थी। उनके आपसी सम्बन्धों एवं निर्भरता को कई ऐसे अवसरों, उत्सवों एवं समारोहों मे देखा जा सकता था जबकि ब्राह्मण जन्मपत्री बनाता, नाई संदेशवाहक के रूप मे तथा भोज के अवसर पर कई तरह के कार्य करता था। कुम्हार पानी भरता, अछूत लकड़ी चीरते, मकान को लीपते-पोतते थे। खाती विवाह के लिये तोरण बनाता था। सुनार आभूषण बनाता तो तेली तेल देता था। गांवों में ब्राह्मण व कृषक जन्म एवं मृत्यु के समय चमार की आवश्यकता महसूस करते थे। भंगी सफाई आदि करता था। जुलाहे कपड़ा बनाते थे। इस भांति सामाजिक जीवन को सहज रूप में चलाने के लिये एक दूसरे से मिल कर कार्य करना पड़ता था।[7]

संयुक्त परिवार-व्यवस्था—राजस्थान के सामाजिक जीवन में संगठित परिवार थे, जिसे आज की भाषा में संयुक्त परिवार व्यवस्था कहा जाता है। मेवाड़ के महाराणाओं द्वारा प्रदत्त ताम्र पत्रों से ज्ञात होता है कि उनके द्वारा प्रदान की गई भूमि पर उपभोक्ता के पश्चात उसके बेटे पोतों का अधिकार रहता था। इसी तरह राजस्थान के निवासी प्रायः कृषि, घरेलु उद्योग-धंधों एवं व्यापार-वाणिज्य को निर्बाध गति से बढाने हेतु संयुक्त परिवार के सदस्यों की पूरी मदद मिलती रहती थी। 1620 ई. को मेड़ता प्रशस्ति से भी संयुक्त परिवार के दिग्दर्शन होते हैं। परिवारों की एकता और सुदृढता को बनाये रखने मे राज्य एवं जातीय पंचायतों का विशेष हाथ रहता था। कालांतर मे परिवार अपने पारस्परिक झगड़ों, ईर्ष्या, द्वेष, पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव आदि कई कारणों के फलस्वरूप संयुक्त परिवार की अपेक्षा एकाकी परिवार व्यवस्था की ओर बढने लग गये थे।

संस्कार—राजस्थान के हिन्दू समाज में संस्कारों का बड़ा महत्व रहा है। गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक विविध संस्कार सम्पन्न कराये जाते थे। यों तो कुल 16 संस्कार थे किन्तु जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह एवं मृतक-संस्कार ही प्रमुख रह गये थे। राजपूतों में इन

चित नहीं है फिर भी समाज में पूर्ण प्रचार-प्रसार था। मृत्यु भोज पर भी अधिकता के साथ खर्चा किये जाने का उल्लेख मिलता है। इन कुप्रथाओं के विरुद्ध सुधार के कोई विशेष प्रयास नहीं किये गये थे। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "सामाजिक सुधार नाम के कुछ प्रयत्न सवाई जयसिंह के समय में मिलते हैं या दहेज या नेग देने के सम्बन्ध में रोक लगाने का उल्लेख पीछे से जाकर राजपूत हितकारिणी सभा द्वारा किये गये थे।" कुछ भी हो कविराजा श्यामलदास के अनुसार सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण अब संस्कारों का स्वरूप बदल गया था और उनका महत्व भी कम होता जा रहा था।

दास-प्रथा—राजस्थान में दास-प्रथा भी प्रचलित थी। मुगलों के आगमन के बाद इस प्रथा को और बढ़ावा मिला। दासों की संख्या से ही परिवार या कुल की उच्चता को आंका जाता था। ये दास, दासी, गोला, गोली और चाकर कहलाते थे। इनका समाज में कोई प्रभाव नहीं था। ये शासक, सामंतों एवं धनिकों के यहां सेवा-सुश्रूषा के लिये रहते थे। युद्ध के अवसर पर काफी संख्या में स्त्री पुरुष दास बनाये जाते थे। वंशानुगत दास लड़कियां तो राजकुमारियों के विवाह में, दहेज के रूप मे, तक दी जाती थी। शासकों के अलावा सामन्तों एवं धनिको के यहां भी दास दासी कार्यरत थे। इनके साथ कलुषित एवं घृणित व्यवहार नही किया जाता था। बाजवक्त चतुर एव सुन्दर दासिया अन्त.पुर मे सर्वेसर्वा बन जाती थीं जैसे मेवाड़ राज्य में महाराणा हमीरसिंह द्वितीय के समय दासी रामप्यारी का प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया था कि उसने राज्य मे मनोवांछित कार्य करना प्रारंभ कर दिया। वास्तव में राजस्थान मे दास-प्रथा काफी जोर पकड़ती जा रही थी। इन्द्रिय लोलुप नरेशों, सामन्त-सरदारो तथा उच्चवर्गीय लोगों ने अपने यहां सुन्दर-सुन्दर दासियों को रखने में काफी धन व्यय किया। अतः नैतिक पतन के साथ-साथ आर्थिक व्यवस्था पर कु-प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

पोशाक एवं वस्त्र—पूर्व मध्यकाल तक आते-आते कुम्भलगढ के मामादेव मन्दिर, चित्तौड़गढ स्थित विजय स्तम्भ, कुम्भ श्याम-मन्दिर तथा उदयपुर में जगदीश मन्दिर की स्थापत्य कला एवं मूर्तियों के अंकन में समकालीन पोशाक वस्त्रादि के बारे में जानकारी मिलती है। उस समय लोग कमर में एक धोती और ऊपरी हिस्से में एक उत्तरीय पहनते थे। मध्ययुगीन पुरुषों की वेश-भूषा में पगड़ी, कुर्ता, धोती व लंबा अंगरखा प्रमुख वस्त्र रहे थे। इस समय तक मुगलों का प्रभाव भी वेश-भूषा पर पड़ना शुरु हो गया था। दरबारी लोग कई तरह के वस्त्रादि यथा—पछेवड़ी, दगाली, दोघोया,

डोढ़ी, दुपटो, दोवड़ और कानो (यह लम्बी बांहों का एक कोट होता था) आदि पहनने लगे थे। इसके अलावा जामा, वागा, जहगा भी पहिने जाते थे। सर्दियों में गुदड़ी, खेस, शाल तथा पामड़ो दोवड़ता या चाखड़ता करके कंधो पर डाली जाती थी। राजा-रईसो के कपड़ों पर सोने चांदी का काम किया होता था। सिर पर पगड़ी बाधने का भी अत्यधिक प्रचलन था। पगड़ियो पर भी सोने चांदी की किनारिया बनी होती थी। राजस्थान के विभिन्न राज्यों मे अलग-अलग तरह से पगड़ियां बांधी जाती थी। इतना ही नहीं पगड़ियो के बाधने में कई ठिकानो की अपनी विशेषता भी विलगता लिये होती थी। उदयशाही, अमरशाही, अरसीशाही, शिवशाही, खजरदार, चूंडावत-शाही, जसवन्तशाही, राठोडी, मानशाही आदि विविध रूपो मे पगडियां बाधी जातीथी। त्योहारों, उत्सवो एवं ऋतुओंके अनुसार विभिन्न प्रकारकी पगड़ियां धारण की जाती थी। तीज पर लेहरिया, दशहरे पर मझल छपाई की सलमा सितारे के फूलो से बनी पगड़ी, होली पर सफेद या पीली, वर्षा ऋतु मेहरी या कसूमल, सर्दियों मे कसुम्बी तथा गर्मियों मे केसरिया पाग बाधी जाती थी। राजा-रईसों की पगड़ियो पर बेशकीमती जेवर भी बाधा जाता था।

उच्चवर्गीय लोगो में रूमाल रखने, गले मे गुलबंध व कमर मे 'कमर बंधा' बाधने का चलन भी था। जांघिया भी पहिना जाता था जिस पर कभी-कभी चिकन या जरदोजी के फूल बनाये जाते थे। सिलवार, पायजामा, इजार, इजार बंध आदि वस्त्रों के रूप मे मुगलिया प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता था। कुलीन वर्ग पांवो में मखमली जूतियां पहिनता था। सैनिक प्रायः धोती दुपट्टा तथा फेंटा बाधते थे। युद्ध स्थल पर केसरिया बाना भी धारण किया जाता था।

सामान्य जन-जीवन में धोती, बखतरी, दुपट्टा, फेंटा, जांघिया व साधारण पगड़ी बांधी जाती थी। मुसलिम समाज में लम्बा कुर्ता व पायजामा पहिना जाता था। ग्रामीण वर्ग सिर पर पोतिया बांधता तथा भील लकड़हारे तो एक लंगोटी से ही काम चलाते थे। साधु एवं फकीरो की पोशाक अत्यन्त साधारण थी, जैसे-पेड़ों की छाल, सफेद उत्तरीय, लंगोटी तथा कफनी नामक लम्बा कोट पहिना जाता था।

स्त्रियों की पोशाक मे प्रायः चोली, साड़ी या ओढनी, घाघरा, लहगा मुख्य वस्त्र थे। मुगल प्रभाव से स्त्रियो की पोशाक में भी परिवर्तन आया। राजपूत स्त्रियों मे साड़ी, चोली तथा घाघरे के स्थान पर लम्बी कुर्ती, छोटी साड़ी तथा पायजामे के रूप में कई सलो वाली घघरी पहनी जाने लगी।

उच्च वर्गीय स्त्रियों के पहिनावे मे तथा निम्न वर्गीय स्त्रियों की पोशाक

में काफी अन्तर था। उच्च वर्ग की स्त्रियां सुनहरी व रुपहरी तारों का काम किये हुए जरी के पकड़े पहिनती थी। वे पैरों मे चप्पल या मखमली जूतियां भी पहिनती थी जबकि निम्न वर्ग की स्त्रिया एव विधवायें साधारण कपड़े पहिनती और नंगे पैर रहती थीं।

आभूषण एवं श्रृंगार—राजस्थान के स्त्री, पुरुषों को आभूषण धारण करने का बड़ा शौक था। स्त्रियो के सिर के आभूषणों में शीशफूल, टीका, रखडी, बोर, कान में विभिन्न भांति के कर्ण-फूल, पीपल-पत्र, फूल-झूमका, आगोट्या पहिने जाते थे। नाक के गहनो मे नथ, वलनी, वारी आदि मुख्य थे। दांतों मे सोने की चोपें जड़ाई जाती थी। हार, पाट, कठी, निबोरी, थमणिया, तुलसी, जुगावली, चौकी कंठसारी, कठमाला, मांदल्या, चन्द्रहार, गुंजमाला, जालरो आदि आभूषण गले मे पहिने जाते थे। बाजूबन्द, अणत, पाट, कडा, ककण, नोगरी, गजरा व चूड़ी, भुजा से लेकर कलाई तक के जेवर थे। पूंचा में हथ पान, पूंचा व अंगुलियो मे बीटी, मुन्दड़ी, दामणा तथा अंगूठी पहिनती थी। कमर में कन्दोरा तथा पांवो मे पायल, पायजेब, नूपुर झाझरिया, नेवरी, आंवला, लंगर, जोड़, कड़ा, पगपान, तोड़ा, अगूठा या आनोटा बिछियां, पोलरा, फौलरी, अनवट, छल्ला आदि पहिने जाते थे। सोने से बने आभूषण प्रायः कीमती पत्थर एवं मोतियों से जड़े हुए होते थे। इनका उपयोग कुलीन वर्ग की स्त्रिया ही करती थी। जनसाधारण की स्त्रियो के ये गहने चांदी के बने हुए होते थे। जिन्हें वे त्यौहार आदि अवसर पर ही पहनती थी। निम्न वर्गीय स्त्रियां पीतल व तांबे के बने जेवर पहनती थी। स्त्रियों को श्रृंगार करने का बड़ा चाव था। वे हाथों एव पैरों मे मेंहदी लगाती थी, सुगंधित तेल, पुष्प आदि से विविध प्रकार से केश संवारती थी। आंखों में सुरमा डालती थीं तथा हिन्दू स्त्रियां अपने ललाट पर सुहाग की बिन्दी लगाती थी। उच्च वर्ग की स्त्रियो द्वारा उबटन करने के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं।

पुरुषों में प्रायः कुलीन वर्ग के लोग हाथों में कड़े, भुजबंध, अंगूठी, गले में हार, कानों में कुण्डल तथा कमर में कधनी पहनते थे। राजा-महाराजाओं, सामंतों के आभूषण सोने से बने हुये रत्न एवं कीमती मोतियो से जड़े होते थे। साधारण वर्ग के लोग प्रायः चांदी अथवा पीतल के आभूषण का प्रयोग उत्सवादि अवसरों पर ही करते थे।

खान-पान—राजस्थान में शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों ही प्रकार के भोजन का प्रचलन था। अधिकांशतः हिन्दू शाकाहारी थे। निर्धन एवं कृषक वर्ग के लोग प्रायः मक्का, ज्वार, कांगणी, माल, कोदरा, सामा आदि

खाद्यान्नों का प्रयोग करते थे। वे अपनी सुविधा एवं इच्छानुसार इससे घाट, राब, मोटी रोटी, सोगरो तैयार करते थे। गुड़ तथा इससे बने पदार्थ, त्योहार आदि अवसरों पर काम में लेते थे। मध्यम वर्ग में गेहूं, जौ, मक्की, चावल खाये जाते थे। दूध, दही, घी, शक्कर, तेल और गुड़ भी प्रयोग में लेते थे। लकड़ी की थाली व पीतल का 'थाटका' भोजन करने के बर्तन थे। पलाश के पत्तों से पत्तल एवं दोना तैयार कर उसमें भी भोजन किया जाता था। राजा-महाराजा चांदी के थाल एवं कटोरियों में भोजन करते थे। कुलीन वर्ग का भोजन सामान्य एवं मध्यम वर्गीय जनजीवन से काफी श्रेष्ठ था। उनके यहां विविध प्रकार के व्यंजन बनाये जाते थे। विवाह एवं अन्य उत्सवों पर कई तरह की मिठाइयां एवं अन्य व्यंजन तैयार किये जाते थे। जैसे रोटी, पुड़ी, घेवर, लड्डू, लापनशाही, जलेबी, मठरी, खाजा, हलुवा, लापसी, चावल, बड़ी, पापड़ी, पापड़, खिचड़ी आदि। अकबरी गुंजा, पुलाव, मुरब्बा, कचोरी, खुरासानी, खिचड़ी आदि मुगल प्रभाव की द्योतक थी।

शाकाहारी पकवानों की भांति मांसाहारी पकवान भी विविध रूपों में बनाये जाते थे। जीरा, लौंग, इलायची सभी मसालों से पूरित पुलाव, हिरन का मांस आदि बनाया जाता था। क्षत्रियों के अलावा निम्न वर्ग में भी मांस खाया जाता था। दूध, छाछ और पछावर का प्रयोग पीने के लिए होता था। व्यसन के रूप में अफीम अथवा अफीम का गालमा या 'कसूंबा' पिया जाता था। राजपूतों में शराब का प्रचलन भी था। निम्न वर्गीय लोगों में मद्यपान का काफी प्रचार-प्रसार था। तम्बाकू भी पी जाती थी। ब्राह्मण एवं वैश्य समाज में प्रायः भंग पी जाती थी।[8]

स्त्रियों की दशा—प्राचीन काल से ही बड़े घरानों की लड़कियों की शिक्षा के बारे में विशेष ध्यान दिया जाता था। धार्मिक, नैतिक एवं आदर्श आचरण की शिक्षा देने पर बल दिया जाता था। किन्तु ग्रामीण एवं निम्न वर्गीय समाज की स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार बहुत कम था।

स्त्री समाज में मुगल-प्रभाव के कारण, बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा की शुरुआत हो गई थी। कुलीन वर्गीय समाज में स्त्रियों के निवास स्थान अलग से बने हुए थे। जहां साधारणतः पुरुषों का प्रवेश निषेध था। किन्तु पुरोहित, आचार्य आदि के लिए कोई बंधन नहीं था। वे स्वतन्त्रता पूर्वक

---

8 कपड़ कूतूहल, ग्र. सं. 186, पृ. 183-88; राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 3, श्लोक 17; जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 293-97; जी. एन. शर्मा, सो. ला. ई. में रा., पृ. 143-65

जनाने में आ-जा सकते थे। इससे स्त्रियों का जीवन क्षेत्र सीमित हुआ हो, यह नहीं कहा जा सकता। शासक प्राय: बहु विवाह करते थे। इनकी रानियों का भी राज्य कार्य में पूर्ण योगदान देखने को मिलता है। प्राय: ज्येष्ठ पुत्र की अल्पावस्था में रानियां राज्य कार्य सम्भालती थीं। इस दृष्टि से भट्टियाणी रानी तथा हंसाबाई का नाम विशेष उल्लेखनीय है। महाराणा हमीरसिंह द्वितीय के शासन काल मे 'राजमाता' स्वयं शासन प्रबन्ध संभाले हुए थी। 18 वीं शताब्दी मे उदयपुर से कुछ राणियों द्वारा तथा बनेड़ा राजघराने की स्त्रियों द्वारा लिखे गये पत्र मिलते है जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि तब स्त्रिया राजनीति में खुलकर भाग लेने लग गई थी। आक्रमण के समय भी ये रानियां अपने साहस एवं शौर्य का परिचय देने में आगे रहती थी। पद्मिनी ने जिस कुशलता के साथ रतनसिंह को अलाउद्दीन के चंगुल से छुड़ाया उससे इतिहास का कौन विद्यार्थी परिचित नही है। चित्तौड़, रणथंभोर, जालोर आदि दुर्ग इस बात के परिचायक हैं कि भयानक आक्रमणों के समय उस समय की राजपूत वीरांगनाओं ने हँसते हँसते जौहर किया। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार सवाई जयसिंह के समय कई सामाजिक सुधारों मे राजमहल की रानियों की सम्मति का हाथ होना माना जाता है। प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि स्त्रियो ने स्थापत्य निर्माण कार्य भी करवाया था।

समाज में प्राय: एक स्त्री के साथ ही विवाह करने की प्रथा थी किन्तु कुलीन वर्ग मे बहु विवाह का प्रचलन भी था। राजपूत-समाज मे विवाह के पश्चात् स्त्री की जाति में कोई परिवर्तन नही आता था। उसकी जाति मायके के अनुरूप ही रहती थी। गंधर्व-विवाह भी होता था। पासवानों के रूप मे भी स्त्रियां रखी जाती थी। बहु-विवाह के कारण परिवार क्लेश एवं झगड़ो के स्थल बन गये। समाज मे विधवाओं की दशा अच्छी नही थी। वे दूसरा विवाह नहीं कर सकती थीं। पुत्र न होने की दशा में वह अपने रिश्तेदारों में से किसी को गोद भी ले सकती थीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य समाज में विवाह सम्बन्ध का बड़ी कठोरता से पालन किया जाता था। तलाक देने की प्रथा की स्वीकृति नहीं थी। किन्तु 18 वीं शताब्दी में तलाक की प्रथा आंशिक रूप से प्रारम्भ हो गई जो निम्न वर्ग मे तो खासतौर से प्रचलित थी।

सती प्रथा—राजस्थान मे सती प्रथा का प्रचलन राजपूत जाति में सर्वाधिक था। अपने पति की मृत्यु पर शोकग्रस्त पत्नी स्वयं पति के साथ जल मरती थी। प्राय: पुरुष के मरने पर उसके साथ सती होने वाली स्त्रियो की सख्या के आधार पर उसकी प्रतिष्ठा का अनुमान लगाया जाता था। राजस्थानी शासकों के साथ कई रानियां, उपरानियां, पासबानें, खवासणें,

दासियां आदि के सती होने के साक्ष्य मिलते हैं। सती होने वाली पत्नी अपने मृत पतिका सिर अपनी गोदमें लेकर चिता में बैठतीथी। कभी-कभी स्वयंसाथ मे न जल कर अपने शरीर का एक अंग काट कर साथ में जला देती थी और स्वयं कुछ समय बाद जलती थी। कभी कभी पतिके दूरस्थ स्थानपर मर जाने पर उसके मरने की सूचना आने पर पत्नी चिता में जल कर सती होती थी किन्तु गर्भवती स्त्री कभी सती नही होती थी। गर्भ प्रकट के कुछ दिन बाद ही वह सती हो सकती थी। अकबर ने सती प्रथा रोकने का प्रयत्न किया किन्तु असफल ही रहा। जब जोधपुर के मोटा राजा उदयसिंह की लाहौर मे मृत्यु हो गई तो उसकी चिता पर उसकी रानियां आदि सती हुई, जिसे देखने अकबर स्वयं वहां गया था।[9] कई बार सती होने वाली स्त्री 'अएख' (निषेधात्मक आदेश) दे जाती थी जिसकी पालना उसके कुटुम्बी जन अनिवार्यत: करते थे।

कई अवसरों पर स्त्रियां अनिच्छा से सती होती थी। 1757 ई मे आमली गांव की एक ब्राह्मण स्त्री वहां के भोमिया जसवंतसिंह द्वारा सताये जाने पर सती हो गई थी। ब्रिटिश संरक्षण के बाद राजस्थान में सती प्रथा पर नियत्रण स्थापित कर दिया गया अत: यह प्रथा धीरे-धीरे समाप्त प्राय: सी हो गई।

अंध विश्वास—राजस्थानी समाज में अंध विश्वास भी फैला हुआ था। लोग जोगियो के चमत्कार, ज्योतिषियो की भविष्यवाणी, मंत्र-तंत्र, शकुनो और स्वप्नों मे तथा जादू-टोना, भूत-प्रेत, डाकण आदि मे काफी विश्वास करते थे। स्त्रियां इसमे विशेष विश्वास रखती थी। वे अपने बच्चों की बीमारी के समय झाड-फूंक एवं जादू-टोना करवाती थीं। पुरुष भी स्त्रियों की तरह ही अंध विश्वासी थे। ग्रहण के समय दान देना तथा अपने पूर्वजों की आत्मा को बुलाने के लिए 'राति जगा' देने की प्रथा थी। शुभ अशुभ शकुनों में विश्वास करते थे।

आमोद-प्रमोद के साधन—राजस्थान वासियो का जीवन आमोद-प्रमोद से पूरित था। अंतर्कक्षीय खेलो में शतरंज, चौपड़, चरभर, नारछाली, जुआ प्रमुख थे। इन खेलों का महत्व अंतःपुर में विशेष रूप से था। घोड़ा-दड़ी, पतंग बाजी, डाल कुदावणी, मुक्केबाजी, कुश्तियां, रथ-दौड़, तैरना,

---

9 मनोहरसिंह राणावत, इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ, पृ. 224-25

शिकार खेलना, पशुओं की लड़ाईयां आदि में बड़ी रुचि ली जाती थी। पक्षियों में तोता, मैना, मोर, मुर्गा, कबूतर, चकोर आदि पाले जाते और उनके खेल एवं बोली से आनंदित होते थे। गोपीनाथ शर्मा का मानना है कि पतंग बाजी, कबूतर बाजी, मोहो और मुर्गों की लड़ाई सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के साधन बन गये थे जो मुगलों से लिये गये थे। बालक मिट्टी के घरोंदे बना कर खेलते थे। बहुरूपिये, जादूगर, सपेरे तथा नट आदि जगह-जगह खेल दिखाते थे। हरिश्चन्द्र चोपाई रास, सकल कीतिरास, रासलीला के अतिरिक्त अभिनय आदि भी खेले जाते थे। आदिवासी भील जाति द्वारा खेला जाने वाला प्रसिद्ध लोकनाट्य 'गवरी' था। घूमर, फूंदी, घेरा आदि कई प्रकार के भाव-भंगिमा पूर्ण नृत्यों के साथ-साथ संगीत एवं विविध प्रकार के वाद्य यंत्रों का बजाना, झूलना आदि का प्रयाप्त प्रचलन था।

त्योहार एवं उत्सव—सभी जातियों के लोग अपने धार्मिक व सामाजिक त्योहार एवं उत्सव सोल्लास मनाते थे। राजकीय संरक्षण में मनाये जानेवाले त्योहारों की छटा और अधिक आकर्षित होती थी। राज्य की भांति ठिकानों मे भी जागीरदारों के संरक्षण में त्योहार बड़े उत्साह से मनाये जाते थे। हिन्दू त्योहारों मे गणगौर, तीज, होली, नवरात्रि, दशहरा, दीपावली, रक्षाबंधन आदि त्योहार तथा शिवरात्रि, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि धार्मिक पर्वों को मनाते थे। दीपावली के त्योहार पर लोग जुआ भी खेलते थे। होली, दीपावली तथा रक्षा बंधन तीनो ही त्योहारों पर रैयत को अपने शासकों को निश्चित रूप से कुछ राशि भेंट करनी पड़ती थी।

इन त्योहारों में शासकों की सवारियां निकलती थीं। दरबार लगाये जाते थे तथा इनाम-इकराम दिये जाते थे। जैन त्योहारों में पर्यूषण का त्योहार सर्वाधिक पवित्र होता था। पर्यूषण का अंतिम दिन संवत्सरी कहलाता था। चैत्र वदी 3 से आठ दिन "अष्टिका" त्योहार होता था। मुस्लिम समाज भी अपने धार्मिक त्योहार सहर्ष मनाता था। मुहर्रम, आकरी बुध, बारावफात, शब–ए–बरात, ईद-उल-फितर, ईद-उल-जुहा के त्योहार मुस्लिम समाज द्वारा मनाये जाते थे। हिन्दू, जैन एवं मुस्लिम त्योहारों में परस्पर कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता थी। अजमेर में कुतुब-उल-आफताब हजरत ख्वाजा गरीबनवाज मुईनुद्दीन चिश्ती के उर्स मे हिन्दू भी भाग लेते थे। जैनी, हिन्दुओं के तीज, गणगौर आदि त्योहार मनाते थे। दशहरा, दिवाली व होली के त्योहार में प्रायः सब ही वर्ग के लोग भाग लेते थे। इस प्रकार से राजस्थान मे साम्प्रदायिक वैमनस्यता से रहित जन-जीवन परस्पर सौहार्द, समन्वय के साथ त्योहार एवं उत्सव मनाता था।

इस प्रकार से राजस्थान के सामाजिक जीवन में परम्परागत पुट तो दृष्टिगत होते ही हैं साथ ही मुगल प्रभाव भी व्यापक रूप में दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त समयानुरूप अन्य परिवर्तन भी यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं।

धार्मिक जीवन—राजस्थान आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आगे रहा है। यहाँ के राजा-महाराजाओं का अपना राजधर्म भले ही कोई-सा रहा हो किन्तु उनकी सहिष्णुतावादी नीति के कारण जन-सामान्य अपने विश्वास के अनुरूप किसी भी प्रचलित धर्म को स्वीकार करने के लिये स्वतंत्र था। साथ ही राजस्थानी नरेशों ने अपनी सामर्थ्यानुसार विभिन्न धर्मों को सहायता एवं सहयोग प्रदान कर अपनी धार्मिक सहिष्णुता की नीति को और अधिक उजागर करने का प्रयास किया था। यही कारण है कि राजस्थान धार्मिक क्षेत्र में सभी धर्मों को पुष्पित एवं पल्लवित कर सका तथा यहाँ पर विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायों के महान संतों ने अपनी धूनी रमा कर अपने विचारों से जनता को लाभान्वित कर आध्यात्मिक क्षेत्र में प्राचीन काल से चली आ रही धर्म-सरिता को अबाध गति से प्रवाहित रक्खा। यहां एक और बहुदेववाद देखने को मिलता है वहीं दूसरी ओर एकदेववाद भी था। इस भांति भारतीय संस्कृति की एकता में अनेकता एवं अनेकता में एकता के भाव धार्मिक दृष्टि से यहां स्पष्टत: परिलक्षित होते हैं। व्यक्ति एकदेववाद में भी उसी शक्ति को स्वीकारता था और बहुदेववाद में भी उस एक ही सर्व शक्ति के विभिन्न रूपों को मानता था। राजस्थान-भूमि की आत्मसात करने की क्षमता ने सभी धर्मों के विचारों को फैलने दिया। अतएव प्राचीन काल से लेकर अब तक यह वीर भूमि, धर्म के रूप में भी सर्वाधिक प्रसिद्ध रही है।

यहा प्राचीन काल से ही वैदिक धर्म का प्रचार एवं प्रसार रहा था। लोग वेदों और स्मृतियों के विरुद्ध नहीं जाते थे। प्रशस्तियों तथा स्तंभों से राजस्थान के विभिन्न राज्यों में सपन्न किये गये यज्ञोका पता चलता है। जयपुर के सवाई जयसिह ने अश्वमेध यज्ञ कराके 18 वी शताब्दी के मध्य तक वैदिक यज्ञो की परपरा को जीवित रखा था। इसके बाद भी वैदिक परपरा के अनुकूल यज्ञादि तो सभी क्षेत्रो में संपन्न कराये जाते ही थे। 19 वीं शताब्दी में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कई बार राजस्थान के विभिन्न राज्यों की यात्रा कर वैदिक धर्म को पुनर्जीवित करने का भरसक प्रयास किया। प्राचीन मंदिरों से स्पष्ट होता है कि राजस्थान में 8 वी शती से 15 वी शताब्दी तक ब्रह्मा की पूजा लोकप्रिय थी। छठी शताब्दी से यहाँ सूर्य पूजा भी

काफी प्रसिद्ध रही है। इस क्षेत्र में सिरोही जिला विशेष महत्वपूर्ण है, जहाँ सूर्य-पूजा सर्वाधिक प्रचलित थी। वरा गाँव मे 1204 ई. का विशाल सूर्य मन्दिर है जो बेनी गुप्ता के अनुसार राजस्थान में संभवतया अंतिम सूर्य मंदिर का निर्माण था। मेवाड़ राज्य में सूर्यवंशी गुहिल शासकों के कारण 'सूर्यपूजा' का प्राधान्य रहा था। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि शैव मत का प्रचलन एक लम्बे समय से रहा है। मथुरालाल शर्मा के अनुसार कोटा क्षेत्र में गुप्तकालीन शिवालय की विद्यमानता की जानकारी मिलती है। 10 वीं शती मे मेवाड़ प्रदेश में पाशुपत शैव धर्म का पर्याप्त विकास हो चुका था। छोटी सादड़ी के भंवरमाता मदिर के शिलालेख(वि.सं 547)में शिव की अर्द्धनारीश्वर स्वरूप की स्तुति की गई है।[10] मेवाड़ में शिव पूजा का बाहुल्य रहा है। मेवाड़ के स्वामी एकलिंगनाथ ही हैं, महाराणा तो स्वयं को उनका 'दीवाण' मानते हैं और वे उसी रूप में शासन चलाते हैं। राजस्थान में गोरखनाथ की 12 शाखाओं में से दो हैं—'वैरागपथ' जिसका केन्द्र पुष्कर के पास राताडुंगा है; दूसरा 'माननाथीपथ' इसका केन्द्र जोधपुर का महामंदिर है।[11] इस सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव मेवाड़ और बांसवाड़ा राज्य में भी रहा था।[12] जालोर के चौहान तथा आबू के परमार भी रावल शाखा के योगियों के परम भक्त रहे। जैसलमेर के नरेशो ने नाथ योगियो को अपना धर्म गुरु स्वीकार किया था। जयपुर के नाथावत, खांपावत एवं मारवाड़ के कूंपावत राजपूत भी इनके भक्त रहे थे।[13] शैव-मत की लकुलीश शाखा का महत्व भी कोई कम नहीं था।

राजस्थान में शाक्त संप्रदाय का जोर भी था। शिला लेखों से ज्ञात होता है कि देवी की कई रूपों में उपासना की जाती थी। देवी उपासकों का वाममार्गी संप्रदाय भी कहीं-कहीं प्रचलित था। इस संप्रदाय के लोग गुह्य उपासना के साथ-साथ मांस, शराब व स्त्रीभोग भी करते थे। राजस्थानी-नरेशों के शक्ति विश्वास के फलस्वरूप कई देवियों को कुलदेवी के रूप मे स्वीकार कर लिया गया था जिसमें 'बाणमाता' को मेवाड़ के नरेशों ने; 'सांगियाजी' को जैसलमेर के शासकों ने; 'अन्नपूर्णा' को जयपुर के

---

10 वरदा, अक्टू. 1964, पृ. 9-15; वही 1963, वर्ष 6, अंक 1, पृ. 13; शोध पत्रिका, वर्ष 25, अंक 3-4, पृ. 41-44

11 पेमाराम, मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 19

12 नाथूलाल व्यास के संग्रह के पत्र।

13 पद्मजा, जोधपुर के महाराजा मानसिंह और उनका युग, पृ. 139-40

कछवाहों ने; 'नागणेची' को जोधपुर के शासकों ने तथा देशनोक की 'करणी-माता' को बीकानेर के राज परिवार ने स्वीकार किया।

यहाँ वैष्णव संप्रदाय भी अत्यधिक प्रभावी रहा है। मंदिरों एवं प्रशस्तियोंसे स्पष्ट है कि राम एवं कृष्णके रूप में विष्णुकी पूजा का प्रचलन प्रतीत से चला आ रहा है। राजस्थान मे गणेश, इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, कुबेर, भैरव, हनुमान, नाग आदि की पूजा-अर्चना के साथ-साथ ग्रह, नक्षत्र, प्रातः, मध्याह्न, सायं, नदियां, पेड़ आदि की पूजा भी होती थी। हिन्दू समाज अपने धार्मिक संस्कारों, व्रत-उपवास का पालन करते थे। धार्मिक तीर्थ स्थानों का भी बड़ा महत्व था जिसमे पुष्करराज का अनुपम स्थान था।

जैन धर्म—राजस्थानी नरेशों की सहिष्णुतावादी नीति के परिणाम-स्वरूप यहां जैन धर्म का पूर्ण प्रचार था। यों तो राजस्थान में 10 वीं शताब्दी से जैन धर्म का विशेष प्रभाव रहा है किन्तु इससे पूर्व भी कई जैन मंदिर अवस्थित थे जिनमे अर्बुदाचल, वसंतगढ़, नाडलाई, मडोर, ओसियां, करेड़ा (भूपालसागर), चित्तौड, भीनमाल, सिरोही आदि प्रमुख हैं। प्राप्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यहां के शासकों ने जैन-साधुओं या मुनियो का पूर्ण आदर किया, जैन उपासरों या मन्दिरों के लिए समय-समय पर अनुदान दिया था। जोधपुर, बीकानेर व उदयपुर संभाग मे जैन धर्म के श्वेताम्बर सम्प्रदाय का तथा जयपुर व कोट क्षेत्र मे दिगम्बर सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव रहा है। 1760 ई. मे स्वामी भीखणजी ने मेवाड़ मे ही 'तेरापंथ' की स्थापना की। सिरोही, ऋषभदेव, आबू, देलवाडा, रणकपुर जैन-तीर्थ-स्थल है। राजस्थान मे जैन धर्म की सबसे बडी देन हस्तलिखित साहित्य है जिनमें जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

इस्लाम—12 वी शताब्दी के अंत में अजमेर पर गोरवश का आधिपत्य स्थापित होने के साथ ही राजस्थान मे इस्लाम धर्म का प्रवेश हुआ। अजमेर तो इस धर्म का मुख्य केन्द्र था ही जहा से नागोर, जालोर, मांडल, चित्तौड़ आदि स्थानो मे इसका विकास हुआ। मुस्लिम सन्तो ने इस क्षेत्र में विशेष योगदान दिया। हजरत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने इस्लाम के सरल, सहज एवं बोधगम्य सिद्धान्तों के साथ अपने व्यवहार से जनता को प्रभावित कर इस्लाम को फैला दिया। ख्वाजा साहब की अजमेर स्थित दरगाह आज भी हिन्दू-मुसलमानो का आकर्षण केन्द्र बनी हुई है। ख्वाजा साहब के बड़े पुत्र हजरत ख्वाजा फखरुद्दीन चिश्ती पे पहले मांडल तदुपश्चात सरवाड़ मे, हजरत हिसामुद्दीन जिगर सोख्ता ने सांभर में, हजरत हमीदउद्दीन ने नागोर में रहकर इस्लाम फैलाया था। सल्तनत एवं मुगलकालीन कट्टर शासकों ने हिन्दू

मन्दिरों को तोडकर जनता पर आतंक स्थापित कर उन्हें इस्लाम ग्रहण करने को बाध्य किया जिससे इस धर्म के प्रति लोगों मे द्वेष एवं रोष उत्पन्न हो गया। फिर भी राजस्थान मे रह रहे मुस्लिमो को यहां के सहिष्णु शासकों ने कई सुविधायें प्रदान कीं। उन्हें सेना मे उचित स्थान दिया, कई काजियों एवं सैनिकों रो राज्य की ओर से सम्मानित किया जाता था। यहाँ के नरेशो द्वारा समय-समय पर मस्जिदों को दिये गये अनुदानों के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह एवं मेवाड़ के महाराणा जगतसिंह द्वि. द्वारा ख्वाजा साहब की दरगाह शरीफ को कई गांव भेंट किये जाने का उल्लेख भी मिलता है। बीकानेर की बहियों मे वहां के नरेशों द्वारा दरगाह शरीफ को दिये गये अनुदान का विवरण मिलता है। स्पष्ट है कि राजस्थान मे इस्लाम धर्म का पूर्ण प्रचार था। यहां पर शिया एवं सुन्नी दोनों ही फिर्कों के मुसलमान थे। फिर भी सुन्नियोंकी संख्या अधिक ही थी। मुस्लिम समाजमे रमज़ान के रोजों के रूप मे उपवास रखे जाते थे तथा अजमेर में कुतुब-उल-आफताब हज़रत ख्वाजा साहब के वार्षिक उर्स के समय जियारत करने जाते थे।

भक्ति-आन्दोलन—इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जब-जब भी धर्मों की हानि हुई है, पाप एव अनाचार बढ़े हैं तब-तब युगपुरुष, युगद्रष्टा ने जन्म लिया है और अपने विचारों से संतप्त समाज में पुन: शांति की लहर दौड़ा दी है। वैदिक धर्म मे जब आडम्बर एवं जटिलताएं व्याप्त हो गईं तो उसके विरुद्ध जैन एवं बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। भारतवर्ष मे तुर्की आक्रमणों के साथ ही हिन्दू धर्म पर एक बहुत बड़ा आघात हुआ जिससे राजस्थान भी बच नहीं सका। यहां भी आये दिन सल्तनतकालीन एवं मुगलकालीन कट्टर इस्लामी शासकों ने मन्दिर ढहाये, मुर्तियां तोड़ी एवं हिन्दुओं को बलात् इस्लाम ग्रहण करने पर बाध्य किया। ऐसी स्थिति में हिन्दुओं का विश्वास डोलने लगा। तब युग युगीन आवश्यकता के अनुरूप कई भक्तों ने भजन, मनन, नृत्य, गायन, ध्यान आदि साधनों से ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखाकर यह स्पष्ट कर दिया कि ईश्वरीय शक्ति, मन्दिरों अथवा मूर्तियों मे नहीं अपितु साधक अपनी साधना में संजोकर उसे प्राप्त कर सकता है। परिणामस्वरूप जनता का अपने धर्म से डोला हुआ विश्वास पुनर्गठित होने लगा जिसका सब कुछ श्रेय भक्ति प्रवाह के महान संतो को ही दिया जा सकता है। भक्ति आन्दोलन के प्रवाह को हम निम्नांकित रूप से समझ सकते है।

जाम्भोजी—1451 ई. में नागोर परगने के पीपासर गांव मे विश्नोई सम्प्रदाय के प्रवर्तक जाम्भोजी का जन्म हुआ था। ये पंवार राजपूत थे। इनके पिता का नाम लोहटजी तथा माता का नाम हांसादेवी था। चूं कि माता

पिता के ये इकलौते पुत्र थे, अतः इन्हें सर्वाधिक स्नेह प्राप्त हुआ। बाल्यावस्था से ही जाम्भोजी विचारशील एवं एकान्तप्रिय थे। ऐसा बताया जाता है कि वे 34 वर्ष तक एक शब्द भी नहीं बोले। अतएव लोग इन्हें गूंगा कहकर पुकारते थे। इस बीच इनका उद्यम गायें चराते रहने का रहा था। अतः जंगल के शांत वातावरण में ये जीवन से संबंधित गुत्थियों पर विचार करते तभी बताया जाता है कि 16 वर्ष की आयु में इन्हें 'सद्गुरु' का साक्षात्कार भी हो गया था। इस सम्प्रदाय की मान्यता है कि जांभोजी ने गोरखनाथ से दीक्षा ली किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसे सत्य नहीं माना जा सकता है क्योंकि गोरखनाथ तो इनसे कई सौ वर्ष पहले हो गये थे। पेमाराम की मान्यता है कि गोरखनाथ इनके मानस गुरु रहे होंगे। ये जीवनपर्यंन्त ब्रह्मचर्य का पालन करते रहे। इधर इनके माता-पिता का देहावसान हो जाने पर घरबार छोड़कर जांभोजी ने सत्संग की राह ली। स्वामी ब्रह्मानन्द का मानना है कि जाम्भोजी ने अपना घर तथा संपत्ति छोड़कर सम्मराथल नामक स्थान पर रहते हुए सत्संग करने लगे तथा इनका समय हरि वार्ता में व्यतीत होने लगा। हीरालाल माहेश्वरी के अनुसार 1482 ई. में कलश स्थापना कर विश्नोई सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। इसके बाद 1485 ई. में इन्होंने विश्नोई धर्म का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया और कोई 1536 ई. में तालवा गांव में अपने नश्वर शरीर को छोड़ा। आज भी यह स्थान विश्नोइयों के श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ है, जिसे 'मुकाम' कहा जाता है।

चूंकि जाम्भोजी की शिक्षायें बीस और नौ थी अतः इसके मानने वालों को बीसनोई कहा गया। ये शिक्षायें इस भांति हैं—बच्चा होने पर स्त्री से 30 दिन तक दूर रहे, मासिकधर्म की दशा में स्त्री को पांच दिन तक दूर रखें, हमेशा नहायें, संतुष्ट रहें, पानी शुद्ध पीयें, आरती करें, आग में घी डालकर होम करें, चोरी न करें, झूंठ न बोलें, हिंसा न करें, सोच कर बोलें, क्रोध एवं निन्दा न करें, हरा वृक्ष न काटें, अमावस्या का व्रत करें, भेड़, बकरी एवं बैल को बाधी न करें। इनके अलावा नशीले पदार्थों का विरोध भी किया—अमल, शराब, तम्बाकू, भंग न खायें न पीयें; नील लगे कपड़े को छूने की मनाई की, संसार से अधिक मोह न करते हुये सभी पर दया रखते हुए वाद-विवाद से बचने पर जोर दिया।

जाम्भोजी ने ईश्वर को विविध नामों से पुकारते हुये कहा कि मेरे सांई के सैकड़ों नाम हैं। उन्होंने ईश्वर की व्यापकता को सर्वत्र पाया है। आत्मा को अमर माना है। मन को वश में कर लेने पर मुक्ति का मार्ग सहज ही खुल जाता है। करनी के अनुरूप ही फल की प्राप्ति की बात सुझाते हुए जाम्भोजी

ने बताया कि मानव-शरीर पूर्व-जन्म के पुण्य से प्राप्त होता है। आवागमन से छुटकारा की स्थिति को ही मोक्ष प्राप्ति कहा जा सकता है। इस संबंध मे गुरु कृपा का विशेष योगदान रहता है। बिना गुरु के मोक्ष संभव नही है। मृत्यु के बाद स्वर्ग एवं नरक की स्थिति का वर्णन करते हुए दुष्ट एवं अहंकारी व्यक्तियों के नरक में जाने की बात कही है। आवागमन से मुक्ति-प्राप्त करने हेतु जाम्भोजी ने विष्णु-जप करने का निर्देश दिया है। उन्होंने इस ससार एवं सांसारिक रिश्तों को निस्सार बताया है। साथ ही नाथ पथ की पद्धति के आधार पर हठ-योग साधना का भी कई स्थलों पर उल्लेख किया है।[14]

इनकी नैतिक शिक्षाओं को देखते हुए सुस्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि महान विचारक जाम्भोजी ने प्रायः सभी धर्मों—वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम आदि से कुछ-न-कुछ अवश्य लिया था। अहिंसा पर दिया गया बल जैन धर्म का स्पष्ट प्रतीक है। इस्लाम से प्रभावित होकर इन्होंने मुर्दों को गाड़ने, विवाह मे फेरे न होने, चोटी न रखने, दाढ़ी रखने की बात सुझाई। समाज एवं धर्म सुधारक जाम्भोजी ने हिन्दू एवं मुस्लिम धर्मों मे प्रचलित आडम्बरों, ढोंग, पाखंडों का भी जोरदार खंडन किया। यों सहिष्णुतावादी नीति को अपनाकर भी प्रायः अन्य धर्मों की आलोचना करते थे। जिसमे जैन धर्म की आलोचना विशेष उल्लेखनीय है। ये मूर्ति-पूजा के भी प्रबल विरोधी थे। उनका प्रमुख ग्रन्थ 'जम्भवाणी या' 'सबदवाणी' नाम से जाना जाता है। जाम्भोजी द्वारा प्रचलित शिष्य परम्परा आज भी देखी जा सकती है।

निरंजनी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक कौन था ? इस संदर्भ में विद्वान एक मत नहीं है। कुछ एक विद्वान हरिदास को इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानते हैं। किन्तु कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह सम्प्रदाय तो पहले से ही चला आ रहा था, हरिदास जी ने तो इसे पुनःप्रतिष्ठित कर प्रमुख संप्रदाय बना दिया। ऐसी स्थितिमे इस सम्प्रदायके प्रवर्तकके रूप में हरिदासजी को ही स्वीकार कर लिया गया। इनका जन्म 1452 ई. में डीडवाना परगने के कांपड़ोद गाव मे हुआ। ये साखला गोत्र के क्षत्रिय थे। कुछ इन्हें बीदा राठौड़ मानते हैं तो कुछ जाट। बताया जाता है कि हरिदासजी ने विवाह के पश्चात अपनी गृहस्थी चलाने के लिये डकैती करना शुरु किया। तभी एक दिन किसी महात्मा ने सदुपदेश दिया, अतएव यह कार्य छोड़कर ये आत्म-

14 पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 87-91

चिन्तन में लीन हो गये। श्रुत परम्परा के अनुसार उपदेश देने वाले महात्मा गोरखनाथ था। यों 44 वर्ष की अवस्था में हरिसिंह ने दीक्षित होकर हरिदास नाम धारण किया तथा भ्रमण करने लगे। धीरे-धीरे इनके शिष्यों की संख्या भी बढ़ती गई। कालान्तर में यही शिष्य-परिवार निरंजनी सम्प्रदाय कहलाया। 1543 ई. में हरिदासजी ने इस नश्वर संसार को छोड़ दिया।

देव कोठारी की यह मान्यता है कि यह सम्प्रदाय ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का सम्मिश्रण है। 'निरंजन' नाम के कारण इस सम्प्रदाय का संबंध नाथ पंथ से जोड़ा जाता है किन्तु यह ठीक नहीं है। यह तो 'निरंजन' शब्द की उपासना के कारण ही निरंजनी सम्प्रदाय कहलाता है। हरिदासजी ने कबीर की साधना पद्धति को, जो करड़ी' मानी जाती है, अपनाया। 'निरंजन' शब्द परमात्मा तत्व का प्रतीक है। अलख निरंजन, हरि निरंजन राम निरंजन का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है। इस सम्प्रदाय में साम्प्रदायिकता का नामोनिशान भी नहीं है। इतना ही नहीं ये तो मूर्ति-पूजा तथा सगुण-उपासना का विरोध भी नहीं करते हैं।

इस सम्प्रदाय के अनुयायियों मे विरक्तों को निहंग तथा गृहस्थों को घरबारी कहा जाता है। 'निहंग' खाकी रंग की गूदड़ी गले मे डालते है, पात्र रखते हैं तथा भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते हैं। कुछ निरजनी साधु गले में 'सेली' भी बाधते हैं। डीडवाणा के पास गाढ़ा गांव मे फाल्गुन सुदी 1 से 12 तक वार्षिक मेला लगता है जिसमे इस सम्प्रदाय के काफी अनुयायी एकत्रित होते हैं।

जसनाथी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध जसनाथ हुए है। इनका जन्म शनिवार, कार्तिक सुदी 11 वि. सं. 1539 मे बीकानेर के कातरियासर नामक गांव मे हुआ। हमीरजी को यह बालक डाबला तालाब पर पड़ा हुआ मिला। हमीरजी तथा उसकी पत्नी रूपादे ने इस शिशु का नाम जसवन्त रखा तथा बड़े प्रेम से पालन पोषण किया। कहा जाता है कि बड़ा होने पर जसवन्त जंगल मे चरती हुई ऊंटनियों को ढूंढ रहा था तभी आश्विन शुक्ल 7, वि. सं. 1551 को गुरु गोरखनाथ मिले। गोरखनाथ ने इस बालक के सिर पर हाथ रख कर कान में 'सत्य' शब्द फूंका और इसका नाम जसनाथ रख दिया। सिद्धि प्राप्त कर लेने पर ये सिद्ध जसनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुये। धीरे-धीरे इनके मानने वालो की संख्या बढ़ती गयी। वि. सं. 1563, आश्विन शुक्ल 7 के दिन सिद्ध जसनाथ कातरियासर मे समाधिस्थ होकर ब्रह्मलीन हो गये।

इस सम्प्रदाय के प्रत्येक अनुयायी के लिये 36 नियमों का पालन करना अनिवार्य माना गया है। इन नियमों के अनुरूप जीवनयापन को 'अगम के मार्ग पर अग्रसर होना' कहा जाता है तथा जो व्यक्ति इन नियमों की 'चलू' लेकर संकल्प करता है, उसकी सन्तान 'जसनाथी' कहलाती है। इस सम्प्रदाय के निम्नांकित नियम हैं—उत्तम कार्य करते हुए चलना, स्वधर्म के पालन का मार्ग अपनाना, हिंसा नहीं करनी, सफाई के साथ सिर पर केशों का धारण करना, स्नान करके भोजन करना, मांस न खाना, सदैव ध्यानपूर्वक शील-शौच-संतोष का पालन करना, दोनों काल सन्ध्या करते हुए ईश्वर का ध्यान करना, ईश्वर के अलावा अन्य देवों को मानना, हवन करना, जूंठे मुंह से अग्नि में फूंक नहीं देना, दूध व पानी को कपड़े से छान कर पीना, मोक्ष-प्राप्ति के रास्ते को ढूंढना, कन्या विक्रय न करना, ब्याज पर ब्याज न लेना, धन के अनुपात में बीसवां हिस्सा धर्म-कार्य में खर्च करना, मन एवं वचन से किसी की निन्दा न करना, धूम्रपान, लहसुन आदि का त्याग करना, जंगल के भोले जीवों की रक्षा करना, साटियों की तरह सौदा न करना, पशु कसाई को नहीं बेचना, पशुशालायें बनवाकर गाय, बकरे एवं मींढों की कसाई से रक्षा करना, मन में दया तथा धर्म के प्रति निष्ठा रखना, भाषण एवं विवाद न करना, अतिथि का सत्कार करना, चोरी आदि बुरे कर्मों का मन, वचन, कर्म से त्याग करना, रजस्वला स्त्री को दूर रखना, मदिरा पान न करना, जन्म मरण के 10 दिन तक सूतक मानना, कुल निन्दा नहीं करना, मुंह से ईश्वर का नाम स्मरण तथा चित्त से शंकर का ध्यान करना, दुराचारियों के संग से बचना, सहिष्णु व क्षमाशील बनना, भांग-गांजा, चरस आदि नहीं पीना, पक्षियों को चुग्गा पानी देना तथा गुरु मंत्र से दीक्षित होना।

इस सम्प्रदाय मे विरक्तों की जो मंडली होती है उसे 'परमहंसी मंडली' कहा जाता है।[15] इसमे दो प्रकार के अनुयायी होते हैं—(1) सिद्ध—ये सिर पर भगवे रंग की पगड़ी बांधते हैं तथा जसनाथी मंदिरों को पूजा करते हैं। (2) जसनाथी जाट, ये राजस्थान के अन्य जाटों की भांति ही जाट होते हैं।

इस सम्प्रदाय पर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव सर्वाधिक रूप से दृष्टिगत होता है। ये योग पर अधिक बल देते हुये शिव व जीव परम्परा को स्वीकार करते हैं। ये लोग गंगा स्नान पर विशेष बल देते हैं, प्रत्येक महीने के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी एवं सप्तमी को पुण्य तिथि तथा कातरियासर को पवित्र

---

15 परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृ. 439; द्रष्टव्य-देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य परम्परा (अप्रकाशित)।

तीर्थस्थल के रूप में मानते हैं। इस सम्प्रदाय में 'रात्रिजागरण' तथा 'अग्नि-नृत्य' का बड़ा महत्व है।

यों तो इस सम्प्रदाय के अनुयायी राजस्थान के सभी राज्यों में फैले हुए हैं किन्तु जोधपुर एवं बीकानेर सम्भाग में अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं।

मीरां बाई—मीरां को राजस्थान की मन्दाकिनी कहा गया है। जिस मीरां ने राजस्थान भूमि को अपनी भक्ति प्रवाह की अविरल धारा से सिंचित किया उसी के नामकरण के संबध में विभिन्न मतभेदों में कई प्रकार से उलझा दिया है। भाषा विज्ञान के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि 'मीरा' शब्द की व्युत्पत्ति 'मीर' 'पीर' 'मिहिर' आदि से हुई है। पीताम्बरदत्त बडथ्वाल का मानना है कि मीरां नाम फारसी के 'मीर' शब्द से बना है और यह किसी मुस्लिम सन्त का दिया हुआ उपनाम है। हरिनारायण पुरोहित के अनुसार अजमेर के सिद्ध मीराशाह की मिन्नत के कारण मीरा नाम हुआ। गहलोत ने इस शब्द का अर्थ सागर से लगाया है तो नरोत्तमदास स्वामी ने मीरा का मूलरूप 'बीरा' बताया है किन्तु गोपीनाथशर्मा इससे सहमत नहीं हैं। उनका मानना है कि राजपूतोंमें यह नाम कोई नया नहीं है। मारवाड़ में प्रायः राजपूत लडके-लडकियों के नाम बीज, फसल, बैल आदि कृषि सबंधी नाम रखे जाते थे। जोधपुर की कुछ रानियों के नाम इन्दो, फूला, जेवड़ा, बोजड़ा, आदि थे। इसी परम्परा में मीरा नाम 'मेर' से लिया गया है जिसका अर्थ खडी फसल से होता है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीरा' शब्द का मूल रूप 'मीरा' शब्द ही माना है। ब्रजरत्नदास ने इसे संस्कृत का शब्द माना है किन्तु रेउ इसे फारसी का शब्द मानता है तो शम्भूप्रसाद बहुगुणा अरबी का। स्वामी आनन्दस्वरूप का कहना है कि जन्म के समय कान्तिमान मुख मण्डल को देखकर ही इसका नाम मिहिरा बाई—मीरां बाई रखा गया। किन्तु इस सन्दर्भ में पेमाराम के अनुसार यह कहा जा सकता है कि "यह नाम असाधारण या संत विशेष द्वारा दिया उपनाम न हो कर मीरां वास्तविक नाम ही होना चाहिये।" इसे राजपूत परम्परा के अनुरूप हम शुद्ध स्थानीय नाम स्वीकार कर सकते हैं। मेड़ता के पास कुडकी गांव में जन्म लेने वाली राठोड़ वंश की मीरां ने भक्ति के एक नवीन मार्ग की स्थापना करके न केवल धार्मिक सम्प्रदाय के लिये एक चुनौती स्थापित की अपितु राजपूती एवं राजवंशीय परम्पराओं की सीमाओं को तोड़कर एक नये कीर्तिमान की स्थापना भी की थी। मीरा का जन्म मेड़तिया राठौड़ वंश के राव दूदा जी के चौथे पुत्र रत्नसिंह के घर 1499 ई. मे हुआ था। मीरा अपने माता-पिता की इकलौती पुत्री थी।

ीरां के पिता रत्नसिंह के पास विरासत रूप में प्राप्त 12 गांवों की जागीर
। मीरां की अल्पायु मे ही मां का साया उठ गया, अतएव वह अपने दादा
पास ही रहने लगी। सब कहा जाता है कि मीरां ने एक बार अपनी दादी
किसी बारात को देखकर पूछा कि 'मेरा दुल्हा कौन है ?" तब दादी ने कहा
तुम्हारा दुल्हा गिरधर गोपाल हैं। संभवतः तभी से मीरां के हृदय में
रधर गोपालकी रूप-माधुरी समा गई। मीरां के मनमें उस गोपाल की रूप
म माधुरी के प्रति इतनी आसक्ति हुई कि उसने वर रूप मे उन्ही का वरण
र लिया। किन्तु दुनियाई रूप में मीरा का विवाह बाकी था। कर्नल टॉड
मीरां का विवाह कुम्भा से होना लिखा है, जिसे कार्तिकप्रसाद खत्री,
वसिंह सेंगर, ग्रियर्सन, पद्मावती शबनम आदि विद्वानो ने भी स्वी-
र किया है, जो नितान्त असत्य है। 19 वर्ष की आयु में मीरां का विवाह
राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। मीरा ने अपने
किक पति को मन से कभी स्वीकार नही किया। मीरां की मान्यता थी
यह 'जग-सुहाग' मिथ्या है, यह होकर मिट जाता है, यह चिर नहीं
—"जग-सुहाग मिथ्या री सजनी होवा हो मिट जासी ..." इसी कारण
रां ने पति रूप में उस चिर का वरण ही किया। विधि की विडम्बना भी
अजीबोगरीब थी। मीरां अपने इस लौकिक पति का सुख अधिक नहीं
सकी और कोई 2-3 वर्ष बाद ही 1523 ई. में भोजराज की मृत्यु हो
। यों लौकिक सुहाग से वंचित मीरां पर अब दुःखों की बौछार आने
। इसके पिता रत्नसिंह खानवा के युद्धमें काम आगये। श्वसुर महाराणा
ा का 1528 ई. मे देहांत हो गया। इन घटनाओं के पांच वर्ष के अतराल
ीरां के काका वीरमदेव, मालदेव से हार गये। अस्तु वीरम को विवश
र मेड़ता छोड़ना पड़ा। उधर चित्तौड़ में गृह-कलह प्रारम्भ हो गया।
मे जी. एन. शर्मा के अनुसार मीरां का वैधव्य एक अभिशाप था। यों
ों पर दुःख आने के बावजूद भी मीरां अपने मार्ग से विचलित नहीं हुई
अपने गिरधर गोपाल में लीन रही। इसी कारण उन्हें कई प्रकार की
रणायें भी झेलनी पड़ी। विष का प्याला और नाग की पिटारी तक
गई। उसे तरह-तरह के व्यंग्यबाण झेलने पड़े किन्तु नटवर नागर के
में उसका राग और भी प्रदीप्त होता गया, और भी प्रगाढ़ होता गया।
ा लौकिक सुहाग लुट जाने पर भी पति के साथ सती होना स्वीकार
किया। मीरां की तो मान्यता थी कि उसके पति तो अमर्त्य है, फिर
उनके जीते हुए कैसे सती हो जाय—

"अविनासी सूं बालवां है, जिणसूं सांचो प्रीत।
मीरां कूं प्रभु मिल्या है, एहीं भगति की रीत॥

मीरां उसी श्याम के मिलन के प्रतीक्षा में 16 श्रृंगार कर सुख की सेज बिछाती है—

"श्याम मिलण सिंगार सजावां, सुख री सेज बिछावां ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जावा ।।"

खैर ! कृष्ण प्रेम मे पूर्ण सिक्त मीरां को मेवाड़ में जब चैन नही मिला तब वह विवश होकर पुष्कर एवं मेड़ता होती हुई वृन्दावन चली गई। यहा पर मीरां ने रूप गोस्वामी के दृढ निश्चय को कि वह स्त्रियों का मुंह नही देखेगा, तुड़वाया। वृन्दावन पहुंचने से पूर्व समय तक मीरा अनेक संतों के सम्पर्क में आ चुकी थी। उन्होंने सिद्धों, योगियों और रसिकों के सम्पर्क में आकर अनेक गीतों की रचनाभी की किन्तु वृन्दावनमें आकर उनका भक्ति-मार्ग एक नवीन, मौलिक भक्ति-मार्ग का सृजन करने लगा। मीरां को मधुरा-भक्ति के मार्ग पर चलने का सुअवसर अब मिल चुका था। लीला-भूमि वृन्दावन की कुंज गलियो मे मीरां को अपने उन्मुक्त विहार का अभीष्ट अवसर प्राप्त हुआ—

"आली म्हाने लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसन गोविन्दजी को।"

मीरां को जब यह पता चला कि उसके नटवरनागर तो बहुत पहले ही वृन्दा-वन त्याग कर द्वारिका जा बसे हैं तो कलियुग की यह गोपिका उनसे मिलने द्वारिका चल दी। राणा ने मीरां को चित्तौड बुलाने के लिए पुरोहितों को द्वारिका भेजा किन्तु मीरां नहीं आई। मीरां सवेरे उठी, स्नान-ध्यान किया और मगसर सुदी 5, संवत, 1604 को सशरीर परलोक सिधार गई। मन्दिर से अदृश्य होने के पश्चात्, उनका पता नहीं लगा। कदाचित सागर की विशाल उदार जल राशि ने उन्हें सशरीर इहलोक के पार उतार कर रणछोड़ के अनन्त अलौकिक रसलोक मे प्रविष्ट करा दिया। सशरीर लुप्त होने से यही ध्वनित होता है।

मीरांबाई विरचित 6 ग्रन्थ माने गये हैं—राग सोरठ, नरसी रो मायरो, रागगोविन्द, पदावली, सत्यभामाजी नु रूसणु एव गीत-गोविन्द री टीका। जहां तक राग सोरठ व राग गोविन्द की बात है ये कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर केवल राग-रागनियों से संबधित हैं। 'नरसी रो मायरो' ब्रज भाषा मे है तथा रतना खाती ने इसकी रचना की। 'सत्यभामाजी नु रूसणु' वल्लभ विरचित गुजराती कृति है। तथा 'गीत गोविन्द री टीका' महाराणा कुम्भा द्वारा संस्कृत मे लिखी गई है। ऐसी स्थिति में [illegible] जा सकता है कि मीरां विरचित 'पदावली' [illegible] कोई [illegible] की भावा

व्रज भाषा मिश्रित राजस्थानी है जिस पर गुजराती और खड़ी बोली का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप जहां-जहां भी मीरां गई वहां की भाषा का प्रभाव इनके पदो मे देखने को मिलता है।

मीरां के समय वल्लभ संप्रदाय का बोलबाला होने पर भी उसने इसका अनुसरण नही किया। मीरां के जीवन काल के अनुरूप उनकी साधना का रूप भी विकसित एवं परिवर्तित होता रहा। पितृ कुल के धार्मिक वातावरण, जयमल के सानिध्य आदि ने मीरां को पर्याप्त साधु संतों के सम्पर्क में आने का अवसर प्रदान किया। मीरा का प्रारंभिक काव्य उनसे प्रभावित था। पदों में प्रयुक्त 'योगी' जैसे शब्दों का प्रयोग संभवत: उन्ही का प्रभाव है—

"कहा भयो है भगवा पहरया घर तज भये सन्यासी।
जोगी होय जुगति नहीं जासी उलटि जनम फिर आसी।"

उपर्युक्त पद में जोगी शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है किन्तु उसके विरोध में हुआ है। फिर मीरां ने जिस जोगी का वर्णन अपने काव्य मे किया है, वह उस गिरधर गोपाल के पर्याय रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है। उसमे मीरां का जो संबध है वह नाथ सम्प्रदाय के अनुसार न होकर रसीली प्रीति है—

"जोगिया री सूरत मन मे बसी।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे प्रीत रसीली बसी।"

मीरां स्वयं को 'जोगिण' कहती भी है, पर वह अपने सांवरिया के साथ जोगिन बनती है।

"जोगिण होइ जुग ढूंढसूं रे म्हारा सांवरिया री साथ।"

मीरां के प्रारंभिक गीतो में निर्गुण मतावलम्बियो का प्रभाव भी देखा जाता है किन्तु मीरां को निर्गुणवादी मानना उचित प्रतीत नही होता। ईश्वर के सगुण रूप में उनका निर्गुण रूप भी व्याप्त रहता है, जबकि निर्गुण साधना मे सगुण को कोई स्थान नही है। मीरा ने सगुण आराध्य के रूप में यदि कही निर्गुण का नाम लिया हो तो, मात्र उसी से उसे निर्गुण सम्प्रदायी मानना उचित प्रतीत नही होता। मीरां को रहस्यवादिनी भी कहा गया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रकार की भ्रान्त धारणाओं का समाहार करते हुए अपने मत की पुष्टि की। उन्होंने लिखा है— "इस प्रकार उनका संबंध एक तरफ तो सगुणमार्गी भक्तों से सिद्ध होता है और दूसरी तरफ निर्गुणमार्गी से भी उनका संबंध जोड़ा जाता है। फिर उनके भजनों में किसी ऐसे गुरु की चर्चा भी आती है जो नाथपंथी जान पड़ते है। इन सब बातों का एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि मीरां बाई

अत्यन्त उदार मनोभावसम्पन्न भक्त थी। उन्हें किसी पथ विशेष पर आग्रह नहीं था।" जब मीरां चित्तौड़ आई ही थी तब उनके पदों में आराध्य का पौराणिक अवतारी रूप अधिक प्रकट हुआ।

वृन्दावन में पहुँचने पर तो मीरां पूर्णतः सांवरिया के रंग में रंग गई। द्वारिका पहुंचने पर नरसी मेहता के प्रभाव से उसकी मधुरा भक्ति और भी मुखरित हो उठी।

यों मीरां के भक्त-कवि रूप के निर्माण में विभिन्न परिस्थितियों का प्रभाव तो पूर्ण रहा किन्तु वह किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं हुई। मीरां के गुरु के बारे में भी विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद रहा है। रामानन्द, रैदास, विट्ठल (रैदासी संत), हरिदासी (रैदासी), माधवेन्द्र, चैतन्य महाप्रभु, रघुनाथदास, जीवगोस्वामी, रूपगोस्वामी, देवाजी आदि संतों के नाम मीरा के गुरु-रूप मे लिये जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न संप्रदायों ने अपना महत्व बढ़ाने हेतु मीरा को अपने संप्रदाय मे दीक्षित होने की बात की हो किन्तु वास्तव में मीरां ने किसी संप्रदाय विशेष मे दीक्षा नही ली। मीरां तो सदैव अपने उस श्याम का ही स्मरण करती है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई"

मीरां के काव्य मे प्रयुक्त 'सतगुरु' शब्द के आधार पर विद्वानो ने उसके किसी आध्यात्मिक गुरु की कल्पना की है। यदि देखा जाय तो मीरां का यह प्रयोग उस 'सांवरिया' के लिए ही हुआ है—

"सतगुरु जस्या वेद न कोई पूछो वेद पुराना"

मीरां की मान्यता थी कि 'गुरु' की आवश्यकता निर्गुण पंथ मे पड़ सकती है। भावना-मूला प्रेमाभक्ति के मार्ग में तो गुरु एक व्यवधान ही होता है, क्योंकि अपने प्रियतम के चरणों में एकान्ततः आत्म समर्पण ही जिसके जीवन की एक मात्र साधना हो वह मीरां भला और किसके (गुरु के) चरण में समर्पित होती—

"मीरां गिरधर हाथ विकानी लोग कहे बिगरी"[16]

वस्तुतः मीरां की भक्ति प्रेम भक्ति कही जा सकती है। यद्यपि उसके उपास्य के संबंध में रामोपासकों, संत सम्प्रदायों, कृष्णोपासकों आदि ने अपने-अपने उपास्य की मीरां के गीतो में कल्पना की है किन्तु वस्तुतः मीरां के आराध्य गिरधर गोपाल ही थे। लोक मत मे भी इस साक्ष्य को देखा जा सकता है—

---

16 शंभुसिंह मनोहर—मीरां पदावली, पृ. 30

"नरसी के प्रभु सांवलिया हो, सूरदास के श्याम ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, तुलसीदास के राम ।।"

प्रभात के अनुसार "मीरा की समस्त साधना कृष्ण के सगुण साका अवतारी रूप पर ही केन्द्रित है।"

मीरां ने जीवन मे किसी को स्वीकार कर आत्म समर्पण किया तो एक मात्र कृष्ण ही थे—

"हरि म्हारा जीवन प्राण आधार"

इतना ही नही मीरां को कृष्ण के प्रेम के कारण मिलने वाली बदनाम भी मधुर लगती है—

"राणाजी म्हाने या बदनामी लागे मीठी।"

शैशव से लेकर वृद्धावस्था तक मीरा अनेक स्थानो पर भटकती रही औ अपने आराध्य की प्रतीक्षा करती रही—

"जोगी म्हांने दरस दियां सुख होई।"

मीरां को अपने प्रिय के दर्शन बिना चैन नहीं पड़ता। न उसे भूख लगत है न नींद ही आती है—

"दिन नहि भूख रैण नहि निंदरा यूं तन पल पल छीजे हो।"

गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "मीरां की भक्ति का दूसरा सोपान वह जब उन्हें कृष्ण भक्ति से उपलब्धियों की प्राप्ति हो गई थी। तब वे सतोष से कहती है कि "माई मैं तो राम रतन धन पायो।" इसी तरह वह कहती है कि जिस प्रियतम की वह बड़ी प्रतीक्षा कर रही थी वे अब घर आ गये है—

"साजण म्हारे घरि आया हो।
जुगां जुगां री जोवतां, विरहणि पिव पाया हो।।"

साधना की तीसरी मंजिल मे उन्हें आत्म बोध हो जाता है—"असुवन जल सीच प्रेम वेल बोई। अब तो बेल फैल गई आनन्द फल होई।" सायुज्य भक्ति की चरम सीमा पर खडी मीरा बड़े सहज भाव से कहती है—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।" वास्तव मे मीरां अपने आराध्य से मिलकर एकाकार हो गई तभी तो कहती है—"मैं गिरधर के घर जाऊं। रैणु दिव बाके सग खेलूं........" "आज अनारी ले गयो सारी,.........।"

यों मीरां ने राजपूत वंश मे जन्म लेकर और राजपूती वंश परम्पराओं का उल्लंघन करते हुए भक्ति के नवीन मौलिक मार्ग का सृजन किया। मीरा की भक्ति 'भावना' के अधिक निकट होने के कारण ही सर्वग्राह्य और लोक प्रिय हो सकी। मीरां की भक्ति में हमें किसी प्रकार की क्लिष्टता या आड

म्बर देखने को नहीं मिलता है। उन्होंने भावना मूलक सरल, सहज एवं सरस मार्ग को अपनाया है। यही कारण है कि राजस्थानियों पर उनके भजनों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि न केवल जनता जनार्दन ने ही इन भजनो को अपनाया अपितु यहां पर प्रचलित कई संप्रदायो के सन्तों ने अपनी पोथियों मे अपने गुरु की वाणियों के साथ मीरां के पदों, हरजसों आदि को स्थान दिया है। पेमाराम के अनुसार मीरा के इस व्यापक प्रभाव का रहस्य यह है कि "उन्होने उच्च सिद्धान्तों को बोलचाल की भाषा में व्यक्त किया न कि शास्त्रीय भाषा मे। बाह्याडम्बर और शाब्दिक चतुराई के फेर में न पड़कर इन्होंने सीधे ढंग से कहा है जो मस्तिष्क से पहले हृदय को स्पर्श करती है।"

जी. एल. शर्मा का मत है कि " 'मीरां दासी' सम्प्रदाय अनेक भक्तों द्वारा अपनाया जा रहा है और उसके अनुकरण करने वालो की संख्या राजस्थान में पर्याप्त है।" इससे यह ध्वनित होता है कि मीरा ने कोई सम्प्रदाय विशेष चलाया होगा किन्तु वास्तविकता यह है कि मीरा तो सांवरिया के प्रेम मे इतनी सराबोर थी कि न तो उसे सम्प्रदाय स्थापित करने की सूझी न ही शिष्य परंपरा की। अतः इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि ये सब मीरा से प्रेरणा लेने वाले होंगे किन्तु मीरा सम्प्रदाय में स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता है।

लालदासी सम्प्रदाय—लालदास इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इनका जन्म 1540 ई. मे अलवर राज्य के धौलीधूप गांव के मेव परिवार में हुआ था। यद्यपि ये कोई पढ़े लिखे नही थे। धन्धे के नाम पर लकड़हारे का काम करते थे। फिर भी सत्संग के प्रभाव से काफी बातें सीख चुके थे जिनका प्रचार-प्रसार प्रायः जन सामान्य मे किया करते थे। 1652 ई. में इनका देहान्त हुआ। नगला नामक गांव में इनकी समाधी बनाई गई जो आज भी इस सम्प्रदाय वालों के लिये तीर्थ स्वरूप है। इस सम्प्रदाय पर कबीर एवं दादू संप्रदाय का काफी प्रभाव झलकता है। ये ईश्वर को 'राम' कहते हैं तथा राम-नाम के जप एवं कीर्तन पर बड़ा बल देते है।[17]

दादूपंथ–संत दादूदयाल इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। दादू का जन्म 1544 ई. में हुआ था। किन्तु ये कहां और किस जाति में जन्मे इस सन्दर्भ में विद्वानो में बड़ा मतभेद है। क्षितिमोहन सेन, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, मोतीलाल मेनारिया ने इन्हें मुसलमान बताया है तो सुधाकर द्विवेदी ने

---

17 : परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ. 404-6

मोची। दादू पंथी इन्हें ब्राह्मण कुल में उत्पन्न मानते हैं और माता का नाम बसीबाई बताते हैं। परन्तु ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने की बात मोतीसिंह के अनुसार इनके अनुयायियों ने उच्च कुल में जन्म सिद्ध करने के लिये फैलाई है। दादू के शिष्य रज्जब दादू की जाति धुनिया मानते हैं। पेमाराम ने भी इन्हें धुनिया ही स्वीकार किया है। इनका पालन पोषण लोदीराम नामक नागर ब्राह्मण ने किया था। बताया जाता है कि उसने अहमदाबाद के निकट नदी में बहते हुए दादू को प्राप्त किया था। 1551 ई. मे दादू के नाना सुखदेव ने इनका 7 वर्ष की अवस्था मे बड़नगर में विवाह कर दिया। चूंकि ये आध्यात्मिक मार्ग के राही थे अतः साधु-सन्तों से मिलना-जुलना निरन्तर बना हुआ था। तभी योगायोग ऐसा बैठा कि बुद्धानन्द से इनकी मुलाकात हुई और उनसे दीक्षा प्राप्त कर ली। अब दादू अपनी साधना में मग्न हो गये और 18 वर्ष की आयु में ये अहमदाबाद से करडाला पहुँचे जहां कोई 6 वर्ष तक घोर तपस्या मे मग्न रहे ताकि आत्म साक्षात्कार हो सके। अपनी भक्ति साधना में लीन दादू काफी समय तक भ्रमण करते रहे किन्तु 1568 ई. में साम्भर में आने के बाद इन्होने उपदेश देना प्रारम्भ किया जिसमें हिन्दू एवं मुसलमानों दोनो ही के धार्मिक ग्रन्थ विश्वासों का खंडन किया। तब लोगों ने इनका काफी विरोध किया फिर भी ये अपनी धुन मे रत रहे और दुनियाई विरोध की कोई चिन्ता नहीं की। 1574 ई. मे दादू ने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' की स्थापना की। इसके बाद जीवन पर्यन्त इसी सम्प्रदाय के विकास एवं प्रचार-प्रसार मे लगे रहे। यही ब्रह्म सम्प्रदाय बाद मे अपने नाम से 'दादू पंथ' या 'दादू सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[18] 1575 ई. में इनके गरीबदास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात मिस्कीनदास एवं शोभाकुंवरी व रूपकुंवरी नामक दो पुत्रियां भी हुई थीं। किन्तु दादू पंथी इसे नहीं मानते हैं। बताया जाता है कि 1585 ई. में इनकी अकबर से भी भेंट हुई तब फतहपुरसीकरी में कोई 40 दिन प्रवास के दौरान सत्संग किया। तद्पश्चात दादू पुनः आमेर आ गये। इन्होंने काफी भ्रमण करके अपने उपदेशों का प्रचार-प्रसार किया। 1602 ई. मे ये नारायणा गाव में आ गये जहां 1603 ई. मे इस नश्वर संसार को त्याग दिया। जहा इनकी स्मृति मे संगमरमर का भवन बना हुआ है जिसमे इनके 'पगल्ये' (पदचिन्ह) बने हुए हैं। दादू के पार्थिव शरीर को भेराना की पहाड़ी की एक खोह मे रख दिया गया। आज भी दादू पंथी इस स्थान को बड़ा पवित्र मानते हैं।

---

18 मोतीसिंह : निर्गुण साहित्य : सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि, पृ. 125-27

इनकी यादगार में ही प्रतिवर्ष फाल्गुन मास में एक-बड़ा मेला भी लगता है जिसमें इनके अनुयायी भाग लेकर दादू को श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हैं। दादू की शिष्य परम्परा में यों तो 152 शिष्य माने जाते हैं किन्तु उनमें 52 प्रमुख हैं। सौ शिष्य तो आत्मचिन्तन में इतने अधिक लीन थे कि न तो उन्होंने शिष्य बनाये और न किसी स्थान विशेष पर ही रहे। वे तो पूर्णतया वीतरागी थे। बचे हुए 52 शिष्यों ने ही अपनी शिष्य परम्परा को अपने अक्षुण्ण रूप से बनाये रखा। अतः उन्हें '52 थांबा' कहा जाता है।

इस पंथ के साधु विवाह नहीं करते हैं। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए दादू द्वारों में रहते हैं। ये आडम्बर पूर्ण जीवन से रहित होते हैं। अतः छाप तिलक नहीं लगाते। मूर्ति-पूजा नहीं करते, फोटो नहीं रखते और गले में माला भी नहीं पहनते हैं। ये 'दादू-राम' का जप करते रहते हैं। मिलने पर परस्पर अभिवादन में 'सतराम' कहते हैं। दादू द्वारों में, 'दादूवाणी' रखते हैं, जिसे बड़ी श्रद्धा के साथ पढ़कर पुण्य लाभ कमाते हैं। इस पंथ के लोग भाद्रपद, मार्गशीर्ष एवं ज्येष्ठ सुदी अष्टमी का व्रत करते हैं। दादू द्वारा रचित वाणियों की संख्या 3000 से भी अधिक है। ये प्रायः कविताओं में अपने विचार प्रकट किया करते थे। जिनका संकलन उनके शिष्यों ने 'दादू दयाल की वाणी' तथा 'दादू दयाल का दूहा' में किया है। इनकी शिक्षा एवं उपदेश सरल, सहज एवं बोधगम्य थे जिन्हें हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

दादूदयाल कोई विशेष पढ़े लिखे नहीं थे फिर भी अनुभव के आधार पर उन्हें बहुश्रुत कह सकते हैं। दादू ने गहन चिन्तन एवं मनन के उपरान्त अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करके जगत के रहस्यों को सुस्पष्ट करने का प्रयास किया। इन्होंने परमात्मा को सर्वशक्तिमान, निराकार, स्वयंभू, समर्थ, परम दयालु माना है जो सर्वत्र व्याप्त है। उसकी शक्ति वर्णनातीत है। *'दादूजी की वाणी' से ज्ञात होता है कि दादू ने ईश्वर की शक्ति को* विविध रूपों में बखाना है जैसे परमात्मा रात को दिन और दिन को रात बना सकता है, पृथ्वी को आकाश और आकाश को पृथ्वी बनाना उसे याद है। राई को पहाड़ और पहाड़ को राई, कीड़ी को हाथी और हाथी को कीड़ी, जल को थल व थल को जल में बदलना उसकी शक्ति में है।

दादू ने जीव एवं ब्रह्म को भी एक मानते हुए बताया है कि जब जीव माया या कर्मों के वशीभूत हो जाता है तभी ब्रह्म से दूर हो जाता है। माया का पर्दा जब तक गिरा रहेगा तब तक जीव ब्रह्म के साथ एकाकार नहीं हो

सकेगा। वास्तव में जीव अथवा आत्मा एवं परमात्मा के बीच विभेद कराने वाली शक्ति ही माया है। समस्त संसार इस माया-जाल में फंसा हुआ है। दादू ने कहा—

"माया सांपणि सब डसी, कनक कामणी होई।
ब्रह्मा, विष्णु, महेस लौं, दादू बचै न कोई।"

दादू ने मन को सर्वाधिक चंचल बताते हुए कहा है कि इसे वश में करना बड़ा दुष्कर कार्य है। ब्रह्म को प्राप्त करने में यह चचल मन ही सबसे अधिक बाधक होता है क्योंकि यह मन चारों दिशाओं में बेलगाम घोड़ों की तरह दौड़ता रहता है। यदि इस पर काबू पा लिया जाय तो ब्रह्म से सहज ही मिलन हो सकता है। इसी प्रकार से जगत के रहस्य को भी समझाया कि ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है जिसने अपनी लीला के लिए ही इस की रचना की है। सृष्टि के सन्दर्भ में इनका मानना है कि ब्रह्म से ओंकार की उत्पत्ति हुई और ओंकार से पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एव अग्नि इन पांच तत्वों की उत्पत्ति हुई। पच तत्व से घट अथवा शरीर बना और जगत या ससार का प्रसार होता गया। दादू ने जगत तथा जगत के हर व्यवहार एवं सम्बन्धों को झूंठा कहा है। सिवाय परमपिता परमात्मा के सब झूंठा है। अतः जगत मे रहते हुए इस एक ही सत्य को प्राप्त करने के लिए प्रयास करना चाहिए।

दादू, बुद्ध की भांति जीते-जी मोक्ष प्राप्त या मुक्ति प्राप्त कर लेने की बात सुझाते हैं। दादू शरीर की समाप्ति अथवा मृत्यु के बाद मोक्ष को स्वीकार नहीं करते हैं। वे इसे केवल पिण्ड मोक्ष मानते हैं। जीवन अथवा प्राण मोक्ष को ही दादू वास्तविक मोक्ष मानते है। वे कहते है कि इसी जगत मे रहते हुए इसी शरीर मे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। उनका कथन है कि "मनुष्य ईश्वर की उपासना या नाम के उच्चारण से मन, इन्द्रिय व प्राण का निरोध करता हुआ देहादि के अध्यास का सर्वथा नष्ट करदे और शुद्ध निरंजन आत्मा मे अपनी सुरति को अविच्छिन्न रूप से लगा दे जिससे सदैव उस शाश्वत आनन्द की अनुभूति होती रहे और किसी भी प्रकार के दुःख की प्रतीति न हो। जीते-जी इस स्थिति को प्राप्त करना ही मोक्ष अथवा मुक्ति है।"[19]

दादू परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार कराने के लिए सद्गुरु को अत्यावश्यक मानते हैं। बिना गुरु के भवसागर पार करना नितान्त असम्भव है। दादू ने गुरु-महिमा का बखान बड़े जोरों से किया है। गुरु की शक्ति बताते हुए दादू ने बताया है कि वह मनुष्य जन्म को ब्रह्म बनाने में सक्षम

---

19 पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 118-22

होता है। इसी तरह वे कहते हैं कि लाखों करोड़ों चन्द्रमा एवं सूरज के उदय हो जाने पर भी बिना गुरु के अंधकार नहीं जा सकता। अतएव सद्गुरु ही ईश्वर से मिला सकता है। दादू मूर्ति पूजा मे विश्वास नहीं करते हैं। वे निरंजन, निराकार, निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए कहते हैं कि मानव को अहं को छोड़ देना चाहिए क्योंकि—

"जहां राम तहं मैं नही, मैं तहं नाही राम।
दादू महल बारीक हैं, दुवै को नाहीं ठाम॥"

संयम, नियम, साधु-सन्यासियों की सगति, हरि-स्मरण, अन्तर्ध्यान आदि उपासना के वास्तविक उपक्रम है। इन्ही मे परमात्मा के साक्षात्कार किये जा सकते हैं। अत: पेमाराम के शब्दो मे "संत दादू ने बहिर्मुखी साधना के आडम्बर का खण्डन कर अन्तर्मुखी साधना पर बल दिया है।"

दादू सच्चे माने मे एक समाज सुधारक भी थे। उन्होने समाज मे व्याप्त बुराइयों, आडम्बरों, ढोंग, भेद-भाव आदि का खंडन किया है। उन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानो दोनों को समझाया है। वे जाति-पांति एवं वर्ग-भेद के पचड़े में विश्वास नही करते हैं। वे स्वयं को न हिन्दू मानते हैं न मुसलमान। हिन्दू-मुसलमान की एकता एवं अभिन्नता के लिए दादू ने तर्क पूर्ण भाषा में अपने विचार व्यक्त किये हैं। वे तीर्थ-यात्रा के महत्व को भी स्वीकार नहीं करते है। साथ ही वाह्य आडम्बरों का निषेध एवं अन्त:करण की शुद्धि पर बल देते हैं। इस दृष्टि से दादू पर कबीर का प्रभाव पूर्णरूप मे था। किन्तु जहा कबीर अक्खड़ थे, बिना लाग लपेट के जो कहना चाहा कह दिया वही दादू विनम्र थे। इनकी वाणी में मृदुलता, शील और विनम्रता सुस्पष्ट नजर आती है। प्रेम भाव की मार्मिक व्यंजना दादू की अपनी विशेषता है। दादू की रचनाओं मे कबीर की अपेक्षा प्रसाद गुण की अधिकता है। अत: दादू के शब्द तल स्पर्शी थे। चूंकि दादू ने देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप सरल एवं सरस भाषा का प्रयोग किया। अतएव लोगों को समझने मे विशेष दिक्कत नही आई। और इनका पंथ शीघ्र ही लोकप्रिय होता गया। दादू के देहान्त के बाद उनका ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास गद्दी पर बैठा, तदुपश्चात इन्हीं का छोटा भाई मिस्कीनदास गद्दी पर बैठा। इस तरह नारायणा की यह आचार्य-परम्परा की गद्दी अब तक चली आ रही है जिस पर बैठने वाले 'खालसा' कहलाते हैं। दादू की शिष्य परम्परा में सांगानेर के रज्जब, दौसा के सुन्दरदास एवं फतेहपुरसीकरी के जनगोपालजी प्रमुख शिष्य थे। यों तो नारायणा की गद्दी प्रमुख गद्दी मानी जाती थी किन्तु इस पंथ में कई शाखाएं, उपशाखाएं भी हो गई थी जैसे—नागा, विरक्त, उत्तराढ़ी एवं खाकी।

जयपुर के नरेशों ने दादू पंथ के नागा-साधुओं की उपयोगिता समझते हुये अपनी सेना मे स्थान देने लगे। इस संदर्भ मे सवाई जयसिंह ने सबसे पहले इनको अपनी सेना में लिया था। यो ये वेतन भोगी सैनिक हो गये थे। 1769 ई. में क्षिप्रा के युद्ध में जयपुर से भेजी हुई नागा भतीयों की कुमक के आते ही युद्ध का पासा हो पलट गया और महाराणा अड़सी के सैनिक पराजित हो गये। जयपुर की देखा देख जोधपुर वालों ने भी इन्हें अपनी सेना में रखना शुरू किया। इन राज्यों के नरेशों ने, विशेषतः जयपुर वालों ने, *नागा-जमात के लिए अखाड़े बनाने हेतु भूमि आदि अनुदान प्रदान किया* ताकि यहां ये अपने शस्त्रों का अभ्यास आदि करके युद्ध के लिए सधे हुए रह सकें।

राजस्थान में नारायणा की प्रमुख गद्दी के अलावा आमेर, सांभर, भैराणा, करडाला, देवल, दौसा, निवाई, सांगानेर, मारोठ, नागोर, मेड़ता, रूण, राजगढ़ घणाभला, सोवागपुरा, मांडलगढ़ आदि स्थानो पर 'दादू-द्वारा' बने हुए हैं, जहां इस पंथ के संत रहते है। राजस्थान राज्य पुरा अभिलेखागार बीकानेर मे सुरक्षित श्यामलदास कलक्शन न. 259, उदयपुर-बख्शीखाना बही नं. 221, जोधपुर की पट्टा बही, सनदपरवाना बही न. 45, दस्तरी रिकॉर्ड आदि मे ज्ञात होता है कि राजस्थानी नरेशों द्वारा दादू पंथ के साधुओं तथा महन्तों को समय-समय पर भूमि, नगद एवं अन्य अनुदान दिये गये हैं। इतना ही नही जनता जनार्दन की दृष्टि मे देखा जाये तो राजस्थान के प्रत्येक स्थान, जाति व धर्म के लोगो ने, जिनमे मुसलमान एवं जैन भी हैं, महन्तजी को भेंट आदि चढ़ाते रहे है जिसका उल्लेख *महन्तजी की बहियो मे देखने को मिलता है।*[20] *आज भी राजस्थान मे इनके* मानने वालों की संख्या पर्याप्त रूप मे देखी जा सकती है।

रामस्नेही—18 वी शताब्दी मे राजस्थान संक्रामक दौर से गुजर रहा था। तब ही धार्मिक क्षेत्र में एक अविस्मरणीय क्रांति हुई जो आजभी उसी रूप मे निर्बाध गति से प्रवाहित हो रही है जिसे 'रामस्नेही' सम्प्रदाय के नाम से पुकारा गया। पेमाराम का मानना है कि "राजस्थान मे इस सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र 4 स्थानों रेण, शाहपुरा, सिंहथल व खेड़ापा मे क्रमशः दरियावजी, रामचरणजी, हरिरामदासजी तथा रामदासजी द्वारा स्थापित किये गये।" ये नामानुज को अपना प्रथम आचार्य मानते हुए इन्ही से अपनी शिष्य परम्परा शुरू करते हैं। रेण तथा शाहपुरा की शाखाए मेवाड़ के दातड़ा गाव के

20 वही, पृ. 142

सुप्रसिद्ध सन्तदास तथा सिंहथल व खेड़ापा की शाखाएं बीकानेर के दुलचासर गांव के जैमलदास से संबंधित है।[21] चूंकि इन चारों शाखाओं में दरियावजी सर्वप्रथम हुए अतः उन्हीं से हम इस सम्प्रदाय को समझना प्रारम्भ करते है।

संत दरियावजी—इनका जन्म 1676 ई. मे जैतारण गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम मानसा और माता का नाम गीगा था। मोतीलाल मेनारिया ने इन्हे हिन्दू माना है किन्तु पेमाराम इससे सहमत नही है। वह इन्हें पठान धुनिया मुसलमान बताता है जो उचित भी प्रतीत होता है। सात वर्ष की अल्पायु में ही पिता का साया उठ जाने पर दरियावजी अपनी मां के साथ 'रेण' नाना के घर आ गये। तभी योगायोग कुछ ऐसा बैठा कि यहां काशी के एक पंडित स्वरूपानन्द आये और दरियावजी को अपने साथ काशी ले गये। यहां रहते हुए इन्होंने शास्त्र सम्मत ज्ञान प्राप्त करना शुरू किया फिर भी रेण आने के बाद जब दरियावजी को उपनिषद् मे एक ऐसा प्रसंग मिला जिससे यह स्पष्ट हो गया कि बिना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अतः गुरु को ढूंढने में लग गये। अंततः 1712 ई. में पेमदास को अपना गुरु स्वीकारते हुए उनसे दीक्षित हो गये। तब गुरु ने इन्हें राम-नाम के स्मरण हेतु सुझाया। अब ये खेजड़ा नामक स्थान पर रहते हुए अपनी भक्ति मे लीन हो गये। साधना की अन्तिम मंजिल प्राप्त कर लेने पर इन्होंने स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर उपदेश देना शुरू किया। इस बीच इनके कई शिष्य भी हो गये। 1758 ई. में इनका रेण में ही देहान्त हो गया जहां आज भी संगमरमर से निर्मित समाधि स्थल पर प्रति वर्ष चैत्र सुदी पूर्णिमा को एक मेला लगता है जिसमें रामस्नेही एकत्रित होकर इस दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

दरियावजी की शिक्षाओं मे गुरु-भक्ति एवं सत्संग पर सर्वाधिक बल दिया गया है। उन्होने बताया है कि गुरु-भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। गृहस्थ में रहते हुए मनुष्य अपने गुरु से प्राप्त 'सबद' का निरन्तर जाप करता रहे। कर्मकाण्ड मे इनका तनिक भी विश्वास नहीं था। अतः व्यर्थ के आडम्बरो में पड़ने की बजाय इन्होंने राम-नाम के सुमिरन को सर्वाधिक सार्थक बतलाया है। पेमाराम ने बताया है कि "राम-नाम के अक्षरों में इन्होने हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना को टटोला है और बतलाया है कि 'रा' तो स्वयं राम का प्रतीक है एवं 'म' मोहम्मद का। इन दोनों अक्षरों में ही सभी वेद और पुराणों का सार समाहित है।" दरियावजी के बाद

---

21 वही, पृ. 217-18, द्रष्टव्य इस परम्परा की तालिका।

उनके कई शिष्यों ने रामस्नेही सम्प्रदाय की इस शाखा का काफी प्रचार-प्रसार किया।

सन्त रामचरण—मेवाड़ राज्य में 'रामस्नेही' सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास मध्यकाल की एक महत्वपूर्ण घटना थी। डिग्गी तहसील के सोड़ा गांव में शनिवार, माघ शुक्ला चतुर्दशी विक्रम संवत् 1776 को विजयवर्गीय वैश्य रामचरणजी जिनका बचपन का नाम रामकृष्ण या रामकिशन था, जन्म हुआ। ये मालपुरा के पास बनवाडो गांव के रहने वाले थे। सोड़ा तो इनका ननिहाल था। रामचरण के पिता का नाम बखताराम तथा माता का नाम देउजी था। रामचरणजी शुरू से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। अतः बताया जाता है कि जयपुर के नरेश ने इन्हें अपना मन्त्री भी बना दिया किन्तु किसी कारण से इन्होंने राज्य की नौकरी छोड़ दी। रामचरणजी के पिता का जब देहान्त हुआ उस समय इनकी आयु कोई 24 वर्ष के लगभग थी। तब इन्हें यह आभास हुआ कि संसार-सरिता से बचने में केवल मात्र सद्गुरु ही सहायक हो सकता है। अतः ये अपने गुरु को ढूंढने निकल पड़े। ये घूमते हुए मेवाड़ के दांतड़ा गांव पहुँचे जहां गुरुवार, भाद्रपद शुक्ल सप्तमी, विक्रम संवत 1808 को संत कृपाराम जी के पास दीक्षित हुए। गुरु ने इन्हें 'राम-नाम' का मूल मन्त्र दिया। तद्पश्चात ये गूदड़ वेश में रहते हुए 7 वर्ष तक अपनी साधना में लीन हो गये। 1758 ई. में ये जयपुर के निकट गलताजी के मेले में गये। जहां उन्हें साधुओं में व्याप्त अनाचार एवं बुराइयों का कटु अनुभव हुआ। फलतः रामचरणजी का मन फट गया और उन्हें निर्गुण भक्ति की अन्तःप्रेरणा हुई जिससे उन्होंने मेवाड़ के भीलवाड़ा नगर में आकर कोई 10 वर्ष तक साधना की तथा अपने उपदेश देने प्रारम्भ किये। भीलवाड़ के लोग चूंकि सगुणोपासक तथा मूर्तिपूजक थे अतः उसके मूर्ति पूजा विरोधी विचारों का स्वागत नहीं हुआ। इतना ही नहीं रामचरण जी को मारने तक का षडयन्त्र रचा गया तथा तत्कालीन महाराणा अड़सी के पास उनकी काफी शिकायतें की गई। फिर भी वे निराश न हो भीलवाड़ा के पास ही कुहाड़े गांव में पहुँचकर अपनी धुन में रत रहे। अब कई लोग इनके पास आने लगे। ऐसी स्थिति में कुछ समय बाद शाहपुरा के राजा रणसिंह ने इन्हें बुलाया। अतः 1769 ई. में वे शाहपुरा चले गये। जहां रामचरणजी के विचारों का न केवल स्वागत ही हुआ अपितु उनके मानने वालों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही गई। अमरचन्द वर्मा के अनुसार "रामस्नेही सम्प्रदाय की स्थापना 1760 ई. में भीलवाड़ा में ही हो गई थी। तद्पश्चात शाहपुरा से तो उसका प्रचार-प्रसार हुआ था।"

तब से शाहपुरा नगर रामस्नेही परम्परा का प्रमुख केन्द्र रहा है। 1798 ई. में स्वामीजी की मृत्यु हो गई। इनके द्वारा प्रचलित विचारधारा 'रामस्नेही-सम्प्रदाय' के रूप में प्रसिद्ध हुई।[22]

रामस्नेही सम्प्रदाय की इस शाखा के साधु शुरू में हड़मच में रंगे हुए कपड़े पहनते थे। तनदन्तर गुलाबी रंग की पोशाक पहनने लगे जो अब तक इसी रूप में चल रहा है। ये रुण्डमुण्ड रहते हुए 'रामद्वारा' मे रहते हैं।

रामचरणजी की 'अणभै-वाणी' से ज्ञात होता है कि उन्होंने गुरु-महिमा पर बड़ा बल दिया है। उनका मानना है कि गुरु ब्रह्म रूप होता है जो मानव को भवसागर से पार उतारता है। इसी तरह राम-नाम के स्मरण पर जोर देते हुए मोक्ष प्राप्ति की बात सुझाई। उन्होंने सत्संग की महिमा बताते हुए कहा कि जिस प्रकार से गन्दा पानी गंगा में जाकर स्वच्छ हो जाता है तथा खटीक की छुरी पारस का स्पर्श पाकर सोने की बन जाती है ठीक इसी प्रकार से बुरा से बुरा व्यक्ति भी साधु-सन्तों का सान्निध्य पाकर उनके जैसा ही हो जाता है। अतः इन्होंने मनुष्यों को भली संगति में रहने का उपदेश दिया। रामचरणजी ने अपने इस ग्रन्थ (अणभै-वाणी) में निर्गुण उपासना के क्षेत्र मे बताया है कि राम-नाम के निरन्तर जाप से चार विभिन्न सोपानों को पारकर व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

रामचरणजी ने जहा भक्ति एव साधना के क्षेत्र में शिक्षा दी वहीं वे एक समाज सुधारक के रूप में भी प्रतिष्ठित थे। 'अणभै-वाणी' से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानों को उनके परम्परागत आडम्बरों व ढोंग के लिये कोसा था। इनके द्वारा किये जाने वाले कर्मकाण्डों का भी स्वामी जी ने खंडन किया। कबीर की भाति इन्होंने भी मुल्ला द्वारा दी जाने वाली 'अजान' को बांग कहकर इसकी आलोचना की है। ये मूर्ति-पूजा के प्रबल विरोधी थे, तीर्थ यात्रा को व्यर्थ समझते थे, बहुदेवतावाद में इनका तनिक भी विश्वास नही था। जाति-व्यवस्था मे इनका विश्वास नही था। हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव को भी ये सहन नही कर सके। ढोंगी साधुओं के भी ये विरोधी थे। अतः समाज में व्याप्त इन बुराइयों का स्वामीजी ने जोरदार विरोध किया तथा समझाने की चेष्टा की। इतना ही नही रामचरणजी ने मादक द्रव्यों के निषेध पर भी बल दिया तथा लोगों को मास भक्षण न करने तथा अहिंसा के पालन की शिक्षा दी। गोपीनाथ शर्मा के कथनानुसार, "इस पंथ

---

22 वही, पृ. 224-25, जे. के. ओझा : मेवाड़ का इतिहास, पृ. 302

में नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है, चाहे वे रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी।" रामचरणजी ब्रज भाषा मिश्रित राजस्थानी में अपने उपदेश देते थे, जिसे लोगों को समझने में कोई कठिनाई नहीं आती थी। अतः इनके विचारों ने शीघ्र ही लोगों को आकर्षित करना शुरू कर दिया।

स्वामी रामचरणजी द्वारा लिखित 'अणर्भ-वाणी' पुस्तक का धार्मिक ग्रन्थ के रूप में समादर किया जाता है। रामचरणजी की शिष्य परम्परा में 225 शिष्य थे जिनमें 12 प्रमुख शिष्य थे। इन शिष्यों ने न केवल राजस्थान अपितु बाहर भी इस सम्प्रदाय का खूब प्रचार-प्रसार किया। शाहपुरा तो इनका प्रमुख केन्द्र बना रहा। आज भी प्रति वर्ष फूलडोल के मेले के अवसर पर रामस्नेही सम्प्रदाय के मानने वाले एकत्रित होकर उस महान संत के त्याग का स्मरण कर श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं।

संत हरिरामदासजी—ये सिंहथल शाखा के प्रवर्तक माने जाते है। इनका जन्म सिंहथल मे एक ब्राह्मण परिवार मे भागचन्द जोशी के यहां हुआ। 'रामों' इनकी माता का नाम था। ये गृहस्थ थे। इनकी पत्नी 'चांपा' थी और इनके पुत्र का नाम बिहारीदास था। 1743 ई. में इन्होंने जैमलदासजी को अपना गुरु बनाया और कठिन साधना में रत हो गये। कुछ ही वर्षों में पूर्णत्व की प्राप्ति के बाद ये घूम-घूम कर उपदेश देने लगे। 1778 ई. मे सिंहथल मे ही इन्होंने अपना नश्वर शरीर छोड दिया। यहां पर बने हुए बड़े रामद्वारे को देखकर आज भी इस महान सन्त की स्मृति ताजी हो जाती है।

चूंकि ये रामचरणजी के समकालीन ही थे अतः इनकी शिक्षाओं में काफी साम्य नजर आता है। इन्होंने गुरु को पारस पत्थर से भी उच्च बताया है। राम-नाम के स्मरण से साधना की मंजिलें पार कर जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने की बात कही है। अन्य सन्तों की भांति इन्होंने भी समाज में प्रचलित आडम्बर, बुराइयों, ऊँच-नीच के भेद भाव का खंडन किया है।

इनके बाद इनके शिष्य इस शाखा का प्रचार-प्रसार करते रहे।

संत रामदास—ये खेड़ापा शाखा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनका जन्म 1726 ई. में बीकमकोर नामक गाव में हुआ था। पिता का नाम शार्दूलजी तथा मा का नाम अणमी था। ये जाति से मेघवाल थे। बचपन में मां का साया उठ जाने से ये पिता के साथ खेडापा मे आकर रहने लगे। ये गृहस्थ थे। आध्यात्मिकता की ओर इनकी लगन शुरू से ही थी अतः ये गुरु की टोह में भ्रमण करने लगे। इन्होंने कोई बारह गुरु किये होंगे किन्तु आत्मा को

सन्तोष नही मिला। अंतत: 1752 ई. में हरिरामदासजी से दीक्षित हो गये। गुरु से 'राम-नाम' का महामन्त्र ग्रहण कर मेलाना में भक्ति करने लगे। 1765 ई. में ये खेड़ापा में रहने लगे किन्तु इस बीच इन्हे कई स्थलो पर जाना पडा तथा भ्रमण भी किया। इनके सरल, सहज बोधगम्य उपदेशों से आकर्षित होकर लोग इनके पास आने लगे। अन्य सन्तों की भांति इन्होने भी गुरु-भक्ति, राम-नाम स्मरण पर बल दिया तथा समाज मे व्याप्त बुराइयों, कर्मकाण्डों, ऊँच-नीच, वर्ण-व्यवस्था, आडम्बर आदि का खण्डन किया। 1798 ई. में इस सन्त का खेडापा मे ही देहान्त हो गया। इनके बाद इनके शिष्यों ने इस परम्परा को निरन्तर बनाये रखा। चूंकि ये स्वयं गृहस्थ थे अत: अपने अनुयायियों को भी गृहस्थ मे रहने का आदेश दिया। बाद मे इनके विरक्त, विदेह, परमहस, प्रवृत्ति और गृहस्थी के रूप में पाँच भेद हो गये।

राम स्नेही साधु रामद्वारो मे रहते हुए भिक्षावृत्ति कर, अपने उदर की पूर्ति करते है। ये दिन में ही खाना खाते हैं और धातु के पात्र नही रखते हैं। कोपीन पहन कर ऊपर से गुलाबी चादर ओढ़ लेते है। पहले कुछ साधु नंगे भी रहते थे जिन्हे परमहस कहा जाता था। ये प्राय: तूंबी, चादर, माला और पुस्तकें रखते हैं। अपनी शिष्य परम्परा के अन्तर्गत ये किसी उच्च वर्ग के लड़के को अपना चेला बना लेते है। रामद्वारे में ये कथावाचन करते हैं। इस भांति इनकी यह परम्परा बराबर चली आ रही है।

इस प्रकार से राजस्थान में रामस्नेही सम्प्रदाय व्यापक रूप से फैला हुआ है जिसके मानने वाले अधिकाशत: वैश्य वर्ग से सम्बन्धित हैं। राजस्थानी नरेशों की सहिष्णुतावादी नीति के कारण समय-समय पर इस सम्प्रदाय के साधुओं, रामद्वारों को अनुदान एवं रियायतें दी जाती रही है।

चरणदासी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक सत चरणदास थे। इनका जन्म 1703 ई. मे मेवात प्रदेश के डेहरा नामक गांव में हुआ था। जाति से ये ढूसर बनिया थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर एवं माता का नाम कुंजो था। बताया जाता है कि बचपन में ये अपने नाना के घर दिल्ली मे रहे थे। 18 वर्ष की आयु में इन्होंने शुकदेव मुनि से शब्द मार्ग का उपदेश लेकर अपनी साधना में जुट गये।[23] और 30 वर्ष की आयु मे अपने मत का प्रचार-प्रसार करना आरम्भ किया। चरणदासजी के उपदेशों को मानने वालों की सख्या शीघ्र ही बढ़ गई जो चरणदासी सम्प्रदाय के कहे

---

23 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृ. 86

जाते हैं। 1781 ई. में ये दिल्ली में परलोक सिधार गये जहां आज भी इनका समाधि स्थल बना हुआ है। इनकी एक छतरी डेहरा मे भी बनी हुई है जहां प्रतिवर्ष बसन्त पंचमी को एक मेला लगता है।

इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत निष्काम प्रेम तथा सदाचरण पर काफी दबाव डालते हुए गुरु भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन बताया है। यद्यपि ये निर्गुण भक्ति पर सर्वाधिक बल देते थे फिर भी इनके सिद्धान्तों मे निर्गुण एवं सगुण भक्ति का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी विरक्त एवं घरबारी दो तरह के होते हैं। विरक्त पीले वस्त्र पहनते हैं, ललाट पर गोपीचन्दन का तिलक लगाते हैं तथा सिर पर पीले रंग की एक नोंकदार टोपी पर पीले रंग का साफा बांधते हैं।

चरणदास विरचित ग्रन्थों की संख्या के बारे मे विद्वान एक मत नही हैं। परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इनके ग्रन्थो की संख्या कोई 21, कोई 15 और कोई 12 बताते हैं। मोतीलाल मेनारिया का मानना है कि चरणदास ने 11 ग्रन्थ लिखे थे। इनकी शिष्याओं मे दयाबाई एवं सहजोबाई का नाम पिंगल साहित्य की श्रेष्ठ कवयित्रियों में गिनाया जा सकता है।

लोकदेव—राजस्थानियों मे वीर एवं त्यागी महापुरुषो के प्रति श्रद्धा की भावना परम्परागत रूप से रही है। इस श्रृंखला में कई विभूतियों को देवत्व के रूप में स्वीकार कर पूजा-अर्चना प्रारम्भ कर दी थी। यदि गहनता के साथ इस संदर्भ मे विचार किया जाय तो स्पष्टत: कहा जा सकता है कि यह परम्परा हमे अशिक्षित समाज मे विशेष रूप से दीख पड़ती है। ऐसे लोक देवों में गोगाजी का नाम प्रथमत: गिनाया जा सकता है। ये कब हुये इस संदर्भ में विद्वान एक मत नही हैं। पेमाराम का मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि गोगाजी 11 वीं शताब्दी के आस-पास हुए थे। इनके पिता का नाम जेवर और माता का नाम बाछल था। जेवर ददरेवा के शासक थे। गोगाजी ने गायो की रक्षार्थ अपने प्राण त्याग दिये थे। तब से राजस्थान मे गोगाजी की पूजा होने लगी और आज भी भादवा वदी 9 को 'गोगा नवमी' के रूप में उत्सव मनाते हैं। ये सापों के देवता भी माने जाते हैं। अत: ऐसा विश्वास किया जाता है कि गोगाजी को मानने वाले को साप नहीं काटता है और यदि किसी व्यक्ति को सर्प काट भी दे तो गोगाजी का भोपा उसे चूसकर ठीक कर देता है। गोगामेड़ी एवं ददरेवा की मेड़ी गोगाजी के विशेष पूजा स्थल के रूप में जाने जाते हैं। गोगाजी की भाँति तेजाजी ने भी गायो की रक्षा करते हुए प्राणो का उत्सर्ग किया था। ये नागोर परगने के खड़नाल नामक गांव के जाट जाति के थे। इनके पिता का नाम ताहड़जी और माता

का नाम रामकुंवरी था। इनकी वीरता के सम्बन्ध में भी कई लोक-कथायें प्रचलित हैं जिससे पता लगता है कि ये भी सापों के देवता माने जाते हैं। गायों की रक्षा करते हुए जब तेजाजी क्षत-विक्षत हो गये तब सुरसरा में सर्प ने इनकी जिह्वा डस कर मौत की गोद में सुला दिया। आज भी गांवों में तेजाजी के प्रति लोगों के मन में अपार श्रद्धा एवं विश्वास देखा जा सकता है। साप के काटे जाने पर इलाज न कराके 'तेजा जी की तांती' बाधकर ठीक होने की परिकल्पना करते है। यों तो सुरसरा में इनका एक मन्दिर बनाया गया किन्तु 1734 ई. मे महाराजा अभयसिंह के काल मे परबतसर का हाकिम वहां से तेजाजी की मूर्ति अपने यहां ले आया। तब से परबतसर तेजाजी का प्रमुख स्थान बन गया है।[24] भादवा सुदी 10 को राजस्थानी ग्रामीण वर्ग 'तेजा दसमी' के रूप मे मनाते हैं, विशेषतः जाटों मे इनकी पूजा-अर्चना अधिक ही होती है।

इसी तरह से वीरता, शौर्य, त्याग, प्रतिज्ञा-पालन की प्रतिमूर्ति एवं गायों की रक्षार्थ बलिदान करने वाले पाबूजी को भी देवता के रूप मे पूजा जाता है। खासतौर से इन्हें ऊंटों का देवता माना गया है। अतः जब ऊंट बीमार हो जाता है तो इनकी बोलमा या मनौती की जाती है।

देवजी, मल्लीनाथजी, रामदेवजी, हरभूजी ने भी पर-हितार्थ आत्मोत्सर्ग किया अथवा साधारण जीवन बिताकर अन्यो के लिये उदाहरण बने तथा उन्हे देवत्व के रूप मे स्वीकार किया गया।

इस प्रकार से इन लोक देवताओं के माध्यम से सामान्य जन-जीवन अध्यात्म की ओर प्रेरित होने लगा तथा सद्‌मार्ग पर चलने लगा। इन देवताओं ने निम्न जातियों को ऊपर उठाने का प्रयत्न भी किया जैसे पाबूजी ने थोरी जाति को ऊपर उठाने का प्रयास किया तो रामदेवजी ने ढेढ जाति को। यों इन देवताओं की सामाजिक सुरक्षा के सदर्भ मे अतुलनीय देन रही है। साथ ही इन देवताओं के स्थानो को साधारण जनता तीर्थस्थलो के रूप मे स्वीकार करती है। अतः वहा पर प्रतिवर्ष लगने वाले मेलों मे ये लोग बिना किसी भेद-भाव के सौहार्द्र पूर्ण वातावरण में सोल्लास सम्मिलित होते है। इससे राजस्थान के गावो का जीवन मधुर एव उल्लासमय बना रहता है। इतना ही नही इन लोक देवताओ के लिये जो गीत, भजन, पवाड़े आदि तैयार किये गये उनसे लोक साहित्य में बड़ी अभिवृद्धि हुई जो राजस्थानी

---

24 पेमाराम : मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन, पृ. 39

संस्कृति की अमूल्य धरोहर है।[25]

यों धार्मिक विचारो से ओत-प्रोत राजस्थान विभिन्न धर्मों की संगम-स्थली के रूप में अनुपम रहते हुए सदैव सहिष्णुतावादी नीति का प्रेरक रहा है।

राजस्थान में कुछ ऐसे भी सत हुए है जो किसी भी सम्प्रदाय विशेष से जुडे हुए नहीं थे। वे अपने ढंग से समाज एव धर्म मे प्रचलित बुराइयो एवं आडम्बरों के विरुद्ध आवाज उठा रहे थे। ऐसे सन्तो मे सतदास, बालकराम, सन्त मावजी तथा दीनदरवेश आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

स्थापत्य कला—राजस्थान मे स्थापत्य कला का इतिहास मानव सभ्यता के इतिहास के साथ जुडा हुआ है। अतः स्थापत्य कला की प्राचीनता के सन्दर्भ में कोई सन्देह नही रह जाता है। खुदाई से प्राप्त अवशेषो के आधार पर यहां की कला के क्रमिक विकास को सहज ही समझा जा सकता है, जैसे कालीबंगा, रंगमहल, बागोर, गिलूंड, आहाड आदि उल्लेखनीय सभ्यता के केन्द्र रहे हैं जहां मानव के निवास के लिए मकान आदि मिले हैं। ई. पू. की तीसरी शताब्दी से गुप्तोत्तर काल तक राजस्थान मे स्थापत्य मे करीब करीब सभी प्रवृत्तियां जैसे मन्दिर निर्माण, नगर निर्माण, स्तूप, स्तभ, कुंड आदि का निर्माण विकसित हो गया था। इस दृष्टि से जयपुर जिले का विराटनगर, नान्दसा तथा चित्तौड के निकट मध्यमिका (नगरी) को लिया जा सकता है। गुप्तोत्तर युग के बाद 7 वी शती से 9 वी शताब्दी तक राजस्थानी स्थापत्य कला मे कुछ नवीन प्रवृत्तियां और दृष्टिगत होती है यथा उपयुक्त सरचना में उपयोगिता, विशालता के साथ-साथ सुरक्षा, कलात्मकता एवं सौदर्य बोध का दिग्दर्शन होता है जो मेनाल,डबोक, अमझेरा, नागदा, चीरवा आदि स्थानो के भग्नावशेषों से मिलता है। 10 वी से 12 वी शती का समय राजस्थानी स्थापत्य कला में अनुपम स्थान रखता है। यहाँ के स्थापत्य को इस भाँति समझ सकते हैं—

गांव एवं नगर—सुरक्षा एवं जीवनोपयोगी साधनो को ध्यान में रखते हुये गाँव प्राय: नदियो के किनारे तथा पहाड़ियो के मध्य बसाये जाते थे। रेगिस्तानी इलाके के गाँव भी पानी की सुविधा को मद्दे नजर रखते हुए बसाये जाते थे। मारवाड़ के अधिकाशत: गांवों के पीछे 'सर' जुडा होने से स्पष्ट है कि वह गाँव किसी जलाशय के निकट बसा हुआ है। गाँवो मे अधिकाशत: बिना खिड़की एव रोशनदान के कवेलू या घास-फूस से ढके कच्चे

25 वही, पृ. 61-62

मकान होते थे। निर्धन व्यक्ति एक ही कच्चे घर में रहता था तो सम्पन्न के घर में प्राय: रहने का घर, पट्टशाला, पशुओं का छप्पर, ढालिया, अन्न के कोठे आदि होते थे।

नगर अथवा कस्बों की बसावट भी सुनियोजित रूप से की जाती थी। जी. एन. शर्मा का कथन है कि "नागदा, चीरवा, लोद्रवा, अर्थूणा, चाटसू आदि कस्बो को घाटियों, पहाड़ियो या जंगल से आच्छादित स्थान में बसाया गया और इनमें वे सभी साधन जुटाए गये जो युद्ध कालीन स्थिति मे सुरक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते थे।" महाभारत, कामसूत्र, अर्थशास्त्र, शुक्र नीति आदि कई पुरातन ग्रन्थों के आधार पर ही नगर में मन्दिर, सुन्दर महल, भवन, धंधों के आधार पर लोगो की बस्तियां बसाना, नगर की सुरक्षार्थ खाइयाँ, परकोटा बनाना, जलाशय एवं वापिकाएँ बनाना, सडकों की व्यवस्था आदि की जाती थी। इस दृष्टि से देलवाड़ा, इंगोद कस्बे उल्लेखनीय हैं। पहाड़ियों के अचल मे, जंगल की सामीप्यता की दृष्टि से सुरक्षार्थ बसाये गये नगरो मे आमेर, बूंदी, अजमेर, उदयपुर एवं जैसलमेर के नाम प्रमुख रूप से गिनाये जा सकते है। यों नगर स्थापत्य कला की दृष्टि से राजस्थान ने काफी प्रगति करली थी।

किले—राजस्थान की स्थापत्य कला में किलों का बड़ा महत्व रहा है। यहा के राजा-महाराजाओं तथा जागीरदारों ने अपनो सुरक्षार्थ किलों का निर्माण कराया। बडे से लेकर छोटे सामन्त तक किसी-न-किसी गढी मे रहते हुए अपने आपको सुरक्षित समझता था। यों यह कहा जा सकता है राजस्थान किलो की भूमि है। इस प्रदेश का प्राय: भू-भाग किलों से भरा पड़ा है। दस-दस मील की दूरी पर किसी भी रूप मे किला देखने को मिल जाता है, चाहे बडा गढ़ हो अथवा गढी।

अधिकांशत: किलो का निर्माण सामरिक महत्व के स्थानों पर कराया गया जो मुख्य रूप से विस्तृत राजमार्गों पर बने हुए हैं। तब दिल्ली-आगरा से महत्वपूर्ण मार्ग राजस्थान के बीच से गुजरते थे। पहाड़ी दर्रे, घाटियां और रास्तों को दुर्गों से छा दिया गया ताकि आक्रमणकारियों से अन्त:स्थित प्रदेश की रक्षा की जा सके। राजनैतिक एवं व्यापारिक कारणों से भी इन रास्तो को सुरक्षा आवश्यक थी। अत: जालोर, सांचौर, सिवाना, मन्डोर और जोधपुर के किले दुर्गम स्थलो पर बने हुए है। ये दुर्ग अरावली की पहाड़ी शाखा के साथ-साथ अजमेर से गुजरात जाने वाले रास्ते की चौकसी करते थे। साभर के दक्षिण मे अरावली की श्रृंखला कुछ ऊपर उठती है। अजमेर से ब्यावर तक इस श्रृंखला का नीचा ढालू भाग आ जाता है जिसमे

से बड़े मार्ग गुजरते हैं। मारवाड से सिंध, गुजरात और काठियावाड के मार्ग इस विशाल दर्रे से होकर जाते हैं। दक्षिणी पूर्वी मेवाड, ढूंढाड तथा हाडौती से आने वाले मार्ग इसी स्थान से गुजरते हैं, अतः इन महत्वपूर्ण राजमार्गों की निगरानी के लिए अजमेर की पहाड़ियों पर तारागढ बनाया गया। कुम्भलगढ, अचलगढ एवं बसतगढ के किले मेवाड़ से मारवाड़ जाने वाले दर्रों से गुजरने वाले रास्ते, गुजरात और सिरोही से आने वाले मार्गों की चौकसी व सुरक्षार्थ बनाये गये थे। केन्द्रीय एवं पूर्वी राजस्थान में पहाड़ी शिखरो पर किलों की एक दुहरी पक्ति फैली हुई है। पश्चिमी भाग मे चित्तौड, मांडलगढ, जहाजपुर, बूंदी के किले हैं तथा पूर्वी भाग मे रामपुरा, गाठ, मैरी, भैंसरोड़गढ, कोटा, रणथम्भोर आदि के प्रसिद्ध किले हैं। ये सभी किले ढूंढाड़, मालवा होकर चम्बल बनास के काठे द्वारा ब्रज और बुन्देलखण्ड मे मेवाड़ तथा गुजरात की ओर निकलने वाले मार्गों की सुरक्षार्थ बनाये गये थे।[26]

मेवाड के महाराणा कुम्भा एवं मारवाड के राव मालदेव के समय मे सर्वाधिक दुर्ग निर्माण-कार्य हुआ। इनके अलावा परमार एवं चौहान वंश के अनेक राजाओं ने विभिन्न दुर्गों का निर्माण समय-समय पर करवाया। जितने किले इन वंशों के शासकों ने बनवाये उतने किसी भी अन्य वंश ने नही बनवाये। इन किलो का उपयोग प्रायः आक्रमण के समय राजा अपनी स्वयं की तथा अपनी प्रजा की सुरक्षार्थ करता था। बड़े-बड़े किलो पर तो कृषि तक होती थी। वहां पर महल, बावडियां, तालाब, बाजार, बाग-बगीचे, मन्दिर, जनसाधारण के निवास-स्थल, रसद-सामग्री के संचय हेतु बड़े-बडे भंडारगृह आदि बने हुए होते थे। कई किलो पर जलाशय नही होते तो, वहां खेती करना भी दुष्कर होता था। ऐसी स्थिति मे बरसात का पानी बडी-बडी बावड़ियों में एकत्रित कर लिया जाता था और किले की तलहटी मे कृषि कार्य किया जाता था। अधिकांशतः किलों का निर्माण ऊंची पहाडी अथवा ढलानदार घाटियो पर किया जाता था। ये किले चारो ओर से ऊंची एवं चौडी दीवारो से सुरक्षित कर दिये जाते थे। बुर्जों से युक्त इन चार दीवारो मे 3-4 फुट की दूरी पर छेद रखे जाते थे ताकि किले का सैनिक अपने को सुरक्षित रखता हुआ नीचे के शत्रु सैनिक पर सहज रूप से आक्रमण कर सकता था। किले में प्रवेश करने हेतु कई एक दरवाजे होते थे। आक्रमण के समय इन दरवाजों को बंद कर दिया जाता था। बहुत ही जरूरी होने पर गुप्त द्वारो का उपयोग किया जाता था जिससे शत्रु पक्ष को पता भी नही लगे

---

26 शोध-पत्रिका, वर्ष 31 अंक 3-4, पृ. 12-13

और उनका काम चलता रहे।

राजस्थान के रेतीले इलाके में जहां पहाड़ियां नजर भी नही आती वहां किले मैदान मे ही निर्मित किये जाते थे और उन्हे ऊंची दीवारों के साथ-साथ चारों ओर गहरी खाइयां खोदकर सुरक्षित कर दिया जाता था। रेगिस्तानी किलो मे बीकानेर का किला सर्वाधिक सुन्दर एवं श्रेष्ठ है। जहा इन किलों को सामरिक दृष्टि से बड़ी उपयोगिता थी वहीं इनमे कुछ कमियां भी थी जिसके कारण अंतत: उन्हें पराजय का मुख देखना पड़ता था। किलों मे रखी रसद सामग्री की समाप्ति पर, आक्रमणकारियो की तुलना मे रक्षक सेना की अत्यधिक कम सख्या के कारण, विशाल किलों मे छोटी सेना द्वारा किले की रक्षा-कार्य विस्तीर्ण प्राचीरो के हर भाग पर सभव नही रहता था; अत: आक्रमणकारी प्रहार योग्य कमजोर स्थान सहज रूप से ढूंढ कर उधर से आक्रमण करके किले मे घुस जाते थे। इसके अतिरिक्त सभी मिलकर आक्रमणकारी का सामना नही करते थे जैसे एक के बाद एक किले जीत लिये गये किन्तु पास ही में दूसरे दुर्ग में सुसज्जित सेना किला बद करके इस बात का इन्तजार करती रही कि जब भी हम पर आक्रमण होगा तब देखा जायगा। ऐसी स्थिति मे किले को घेरने वाली सेना निश्चित होकर घेरे रहती थी क्योंकि उन्हें किसी बाह्य आक्रमण की आशका तो थी ही नही। अकबर ने जब चित्तौड़ के किले को घेर लिया तब चित्तौड किले मे तैनात सैनिको को किसी भी ओर से सहायता नहीं मिली। जबकि रणथम्भोर के किले में सुरजन हाड़ा कोई दस हजार सैनिको के साथ निर्लज्जता पूर्वक बैठा चित्तौड़ की दुर्दशा देखता रहा। खैर! कुछ भी हो ये किले राजस्थान की स्थापत्य कला की धरोहर के रूप मे नि:सन्देह अपना महत्वपूर्ण स्थान सुरक्षित रखते हैं।

मध्यकालीन राजस्थान मे जो किले निर्मित हुए उन पर हमें तुर्क एवं मुगल स्थापत्य कला का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। पर कुछेक महत्वपूर्ण किलों का वर्णन इस भांति किया जा सकता है—

चित्तौड़ का किला—अजमेर से खंडवा जाने वाली रेल्वे लाईन पर चित्तौडगढ जक्शन है जहां से कोई 2 मील दूर पूर्व मे एकाकी पहाड़ी पर एक सुन्दर व सुदृढ किला बना हुआ है जो न केवल राजस्थान अपितु भारत के किलों में भी सुप्रसिद्ध है। इसे चित्तौड़गढ अथवा चित्तौड़ का किला कहा जाता है। वास्तव में जन कवि की यह पंक्ति "गढ तो चित्तौड़गढ़ और सब गढ़ैया" काफी सार्थक बन पड़ी है। यह किला राजपूती आन-बान एवं शान का प्रतीक है। यहा की मिट्टी का कण-कण अपने देश एवं धर्म की रक्षार्थ

हंसते-हंसते प्राणों की बाजी लगा देने वाले वीरों के रक्त से सना हुआ है। इस किले ने तीन बड़े शाके देखे जिनमें हजारों वीरों ने केसरिया बाना पहिन कर किले के दरवाजे खोल दिये और शत्रु पक्ष का अपने खून की अन्तिम बूंद रहने मुकाबला किया और तब पीछे से उनकी वीरांगनाओं ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिए अपने मासूम लालों सहित जौहर की धधकती ज्वाला में कूद कर जो आदर्श त्याग समुपस्थित किया वह इतिहास में सदैव अमर रहेगा। यों अप्रतिम वीरता, स्वाभिमान एवं आन पर प्राण न्यौछावर कर देने की लालसा का प्रतीक यह किला स्वदेश प्रेमियों को सदैव त्याग एवं बलिदान का पाठ पढ़ाता रहेगा।

इस किले की पहाड़ी समुद्री सतह से 1850 फुट ऊँची तथा निकटवर्ती भूमि से कोई 500 फुट ऊँची है। यह $3\frac{1}{2}$ मील लंबा और आधा मील चौड़ा है। कंगूरेदार विशाल परकोटे एवं बुर्जों से सुसज्जित इस किले के संदर्भ में यह प्रसिद्ध है कि यह पांडवों के समय में भी था और तब भीम ने आकर अपनी लात की मार से पानी निकाला। आज भी इस स्थान पर एक कुण्ड बना हुआ है जिसे 'भीमलत' कहा जाता है। किन्तु वि. सं. 770 के एक शिलालेख[27] से यह स्पष्ट होता है कि यहां मौर्यवंशीय भीम एक शासक था। अतः पांडव वंश के भीम के साथ इस भीम को जोड़ने की भूल हो गई हो। शिलालेख की वंशावली से तो मौर्य-वंशीय भीम का ही चित्तौड़ में रहना उचित प्रतीत होता है जिसे गोपीनाथ शर्मा ने भी स्वीकार किया है। इसी भीम का उत्तराधिकारी मान था जिसे चित्रा समोरी या चित्रांगद भी कहते हैं। संभवतया उसने 7 वीं शताब्दी के लगभग इस किले की स्थापना की थी। अतः उसी के नाम पर इस किले को 'चित्रकूट' कहते हैं। उसने किले पर एक तालाब भी बनवाया जो 'चित्रंग-मोरी' तालाब के नाम से जाना जाता है। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार आठवीं शताब्दी के लगभग मेवाड़ के गुहिल वंशीय शासक बापा रावल ने मौर्यवंश के अन्तिम राजा मान से यह किला छीन लिया। किन्तु गोपीनाथ शर्मा इससे सहमत नहीं हैं। उनके अनुसार "वि. स. 811 के कुकड़ेश्वर के शिलालेख से प्रमाणित होता है कि उस समय तक कुकडेश्वर नामक मौर्यवंशीय शासक यहां शासन कर रहा था। इसी भांति हरमेख-लाकार के वर्णन से स्पष्ट होता है कि 831 ई. में चित्तौड़ का राजा धरणी-वराह था। अतः बापा द्वारा चित्तौड़ लेने की बात निराधार-सी लगती है।

---

27 टॉड, जि. 1 (न्यू इम्प्रेसन), पृ. 187

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारों ने मोर्यो से चित्तौड़ लिया हो और देवपाल प्रतिहारो को परास्त कर अल्लट उसका उत्तराधिकारी हुआ हो। ओझा के अनुसार फिर मालवा के परमार राजा मुंज ने इस गुहिलवंशियों से छीन कर अपने राज्य मे मिलाया। वि. सं. की 12 वी शताब्दी के अंत में गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) ने परमारो से मालवा छीना, जिसके साथ ही यह दुर्ग भी सोलंकियों के अधिकार मे गया। तदनन्तर जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को परास्त कर मेवाड़ के राजा सामन्तसिंह ने 1174 ई. के आस-पास इस किले पर गुहिलवंशियो का आधिपत्य स्थापित किया। बीच मे कुछ समय के लिए यह किला अलाउद्दीन खलजी तथा अकबर की अधीनता में रहा अन्यथा तब से गुहिलवंशियों के ही अधिकार में चला आ रहा था।

चित्तौड़गढ़ जंकशन से किले के ऊपर तक जाने हेतु पक्की सडक बनी हुई है और स्टेशन से कोई सवा मील दूर गभीरी नदी आती है जिसे एक पुल द्वारा पार करते हैं। 1303 ई. में अलाउद्दीन खलजी ने इस किले को जीत कर अपने पुत्र खिज्रखां को यहा का हाकिम नियुक्त किया और चित्तौड़ का नाम खिजराबाद रखा। तब उस शहजादे ने इस पुल का निर्माण कराया था। पुल से कुछ दूर और जाने पर चित्तौड़ नगर आता है। चूंकि यह किले के नीचे बसा हुआ है अतः इसे 'तलहटी' कहते है। एक घुमावदार रास्ते से किले की चढाई शुरू होती है जो सात दरवाजे—पांडवपोल, भैरवपोल, हनुमानपोल, गणेशपोल, लक्ष्मणपोल, जोडलापोल और रामपोल पार करने के बाद किले पर पहुंचा जाता है। पाडवपोल के निकट ही प्रतापगढ़ के रावत बाघसिंह का स्मारक बना हुआ है जिसने 1534 ई. मे गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के विरुद्ध किले की रक्षा करते हुए अपने प्राणो की बलि दे दी थी। 1567 ई. मे अकबर के आक्रमण के समय किले की रक्षा करते हुये वीर जयमल एवं कल्ला खेत रहे थे। उनकी छतरियां भैरवपोल और हनुमानपोल के मध्य स्थित हैं। पहली चार स्तम्भो वाली छतरी कल्ला की है और छः स्तम्भो वाली छतरी जयमल राठोड़ की है जो आज भी उनको वीरता एवं बलिदान का स्मरण कराती है। इसके बाद गणेशपोल, लक्ष्मणपोल, एवं जोड़लापोल आती है और अन्तिम रामपोल पार करने के बाद किले की चढ़ाई समाप्त होकर समतल भूमि आ जाती है। यही पर वीर पत्ता का स्मारक बना हुआ है जिसने जयमल के साथ रहकर किले की रक्षा के दायित्व को निभाया था। यहां से सड़क उत्तर की ओर भी जाती है। उधर थोडी ही दूरी पर दाहिनी ओर कुकड़ेश्वर का मन्दिर बना हुआ है और मन्दिर के नीचे कुकड़ेश्वर का

कुण्ड है। सड़क से कुछ दूर दाहिनी तरफ हिंगलू आहाड़ा के महल हैं जहां महाराणा रत्नसिंह रहा करता था। यहां पर रत्नेश्वर का कुंड एवं मन्दिर भी है। पहाड़ी के पूर्वी किनारे के निकट एक खिड़की बनी हुई है जिसे 'साखोटा की बारी' कहते हैं। किले की पूर्वी प्राचीर के पास आदिनाथ के स्मारक के रूप मे सात मन्जिल का जैन—विजय स्तम्भ खड़ा है, जिसे 11 वीं शताब्दी मे जीजा नामक दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी ने बनवाया था। यह 75 फुट ऊंचा है तथा आधार पर इसकी परिधि 30 फुट है। अन्दर की तरफ घुमावदार सीढियां बनी हुई हैं जिनसे पाचवी मन्जिल तक पहुँचा जा सकता है। इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक एक विशाल दिगम्बर मूर्ति खड़ी है तथा शेष भाग पर कई अन्य छोटी-छोटी जैन मूर्तियां अंकित हैं। पास ही में खण्डहर स्वरूप महावीर स्वामी का मन्दिर है। जिसका जीर्णोद्धार 1438 ई. मे महाराणा कुम्भा ने कराया था। थोड़ा आगे जाने पर नीलकंठ एवं लक्ष्मीजी के मन्दिर हैं और उसके बाद किले का पूर्वी द्वार सूरजपोल है जहां सलुम्बर का रावत साईदास अकबर के आक्रमण के समय वीरगति को प्राप्त हुआ था। अतः उसकी यादगार में एक चबूतरा बना हुआ है। इसी भाग में दक्षिण की ओर जाने पर 1483 ई. का बना अद्भुतजी का मन्दिर है। इसमें शिवाजी की विशाल अद्भुत मूर्ति होने से ही लोगों ने इसे 'अदबदजी' कहना शुरू कर दिया। कुछ दूरी पर एक ऊंचा-सा स्थल बना हुआ है, जिसे 'राजटीला' कहते हैं। ऐसा कहा जाता है कि इस स्थान पर मौर्यवंशी राजा मान के महल थे। यहां से सड़क पश्चिम की ओर जाती है। कुछ रास्ता तय करने पर चित्रांगद मौर्य का बनाया हुआ तालाब 'चित्रंगमोरी' आता है। इस तालाब से दक्षिण की तरफ कोई एक मील के लगभग किले की पहाड़ी का एक टुकड़ा और रह जाता है। पहाडी के इस अन्तिम हिस्से पर पहुंच कर यदि हम नीचे की तरफ देखें तो एक मगरी नजर आयेगी जिसे 'मोर मगरी' कहते हैं। बहादुरशाह ने जब आक्रमण किया तब इसी मगरी पर तोपखाना रखा गया था और अकबर के आक्रमण के समय इसे और ऊंची उठाने के लिए मिट्टी की टोकरी डालने के बदले मे लोगों को एक-एक स्वर्ण-मोहर दी गई और इधर से ही उसने राजपूतों के मोर्चे को तोड़ने मे सफलता अर्जित की। किले के इस दक्षिण छोर से पुनः उत्तर की ओर बढ़ने पर पश्चिम की तरफ कुछ हवेलियों के खण्डहर दिखाई देते हैं। सम्भवतया ये सामन्तों के निवास स्थल रहे होंगे। इसके पश्चात् एक तालाब के किनारे पर रानी पद्मिनी के महल हैं। इसी तालाब के बीच मे एक और छोटा-सा महल है। पास मे ही दो गुम्बदाकार महल हैं जिन्हें प्रायः गोरा एवं बादल

के महल कहते है किन्तु इनकी बनावट एवं वर्तमान दशा को देखते हुए ओझा ने इन्हें इतने पुराने स्वीकार नहीं किया है। उत्तर की तरफ बढते हुए जब हम बाई ओर देखते हैं तो ऊँचाई पर बना एक सुन्दर-सा मन्दिर आता है जिसे 'कालिकामाता' का मदिर कहते हैं। इसकी तक्षण कलाओं को देखते हुये यह मन्दिर 8 वीं शताब्दी का बना हुआ मालूम पड़ता है। प्रारम्भ में यह सूर्यमन्दिर था। ऐसा लगता है कि मुसलमानों ने यहां की मूर्ति तोड़ दी हो और काफी समय तक यह मन्दिर सूना पड़ा रहा, बाद में यहां पर कालिका की मूर्ति स्थापित कर दी गई थी। इसके उत्तर पूर्व में एक बड़ा तालाब 'सूरजकुंड' बना हुआ है। इसके बाद जयमल और पत्ता की हवेलियां हैं और पास मे एक तालाब भी है जिसे जैमलजी का तालाब कहते हैं।[28] इसके बाद 'गोमुखो' का पवित्र कुण्ड आता है और पास ही मे मालवा के राजा भोज द्वारा निर्मित समिधेश्वर का विशाल मन्दिर है जिसकी सुन्दर खुदाई देखते ही बनती है। इसे त्रिभुवन नारायण या भोज का मन्दिर भी कहते हैं। 1428 ई. में महाराणा मोकल ने इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। अतः इसे मोकलजी का मन्दिर भी कहते हैं। गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार "मूर्तिकला और जनजीवन की 13 वी सदी की झाकी के लिए यह मन्दिर अपने ढंग का अद्वितीय है।"

पास ही में एक भव्य गगन चुंबी 'नौखंडा महल' जिसे जयस्तम्भ कहते हैं तथा प्रशस्तियो मे जिसे कीर्ति स्तम्भ कहा गया है, शान से अपना मस्तक ऊँचा किये खड़ा हुआ है। यो भी देखा जाय तो प्राचीन भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यहां पर स्थापत्य के क्षेत्र में स्तम्भ निर्माण का विशिष्ट महत्व रहा है। किसी भी घटना विशेष पर प्राय: स्तम्भ बनवाने या लगवाने की परम्परा देखी जा सकती है; यथा यह यज्ञ स्थल पर, मन्दिरों के बाहर, बलि देने के स्थान पर, वीरो के मृत्यु-स्थल पर, विवाह आदि मागलिक अवसरों पर भी स्तम्भ का पूजन कर इसे लगाया जाता है। राजस्थान का स्थापत्य भी इस दृष्टि से अछूता नही रहा है। अतः यहां कई स्तम्भ देखे जा सकते हैं, उनमे चित्तौड़ किले का यह कीर्ति स्तम्भ विशेष उल्लेखनीय है। इसका निर्माण महाराणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान महमूदशाह खिलजी को पराजित करने की स्मृति मे 1440 ई. में कराया था। इसकी प्रतिष्ठा माघ वदी 10, वि. सं. 1505 (रविवार, जनवरी 19, 1449 ई) को हुई थी तथा जेता सूत्रधार ने इसका निर्माण कार्य किया।[29]

---

28 ओझा, उदयपुर, जि. 1, पृ. 49-50
29 आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, भा. 23, पृ. 104-6

यह विशाल कलापूर्ण स्तम्भ 47 फुट के चौकोर और 10 फुट ऊँचे एक चबूतरे पर बना हुआ है। नौ खण्डों के इस विशाल उत्तुंग स्तम्भ के अन्दर 157 सीढ़ियां बनी हुई हैं। इस स्तम्भ की आधार पर चौडाई 30 फुट और ऊँचाई 120 फुट है। इस स्तम्भ के निर्माण पर उस समय 90 लाख रुपये खर्च हुए थे।[30] प्रत्येक खंड मे झरोखे होने से पर्याप्त प्रकाश रहता है। इस स्तम्भ में कई देवी-देवताओं की मूर्तियां बनी हुई हैं। ओझा ने इसे हिन्दुओं के पौराणिक देवताओं का एक अमूल्य कोष स्वीकार करते हुए कहा है कि "इसमें विशेषता यह है कि प्रत्येक मूर्ति के ऊपर या नीचे उसका नाम खुदा हुआ है। इसलिए प्राचीन मूर्तियों का ज्ञान संपादन करने वालों के लिये यह एक अपूर्व साधन है।" तत्कालीन जन-जीवन का सजीव एवं सुन्दर अध्ययन करने के लिये भी यह स्तम्भ काफी उपादेय है। इसका ऊपरी हिस्सा बिजली गिरने से टूट गया था, जिसका पुनर्निर्माण महाराणा स्वरूपसिंह ने करवाया। वास्तव मे यह मूर्तिकला एव स्थापत्य कला का सुन्दर समन्वय का प्रतीक कीर्ति स्तम्भ है।

कीर्ति स्तम्भ के उत्तर मे जटाशंकर का मन्दिर है तथा उसके पास महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ 'कुम्भश्याम' का मन्दिर है। इसके सभामंडप की छत बड़ी सुन्दर है। पास ही मे एक और भव्य एव आकर्षक मन्दिर है, जहा मीरांबाई ने भक्ति की, अतः इसे मीरांबाई का मन्दिर कहते है। स्थापत्य की दृष्टि से इस मन्दिर मे विभिन्न शैलियों का मिश्रण देखा जा सकता है। इसके बाद गुजरात तक्षण कला से ओत-प्रोत 'सातबीस देवरी' नामक सताईस जैन मन्दिर हैं। इन मन्दिरों की खुदाई मन को मोहित कर देती है। बड़ी पोल को पार करने के बाद त्रिपोलिया नामक दूसरा द्वार आता है जिसमें महाराणा कुम्भा के महल हैं जो खंडित अवस्था मे हैं। ये महल हिन्दू-स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं। साज सजावट से दूर सरलता लिये हुये ये भवन कुम्भा के युद्ध-रत जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "राजप्रासाद का यह ढांचा 15 वी सदी के उच्च वर्गीय समाज के जीवन के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है। एक पट्टशाला को जोड़ने वाले दो कमरे, गवाक्ष और खम्भो पर दालान की छत को रोकने की विधि, राजप्रासादो को जोड़ने वाले सकरे मार्ग, छोटे दालान आदि उस समय के स्थापत्य की विशेषताए थी, जो चित्तोड के राजप्रासादो से झलकती है।" इसी स्थान पर एक सुरंग है जिसे प्रायः जौहर

---

30 जगदीशसिंह गहलोत, राजपूताने का इतिहास, पृ. 143

का स्थल कहते हैं किन्तु ओझा ने स्वयं जांच करने के बाद इसे निराधार बताया है। वास्तव में जौहर का स्थल तो समिधेश्वर के मन्दिर एवं गौ मुखी के बीच का स्थान होना चाहिए।

नवलखा भंडार के पास मे एक छोटा-सा किन्तु सुन्दर खुदाई वाला मन्दिर है जिसे 'शृंगार चंवरी' कहते हैं। इसके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि यहा पर महाराणा कुम्भा की पुत्री का विवाह हुआ अथवा वह यहां पर शृंगार किया करती थी। किन्तु कल्पना जगत् से दूर हट कर वास्तविकता की ओर झांका जाय तो यह स्पष्ट होगा कि 1448 ई. मे महाराणा कुम्भा के भडारी बेलाक ने शान्तिनाथ का यह जैन मन्दिर बनवाया था और इसकी प्रतिष्ठा खरतरगच्छ के आचार्य जिनसेनसूरि ने की थी। उधर पत्ता के स्मारक के पास ही एक गली मे अन्नपूर्णा देवी या तुलजामाता का मन्दिर है जो राजपूतो की मातृशक्ति के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास को सुस्पष्ट करता है।

यो गौरव एवं गरिमा से युक्त यह चित्तौड़ का किला सदैव अपने धर्म एवं देश की रक्षार्थ त्याग एवं बलिदान का गुंजार करता रहेगा।

कुम्भलगढ़—कुम्भलगढ का किला अपने ढंग का अनुपम किला है। चित्तौड़ का किला तो एकाकी पहाडी पर आ जाने से फिर भी असुरक्षित रहा था क्योंकि चारों ओर मैदानी भाग होने के कारण उसे घेरे रहना सहज ही था किन्तु कुम्भलगढ का किला छोटी बडी पहाड़ियों से मिलकर बना तथा घाटियों एवं बीहड़ जगलो से घिरा होने के कारण एकाएक नजर नही आता है। अत: यह किला सर्वाधिक सुरक्षित रहा है। "सदियां बीत चुकी हैं, भयावह जंगलों के स्थान पर जनपदों का निर्माण हुआ, घाटियों पर विस्तृत राजमार्ग बने, खण्डहरो पर सुन्दर प्रासादों का आविर्भाव हुआ पर कुम्भलगढ अपनी उसी बीहडता, सघनता और वन्य नीरवता को लिए हुए अपने निर्माता और निवासी महाराणाओ की कीर्ति-कथा सुना रहा है।" कहा जाता है कि आज जहा कुम्भलगढ खड़ा है वहां पहले एक किला बना हुआ था जिसका निर्माण ई. पू. की तीसरी शताब्दी में एक जैन राजा सम्प्रति ने कराया। वह अशोक का दूसरा पुत्र था जो 236 ई. पू. में मरा। अशोक का बड़ा लड़का कुणाल नौ वर्ष तक राज्य करता रहा तदुपरान्त संप्रति ने भी ठीक आठ वर्ष तक राज्य किया। वास्तव में यहा के खण्डहरो से मिलने वाले मन्दिरों के अवशेष इसकी प्राचीनता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।[31] इस किले को नवीन परिवर्तित स्वरूप प्रदान करने वाला कुम्भा था। अतः

31 शोध पत्रिका, वर्ष 31, अंक 3-4, पृ. 33-34

यह कहा जा सकता है कि यह किला कुम्भा ने अपने प्रसिद्ध शिल्पी मंडन के नेतृत्व में 1458 ई. में निर्मित करवाया था। इसे कुम्भलमेर या कुम्भलमेरु भी कहते हैं। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में "इस दुर्ग के स्मरणार्थ महाराणा कुम्भा ने सिक्के भी बनवाये थे जिन पर इसका नाम अंकित है।"

अरावली पर्वत श्रेणियों की उत्तुंग शिखा पर बना यह मजबूत एवं दुर्गम किला नाथद्वारा से कोई 25 मील उत्तर मे स्थित है। यह समुद्री सतह से करीब 3568 फुट ऊँचा है। मेवाड़ में जरगा को छोड़ कर पहाड़ों की इतनी ऊँची चोटी नही है। इसकी लम्बाई लगभग 2 मील है तथा इस पर चढने के लिये दरवाजो से युक्त गोल घुमावदार रास्ता है। केलवाड़ा नामक कस्बे से पश्चिम की तरफ पहाड़ी नाल मे होकर एक तंग टेडे मेडे रास्ते को पार करते हुये कोई 700 फुट की ऊँचाई पर किले का प्रथम दरवाजा 'आरेठपोल' आता है। यह द्वार घाटी के शीर्ष भाग पर बना हुआ है तथा यहा पर किले के मार्ग की रक्षा की समुचित व्यवस्था है। इस द्वार मे एक मील आगे जाने पर दूसरा दरवाजा 'हल्ला पोल' आता है। इस दरवाजे को पार करने के बाद किले का पूर्वी भाग नजर आने लगता है। कुछ दूर और चलने पर 'हनुमान पोल' नामक दरवाजा आता है। यही से किले के अन्दर प्रवेश किया जाता है अतः इसे हम किले का प्रमुख द्वार कह सकते हैं। इससे पूर्व के द्वार शत्रु को प्रमुख द्वार तक पहुंचने से रोकने के लिये नाके बन्दी के ढंग से बनाये गये थे। 'हनुमान पोल' के बाहर महाराणा कुम्भा द्वारा माण्डव्यपुर से लाई गई हनुमान की मूर्ति लगी हुई है जो उसके माण्डव्यपुर विजय को प्रमाणित करती है। इसके बाद 'विजयपोल' आती है जिसे पार करने पर कुछ भूमि समतल एवं कुछ नीची आ गई है और यही से शुरू होकर पहाड़ी की एक चोटी काफी ऊँचाई तक चली गई है। किले के चारो तरफ सुदृढ़ एवं चौड़ी दीवार बनी हुई है जिस पर बुर्जें भी दिखाई देती हैं। दीवारों के नीचे गहरी खाइयां तथा खड्डे बने हुये हैं जो इसे और अधिक दुर्गमतर बनाने मे सहायक रहे हैं। किले की दीवार की चौड़ाई इतनी अधिक है कि उस पर एक साथ चार अच्छे घुड़सवार चल सकते हैं।

'विजयपोल' के बाद जो समतल भूमि आ गई है उस पर निर्मित स्थापत्य कला के नमूने देखते ही बनते है। यहां पर नीलकंठ महादेव का एक मन्दिर है जिसके चारो तरफ 8 फुट ऊँचे प्रस्तर स्तम्भो का एक सुन्दर बरामदा बना हुआ है। वास्तव मे बरामदो वाला यह मन्दिर बेजोड़ है। इसे कर्नल टॉड ने देख कर यूनानी मन्दिर मान लिया किन्तु ओझा ने बताया

है कि "इसमे ग्रीक शैली का कुछ भी काम नही है और न यह उतना पुराना ही कहा जा सकता है।" शर्मा के अनुसार "यह साधारण रूप की नगर शैली है।" अतः इसे यूनानी शैली का कदापि नही कहा जा सकता है। इस मन्दिर मे लगभग 5 फुट ऊँचाई पर दीर्घाकार शिवलिंग स्थित है, जिसका कुछ भाग खण्डित होने से यह जान पड़ता है कि इसे आक्रमणकारियों ने खण्डित किया होगा।

स्थापत्य कला का दूसरा प्रमुख आकर्षण 'वेदी' है। यह एक विशाल किन्तु सुन्दर दो मञ्जिला भवन है। सम्भवतया महाराणा कुम्भा ने 1457 ई. में इस वेदी को बनवाया था। यों भी देखा जाय तो स्वयं महाराणा शिल्प-शास्त्र का पण्डित था ही; उसने अपने प्रमुख शिल्पियों जिनमे मंडन, पूंजा, नापा, जइता के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, की सहायता से शास्त्रोक्त रीति से यज्ञ करने के लिए इस वेदी का निर्माण करवाया। कुम्भलगढ़ की प्रतिष्ठा का यज्ञ भी इसी वेदी पर हुआ था। यहां के स्तम्भों एवं दीवारों पर की गई खुदाई बड़ी सुन्दर बन पड़ी है। 'वेदी' पर एक गुम्बज बना हुआ है, जिसके नीचे चारो ओर धुंआ निकलने की व्यवस्था भी है। वर्तमान समय में इस वेदी का परिवर्तित स्वरूप रह गया है। क्योकि इसे आवासीय स्थल बनाकर इसकी मौलिकता एवं ऐतिहासिकता पर घातक प्रहार किया गया, जिसे उस समय तक क्षमा नही किया जा सकता जब तक कि यह पुनः अपने पुरातन रूप को प्राप्त न कर ले। किले मे कई जैन मन्दिर भी है। नीलकंठ महादेव से आगे चलने पर एक विशाल जैन मन्दिर आता है। इस मन्दिर की बाहरी दीवारों पर सुन्दर प्रस्तर प्रतिमाएँ हैं। मन्दिर में प्रवेश करने पर एक बड़ा आंगन आता है जिसके दोनों ओर करीब 40 छोटे मन्दिर हैं। द्वार के एक ओर एक बड़ा झरोखा है तथा आंगन की छत पर कलात्मक प्रस्तर मूर्तियां लगी हुई हैं। मन्दिर की प्रस्तर मूर्तियां बड़ी कला पूर्ण एवं अग प्रत्यंगों की रचना बड़ी बारीकी लिए हुए है। स्थापत्य कला की दृष्टि से यह मन्दिर नागदा, देलवाड़ा और राणकपुर के मन्दिरों से मिलता-जुलता है।[32]

नीचे वाली भूमि मे झाली बावड़ी या झाली बाव तथा मामादेव का कुण्ड (यहीं पर ऊदा ने कुम्भा की हत्या की) प्रमुख स्थान है। इसके पास में कुम्भा ने मामादट स्थान में कुम्भ स्वामी नामक विष्णु-मन्दिर बनवाया था जो जीर्ण-शीर्ण दशा मे पड़ा हुआ है। इसे मामादेव का मन्दिर भी कहते हैं। इस मन्दिर के बाह्य भाग मे विष्णु के विभिन्न अवतारों, देवियों, पृथ्वी,

---

32 वही, पृ. 36

पृथ्वीराज, महालक्ष्मी, कुबेर आदि की प्रतिमायें मिली हैं। इनमें से कई मूर्तियां उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनके नीचे देवी-देवताओं के नाम तथा समय भी अंकित हैं जो इस संदर्भ में ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने में सहायक है। इस मन्दिर से प्राप्त होने वाली सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति कुम्भलगढ़ प्रशस्ति है, जो संस्कृत भाषा में पांच शिला खंडों पर खुदी हुई है। इस प्रशस्ति का पहला, तीसरा और चौथा शिलाखण्ड तथा दूसरे का कुछ भाग ओझा को मिला जो आज भी उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। पहली शिला में 64 श्लोक हैं। वास्तव में यह प्रशस्ति मेवाड़ के वंश वृक्ष तथा तत्कालीन शासकों के क्रिया-कलापों को जानने में बड़ी सहायक है।

मामावट के पास ही महाराणा रायमल के पुत्र वीरवर पृथ्वीराज का स्मारक बना हुआ है। जिस स्थान पर पृथ्वीराज का दाह-संस्कार हुआ था वहां कई सीढ़ियों से युक्त एक छत्री बनी हुई है। इस छत्री पर भारतीय पद्धति से बने 12 स्तम्भ है। "छत्री के बाहरी भाग में सीधी रेखा के पत्थर लगे हुए हैं। भीतर अष्टकोण बनाते हुए किनारे पर पत्थर लगे हुए हैं। चारों ओर लगभग तीन फुट ऊँचाई पर खुले बरामदे बैठने योग्य बने हैं, जिनके चारों ओर पंखड़ी के घुमाव के ढंग के पत्थर लगे हुए हैं। भीतर वृत्ताकार शिखर, बड़े आकार से छोटा होता हुआ चला गया है। छत्री के बीच में लगभग तीन फुट ऊँचा, डेढ़ फुट चारों ओर से चौड़ा और ऊपर से नुकीला एक स्मारक स्तम्भ लगा हुआ है, जिसमें चारों ओर 17 स्त्रियों की मूर्तियां तथा उनके बीच में चारों तरफ पृथ्वीराज की मूर्तियां इस स्तम्भ के बीच वाले भागों में खोदी गई हैं। यह स्तम्भ 15 वी शताब्दी की वेशभूषा व सामाजिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डालता है।"[33] छत्री पर 15 वीं शताब्दी की राजपूत शैली का एक गोल गुम्बज ईंट, चूने एवं पत्थर से बना हुआ है। चूने का प्लास्टर लाल रंग का है।

किले पर जलाशयों का निर्माण भी बड़े सुन्दर ढंग से किया गया था। उन्हें एक दूसरे को नालियों के माध्यम से जोड़कर एक का पानी दूसरे में पहुंचाने की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की गई थी ताकि युद्धादि अवसरों पर कृषि आदि कार्यों में कठिनाई नही देखनी पड़े।

उधर पहाड़ी का शिखर 'विजयपोल' से प्रारम्भ होकर काफी ऊँचाई तक चला गया है, उसी पर दुर्ग का सबसे उत्तुंग भाग निर्मित है जिसे

---

33 गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबंध राजस्थान, पृ. 47-48

'कटारगढ़' कहते हैं। विजयपोल के आगे भैरवपोल, नींबूपोल, चौगानपोल, पागड़ापोल तथा गणेशपोल है। इस अन्तिम पोल के सामने राजपूत शैली का गुम्बजदार महल तथा देवी का मन्दिर है। स्मरण रहे चित्तौड़ के किले अथवा राजस्थान के अन्य किलों में भी इसी तरह देवी के मन्दिर आये हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि राजपूती परम्परा के अनुसार ये शक्ति के उपासक अपनी विजय अभियान से पूर्व तथा पश्चात् देवी की आराधना करते थे।

यह किला सामरिक दृष्टि से बड़ा उपादेय रहा है। मुगल आक्रमणों के समय में इस किले ने आस-पास के लोगों तथा विशेषतः मेवाड़ के राजपरिवार को सुरक्षित रखा। कर्नल टॉड, शारदा एवं गोपीनाथ शर्मा ने इस किले की महत्ता को स्वीकार करते हुये इसे कुम्भा की सैनिक एवं रचनात्मक गुणों की उपलब्धि कहा है।

आबू—अरावली पर्वत-मालाओं में आबू सर्वाधिक उच्च भाग है। हिन्दू एवं जैन शास्त्रों ने आबू की महिमा का बड़ा गुणगान किया है। यहां पर कई गुफाएं एवं एकान्त स्थल है जो तपश्चर्या की दृष्टि से बड़े उपयुक्त हैं जिसमें हरिश्चन्द्र, गोपीचन्द, हाटकेश्वर की गुफायें तथा वशिष्ठाश्रम, माधवाश्रम, गौतम आश्रम और गोमुख कुण्ड आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इस पहाड़ के दूसरे छोर पर एक किला है जिसे अचलगढ़ कहा जाता है। चूंकि आबू दीर्घ समय तक परमारो के अधीन रहा था। अतः इस गढ का निर्माण भी परमार वंश के राजपूतों द्वारा 900 ई. के आस पास करवाया गया था। तब यह दुर्ग इतना बड़ा नहीं था। बाद में मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने 1442 ई. में इस किले का पुनर्निर्माण कराके इसे विस्तृत बनवाया। प्राचीरों द्वारा नीचे का प्रदेश घेरा गया, द्वार बनवाये तथा सामरिक महत्व के स्थानो पर भव्य बुर्जे बनवाई गई।[34] इस किले के नीचे अचलेश्वर महादेव का मन्दिर, कुंड, मठ एवं बगीचा है। यह मन्दिर स्थापत्य की दृष्टि से परमार वंशीय राजपूत-शैली से प्रभावित है। देलवाड़ा के जैन मन्दिर (12 वी शताब्दी के) इस पहाड़ का सर्वाधिक उच्च 'गुरुशिखर' शिवालय, गौशाला, मानसिंह की छत्री, कमण्डल कुण्ड, कुम्भ स्वामी का मन्दिर आदि स्थापत्य कला की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।

तारागढ़—अरावली पर्वत श्रेणियों का ही एक हिस्सा अजमेर मे 'तारागढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। समुद्र तट से इसकी ऊंचाई 2,855 फुट तथा धरातल से कोई 800 फुट ऊंचा है। मैदानो से यह ऊंचाई 1300 फुट

34 शोध-पत्रिका, वर्ष 31, अंक 3-4, पृ. 90-91

है। यह दुर्ग दृढ़ प्राचीरों द्वारा 80 एकड़ क्षेत्र से आवद्ध किया गया है। बताया जाता है कि अजयपाल ने इस किले का निर्माण कराया। अतः इसे 'अजयमेरु' कहा जाता था। तद्पश्चात् मेवाड़ के महाराणा रायमल के पुत्र पृथ्वीराज ने इस पर कुछ महलादि बनवाकर अपनी पत्नी तारा बाई के नाम पर 'तारागढ़' नामकरण कर दिया। इसके अतिरिक्त इसे 'गढ बीठली' भी कहा जाता है। जब शाहजहां की तरफ से विट्ठलदास गौड़ तारागढ़ का किलेदार रहा था तब संभवतया उसके नाम पर इस किले को 'बीठली' कहा गया हो। ऐसा भी कहा जाता है कि 'बीठली' नामक पहाड़ी पर स्थित होने के कारण ही इसे 'गढ बीठली' कहा जाता है। अरावली की यह पहाड़ी उत्तर-पूर्व में स्थित है। प्राचीर की दीवारें काफी बड़े एवं भारी पत्थरों से बनी हुई है तथा आधार पर 20 फुट मोटी हैं। जहां पहाडी पंक्तियों की ऊँचाई मे कमी आ गयी है वहां इसकी पूर्ति प्राचीरो में सुदृढ बुर्जे बनाकर की गई है। किले की सुरक्षा का दृढ आधार इसके आस-पास का पहाड़ी प्रदेश है। प्राचीरों की परिधि 2 मील मे है। यो किले के चारों ओर एक दीवार बनी हुई है। जिसमे 14 बुर्जे हैं यथा पीपली का बुर्ज, दो राई बुर्ज, वन्दारा बुर्ज, इमली का बुर्ज, खिरकी का बुर्ज, नक्कारची का बुर्ज, शृंगार चवरी बुर्ज, घूंघट बुर्ज, फतह बुर्ज आदि। किले में प्रवेश करने हेतु लक्ष्मण पोल, फूटा दरवाजा, बड़ा दरवाजा, भवानी पोल, हाथीपोल, इन्द्रकोट का दरवाजा पार करने पड़ते हैं। बड़े पीरसाहब की दरगाह शरीफ के बाहर स्थित देग के पास ही एक खिड़की है जिसे पार कर पगडंडी का रास्ता, जिसे गिब्सन रोड कहा जाता है, बना हुआ है। इससे होकर भी किले तक पहुंचा जाता है। चूंकि किले की ऊँचाई सीधी है, अतः ऊपर जाने के लिये पगडंडियाँ बनी हुई हैं, वे बडी ढालू हैं। किले पर हजरत मीरानसाहब की दरगाह, बरामदा, आंगन, मस्जिद, बुलन्द दरवाजा, गंज-ए-शहीदा आदि 16 वी शताब्दी की स्थापत्य कला के अत्युत्तम उदाहरण हैं। बुलन्द दरवाजे की दीवार में फारसी मे एक प्रशस्ति भी लगी हुई है। बरसाती पानी को प्रायः कुण्डो में एकत्रित कर दिया जाता था जिन्हें 'झालरा' कहते थे। जैसे—गोल झालरा, बड़ा झालरा, नानासाहब का झालरा, इब्राहीम शरीफ का झालरा आदि प्रमुख हैं। चौहानों से लेकर अंग्रेजो के काल तक इस किले ने कई राजनैतिक उथल-पुथल देखी। यों यह किला राजस्थान के केन्द्र में स्थित होने से तथा महत्वपूर्ण मार्गों के नाके पर बना होने से इसका बड़ा सामरिक महत्व रहा है। वास्तव में जितने आक्रमण इस किले पर हुए उतने राजस्थान के किसी और किले पर नहीं हुये होगे। फिर भी विभिन्न युगों मे हुये स्थापत्य निर्माण कार्य को आज भी अवशेषो के रूप मे देखा जा सकता है।

जालौर—जालौर का किला मारवाड़ के सुदृढ़ किलों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आश्रय पाकर ही कान्हड़देव ने अलाउद्दीन खिलजी को चुनौती दी थी। यह किला शुरू में परमारों के अधीन रहा, तदुपरान्त चौहानों एवं राठौड़ों के आधिपत्य में रहा था। शिलालेखों में इसका नाम 'जाबालीपुर' और किले का नाम 'सुवर्णगिरी' मिलता है। इसीसे यहां के चौहान सोनगरा नाम से अभिहित किये जाने लगे। किले पर जाने के लिये जालौर नगर से एक टेढ़ा-मेढ़ा पहाड़ी रास्ता जाता है जिसकी ऊंचाई कदम-कदम पर बढ़ती हुई-सी प्रतीत होती है। यों इस विकट राह को पार करते हुए किले के प्रथम दरवाजे पर पहुंचते हैं। धनुषाकार छत से आच्छादित यह दरवाजा बड़ा सुन्दर है। इस पर छोटे छोटे कमरे बने हुये हैं तथा नीचे के अंत: पार्श्वों पर किले के रक्षक रहा करते थे। सामने से तोपों की मार से बचने के लिए एक विशाल प्राचीर घूम कर इस दरवाजे को सामने से छा लेती है। यह दीवार कोई 25 फुट ऊंची तथा 15 फुट मोटी है। यों इस दरवाजे के एक तरफ मोटी बुर्ज तथा दूसरी तरफ प्राचीर का हिस्सा आ गया है। इसके पश्चात् आधा मील के लगभग दूरी तय करने पर किले का दूसरा दरवाजा आता है। यहां की नाकेबन्दी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इस मोर्चे को जीते बिना किले के अन्दर जाना नितान्त असंभव है। इसके बाद किले का तीसरा दरवाजा आता है जो अन्य दरवाजों से अधिक भव्य, मजबूत एवं सुन्दर है। यहीं से रास्ते के दोनों तरफ साथ चलने वाली प्राचीर-शृंखला कई भागों में विभक्त होकर गोलाकार एक सुदीर्घ पर्वत-प्रदेश को समेटती हुई फैल जाती है। तीसरे से चौथे दरवाजे के बीच का स्थल बड़ा सुरक्षित है। प्राचीर की एक पंक्ति तो बाईं ओर से ऊपर उठकर पहाड़ी के शीर्ष भाग को छू लेती है तथा दूसरी दाहिनी ओर घूमकर मैदानों पर छाये हुए गिरि शृंगों को समेट कर चक्राकार घूमकर प्रथम प्राचीर की पंक्ति से आ मिलती है। किले पर जगह जगह भव्य बुर्जें देखी जा सकती हैं। कुछ बुर्जें दीवार से हट कर स्वतंत्र रूप से खड़ी हैं। किले का अवलोकन करने पर यही कहा जा सकता है कि इसका निर्माण हिन्दू पद्धति से किया गया है। किले के प्राचीन महल, कान्हड़देव की बनवाई हुई बावड़ी, मस्जिद, मल्लिक शाह की दरगाह, जैन मन्दिर, वीरमदेव की चौकी आदि स्थापत्य कला के विशिष्ट नमूने हैं।[35]

---

35 ओझा, जोधपुर राज्य का इतिहास, जि. 1, पृ. 54-56; शोध-पत्रिका, वर्ष 31, अंक 3-4, पृ. 78-80

सिवाना—परमार राजा वीरनारायण ने 954 ई. में सिवाना किले की स्थापना की थी। प्रारम्भ में इसका नाम कुम्थाना था। सम्भवतया अलाउद्दीन-खल्जी ने 1308 ई. में इस किले पर आक्रमण किया तब उसने इस किले का नाम सिवाना रखा हो।[36] सिवाना का पहाड़ी किला जोधपुर के नरेशों के लिए विपत्तिकाल में शरण स्थल का काम देता था। सामरिक दृष्टि से यह किला काफी सुरक्षित था। अतः जब तब भी शत्रुओं ने जोधपुर को छीन लिया तब यहाँ के शासकों ने इसी किले में आश्रय लिया था। यह किला जोधपुर से पश्चिम की ओर 54 मील दूर है। यों तो इस तरफ का इलाका रेतीला है किन्तु छप्पन का पहाड़ी भाग आ जाने से इस किले को बनाने में कोई विशेष दिक्कत नहीं रह गई थी। इन पहाड़ियों में एक हलदेश्वर का पहाड़ है जो 1050 फुट ऊँचा है, इसी पर सिवाना का यह किला बना हुआ है। इस पर पहुँचने के लिये कोई 5 मील लम्बा ऊँचा-नीचा, टेढ़ा-मेढ़ा, घुमावदार रास्ता तय करना पड़ता है। किले को बड़ी-बड़ी बुर्जों से युक्त एक सुदृढ़ दीवार से घेर रखा है। इसमें कल्ला रायमलोत का थड़ा, महाराजा अजीतसिंह का दरवाजा, कोट, हलदेश्वर महादेव का मन्दिर, महल आदि स्थापत्य कला के प्रतीक हैं। वास्तव में इतिहास के पृष्ठों में सामरिक उपयोगिता की दृष्टि से इस किले का अपना महत्व रहा है जिसे कभी नहीं भुलाया जा सकता है।

आमेर—आमेर का किला अपने ढंग का एक अनूठा किला है। यहां पर बुर्जों से युक्त परकोटा बना हुआ है। इस किले के दो तरफ अलग-अलग बड़ी पहाड़ियां आ गई हैं तथा पूर्व की ओर एक प्राकृतिक जलाशय बना हुआ है जो खाई का काम करता है। किले की पहाड़ी काफी ढालू होने से एकाएक शत्रु पक्ष अपनी भारी तोपों को लेकर चढ़ने में अक्षम रहता है। अतः यह किला काफी सुरक्षित रहा है। महाराजा मानसिंह के काल से ही इस किले की स्थापत्यता में विशेष उन्नति हुई। अतः यहां की स्थापत्य कला में हिन्दू एवं मुगल शैली का सुन्दर समन्वय झलकता है। कहीं-कहीं पूर्ण राजपूत शैली के भवन हैं तो कहीं मुगल शैली के। जलेब चौक, सिंहपोल, गणेशपोल, शिलामाता का मन्दिर, दीवाने आम, दीवाने खास, दिलखुश महल, रंगमहल, शीशमहल, सासाबाई की साल आदि स्थापत्य कला के विशिष्ट अंग हैं। यहां के भवनों में शीशे की जड़ाई का काम अतीव सुन्दर बन पड़ा है। उनमें बेल-बूटे, फूल-पत्तियां, तितलियां, सुराहियां, गुलदस्ते, गायें, राधा-कृष्ण, कदली

---

36 वही, पृ. 73

वृक्ष आदि की जड़ाई देखने योग्य है। गणेशपोल के ऊपर की तरफ सुहाग मन्दिर तथा दालान मे लगी जालियों की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें से झांक कर बाहर की तरफ होने वाली सारी स्थिति का अवलोकन किया जा सकता है किन्तु बाहर वाला उन जालियों में से देखने वाले को नही देख सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष उत्सव आदि पर राज परिवार की स्त्रियां, इन जालियों मे से बाहर होने वाले विशिष्ट आयोजन देखा करती थी। जयगढ से जुडे हुये भवनों को देख कर यह कहा जा सकता है कि ये सुरक्षा की दृष्टि से बनाये गये थे। अतः इनमें छोटे-छोटे दरवाजे, काफी नीची छतें खुले हुये तिबारे और उनके साथ दो-दो छोटे कमरे जुड़े हुये है। यहां के भवनो की दीवारो पर तथा किवाड़ों पर चित्रकारी देखी जा सकती है। अधिकांशतः चित्रो मे काले रंग का प्रयोग नजर आता है। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार, "किवाड़ों पर राजपूत शैली के चित्र बने हुए है जो प्राचीन जयपुर कलम का रूप कहा जा सकता है।" फर्ग्युसन एवं पर्सीब्राउन यहां की स्थापत्य को मुगल कला के अधिक निकट मानते हैं किन्तु शर्मा इससे सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि "आमेर के भवनोमे आधारभूत भारतीय शैली के तत्व छिपे हुए है, जिनमें चौक, बरामदों के साथ दो कमरो का होना, छोटे द्वार, चित्रित किवाड़, तंग ड्योढ़िया, मयूर, हाथी आदि की आकृतियां, रंगीन शीशों पर पौराणिक दिखावा आदि प्रमुख हैं। दुर्ग का सम्पूर्ण ढांचा मण्डन के राजवल्लभ मे दिये गये ढांचे के अधिक निकट है। यदि इनमें मुगलपन है तो वह बाहरी दिखावे तक ही सीमित है।"

राजस्थान में और भी कई महत्वपूर्ण किले हैं जिनमें जोधपुर का किला भी अपनी मजबूती एवं सुन्दर राजप्रासादों के लिए सुप्रसिद्ध है। बीकानेर का किला तो रेगिस्तानी भूमि में बनने वाले किलों में सर्वाधिक उत्कृष्ट बन पड़ा है। ऊंची दीवारों से युक्त इस किले के बाहर गहरी खाई है जो इसे सुरक्षित रखने में पूर्ण योग देती रही है। साथ ही किले के अन्दर की स्थापत्य कला में मेहराब वाले दरवाजे मुगल प्रभाव के यथेष्ट प्रमाण हैं। इसी भांति रणथम्भोर का किला भी अपनी सुदृढ़ता के लिए विशेष उल्लेखनीय है। मांडलगढ़ का किला, भंसरोडगढ़ का किला, मडोर-दुर्ग, नागोर-दुर्ग, सोजत-दुर्ग, जैसलमेर-दुर्ग, बसंतगढ-दुर्ग, भटनेर-दुर्ग आदि कई राजस्थान के किलों ने अपने-अपने ढंग से सामरिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ही थी किन्तु इनका राजस्थानी स्थापत्य के विकास में महानतम योगदान को कभी नहीं भुलाया जा सकता है।

मन्दिर—राजस्थान मे मन्दिर निर्माण का कार्य काफी प्राचीन रहा है।

अतः कला धार्मिक जीवन से सम्बन्धित भी रही है। नगरी में वैष्णव धर्म के साथ-साथ जैन एवं बौद्ध धर्म के अवशेष भी प्राप्त होते है। कारीगर अथवा कलाकार देशकाल एवं वातावरण से अछूता नहीं रह सका और यही कारण है कि स्थापत्य कला के क्रमिक विकास मे हमे तत्कालीन भावनाओं एवं स्थितियों का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। मन्दिर निर्माण कार्य गुप्त काल की 4-5 वीं शताब्दी मे भावनात्मक रूप मे आया। तदनन्तर सूक्ष्मता एवं दक्षता की ओर बढता गया। 13 वीं-14 वी शताब्दी में मुस्लिम आक्रमणो के कारण स्थापत्य निर्माण की गतिविधि मे शिथिलता आ गई थी फिर भी निर्माण की प्रवृत्ति अवरुद्ध नही हुई। 13 वी शताब्दी के मन्दिरो मे बल एवं शौर्य के भाव स्पष्टतः परिलक्षित होते है जैसे चित्तौड का सूर्य मन्दिर, आबानेरी का हर्षमाता का मन्दिर, आहाड का आदिवराह का मन्दिर, जगत का अम्बिका का मन्दिर आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। गोपीनाथ शर्मा के अनुसार "मूर्तिकार ने जगह-जगह भय, विनाश तथा संघर्ष का चित्रण इस प्रकार किया है कि पद-पद मे विजय पिपासा को प्रेरणा मिलती है। यहां तक कि अटरू, चन्द्रावती आदि के मन्दिरो की तक्षण कला मे नारी की आकृतियों में कहीं-कहीं सौंदर्य के स्थान मे रौद्ररस को प्रवाहित करने की चेष्टा की गई है। इन मन्दिरों मे देवों और असुरों के संघर्ष में अथवा विष्णु तथा शिव के अंकन मे प्रायः तमोगुण प्रतिबिम्बित है। चन्द्रावती के मन्दिरो में यदि द्वारपालो का स्वरूप योद्धाओ की साम्यता करता है तो आबानेरी में रति धनुष लिये पुरुष की भांति जीवन और शक्ति का प्रदर्शन किये हुए है। इस युग के कई मन्दिरोंमें कलाकारो ने देव-मानव युद्ध के अंकन मे वातावरण को शौर्य से ओतप्रोत कर दिया है।" इस शताब्दी के मन्दिर उस युग की युद्धकालीन परिस्थितियों के प्रभाव से आच्छादित है। उनके निर्माण मे स्थापत्य कला की दृष्टि से भूमि चयन, वास्तु योजना एवं निर्माण शैली के प्रत्येक चरण मे युद्ध की विभीषिका एवं जीवन की कठिन परिस्थितियों का परिचय मिलता है। अतः इस काल के मन्दिरो को किलों की तरह सुरक्षार्थ बुर्जों एवं दरवाजे से युक्त परकोटे से भी सुसज्जित कर दिया जाता था। इनमें गोपनीय कक्षों तथा मार्गों की अन्तरंग व्यवस्था भी की जाती थी। यों शर्मा के मत मे युद्धोपयोगी स्थापत्य की छाप मन्दिरो के निर्माण में भी मिलती है। इस सन्दर्भ मे एकलिंगजी का मन्दिर, कुम्भश्याम, राणकपुर के मन्दिर, कुम्भलगढ़ में नील कंठ का मन्दिर, बाण माता का मन्दिर आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

महाराणा कुम्भा के संरक्षण में स्थापत्य-कला के क्षेत्र में आशातीत

मन्दिर निर्माण कार्य हुआ जिसमें धार्मिक भावनाओं के सूक्ष्म अंकन के साथ सुरक्षा एवं दृढ़ता की यथार्थ परिस्थितियों के जो दर्शन होते हैं, वह वास्तव में बेजोड़ है जैसे—राणकपुर का मन्दिर, चित्तौड़ के कुम्भस्वामी व शृंगार चंवरी के मन्दिर, एकलिंगजी का मीरा मन्दिर आदि बड़े महत्त्वपूर्ण रहे हैं।

16 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से राजस्थानी स्थापत्य के क्षेत्र में नवीन रूप का संचार हुआ और अब हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की प्रवृत्ति झलकने लगी। विशेषतः राजस्थान के उत्तर एवं उत्तर पूर्वी भागों के मन्दिरों में यह प्रभाव स्पष्ट रूप में परिलक्षित होता है। शर्मा के अनुसार, "बीकानेर के हर मन्दिर में कमल, तोते, मोर आदि के अंकन हिन्दू पद्धति में हैं तो सारे, कुन्जे तथा द्वार की बनावट में लाहौर शैली की ओर झुकाव दिखाई देता है। बीकानेर के दुर्ग के देवी के मन्दिर के खम्भे मुगल-राजपूत शैली के हैं।" आमेर के जगतशिरोमणिजी के मन्दिर, जोधपुर के घनश्यामजी के मन्दिर में मुगल प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। किन्तु राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी भागों में मुगल प्रभाव कुछ कम दीख पड़ता है। उदयपुर के जगदीश मन्दिर, डूंगरपुर के श्रीनाथजी के मन्दिर तथा धुलेव के ऋषभदेव के मन्दिर में हमें भारतीय परम्परा के स्थापत्य के दिग्दर्शन होते हैं।

यदि 17 वीं शताब्दी के मन्दिरों के निर्माण की ओर देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तब वैष्णव धर्म से सम्बन्धित मन्दिर काफी संख्या में बने। क्योंकि मुगल-आक्रमणों एवं आतंक से प्रभावित मन्दिरों के पुजारी एवं गुसाइयों को राजस्थान में ही आश्रय मिला था, जिनमें राधावल्लभ, निम्बार्क, पुष्टिमार्ग के आचार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके मन्दिर नाथद्वारा, कांकरोली, जयपुर, डूंगरपुर, कोटा आदि कई स्थानों पर निर्मित किये गये जो आकार में बड़े तथा खुले बरामदे वाले बनाये जाते थे।[37] 18 वीं और 19 वीं शताब्दी के राजस्थानी स्थापत्य मन्दिर निर्माण में भी मुगल प्रभाव स्पष्टरूप से झलकता है। फिर भी कुछ मन्दिर तो स्थापत्य कला की दृष्टि से अपने आप में बड़े विलक्षण बन पड़े हैं जिनमें देलवाड़ा, राणकपुर के मंदिर विशेष उल्लेखनीय हैं—

देलवाड़ा का मन्दिर—सर्वप्रथम हम आबू के अंचल में सुशोभित देलवाड़ा के जैन मन्दिरों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करेंगे। आबू शहर से कोई डेढ़ मील की दूरी पर पांच जैन मन्दिर बने हुये हैं जिनमें दो मन्दिर अत्यधिक लुभावने एवं सुन्दर हैं। ये मन्दिर प्रायः चौकोर दायरे में बने हुए हैं। इनमें

---

37 गोपीनाथ शर्मा : ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ. 102-9

भालो बाव से लाया गया संगमरमर का पत्थर पर्याप्त परिश्रम के साथ तराश कर लगाया गया है। पहला मन्दिर 1031 ई. मे गुजरात के राजा भीमदेव सोलंकी के मन्त्री व सेनापति विमलशाह ने बनवाया था। इस मन्दिर में प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति है जिसकी आंखो मे प्रकाशमान हीरे लगे हुये हैं। मन्दिर के गर्भ-गृह, सभा-मडप, स्तम्भ, देव कुलिका, हस्तिशाला आदि के निर्माण में हमें भुवनेश्वर प्रणाली के दर्शन होते है। दूसरा मन्दिर 22 वें जैन तीर्थंकर नेमिनाथ का है जिसे 'लूनवमाही' भी कहते हैं। 1230 ई. में वास्तुपाल के छोटे भाई तेजपाल ने अपने प्रमुख शिल्पी शोभनदेव के नेतृत्व मे इस मन्दिर का निर्माण करवाया। यह मन्दिर आदिनाथ के मन्दिर से काफी मिलता-जुलता है। इसमे भी गर्भ-गृह, सभा-मंडप, जिनालय, हस्तिशाला, छतें, स्तम्भो आदि की तक्षण कला अत्यधिक मनमोहक बन पड़ी है। कोसेन ने इन मन्दिरो की प्रशंसा मे जो विवरण दिया है उससे ज्ञात होता है कि कला मे नक्काशी एवं बारीकी पर इतना अधिक ध्यान दिया जा रहा था कि कलाकार द्वारा पत्थर की छिलाई करने के बाद संगमरमर के बारीक चूरे को तोलकर उसके अनुरूप महनताना दिया जाता था। परिणामस्वरूप पत्थरों की बारीकी भारी भरकम बनती गई। इतना ही नहीं मंडप की बारीकी को इसीसे समझा जा सकता है कि विवश होकर भी दर्शक अधिक समय तक इस कलाकृति को देख नही सकता है। उसकी आँखें बारीकी से चौंधिया जाती हैं, मस्तिष्क भर जाता है किन्तु हृदय कला के रसास्वादन हेतु उत्कंठित बना रहता है। मन्दिर की तक्षण कला एक ओर जहां मन को हर्षित करती है वही दूसरी ओर उसकी मूर्तिया 11 वीं शताब्दी के जन-जीवन से परिचित कराके तत्कालीन वेश-भूषा, आभूषण, रीति-रिवाज, गुरु-शिष्य के सम्बन्ध, दरबारी शिष्टाचार, संगीत, नृत्य, विविध वाद्य-यंत्र आदि का ज्ञान कराने में सहायक होती है।

यों ये मन्दिर न केवल राजस्थान अपितु भारतीय स्थापत्य कला के अन्तर्गत अपना अद्वितीय स्थान सुरक्षित रखते है। फर्ग्यूसन, हेवल, कर्नल टॉड, स्मिथ आदि विद्वानो ने भी इन मन्दिरों की बड़ी प्रशंसा की है।

रणकपुर का मन्दिर—राजस्थान की स्थापत्य कला में एक और चार चांद लगा देने वाली कलाकृति रणकपुर का जैन मन्दिर है। यह मारवाड़ के गोड़वाड़-इलाके में प्रकृति की सुरम्य गोदमें बना हुआ है जहाँ चारो ओर पहाड़ियां स्थित हैं तथा सामने बहती नदी की कल-कल धारा ने इसकी मोहकता को और अधिक द्विगुणित कर दिया है। इसका निर्माण महाराणा कुम्भा के काल में हुआ। महाराणा के विश्वासपात्र धरणाक या धरणशाह

नामक व्यक्ति ने इस मन्दिर को बनवाया था। तब उसका प्रमुख शिल्पकार देपाक नामक सोमपुरा ब्राह्मण था जिसके साथ 50 से भी अधिक सहायक शिल्पकार थे।[38] कहा जाता है कि मन्दिर का नक्शा बनवाने से पूर्व धरणाक ने कई प्रमुख शिल्पकारों से नक्शे बनवाये किन्तु उसे एक भी पसंद नहीं आया। तब अंत मे देपाक का नक्शा जो उसे दैवी शक्ति से प्राप्त हुआ, काफी पसंद आया। अतः धरणाक ने देपाक को अपना मुख्य शिल्पकार बना दिया और उस नक्शे के अनुसार मन्दिर निर्माण करने की आज्ञा प्रदान की।[39] गोपीनाथ शर्मा को इस कथन मे कोई ऐतिहासिक आधार नजर नहीं आता है। वे सोमसौभाग्य काव्य में दिये गये वर्णन को ज्यादा ठीक मानते हुये बताते हैं कि "एक बार सोमसुन्दरसूरि राणकपुर पहुंचे, जहां शाह ने उनका सम्मानपूर्वक स्वागत किया। उन्हीं के आदेश से धरणाक ने मन्दिर के निर्माण का कार्य आरम्भ किया जो वि. सं. 1516 तक चलता रहा।" इसके निर्माण में 99 लाख रुपया खर्च हुआ था।

इस मन्दिर में प्रथम जैन तीर्थंकर आदिनाथ की मूर्ति है। प्रमुख मन्दिर वर्गाकार एवं चौमुखा बना हुआ है, जिसमे सोनाणा, मकराना आदि स्थानों से लाया गया हल्का श्वेत संगमरमर का पत्थर काम में लिया गया है। इस पर जाने के लिए 25 सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। कुल 48,000 वर्ग फुट के घेरे मे फैले इस भव्य मन्दिर मे 24 मंडप, 85 शिखर, 1444 स्तम्भ हैं। मन्दिर का द्वार, सभा मंडप, स्तम्भ, छत आदि की सुन्दर बोझिल तक्षण कला देखते ही बनती है। विभिन्न प्रकार की मूर्तियां, जैनतीर्थों का चित्रण आदि काफी चित्ताकर्षक हैं। इन मूर्तियों से तत्कालीन, सामाजिक जीवन, वेश भूषा, रहन-सहन, संगीत, नृत्य, वाद्य-यंत्र आदि का पर्याप्त ज्ञान होता है। मूर्तियों की एक अन्य विशेषता यह नजर आती है कि इनमें कई मूर्तियों को युद्धादि शस्त्रों से सज्जित दिखाया गया है। वास्तव मे बड़े आश्चर्य की बात है कि जैन मन्दिर मे शस्त्रों से युक्त मूर्तियां के पीछे क्या तुक है ? इस संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि कला पर देश, काल एवं वातावरण का प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता है। यदि यहां की मूर्तियो के अंकन मे युगधर्म का प्रभाव शस्त्रों के रूप मे दृष्टिगत होता है तो कोई अत्युक्ति नही।

मुख्य मन्दिर के समक्ष दो जैन मन्दिर और बने हुये है जिनमे एक

---

38 शारदा, महाराणा कुम्भा, पृ. 153-54

39 सोमानी, महाराणा कुम्भा, पृ. 267

पार्श्वनाथ का मन्दिर है। इस मन्दिर के बाह्य भाग में काम युक्त अश्लील मूर्तियां होने से लोग इसे वेश्या-मन्दिर कहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि राणकपुर जैनियों का एक बड़ा तीर्थ स्थल है। यहां आने पर व्यक्ति अपनी समस्त काम वासनामय भावनाओं को इन अश्लील मूर्तियों को देख कर यहीं छोड़ दे और पवित्र विचारों के साथ मुख्य मन्दिर मे प्रवेश करे ताकि उसका मन इधर-उधर विचलित न हो। इसी भावना से प्रेरित होकर मन्दिर का यह बाह्य भाग बनाया गया होगा।

राणकपुर के मन्दिर की शोभा का जितना अधिक वर्णन किया जाय उतना ही कम है। विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा के पुल बांधने मे कोई सीमा नही रखी। कर्नल टॉड ने इसकी गिनती विशाल प्रासादो में की है तो फर्गुसन जैसे कला पारखी के देखने मे ऐसा जटिल एवं कला पूर्ण मन्दिर नहीं आया।

भवन —राजस्थान मे प्राचीन काल से छोटे अथवा बड़े भवनों का स्वरूप दीख पड़ता है जिसमे राजभवनों का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण है। नागदा, आमेर, मेनाल कई एक स्थानों पर मिले राजभवनों के अवशेषों के आधार पर कहा जा सकता है कि तब सादगी से परिपूर्ण भवन होते थे। इन राजभवनों को देख कर यह कहा जा सकता है कि कही थोड़ा बहुत परिवर्तन के अलावा करीब करीब सभी जगह एक से बने हुये हैं। यों इनकी निर्माण शैली में साम्यता व एकरूपता मिलती है। शिल्पी मंडन ने इस सन्दर्भ में बताया है कि राजभवन नगर के मध्य में अथवा नगर के एक तरफ किसी उच्च स्थान पर बनाना चाहिये। साथ ही राजभवन की भव्यता के अतिरिक्त उनमे बनाये जाने वाले विविध प्रकार के स्थानों के बारे मे भी इगित किया गया है। तब राजभवनों में प्रायः सादगी का पुट रखा जाता था। इस सन्दर्भ में कुम्भाकालीन भवनों को लिया जा सकता है। उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बून्दी, आमेर एवं बीकानेर मे बने 16 वीं शताब्दी तक के महलों की योजना में एकरूपता नजर आती है।

राजपूतों का मुगलों के साथ सम्पर्क बढने के साथ ही यहां की स्थापत्य कला में मुगलिया प्रभाव तड़क-भड़क, फव्वारों, छोटे बाग-बगीचे, बेल-बूंटे, संगमरमर के काम, मेहराब, गुम्बजे आदि कई रूपों में देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ उदयपुर के महलों मे अमरसिह के महल, जगमन्दिर, जगतसिंह के समय राजमहलो में छोटी चित्रशाला की चौपाड़ में इजारे का काम, प्रीतम निवास महल तथा उसमें 'चीनी की चित्रकारी', जगनिवास के अन्दर संगमरमर का बड़ा महल, होज, नहरें, फव्वारे, दीवारों एवं छतों के

नीचे सुन्दर चीणी की पच्चीकारी का काम; आमेर के दीवाने आम व दीवाने खास; बीकानेर के कर्णमहल, शीशमहल, रंगमहल, अनूपमहल; जोधपुर का फूल महल आदि मे मुगलिया प्रभाव स्पष्ट रूप से झलकता है। कोटा, बून्दी, जैसलमेर तथा जयपुर में निर्मित भवन भी मुगल प्रभाव से नहीं बच सके हैं। 18 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं 19 शताब्दी में तो राजस्थानी सामन्तो एवं उच्च कुल के लोगो की हवेलियो तथा भवनों मे भी मुगल स्थापत्य कला परिलक्षित होती है क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतन के बाद निराश्रित मुगल कारीगरों को अधिकांशत: राजस्थान में ही प्रश्रय मिला था। अत: वे अपनी छेणी की बारीकी का करतब यहा दिखाने लगे जिससे स्थापत्य मे एक नवीन प्रगति उजागर होने लगी।

जलाशय एवं उद्यान—जलाशयों का होना तथा बनवाना शुभ एवं पुण्य कार्य के रूप मे माना गया है। अत: राजस्थान मे भी शासकों, सामन्तों तथा अन्य समृद्ध लोगो द्वारा समय समय पर तालाव, कुए, बावड़ी आदि बनाने का उल्लेख शिलालेखों मे मिलता है। उदयपुर की पीछोला झील के बारे मे बताया जाता है कि महाराणा लाखा के समय एक बनजारे ने बनवाई तथा इसके निकट पीछोली गांव होने से इसका नाम 'पीछोला' पड़ा। इसकी लम्बाई ढाई मील और चौड़ाई डेढ मील है। 1795 ई. मे यह झील टूट गई थी। अत: महाराणा भीमसिंह ने इसे पुनः सुदृढ़ बनवा दी। महाराणा जयसिंह ने 1687 ई. से 1691 ई. के बीच जयसमुद्र झील, जिसे ढेबर भी कहते हैं, बनवाई थी। महाराणा राजसिंह ने राजसमन्द और बड़ी नामक गांव के पास 'जनासागर' नामक ताल बनवाये। इसमे राजसमन्द विशेष उल्लेखनीय है। राजसमन्द, उदयपुर से उत्तर की ओर कोई 40 मील दूर है। गोमती नदी पर बन्धा यह बांध 4 मील लम्बा और पौने दो मील चौड़ा है। इस बांध को बनाने के पीछे कई एक बाते है। कुछेक कहते है कि महाराणा राजसिंह रावल मनोहरदास की पुत्री कृष्णकुंवरी से विवाह करने जैसलमेर गया तब इस नदी ने उसका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। उसी दिन से महाराणा ने इसे बांधने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। राजप्रशस्ति महाकाव्यम् से तो यह प्रकट होता है कि 12 वर्ष की अल्पायु में जैसलमेर विवाह के लिये जाते समय इस क्षेत्र मे तड़ाग के निर्माण योग्य भूमि देख कर वहा एक जलाशय बनवाने का विचार किया। और गद्दीनशीनी के बाद वि. सं. 1718 के मगसर मे रूपनारायण के दर्शन हेतु जब उधर से निकला तब एक बार फिर इस भूमि को देख कर जलाशय बनाने का निश्चय

किया।[40] यह भी प्रचलित है कि महाराणा ने अपनी रानियों और पुत्रों की हत्या के प्रायश्चित हेतु इस झील को बनवाया था। किन्तु झील का निर्माण तो काफी पहले हो गया था और हत्या बाद मे। ऐसी स्थिति में हत्या वाली घटना से झील बनाने की योजना का तुक बिठाने मे कोई सार नज़र नहीं आता है किन्तु शास्त्रोक्त राजधर्म की मर्यादा का पालन करना राजसिंह अच्छी तरह जानता था। अतः पण्डितो की सम्मति पर मालपुरा, टोडा, केकड़ी आदि की लूट में प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग कर राजसिंह ने इस बाध का निर्माण कराया।[41]

राजसमुद्र के निर्माण-कार्य को प्रारम्भ करने के लिये उसने बुधवार, माघ बदी 7, वि. सं. 1718 (जनवरी 1, 1662 ई) का मुहूर्त निकलवाया और सोमवार, वैशाख सुदी 13 वि. सं. 1721 को राजसिंह ने नीव भरने का मुहूर्त किया। सबसे पहले पुरोहित गरीबदास के ज्येष्ठ पुत्र रणछोड़राय ने पांच रत्नों से युक्त एक शिला वहा रखी। माघ सुदी पूर्णिमा, वि. सं. 1732 (गुरुवार, जनवरी 20, 1676 ई.) को इसके निर्माण की पूर्णाहुति मनाई गई। किन्तु वि. स 1735 के आषाढ महीने तक भी निर्माण कार्य चलता रहा। इसके निर्माण, प्रतिष्ठा तथा इनाम-इकराम आदि पर कुल 10,50,75,84 रुपया खर्च हुए। 1,05,07,608 रु. निर्माण कार्य के दूसरे पक्ष मे लगे धन का योग बताया गया है।[42] बाध की आकृति धनुपाकार है और राजनगर गाव की ओर वाला ताल का छोर, जो दो पहाड़ियो के मध्य मे स्थित है, 200 गज लम्बा और 70 गज चौडा है। इसमे राजनगर के संगमरमर से निर्मित सुन्दर सीढियां बनी हुई हैं और बांध पर तीन सुन्दर तक्षण कला से युक्त मंडप बने हैं जिनके स्तम्भो और छतो मे देवी-देवताओं, नृत्यरता अप्सराओं और कलरव करते पशु-पक्षियो की कलाकृतियां उत्कीर्ण हैं। इन मडपों के छज्जे, छबने, पान, पुष्प आदि हिन्दू शैली को लिये हुये है तो बेल-बूटे व जालियो की खुदाई मुगलिया प्रभाव से ओत-प्रोत है। कुछ भी हो यह तो स्वीकार करना ही होगा कि इन मूर्तियो के अकन से तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति का चित्रण सुस्पष्ट हो जाता है। उसी के निकट बने तुलादान के पाच तोरण, महाराणा

---

40 राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 9, श्लोक 3-12

41 मज्झमिका, 1979-80, पृ. 15-16

42 वही; राजप्रशस्ति महाकाव्यम्, सर्ग 9, श्लोक 14, 34, 37, 38, सर्ग 21, श्लोक 22, सर्ग 24, श्लोक 34

राजसिंह की उदारता, दानशीलता और धार्मिक प्रवृत्ति का उद्घोष करते दिखाई देते हैं। यह स्थल 'नौ चौकी' के नाम से प्रसिद्ध है। गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "संभवतः इस प्रयोग का आधार राजसिंह की अपनी 1643 ई. की अजमेर यात्रा में प्राप्त हुआ हो, जबकि उन्होंने आनासागर पर बारादरियों को देखा था।" 'नौ चौकी' के पास ही एक पहाड़ी पर राजसिंह के द्वारा बनाया हुआ महल खड़ा है। 'नौ चौकी' के इस स्थल पर ही महाराणा ने तैलंग भट्ट, मधुसूदन के पुत्र रणछोड़ से 'राजप्रशस्ति' नामक एक महाकाव्य का प्रणयन करवा के 25 विशाल शिलाओं पर खुदवा कर क्रमशः 25 आलों में लगवा दी गई जो आज भी मेवाड़ के महाराणाओं विशेषतः राजसिंह का यशोगान कर रही है। वास्तव में शिलालेख के रूप में इतना विशाल महाकाव्य राजस्थान तो क्या विश्व में अन्यत्र दुर्लभ है।

इसी तरह डूंगरपुर में महारावल पूंजा ने पूंजपुर गांव के पास पूंजेला झील, महारावल गोपीनाथ ने गैबसागर झील बनवाई थी। बून्दी में फूलसागर, जैतसागर, सूरसागर आदि इसी भांति बनवाई गई झीलों में विशेष उल्लेखनीय हैं। जैसलमेर का कौशिकराम का कुण्ड, अमृतसर, जेटसागर; जोधपुर के बालसर, [illegible]सागर, बालसमन्द, गुलाबसागर; बीकानेर के सूरसागर, अनूपसागर, नवलखताल, गोगाताल, नाथूसर आदि जलाशय भी स्थापत्य की दृष्टि से अपना महत्व रखते हैं।

स्थापत्य में बाग-बगीचों का भी अपना महत्व था किन्तु मुगलों के आगमन के बाद इनका प्रसार और अधिकता के साथ बढ़ता गया। इन बागों में पानी के हौज, नालियां, फव्वारे, बारादरियां आदि मुगल प्रभाव के स्पष्ट प्रतीक हैं। इन बागों में विभिन्न प्रकार के फल-फूल लगाकर उनकी शोभा को और अधिक द्विगुणित किया जाता था। बाग-बगीचों के निर्माण में मेवाड़ के [illegible] द्वितीय, [illegible] जोधपुर [illegible] स्मारकों का भी विशिष्ट योगदान रहा है। प्राचीन काल से ही महापुरुषों तथा वीरों की याद में उनके दाह-स्थल पर चबूतरे, छतरियां, देवलियां आदि बना दी जाती थी। मध्यकाल में [illegible] वीरों के साथ प्रायः उनकी स्त्रियां, रखैलें, खवासें आदि सती हो जाया करती थीं। इतना [illegible] व्यक्ति अपनी मौत में मृत्यु को प्राप्त करता तो [illegible] इसके [illegible], स्त्रियां सती

होती थीं। ऐसे स्थलों पर प्राय: चबूतरे अथवा छतरियां, देवल या देवलियां बना दी जाती थी। बीच मे शिवलिंग स्थापित कर उसके पास ही स्तम्भ अथवा स्मारक स्वरूप पत्थर लगा दिया जाता था जिस पर मृतक के साथ-साथ सती होने वाली रानियो या स्त्रियो की मूर्तिया अंकित की जाती थीं। इनके नीचे मृत्यु दिवस की तिथि एवं अन्य उपलब्धियों का दिग्दर्शन भी किया जाता था। कई छतरियां तो बड़ी विशाल एवं गुम्बदों में युक्त सुन्दर बन पड़ी हैं। अत: समाधि एवं स्मारकों के इन स्थापत्य-कला के प्रतीकों मे मुगल कला के भाव स्पष्ट झलकते हैं। यों तो राजस्थान में कई स्थलों पर सती स्मारक देखे जा सकते हैं किन्तु विभिन्न राज्यो के श्मशान घाट अलग से बने हुए थे जहां बहुतायत के साथ इन्हे देखा जा सकता है। इनसे भी तत्कालीन राजस्थान के सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास को समझा जा सकता है।

चित्रकला—भारतीय कला परम्परा में राजस्थानी चित्रकला का अपना विशिष्ट स्थान है। कुछ कलाविदों ने राजस्थान की कला को कभी 'राजपूत कला' कहा तो कभी 'हिन्दू कला' कह कर पुकारा तो किसी ने 'हिन्दू शैली' के ढंग से अभिहित कराने का प्रयास किया। यों देखा जाय तो राजस्थान में चित्रांकन परम्परा वैविध्यता इतनी अधिक पाई जाती है कि उसे किसी एक शैली विशेष मे सीमित नही किया जा सकता। 16 वीं शती से 19 वीं शती की कला पर इसे राजस्थानी प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। ऐसी स्थिति मे [illegible] 'राजस्थानी शैली' का [illegible] ने अपने ढंग से एक स्व[illegible]

यदि मेवाड़ के साथ ही राजस्थान के इतिहास पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट होता है कि मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। चित्तौड़ के निकट बेड़च एवं गम्भीरी नदी के तट की चट्टानों मे एक लाख वर्ष पूर्व के अवशेष मिले है, जो इस क्षेत्र की तत्कालीन मानव सभ्यता का बोध कराती है। इसके पास ही [illegible] से प्राप्त शिल्पावशेषों में [illegible] के साथ स्था- [illegible] से प्राप्त अवशेषों से भी मेवाड़ मे अविरल चित्र पद्धति का बोध होता है। 'वल्लभी' के विध्वंस के पश्चात् वहां से आये हुए चित्रकारों व मूर्तिकारों ने अजन्ता परम्परा को [illegible] प्रारम्भ किया। यों तब उन पर स्थानीय चित्रण परम्परा का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। यह प्रभाव 7 वी शताब्दी से 15 वी

शताब्दी तक अबाध गति से पड़ा।[43] अजन्ता परम्परा का सर्वप्रथम प्रभाव राजस्थान मे मेवाड मे परिलक्षित हुआ। गुजरात से भी यहां कलाकार आये। यहां मौलिक प्राचीन चित्र शैली मे मिलकर नवीनता सृजित की। इस शैली के चिह्न मंडोर द्वार के गोवर्द्धन धारण और बाडोली तथा नागदा की मूर्तिकला मे देखने को मिलते हैं। इस मौलिक शैली को हम जैन या अपभ्रंश या गुजरात शैली के नाम से जान सकते हैं। यह शैली अलग-अलग नामों से पुकारी जाती रही है। तारानाथ के अनुसार 7 वीं सदी में राजस्थान कला का मुख्य केन्द्र था जहा से भारत मे विशेष कला की धारा प्रवाहित हुई। शृंगधर इसका प्रमुख चित्रकार था। परन्तु उसकी चित्रकला के बारे मे कोई विस्तृत वर्णन नही मिलता है। "साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यहां प्राचीन काल मे चित्र पट्ट अवश्य बनाये जाते थे। राजस्थान मे लिखे ग्रन्थ समराइच्चकहा (8 वी शताब्दी), कुवलयमाला (788 ई.), उपमिति भव प्रपंच कथा (905 ई.), धर्मोपदेशमाला (9 वी शताब्दी) आदि मे इन चित्रपट्टो का विस्तार से उल्लेख है।"" यद्यपि राजमहलो मे भित्ति चित्र बनाये जाने के वर्णन मिलते हैं किन्तु उस समय 'पड आलेखरण' को ही प्राथमिकता दी जाती थी। यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से पश्चिमी राजस्थान मे 'लोक कला' के रूप मे विद्यमान रही। कुवलयमाला एव समराइच्चकहा मे चित्रकला सबंधी कई तत्कालीन पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं।"[44] 13 वी शताब्दी के प्रारम्भिक चित्रों में जैन तीर्थंकरो तथा कल्पसूत्र के विभिन्न प्रसंग ताडपत्रों पर चित्रित किये गये जिन्हे पश्चिमी भारत की 'लघु शैली' के ढंग से पुकारा गया। इस शैली के ग्रन्थ दक्षिण पश्चिमी राजस्थान मे प्रचलित थे। ताड पत्र पर 'श्रावकप्रतिक्रमरण सूत्रचूर्णि' नामक ग्रन्थ का चित्रण 13 वी शताब्दी मे आहाड़ मे गुहिल नरेश तेजसिंह के शासन काल मे हुआ। 15 वीं शताब्दी मे कागज पर चित्रांकन की परम्परा प्रारम्भ हो गई थी। इस संदर्भ मे 1423 ई. मे मोकल के समय देलवाड़ा मे चित्रित 'सुपासनाहचरित्रम्' चित्रित ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है।

वाचस्पति गैरोला का तो मानना है कि राजस्थान के विस्तृत भू-भाग में सैकड़ों चित्रकारो द्वारा लगभग 14 वीं 15 वी शताब्दी से ही चित्रों का

43 मज्झमिका, 1979-80 ई., पृ. 104

44 रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान की चित्रकला (शोध निबंध), पृ. 149-50

निर्माण होना प्रारम्भ हो गया था किन्तु 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भ मे आधुनिक युग में कही जाने वाली राजस्थानी चित्रकला का विकास हुआ। राजस्थानी चित्रकला का उद्गम व विकास न तो एक स्थान पर हुआ और न ही कुछ कलाकारो द्वारा।

राजस्थानी शैली के चित्र संपुटो को देखने से मालूम होता है कि वे चित्र कई उद्देश्यो एवं विषयो को लेकर बनाये गये थे। शुरू में जो चित्र बने उनका उद्देश्य मनोरंजन तक ही सीमित था। अत: वे चित्र राजमहलो की चारदीवारी तक सीमित रहे। चित्र बनाने वालो को तब पारिश्रमिक दिया जाता था। अत: ये चित्रकार इस कार्य को वंश परम्परा से चलाने लगे। इन चित्रों मे हमे कला के लिए स्वतंत्र चिन्तन का अभाव तथा चित्रकार की घिसी-पिटी तूलिका दिखाई देती है। पेशेवर चित्रकारो ने उच्च कोटि के चित्र भी बनाये। यो राजस्थानी शैली शुरू मे जन सामान्य से दूर राज-दरबारों तक ही सीमित रही और अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित न कर सकी। धीरे-धीरे यह कला राज दरबारो की चारदिवारी लाघने लगी और इसका प्रचार-प्रसार ठिकानों एवं सामन्तो-सरदारो के यहां भी होने लगा। अत: राजस्थानी शैली क्रमोन्नत होने लगी।

विभिन्न रियासतो में पल्लवित व पोषित चित्रकला अपनी स्थानीय विशेषताओं के कारण वहा की शैली विशेष बन गई। यों राजस्थानी चित्रकला मे अनेकों शैलियों का उद्भव हुआ जिसमे मेवाड़, मारवाड़, जयपुर, बूंदी, किशनगढ, बीकानेर, कोटा, जैसलमेर, अलवर, नाथद्वारा आदि शैलियों के साथ-साथ उप-शैलियाँ भी विकसित हो रही थी यथा-उणियारा शैली, अजमेर शैली, चावंड शैली, कानोड़ शैली, देवगढ शैली आदि। राजस्थान के चित्रों की इन विभिन्न शैलियो को रंग, पृष्ठभूमि, बोर्डर्स आदि की दृष्टि से अलग-अलग आँका जा सकता है। रंग की दृष्टि से जयपुर और अलवर के चित्रो में हरे रंग का, जोधपुर और बीकानेर के चित्रो मे पीले रंग का, उदयपुर के चित्रों मे लाल रंग का, कोटा के चित्रो मे नीले रंग का, किशनगढ के चित्रों में सफेद रंग अथवा गुलाबी रंग का और बूंदी के चित्रों में सुनहरे रंग का विशेष प्रयोग हुआ है। चित्रो की पृष्ठभूमि के हिसाब से उदयपुर में कदम्बवृक्ष, किशनगढ़ शैली मे केले के वृक्ष, कोटा व बूंदी शैली मे लम्बे-लम्बे खजूर के वृक्ष, जयपुर व अलवर मे पीपल अथवा वट के वृक्ष और बीकानेर व जोधपुर में आम के वृक्ष ज्यादा मिलते हैं।[45] बोर्डर्स अथवा

---

45 ए.पी. व्यास, राजस्थान की चित्रकला : एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, पृ. 15

सम्पूर्ण चित्र की बाह्य पट्टी के रंग भी भिन्न भिन्न हैं जैसे जयपुर के चित्रों की बॉर्डर काले ग्राउन्ड (भूमि) में चंदेरी व लाल, उदयपुर में पीली, किशनगढ़ मे गुलाबी और हरे रंग की व बूंदी के चित्रों की सुनहरी व लाल होती है। इसी तरह विभिन्न शैलियों मे पशु-पक्षी भी अलग-अलग हैं। जोधपुर व बीकानेर मे कौवा, चील, ऊँट और घोड़े ज्यादा हैं तो उदयपुर मे हाथी और चकोर पक्षी, नाथद्वारा मे गाय, जयपुर और अलवर के चित्रो मे मोर व घोड़ा तथा बतख, हिरण व शेर आदि, कोटा व बूंदी के चित्रों मे अधिक मिलते हैं। विभिन्न शैलियों में पुरुष-स्त्रियो की आकृति भी भिन्न-भिन्न है। आँखों की बनावट की दृष्टि से बीकानेर-शैली के चित्रो मे आँखें खजन के समान, नाथद्वारा शैली में हिरन के समान, बूंदी-शैली मे आम के पत्तों के समान, जयपुर शैली के चित्रों में मछली (मीन) के समान, किशनगढ़ मे कमान की तरह व जोधपुर शैली के चित्रो में प्रायः बादाम के समान आँखो की आकृति मिलती है। इसी तरह कद, गठीलेपन, नाक, होठ, ठोडी, हाथ पैरों की अंगुलियों, भौंहे इत्यादि के अनुसार भी विभिन्न शैलियाँ अलग-अलग है। पोशाक व आभूषण के द्वारा तो इन शैलियो के जन्म स्थान का ही नही वरन् काल क्रम का भी बोध संभव है।"[46] आमेर (जयपुर), जोधपुर एवं बीकानेर शैली पर मुगल प्रभाव स्पष्टतः झलकता है। जबकि मेवाड़ व बूंदी शैली मे मुगल प्रभाव अपेक्षाकृत कम झलकता है। राजस्थानी चित्रों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—दरबारी एवं साहित्यिक चित्र। दरबारी चित्रों में राजस्थान की विभिन्न रियासतों के नरेशो को दरबार लगाये हुये, शिकार व अन्य मनोरजनात्मक क्रीड़ाओं के चित्र, उत्सव आदि से सम्बन्धित चित्र बनाये जाते थे। साहित्यिक चित्रो मे रसिकप्रिया, रागमाला, रस मजरी, रामायण, महाभारत, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थों के रूप मे चित्रित किये गये है। इसके अलावा प्राकृतिक, दैनिक जीवन, रीति रिवाज एवं परम्पराओं से सम्बन्धित चित्र भी बनाये जाते थे। राजस्थान की विभिन्न शैलियों का वर्णन इस तरह से किया जा सकता है।

मेवाड़—यह राज्य राजस्थानी चित्रकला का सर्वाधिक प्राचीन केन्द्र रहा था। गुहिल से महाराणा रायमल तक का काल जैन चित्रकला से विशेष प्रभावित रहा। तत्पश्चात उत्तरोत्तर मेवाड़ की शैलीगत विशेषताएँ जुड़ने लगीं जो 1540 ई. मे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। यह मेवाड़ राज्य की मौलिक शैली थी। 1615 ई. की मेवाड़-मुगल सधि से यहां की चित्रा-

---

46 वही, पृ. 15-16

कन परम्परा में एक मोड़ आया जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ शैली में उत्तरोत्तर मुगलिया प्रभाव झलकने लगा। करणसिंह के काल मे बनाये गये चावण्ड के रागमाला-चित्रों मे 16 वीं शताब्दी की मौलिक मालवा शैली का प्रभाव स्पष्ट नज़र आता है। महाराणा जगतसिंह एव राजसिंह के काल में विस्तृत चित्रण कार्य हुआ। गल्प-गाथाएँ, पौराणिक प्रथाएँ एव शौर्य प्रदर्शन इन चित्रों का मुख्य आदर्श था। 1648 ई. में साहबदी द्वारा चित्रित भागवत, 1649 ई. में मनोहर द्वारा चित्रित रामायण; 1651 ई. में साहबदी द्वारा चित्रित प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर की आर्ष रामायण, रागमाला, नायक-नायिका, रसिक-प्रिया, गीत गोविन्द, श्री गोपीचन्द कानोडिया के संग्रह का सूरसागर आदि चित्रित ग्रन्थ मेवाड़ शैली के अनुपम उदाहरण हैं। महाराणा जगतसिंह का शासन काल मेवाड़ चित्रकला के लिये बहुत ही अधिक प्रसिद्ध है। तब मेवाड़ की अपनी विशिष्ट चित्र शैली बन गई थी जिसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न थी।[47]

1. प्रमुख गहरे रंगों, जिनमें हिंगलु रंग विशिष्ट था, का अधिकाधिक प्रयोग।

2 मानव आकृतियों में नुकीली नाक, गोल मुँह और मत्स्याकृति की आँखें प्रमुख है। चित्र मे मुख्य आकृति को अपेक्षाकृत लम्बा बनाया जाना भी एक विशेषता रही है।

3 हर चित्र के उपर गहरे पीले रंग की एक पट्टी रहती है जिस पर उस चित्र से संबंधित लेख भी लिखा रहता है।

4 वास्तु शिल्प में सामान्य पतले स्तम्भ एवं बारादरी वाले भवन चित्रित किये गये हैं।

महाराणा अमरसिंह द्वि. और संग्रामसिंह द्वि. के काल में मुगल चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव प्रारंभ हो जाता है। अमरसिंह द्वि. 1698 ई. में गद्दी पर बैठा तब राज्यारोहण के दृश्य का एक चित्र जयमंगला हाथी[48] पर आसीन तिथियुक्त मिला है जो राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली मे सुरक्षित है। हाथी की आकृति कोटा और बून्दी की तरह मांसलता युक्त और सुन्दर नही है। मेवाड़ की पगड़ी में अब परिवर्तन स्पष्टतः देखा जा सकता है। अमरशाही पगड़ी का प्रचलन इसके समय से हुआ। यह छोटी और अपेक्षा-

---

47 रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान की चित्रकला (शोध निबन्ध), पृ. 158

48 मिनिएचर पेन्टिंग्स, पृ. 36

कृत पतली घारीदार थी।" महाराणा अमरसिंह द्वि. के राज्य में चित्रकला की शैली में, सोमानी के अनुसार, प्रमुख परिवर्तन निम्न हुये—

1 "घटनाओं से सबद्ध बड़े चित्रपट बनाना। राजस्थानी चित्र शैली में इसका अंकन मेवाड में ही प्रमुख रूप मे हुआ। 18 वी शताब्दी के अंतिम चरण और 19 वी शताब्दी में कोटा मे एवं मारवाड में भी इस प्रकार के चित्र पट्ट बनाये गये है। मेवाड़ में 18 वी शताब्दी के प्रारम्भ से ही बहुत बड़ी सख्या में इस प्रकार के वर्णनात्मक चित्र पट्ट बनाये गये थे। अमरसिंह के समय का 1708 ई. का एक चित्र महाराणा के दरबार के दृश्य का, जिसमें आमेर के राजा (सवाई) जयसिंह, मारवाड़ के शासक अजीतसिंह एवं इनके सामन्त आदि भी थे, का अंकन है। इन चित्र पट्टों की विशेषता लम्बे लेख है। प्रत्येक चित्र के पीछे घटना से सम्बन्धित लम्बे लेख लिखे गये हैं। शिकार के चित्रों के लेख बड़े ही रोचक है। इसमें शिकार की पूरी घटना, शिकार में जाने वाले स्टॉफ, घोड़ों की विस्तृत तालिका आदि। सम्भवतः चित्रकार भी शिकार के समय जाते थे। कुछ लेखों में इसका स्पष्टतः उल्लेख है।

2 रेखांकन बनाना। बिना रंगों के उपयोग किये केवल काली स्याही में ही रेखांकन बनाये गये हैं।"

महाराणा सग्रामसिंह ने अपने जीवन से सबंधित कई घटनाओं यथा— जुलूस के साथ बाहर जाते हुए, दरबार लगाये, जंगली जानवरों का शिकार करते हुए, को चित्रित कराया। इस युग के चित्रों मे चमकीले पीले रंग और लाख से लाल रंग की प्रधानता देखी जा सकती है। पुरुषों और स्त्रियों की आकृतियों मे लम्बे नाक, गोल चेहरे, छोटा कद और मीनाक्षी आँखें चित्रित की गई हैं। पुरुषों की वेश-भूषा मुगलिया प्रभाव लिये हुए है। इसी प्रभाव का एक स्वरूप बारीक कपड़ों की दिखावट या चित्रण मे भी देखा जा सकता है। गुम्बजदार मकानों का चित्रित करना भी मुगल स्थापत्य कला का प्रभाव लिये हुए है। यहाँ पहाड़ियों के चित्रण मे भी फारसी कला गुजरात की कला से मिश्रित होकर आई है। साधारणतया कदली वृक्षों का चित्रण स्थानीय वातावरण के प्रभाव को लिये हुए है। 18 वी शताब्दी के मध्य से चित्रकला के क्षेत्र मे आशातीत वृद्धि हुई। 1734 ई. से चित्रण प्रक्रिया मे विकास दृष्टिगोचर होता है। इस काल मे अधिकांशतः बड़े आकार के चित्र बनाये गये जो प्रायः ढाई से 5 फुट के लगभग होते थे। इस प्रकार के बड़े चित्र महाराणा के निजी संग्रह मे सुरक्षित हैं। इन चित्रों की विषय वस्तु यद्यपि सामाजिक एवं धार्मिक पर्वों से सम्बन्धित रही है

तथापि शिकार एव राजसी ठाट-बाट को प्रचुर मात्रा मे देखा जा सकता है। मेवाड़ की यह चित्राकन शैली इस राज्य के कई ठिकानो में भी पुष्पित हो रही थी यथा केलवा, वेगूँ, ग्रासीन्द, शाहपुरा, काकरोली व नाथद्वारा इसके प्रमुख केन्द्र स्थल थे। महाराणा एव सामन्त वर्ग की दिनचर्या एव शौक के अनुकूल 'शिकार के चित्र' इस काल की प्रमुख विशेषता रही है। महाराणा अड़सी के काल मे तो शिकार से सम्बन्धित चित्रों की सर्वाधिकता रही थी। चित्रकार घास व झाड़ियो को तूलिका से न बनाकर कपडे मे रूई भर के उसे गद्दीनुमा बना कर हरे रंग में भिगो देता और चित्र पर पैबन्द की भाँति लगा दिया जाता था। ये चित्र बड़े प्राकृतिक एवं सजीव से प्रतीत होते हैं। इस समय के चित्रों की प्रमुख विशेषता इस प्रकार है।[49]

1 अमरशाही पगड़ी के स्थान पर महाराणा ने खंजनशाही पगडी का प्रचलन किया।

2 बून्दी शैली के समान महाराणा का अपनी महारानी को गले लगाते हुये दृश्यों में चित्रित किया जाना।

3 शिकार के चित्र अत्यधिक बने किन्तु इनमें पृष्ठ भूमि में प्राय: पेड़ पौधों का अंकन नही है।

4 महाराणा सग्रामसिंह द्वि. के समय से प्रचलित भीड भरे दृश्यो के चित्र बनाने के स्थान पर सादे दृश्यों का अकन अधिक किया गया है।

चित्रों की यह शैली महाराणा हमीरसिंह के काल मे भी बनी रही। महाराणा भीमसिंह (1778-1828 ई.) कला का महान सरक्षक था। उसके समय में कई बड़े आकार के चित्र तैयार किये गये जिनमे अधिकांशत: हरे व सफेद रंग की प्रधानता रही थी किन्तु कही-कही लाल रग भी दृष्टिगत होता है। राधाकृष्ण वशिष्ठ के शब्दो में "मेवाड चित्र शैली के कुछ रंग तो चित्रकारो ने सूत्रबद्ध रूप से निश्चित कर लिये हैं, जिनको हम प्रारम्भ से अब तक के चित्रों मे देखते है। अभ्रकी (पीला भूरा), आसमानी (आसमानी नीला), बादामी (बादाम जैसा भूरा), चादिया रूपा (रजत वर्ण) चेरा (चेहरा, हलका लाल ईंट जैसा) धुम्र (धुएं का रंग), गौगी या गोर (हलका पीला सुनहला), गुलाबी (गुलाब जैसा लाल), कारी या काला (काजल का रंग), खाकी (भूरा हरा), लाल सिन्दूर या सिन्दूरी सुरखी (रक्त वर्ण), नारंगी (संतरे जैसा), नीला (गहरा नीला), सब्ज, सज या सोजा (हरा), सोना (स्वर्ण वर्ण), सुफेदा धोलो या धुवली (श्वेत वर्ण), बसन्ती पीलो

---

49 वही, पृ. 165

(केसरिया), रोगनी (बैंगनी) आदि रंगों को हम पिछली पाँच सदियों क्रमश चित्रों में परम्परा के रूप में पाते हैं। जिससे ये रंग चित्र शैली और बन गये हैं।"

मेवाड़ की चित्रकला में भित्ति चित्र की एक समृद्ध परम्परा रही है इस परम्परा में दो तरह के चित्रण हुए हैं—एक पूर्णतः फ्रेस्को पद्धति घुटाई करके चित्रण किया गया है, तो दूसरी ओर कम स्थायित्व लिये भी तरीका अपनाया गया है। 10 वीं सदी में ही एकलिंगजी के साथ-साथ मन्दिर में भित्ति चित्रों के अवशेषों की कल्पना की जा सकती है। महाराणा कुम्भा के महलों में उसी काल के चित्रावशेषों का उल्लेख है। महाराणा राजसिंह के काल में निर्मित एकलिंग मन्दिर में गुसांईजी के सिंहासन पीछे की दीवारों पर शिव परिवार एवं मदनी, भित्ति चित्रों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। उदयपुर में अम्बामाता मन्दिर के द्वारे, नाथद्वार गोगुन्दा उदयपुर एवं कई प्रमुख ठिकानों व कुलीन वर्गों की हवेलियों द्वारों के रूप में भित्ति चित्रों का मिलना, इस प्रदेश के जनसाधारण कलात्मक अभिरुचि का परिचायक है।"[50] दूसरी तरफ हमें पुस्तक चित्रों में बने चित्रों की समृद्ध परम्परा दिखाई देती है। इनके चित्रों के विषय अधिकतर बारहमासा, राग रागनियां, शिकार, शृंगार, महाभारत, रामायण व दरबारी जीवन एवं सवारियों के होते हैं। यह मेवाड़ शैली की विशेषता है कि उन्होंने साधारण जनजीवन को भी अपने चित्रों का विषय बनाया है।

मेवाड़ के कई प्रमुख चित्रकारों के नाम भी प्राप्त होते हैं यथा—नाना राम, मोठाराम, रघुनाथ, साहबदीन, निसारदीन, शम्भु शाहजी, ओका प्रेमजी, भैरु, भीमा, परशुराम, कमला, तेजू, हरिराम, बक्ता. चोखा, ऊकार जी, वेणीरामजी, परसरामजी, घासीरामजी, कुन्दनलालजी, छगनलालजी पन्नालालजी, नारायणजी आदि विशेष उल्लेखनीय है। 1840 ई. में महाराणा की तरफ से चित्रों के संग्रह का काम पांडे मोहनलाल को सौंपा गया, अतः चित्रशाला को पांडे की ओवरी भी कहा जाता है।

19 वीं शताब्दी के समाप्त होते-होते मेवाड़ शैली का यह उन्नत काल समाप्त हो गया। चित्रों में बाढ आ गई पर शैली में ढीलापन बढने लगा। इस शैली का प्रचार इतना फैला कि छोटे-छोटे ठिकानेदार भी चित्रों के रसिक हो गये। व्यक्तिगत चित्र, दरबार, शिकार व सवारियों के दृश्य

---

50 शोध पत्रिका, वर्ष 25, अंक 3-4, पृ. 78

अब मेवाड़ कला के विषय हो गये और शनैः शनैः कलात्मक रूप समाप्त होने लगा।

नाथद्वारा—महाराणा राजसिंह (1652 ई-1680 ई) ने श्रीनाथजी को मेवाड़ में संरक्षण दिया। तब से नाथद्वारा में प्रस्थापित यह स्थान वल्लभाचार्य वैष्णवों का एक आकर्षण एवं धार्मिक केन्द्र बन गया। श्रीनाथजी के साथ कई चित्रकार भी आये जो श्रीनाथजी या वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित धार्मिक चित्र बनाते थे। इनमें अधिकांशतः चित्रकार जयपुर, अलवर, उदयपुर एवं नागौर के थे। ये चित्रकार धार्मिक विषयों के साथ-साथ सामाजिक विषयों का एवं शृंगारिक विषयों का चित्रण भी करते थे। कपड़ों पर चित्रित पिछवाई तो नाथद्वारा शैली का सजीव उदाहरण है। 18 वीं शताब्दी की चित्रांकन परम्परा में नाथद्वारा—मोतीमहल के भित्ति चित्र विशेष उल्लेखनीय है। नाथद्वारा शैली में हमें कहीं कांगड़ा का प्रभाव तो कहीं मुगल शैली का प्रभाव दृष्टिगत होता है, ऐसा विचार श्री वर्मा का है। शनैः शनैः नाथद्वारा शैली व्यवसाय प्रधान होती गई। क्योंकि चित्रकार यहां आने वाले तीर्थयात्रियों की अभिरुचि के अनुरूप चित्रण करने लगे। इस कारण से भी यहां के कलाकार बाह्य प्रभाव को ग्रहण करने के प्रति अधिक सजग रहे, उदाहरणार्थ धार्मिक चित्रों के अतिरिक्त प्रकृति-दृश्य चित्रों पर यूरोपीय प्रभाव की स्पष्ट छाप पड़ी और इन चित्रों को साधारण दर्शकों ने बहुत सराहा। यों उनमें व्यावसायिकता आने से कला अवनति की ओर अग्रसर होती चली गई।

मारवाड़—अजन्ता परम्परा मेवाड़ के साथ-साथ मारवाड़ में भी आ गई थी। इस शैली का पूर्व रूप मन्डोर के द्वार की कला से आंका जा सकता है। 7 वीं शताब्दी में मारवाड़ चित्रकला के क्षेत्र में प्रगति कर चुका था। तब कोई 1000 से 1500 ई. तक अनेक जैन ग्रन्थों का चित्रण हुआ। ताडपत्र, भोज पत्र आदि पर चित्रित कल्पसूत्रों व अन्य ग्रन्थों की प्रतियां जोधपुर पुस्तक प्रकाश तथा जैसलमेर के जैन भण्डार में संग्रहीत हैं।

इधर कुछ समय तक मारवाड़ पर मेवाड़ का राजनैतिक प्रभाव रहा था अतः कोई महाराणा मोकल के समय से लेकर सांगा के काल तक मारवाड़ की चित्रांकन परम्परा में मेवाड़ शैली के चित्र बनते रहे। मालदेव के समय में पुनः मारवाड़ शैली का स्वतन्त्र रूप देखने को मिलता है। मालदेव की सैनिक रुचि की अभिव्यक्ति चोखेला महल, जोधपुर की बल्लियों और छतों के चित्रों से स्पष्ट है जिसमें राम-रावण युद्ध तथा सप्तशती के अनेक अवतरणों को चित्रित किया गया है। "मारवाड़ शैली के प्राचीन चित्र के सम्बन्ध में

अधिक जानकारी नहीं मिलती है। पाली की रागमाला (1623 ई., कुंवर सग्रामसिंह के सग्रह में) और उपदेशमाला वृत्ति जो बालोतरा में 1634 ई. में चित्रित (राष्ट्रीय सग्रहालय दिल्ली) दोनों संभवत: वीरजी नामक चित्रकार द्वारा चित्रित की गई हैं। दोनो मे आकृतियां और रंगों का समायोजन समान है। इसी श्रेणी मे ढोला मारु (बड़ौदा-सग्रहालय) भी रख सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजराती चित्र शैली की कुछ विशेषताओं के साथ-साथ मुगल प्रभाव अधिक है। आकृतियां अपरिष्कृत हैं। उस समय दो शैलियां मुख्य रूप से प्रचलित थी। एक स्थानीय शैली जिसमें लोक में प्रचलित ढग से चित्रण किया गया था। इसमें कई कथा ग्रन्थ रागमाला आदि थे। दूसरे ढग के चित्र मे मुगल प्रभाव अत्यधिक था। इनमें राजाओं के वृत्त चित्र मुख्य रूप से थे।"[51] चन्द्रसेन, मानसिंह, बख्तसिंह, जसवन्तसिंह, अजीतसिंह, अभयसिंह और रामसिंह के शासनकाल में चित्रकला को काफी प्रोत्साहन मिला। जसवन्तसिंह एव अजीतसिंह के काल मे तो इस क्षेत्र मे सर्वाधिक प्रगति हुई।

"फरवरी 1716 ई. का एक सुन्दर चित्र कायलाणा (जोधपुर) में महाराजा अजीतसिंह के शिकार का मिला है (कुं. संग्रामसिंह-संग्रह)। इस चित्र का सयोजन मुगल प्रभाव को स्पष्टत: अंकित करता है। एक ही चित्र में कई शिकार के दृश्य अंकित हैं। राजा हाथी पर बैठकर शेर के शिकार में व्यस्त है। उनके अन्य साथी सूअर, हिरण आदि के शिकार करते हुए दिखाये गये हैं।" अभयसिंह के शासनकाल मे डालचद चित्रकार था जिसके कई चित्र कुं. सग्रामसिंह के सग्रहमें सुरक्षित हैं। नागौर का बख्तसिंह तो चित्रकला का अत्यधिक शौकीन था। उसने नागौर दुर्ग के महलों मे भित्ति चित्र बड़े ही आकर्षक एवं मनोहारी बनवाये तथा कई मुगल चित्रकारो को अपने यहां रख कर कई सुन्दर चित्र भी बनवाये थे। विजयसिंह के समय में तो मारवाड की अपनी विशिष्ट शैली पल्लवित हुई जिसकी मुख्य विशेषतायें, सोमानी के अनुसार, निम्न थीं—

1 गोल मुंह, तिरछी आंख, खुला भाल युक्त नारी चेहरे। पौरुष युक्त गोल मुंह वाले पुरुष चेहरे।

2 पुरुष चेहरों में कई मारवाड़ी परिधान पहिने और कई समकालीन मुगल जामे आदि पहने।

3 स्त्री पोशाक विशेष रूप से वर्णनीय है। लहंगे के नीचे के भाग

---

51 रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान की चित्रकला (शोध निबन्ध) पृ. 176

काफी चौड़े और फैले हुए। पुरुष पोषाक में सफेद जामों की अधिकता; रंग बिरंगी पगड़ियाँ और काली ढालें चित्र की शोभा बढ़ाते हैं।

4 मानसिंह के समय से पृष्ठभूमि में कई बहुमूल्य सजावट का प्राधान्य।

5 धर्म ग्रन्थों और बड़े-बड़े चित्रपट्टों पर कथा ग्रन्थों के अंकन का प्राधान्य।

महाराजा विजयसिंह के समय में ग्रन्थ चित्रण का कार्य अधिक हुआ था। तब अब्दुला का पुत्र फैजअली व उदयराम प्रसिद्ध चितकार थे। 1780 ई. तक चित्रकला पर मुगल प्रभाव समाप्त-सा हो गया। महाराजा मानसिंह के काल में चित्रकला की उन्नति खूब हुई तथा काफी वृत्त चित्र बने। कई ग्रन्थों को चित्रित किया गया तथा कथाओं से सम्बन्धित चित्र पट्ट बनाये गये। विशेषतः मानसिंह एवं गुरु देवनाथ से सम्बन्धित कई चित्र बनाये गये जिन्हें चित्रकार दाना भाटी, बुलाखी, शिवदास, अली, लादूनाथ, सरताज, सतिदास आदि ने बनाये थे।[52] जोधपुर के अलावा जालोर, नागोर और कुचामन भी चित्रकला के प्रमुख केन्द्र थे। नागोर के चित्रित ग्रन्थों में चौबोली री कथा, कुंवर की वार्ता, राजा रिसालु की वात, चकवा चकवी री बातों। इसके अतिरिक्त रामायण-महाभारत के चित्रित ग्रन्थ भी मिले हैं। मारवाड़ चित्रकला के अन्तर्गत कृष्ण लीला, पशु-युद्ध, विवाह उत्सव, बारात, सैनिको के प्रयाण का दृश्य, शिकार का दृश्य, दरबार, शाही शोभा-यात्रा के दृश्य, कई वीरों के चित्र यथा, पाबूजी, डूंगजी, जूझारजी आदि के चित्र, गीत गोविन्द, ढोलामारु, रागमाला के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं।

गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "जब मारवाड़ का सम्बन्ध मुगलों से बढ़ता गया तो मारवाड़ शैली का बाह्य रूप मुगली होता गया। इस अवस्था का दिग्दर्शन 1610 की भागवत से होता है। इसमें अर्जुन-कृष्ण की वेश-भूषा मुगली है परन्तु उनके चेहरों की बनावट स्थानीय है। इसी प्रकार गोपिकाओं की *वेश-भूषा मारवाड़ी ढंग की है, परन्तु उनके गले के आभूषण* मुगली हैं।" मारवाड़ शैली की प्रमुख विशेषता यह रही है कि यहाँ पर लाल व पीले रंग का प्रयोग अधिक किया जाता रहा है। 18 वीं शताब्दी के चित्रों में सुनहरी रंग का प्रयोग मुगल प्रभाव का स्पष्ट द्योतक है। मारवाड़ में अधिकांशतः भाटी वंशीय चित्रकार थे। मानसिंह के बाद तख्तसिंह के काल में चित्रकारों ने स्त्री-चरित्रों का चित्रण अधिक किया है। साथ ही इस समय के चित्रों में विलासिता अधिक नजर आती है।

---

52 वही, पृ. 178

बीकानेर—वाचस्पति गैरोला का मानना है कि "17 वी शताब्दी मे पहले बीकानेर की स्थानीय शैली का विकास नही हो पाया था । बीकानेर के राजा रायसिंहके समयकी एक सचित्र पाण्डुलिपि 'मेघदूत' प्राप्त है,जिसके चित्र चित्रकला की दृष्टि से तो हीनकोटि के हैं किन्तु बीकानेर शैली की ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करने के लिए वह बडी उपयोगी है । इस पाण्डुलिपि के चित्रों को देखकर यह ज्ञात होता है कि उस समय बीकानेर शैली अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे थी ।'' बीकानेर की चित्रांकन परम्परा मे एक ओर हमे मारवाड़ शैली का प्रभाव परिलक्षित होता है तो दूसरी ओर दक्षिण भारत का प्रभाव । क्योंकि मारवाड़ के राठौड़ शासकों से ही यह राज्य निकला था । अत: मनोवैज्ञानिक रूप से उनका एव उनके साथ के चित्रकारो का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था । इसके अतिरिक्त बीकानेर का मुगलों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर यहाँ के शासक अधिकांशत: दक्षिण मे ही रहने लगे । अत: उनकी कला पर दक्षिण का प्रभाव भी पड़ने लगा । पंजाब के निकट होने से वहां की छाप भी यहा के चित्रो में झलकती है । राजा रायसिंह (1574-1612 ई.) करणसिंह (1631-1669 ई.) एवं अनूपसिंह (1669-1698 ई.) के शासनकाल मे चित्रकला का पर्याप्त विकास हुआ । राजा रायसिंह चित्रों का बडा प्रेमी था । इसके काल मे दो प्रकार के चित्र बनने लगे । एक तो वे चित्र जो मुगल बादशाहो के यहां से आकर बीकानेर में आश्रय प्राप्त चित्रकारो द्वारा बनाये गये और दूसरे वे चित्र जो मुगल बादशाहों द्वारा इन्हें (यहा के नरेशो को) उपहार के रूप में प्रदान किये गये थे । राजा अनूपसिंह के काल मे निर्मित सुन्दर चित्रो की विपुलता को देखकर विशुद्ध बीकानेर शैली का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । इस समय के प्रसिद्ध चित्रकार रुकुनुद्दीन द्वारा निर्मित चित्र विशेष उल्लेखनीय है । वास्तव मे अनूपसिंह के शासनकाल में बीकानेर चित्रांकन परम्परा चर्मोत्कर्ष पर पहुंच गयी थी । बीकानेर मे कई चित्रकार दिल्ली एवं आगरा से भी बुलाये गये थे । अत: यहां के चित्र सम्पुटों मे हमे मुगल चित्रो की भांति बारीक रेखांकन भी देखने को मिलता है । चित्रकला मे विषय वैविध्य की दृष्टि से कई प्रकार के चित्रो को चित्रित किया गया जिनमें भागवतगीता, पौराणिक कथायें, कृष्णलीला, शिकार, कामसूत्र, रसिकप्रिया, रागमाला, आदि विशेष महत्वपूर्ण थे । बीकानेर शैली के चित्रो को देखकर यह कहा जा सकता है कि इस शैली के चित्रकार अधिकांशत: मुसलमान थे फिर भी उन्होंने शुद्ध हिन्दू विषयो पर चित्र बनाकर अपनी उदार सहृदयता एवं कला की दक्षता का परिचय दिया है । हमे कई प्रमुख चित्रकारो के नाम भी मिलते

हैं जिनमें अलीरजा, शाहदीन, हमीद, अहमद, शाहिब रशीद, रामलाल, कासिम, शाह मुहम्मद, हाशम आदि नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चित्रकार चित्रों पर अपना नाम व दिनाक भी लगाता था। 18 वी शताब्दी की चित्राकन परम्परा में स्पष्टतया मुगलिया प्रभाव झलकता है। इस संदर्भ मे फूलमहल, चन्द्रमहल, अनूपमहल, विशेष उल्लेखनीय है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार "बीकानेर शैली के चित्रो का प्रौढ रूप अनूपमहल तथा फूलमहल की सज्जा में, चन्द्रमहल तथा सुजानमहल के दरवाजो की चित्रकारी मे और रागमाला तथा बारहमासा के दृष्टान्त चित्रो मे दिखायी देता है।" यहां की शैली के चित्रो में प्राय: लम्बी चोटी, बड़ी आखें, पतली कमर, उभरा वक्षस्थल, छोटी ऊंची कसी हुई कंचुकी, रगीन घेरावदार घाघरा के साथ सुनहरी रेखाकित ओढनी ओढे स्त्री को दर्शाया गया है। सुजानसिंह (1700 ई.-1735 ई.) एवं गजसिंह (1745 ई.-1787 ई) के काल मे बीकानेरी शैली मे मुगलिया प्रभाव के स्थान पर पुन: मारवाड का प्रभाव झलकता हुआ-सा प्रतीत होता है। बीकानेर मे कई व्यक्तिगत सग्रहों मे भी यहा की चित्राकन परम्परा के विशिष्ट चित्र देखे जा सकते हैं। इस दृष्टि से सेठ मोतीचन्द खजाची संग्रह एवं अगरचन्द नाहटा के सग्रह विशेष श्लाघनीय है।

बून्दी—राजस्थानी चित्रांकन परम्परा मे बून्दी शैली का भी विशिष्ट स्थान है। यों तो बून्दी शैली में मेवाड़ शैली का प्रभाव विशेष झलकता है किन्तु राव सुर्जन हाड़ा (1554-1585 ई.) ने रणथम्भोर के घेरे के समय अकबर के समक्ष आत्मसमर्पण कर, मेवाड़ को छोड, मुगलो का सामन्त बन गया। और यों अब वह मुगलो के सम्पर्क में आया, तब से यहां की कला पर मेवाड़ शैली के साथ-साथ मुगल प्रभाव भी परिलक्षित होने लगा। सुर्जन के उत्तराधिकारियों के पास बनारस जागीर में था तब 1591 ई. मे चुनार गांव में रागमाला चित्रित की गई थी। इसमे स्त्री चेहरे कुछ विशिष्टता लिये हुए है। ऊँचे उठे हुए उरोज, फूले हुए गाल, बडी-बड़ी आँखें, फैली हुई कमर, काली चोली पहनी नारी पर्याप्त आकर्षक लगती है। 1600-1625 ई. के मध्य मे चित्रित कई रेखाकन मिले हैं जो चुनार रागमाला मे मिलते हैं। राव सुर्जन के पौत्र राव रतनसिंह (1607-1631 ई.) से जहांगीर काफी प्रसन्न था। उसने राव रतनसिंह को सरबुलदराय रासराज का उच्च खिताब दिया और मुगल सेना के साथ दक्षिण मे भेजा। अत: इसके काल में हमें बून्दी की चित्रकला में दक्षिणी प्रभाव नजर आता है। रावत रतन के समय भागवत को चित्रित किया गया था। सोमानी के अनुसार "इसमें कई दृश्य एवं मानव आकृतियां प्रान्तीय मुगल शैली मे चित्रित रामायरण से मिलती हैं।

स्थापत्य भी मुगल है किन्तु इसमें बूंदी शैली के कई ऐसे तत्व मौजूद हैं जो कालान्तर में जाकर उस चित्र की पहचान के लिए आवश्यक हो गये थे। इसमें वृक्ष, झील, कमल, आदि का चित्रण बून्दी शैली के अनुरूप है।" राव रतन के कई वृत्त चित्र भी मिले हैं। नि.संदेह 1640 ई. तक बून्दी शैली पर मुगल प्रभाव स्पष्ट रूप से नजर आता है। परम्परानुसार इसके पौत्र शत्रुसाल (1631-1658 ई.) ने भी चित्रकारों को अपने दरबार में आश्रय दिया।[53] 17 वीं शताब्दी में बून्दी ने चित्रकला के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की। यहां प्रारम्भिक चित्रों में 1625 ई. का 'रागमाला' जो भारतकला भवन बनारस में संग्रहीत है तथा म्यूनिसिपल म्यूजियम इलाहाबाद में सुरक्षित 'भैरवीरागिनी' चित्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इन चित्रों की शैली में मेवाड़-मुगल शैलियों का सुन्दर सम्मिश्रण नजर आता है। विशेषत: स्त्रियों के चेहरे एवं वेशभूषा मेवाड़ी शैली की है तो गुम्बज का प्रयोग एवं बारीक कपड़े मुगलिया प्रभाव के द्योतक हैं। यों भी देखा जाय तो 'रागमाला' एवं 'रागिनी भैरवी' चित्र संभवतया राव रतनसिंह के काल में तैयार किये गये थे। रतनसिंह पर जहांगीर की पूर्ण कृपा थी। अत: इस दृष्टि से यदि इन चित्रों पर जहांगीर के समय की मुगल कला का प्रभाव सुस्पष्ट दीख पड़ता है तो कोई अत्युक्ति नहीं। वैसे इनमें पटोलाक्ष (Padol-shaped), तीखी नाक, मोटे गाल, छोटा कद तथा लाल पीले रंग की अधिकता स्थानीय विशेषताओं को लिये हुये है। रंग विन्यास की दृष्टि से ये चित्र भले ही साधारण है, किन्तु प्रभावोत्पादक है। चित्रकार ने बड़े परिश्रम के साथ पेड़ तथा पशु पक्षियों को काफी सुघरे हुए रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है जो बूंदी के अतिरिक्त राजस्थान की किसी भी अन्य शैली के प्रारम्भिक रूप में हमें देखने को नहीं मिलता है।[54]

इनकी चित्रकला के विषयों में शिकार, सवारी, रासलीला, नहाती हुई नायिका, उत्सव, प्रकृति के विविध स्वरूपों का मनोहारी चित्रण, घने जंगलों में विचरण करते शेर, हाथी, हिरण, गगन में उड़ते पंछी, पेड़ों पर फुदकते बन्दर, गर्मियों में जल क्रीड़ा करते हाथी आदि रहे हैं। श्रावण भादों में नाचते हुए मोर बून्दी की चित्रांकन परम्परा में सर्वाधिक अनुपम एवं सुन्दर बन पड़े हैं। 17 वीं सदी के चित्रकारों में मोहन चतोरा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'रसिकप्रिया' केसवदास की चित्रित की गई है। बून्दी शैली

---

53 प्रमोदचन्द, बून्दी पेन्टिंग (ललितकला अकादमी)।

54 वही।

मे दृश्य चित्र अधिक यथार्थ बन पडे है। रंग-विन्यास की दृष्टि से सुन्दर गहरे रंगों से चित्रो को चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया है। नारियो के चित्र भी बड़े लुभावने-से प्रतीत होते है जैसे तीखी नाक, पतली ठोडी, पतली कमर, बादाम की-सी आंखें इस सदर्भ मे देखी जा सकती है। स्त्रियो के चेहरे छोटे व गोल हो गये, गालों की गोलाई दिखाने के लिए आंख के नीचे व नाक के पास छाया का प्रयोग किया जाने लगा जो मेवाडी शैली में कही नही आते हैं। बून्दी चित्रकला की यह एक विशेषता रही है कि चेहरे लाल भूरे (Reddish-brown) रंग मे दिखाये गये है।

स्त्रियो की पोशाक मे घाघरा, छोटी चोली, पटका, ओढनी प्रमुख वस्त्र थे जो मुगल प्रभ व लिये हुये है। स्त्रिया लाल पीले वस्त्र अधिक पहिने हुई दिखाई गई हैं। इतना ही नही नाक, कान, गले एव हाथो मे मोती के जेवर पहिना कर चित्रकार ने चित्रो की सजीवता को सुस्पष्ट किया है।

पुरुषों की वेशभूषा में अटपटी पगडी, चमकदार जामे, चोडा पटका, पारदर्शी घेरदार जामा (जिनकी किनारियों पर मोती लगे होते थे) के पहनाव से मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। किन्तु अटपटी पगडी (Cylindrical) बून्दी शैली की अपनी विशेषता है।[55] इस शैली की सर्वाधिक विशेषता भू दृश्य (Landscape) हैं। चित्रों मे कदली, आम्र व पीपल के वृक्षो के साथ-साथ फूल-पत्तियों की बेलो एवं पशु-पक्षियो को चित्रित करना परम्परा-सी हो गई थी। इन चित्रो मे लाल और सफेद फूल अधिक दर्शाये गये है। हरे भरे पहाड़, घनी वनस्पति, चिडियायें, कमल, पानी मे तैरती बतकें, मछलियां आदि परम्परागत फीचर्स भी बताये गये हैं। चित्र के ऊपर पेडों की पंक्तिया बताना एवं नीचे पानी, कमल, बतकें आदि चित्रित करना बून्दी चित्रकला की एक विशेषता हो गई थी। जी. एन. शर्मा का मानना है कि चित्रों मे "बाग, फव्वारे, फूलों की कतार, तारों की रातें आदि का समावेश मुगली ढग से किया जाने लगा।" सरोवर एव नदियों के पानी को प्राय: लहरों के ढंग से दिखाया गया है तो आकाश को नीले रग के गढ्ढों से किन्तु चित्रांकन परम्परा का यह रूप बाद मे बदलता हुआ-सा प्रतीत होता है। अब धूल से आच्छादित गगन को दिखाने हेतु नीले, भूरे, नारंगी एवं सिन्दूरी रंगों का सम्मिश्रण किया जाने लगा जो बून्दी चित्रकला की एक और विशेषता बन गई। 17 वी शताब्दी के अन्त मे बून्दी शैली पर दक्षिणी

---

55 वही।

प्रभाव झलकता है। उस समय तक बून्दी शैली मे निम्नांकित विशेषतायें परिलक्षित होने लगी थी।[56]

1 पुरुष आकृतियां लम्बी और पतली एवं स्त्री आकृतियों के मुंह गोलाई लिये हुए है एव इनकी कमर बहुत पतली है।

2 चमकीले रंगों का प्रयोग यद्यपि मेवाड़ का प्रभाव प्रदर्शित करता है किन्तु चित्रकार ने इन्हे बून्दी शैली मे बड़ी कुशलता से सजाया है। हिंगलू रंग के स्थान पर केशरिया रंग का आधिक्य मिलता है।

3 चौकोर बने भवनों का पृष्ठ भूमि मे बनाना।

4 चित्रों के नीचे के भाग में प्रायः जल, कमल, बतख और पृष्ठभूमि मे सघन वनस्पति (Lush-vegetation) केले के पेड़ आदि का चित्रण मिलता है।

5 रानी के गले में हाथ डाले हुये या बाहुपाश मे बांधे हुये दृश्य बून्दी शैली मे ही आरम्भ किये गये थे। आगे चलकर अरिसिंह के समय मेवाड़ मे भी प्रचलित हुये थे।

1680 ई. के आसपास बून्दी शैली का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। 18 वीं शताब्दी मे बून्दी शैली का प्रवाह नजर आता है। किन्तु उत्तरार्द्ध मे ढलती हुई-सी प्रतीत होती है। अन्य रियासतों की भांति बून्दी के राजमहलो तथा अन्य विशिष्ट हवेलियो में भी सुन्दर भित्ति चित्रों को देखकर उपर्युक्त शैली का आकलन किया जा सकता है।

कोटा—1628 ई. मे शाहजहां ने बून्दी के शासक शत्रुसाल के भाई माधवसिंह को कोटा की जागीर प्रदान की। तब से कोटा, हाड़ाओं का एक पृथक राज्य बन गया। कोटा-बून्दी के बीच राजनैतिक झगड़े चलते रहते थे किन्तु कोटा मे जब राजनैतिक स्वतंत्रता स्थापित हो गई तब से चित्रकला के क्षेत्र मे एक नवीन शैली का उद्भव एवं विकास होता है जो बून्दी शैली के आधार पर ही चलती है। बून्दी चित्रकला में नायिका के स्नान का जो तलस्पर्शी चित्र बन पड़ा उसकी नकल जालमसिंह की हवेली के भित्ति चित्रों में देखी जा सकती है। स्पष्ट है कि कोटा-शैली कभी भी बून्दी शैली से विलग नहीं हो सकी थी। उधर जब बून्दी मे राजनैतिक उतार-चढाव आये तब भी वहाँ के चित्रकारों ने कोटा में आकर ही शरण ली। अतः कोटा-शैली पर बून्दी-शैली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। चित्रों के विषय निम्नलिखित रहे हैं—शिकार के मनोहारी दृश्य, दरबार के दृश्य, धार्मिक कथाओं

---

56 रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान की चित्रकला (शोध निबन्ध), पृ. 169

के दृश्य, भित्ति चित्र आदि। रामसिंह प्रथम के समय कुछ चित्र बने जिसमें "दरीशिकार का दृश्य (1700 ई. के लगभग) चित्र में कई उल्लेखनीय बातें हैं। पृष्ठ भूमि में सघन वनस्पति का चित्रण, डरे हुये हिरणों का चित्र एवं अन्य विविध चित्रण से पता चलता है कि कोटा शैली बून्दी से परिवर्तित होकर एक नया रूप ले रही है।" राव दुर्जनशाल, अजीतसिंह, छत्रशाल चित्रकला के प्रेमी थे। उस समय तक कोटा शैली में स्त्री पात्रों के मुख गोल, आँखें बड़ी, खुला भाल, पृष्ठ भूमि में सघन वनस्पति, चौकोर भवन, घुमड़ते बादलों की घटा, गहरे चमकीले रगों का प्रयोग आदि विशेषतायें जुड़ती गई।[57]

18 वी शताब्दी के बाद रामायण, भागवत, पुराण, रागमाला आदि के चित्रित स्वरूप देखे जा सकते हैं। 18 वी से 20 वी शताब्दी के बीच कोटा में चित्रकला का बहुत विकास नजर आता है। रामसिंह द्वि. (1827-1865 ई.) के काल के चित्रों पर मुगल शैली का प्रभाव सुस्पष्ट नजर आता है। रंग विन्यास की दृष्टि से काला, नीला, लाल व हरा रंग विशेषतः काम में लिये जाते थे। कोटा-महाराजा के निजी संग्रह के अतिरिक्त कोटा शैली के चित्रों में सरस्वती भंडार में सुरक्षित 'कादम्बरी', 'हितोपदेश' विशेष महत्व रखते हैं। दीवान बहादुर सेठ केसरीसिंह के संग्रह में भी कई महत्वपूर्ण ऐतिहासिक चित्रों के साथ रागमाला, बारहमासा तथा अन्य धार्मिक चित्र सम्पुटों को देखा जा सकता है।

जयपुर––राजस्थानी चित्रकला में जयपुर शैली अपने ढंग से अनूठी रही है। 1562 ई. से आमेर मुगलों के काफी निकट सम्पर्क में आ गया। अतः यहाँ की चित्रांकन परम्परा में सर्वाधिक मुगल प्रभाव झलकता है। यहां के चित्रों में रास मंडल, गोवर्द्धन धारण, गोवर्द्धन पूजा, बारामासा आदि के चित्र सम्पुट उल्लेखनीय हैं। राजा मानसिंह के काल के भित्ति चित्रों में बारामासा, रागमाला, भागवत पुराण को चित्रित किया गया है। जयपुर के राजप्रासाद संग्रहालय में तत्कालीन 'भागवतपुराण' चित्रित ग्रन्थ भी सुरक्षित है। मिर्जा राजा जयसिंह कालीन लोक शैली पर आधारित लघु चित्र प्राप्त होते हैं। जी. एन. शर्मा के मतानुसार, "पोथीखाने के आसावरी रागिणी के चित्र और उसी मडली के अन्य रागों के चित्रों में स्थानीय शैली की प्राधान्यता दिखाई देती है। कलाकार ने आसावरी रागिणी के चित्र में शबरी के केशों, उसके अल्प कपड़ों, आभूषणों तथा चदन के वृक्ष के चित्रण में जयपुर शैली

---

57 वही, पृ. 184

की प्राचीनता को तथा वास्तविकता को खूब निभाया है। जयपुर शैली में आभूषणों में मुगली प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। स्त्रियों की वेशभूषा में घेरदार घाघरा ऊपर से बांधा जाता है और स्त्रियों को पायजामा तथा छोटी ओढनी पहनाई जाती है, जो मुगली परम्परा के अनुकूल है।" सवाई जयसिंह के काल में अन्य कलाओं के साथ चित्रकला भी खूब पनपी। तब बिहारी सतसई को चित्रित किया गया। साहिबराय तथा मुहम्मद शाह उसके समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे। औरंगजेब के समय कई प्रसिद्ध चित्रकारों ने जयपुर में आकर प्रश्रय लिया। सवाई ईश्वरीसिंह के समय में व्यक्ति चित्र, प्रकृति चित्र, शिकार चित्र, हाथी की लड़ाइयों आदि के चित्र खूब बनाये गये थे। साहिबराम, लालचन्द आदि चित्रकार इसके दरबार को सुशोभित करते थे। तब 1750 ई के लगभग का गंगवाना युद्ध का दृश्य का चित्र कुं. संग्रामसिंह के संग्रह मे सुरक्षित है। माधोसिंह के शासनकाल में भी चित्र कला का अच्छा विकास हुआ। तोजी भाइयों के अनुसार तब कई रागमालाएँ तथा वृत्त चित्र बनाये गये थे। सवाई पृथ्वीसिंह के शासन काल मे हीरानन्द व त्रिलोक चित्रकार ने इस राजा का 1778 ई. में आदम चित्र बनाया। प्रतापसिंह स्वय सगीतज्ञ एवं चित्रकार था। अत: चित्रकला की सर्वाधिक वृद्धि हुई। उसने कृष्णलीला, नायका भेद एव रागों से सम्बन्धित चित्रों को चित्रित किया। तब चित्रों में हरे, गुलाबी, भूरे, पीले रंग विशेष दृष्टव्य हैं। यों उसके शासन काल को 'चित्रकला का युग' कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। जयपुर शैली के कई चित्रकारों में हीरानन्द, गोविन्द, रामजीदास, घासी, गोपाल, रामू, सालिगराम, चिमना, लक्ष्मण, रामसेवक आदि प्रमुख थे। 19 वीं शताब्दी के बीच जयपुर शैली की यह समृद्ध परम्परा निर्बल होती हुई-सी प्रतीत होती है फिर भी सवाई जयसिंह द्वि, रामसिंह द्वि, माधोसिंह द्वि. के काल में चित्र बनते रहे। जयपुर शैली के इन चित्रों का प्रभाव हमें करौली, भरतपुर, टोंक एवं अलवर की कला पर भी देखने को मिलता है।

जयपुर के राजप्रासादों एवं प्रमुख हवेलियों में भित्ति चित्र देखे जा सकते हैं। उपर्युक्त शैली के चित्र जयपुर महाराजा के निजी संग्रह के अतिरिक्त कई संग्रहों में सुरक्षित हैं जिनमें नवलगढ़ कुं. संग्रामसिंह का संग्रह विशेष उल्लेखनीय है।

किशनगढ़—जयपुर-अजमेर के मध्य किशनगढ़ का छोटा-सा राज्य अपनी चित्रांकन परम्परा के लिए अनुपम स्थान रखता है। इस राज्य को जोधपुर के राजा उदयसिंह के आठवें पुत्र किशनसिंह ने 1575 ई. में स्थापित

किया। किशनसिंह वल्लभाचार्य संप्रदाय में विश्वास रखता था। अतः बाद में भी यही परम्परा चलती रही और यहाँ की कला, साहित्य, संगीत, नृत्य आदि पर इस सम्प्रदाय का सुस्पष्ट प्रभाव झलकता रहा। किशनसिंह के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सहसमल (1615-1618 ई.) किशनगढ़ की गद्दी पर बैठा। इसके समय से चित्रकला का विकास शुरू हो जाता है। दरबार रिकॉर्ड से ज्ञात होता है कि 1722 ई.में भवानीसिंह नामाङ्कित चित्रकार था। महाराजा रूपसिंह (1643-1658 ई.) से लेकर अब तक के शासक चित्रकला के महान संरक्षक रहे हैं। कुछेक तो संगीतज्ञ एवं चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध थे। किशनगढ़ के शासकों की कृष्ण के प्रति सर्वाधिक श्रद्धा होने के कारण ही यहाँ वैष्णव धर्म से सम्बन्धित चित्रों की बाहुल्यता नजर आती है। 17 वीं शती के अंत तक किशनगढ़ चित्रकला का एक अच्छा केन्द्र बन गया था। राजा मानसिंह (1658-1706 ई.) के शासनकाल में किशनगढ़ दरबार में कुशल चित्रकार कार्य कर रहे थे। मानसिंह न केवल चित्रकला से प्रेम ही करता था अपितु स्वयं भी एक कुशल चित्रकार था। तब दिल्ली से आया मूलराज राजा मानसिंह का दीवान था जो एक प्रसिद्ध कलाकार था। इसका पुत्र भीकचन्द भी एक कुशल कलाकार था। अतः चित्रकला को बढ़ावा मिलना स्वाभाविक ही था। इस समय के चित्रों को देखकर यह कहा जा सकता है कि 17 वीं शताब्दी में चित्रों को फैलाये हुए या बढ़े हुए रूप में दिखाना किशनगढ़ शैली की एक विशेषता हो गई थी।

18 वीं शताब्दी में किशनगढ़ शैली अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। 1740 ई. के लगभग किशनगढ़ शैली की निम्नांकित विशेषताएं बन गई थी।[58]

1 "पुरुष और नारी आकृतियां अपेक्षाकृत लम्बी एवं पतली, इनमें कंठ का भाग निकला हुआ स्पष्टतः दिखाई देता है।

2 बनी ठनी की आकृति वाले (सावंतसिंह को 1740 ई. के करीब बनी ठनी नामक एक स्त्री से प्रेम हो गया था) स्त्री चेहरे एक प्रतिमान के रूप में प्रसिद्ध हुए। बादाम की शक्ल की आंख जिसका एक भाग अत्यन्त नुकीला, भौंहें ऊपर उठी हुई, बाल गहरे काले जिनकी कुछ लटें चेहरे पर आती हुई, नाक एवं ठोड़ी नुकीली है। मोहकता एवं मादकता को प्रदर्शित करता हुआ चेहरा।

---

58 वही, पृ. 180-81

3 पृष्ठ भूमि मे हरे रंग का प्राधिक्य । दृश्यो का संयोजन एक विशिष्ट शैली के अनुरूप किया गया है । महल, बाग, झील आदि को मुख्य रूप से पृष्ठ भूमि मे प्रदर्शित किया गया है । पृष्ठ भूमि मे हरे रंग का प्राधिक्य एवं मुख्य दृश्य में विभिन्न रंगों के वस्त्रो से सजी नारियां एवं पुरुष चित्र को अत्यन्त मोहक बना देते हैं ।

4 चित्रो की विषय वस्तु मुख्य रूप से कृष्ण लीला से सम्बन्धित है । यो शाहनामा भी चित्रित किया गया है किन्तु जो कला-कौशल कृष्ण भक्ति के चित्रों में प्रदर्शित किया है वह विशिष्ट है ।

महाराजा सावंतसिंह (1748-1764 ई.) जो नागरीदास के नाम से अधिक जाना जाता है, का समय किशनगढ शैली का चर्मोत्कर्ष काल था। वह स्वयं एक महान कला पारखी एवं चित्रकार था । चित्रकला मे किशनगढ़ शैली की दृष्टि से यह युग स्वर्णकाल कहा जा सकता है ।

किशनगढ दरबार के संग्रह में कोई चार चित्र ऐसे संग्रहीत हैं जिन पर लिखी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ये चित्र स्वयं सावंतसिंह द्वारा अल्पायु में ही बनाये गये थे । स्पष्ट है कि सावंतसिंह को बचपन से ही चित्रकला से बड़ा अनुराग था । दस वर्ष की उम्र में सावंतसिंह ने पागल हाथी पर नियंत्रण किया, उसका चित्र किशनगढ़ दरबार के संग्रह मे सुरक्षित है । निहालचन्द जैसा सुप्रसिद्ध चित्रकार इसी के युग मे हुआ था । वह अपने पिता भीकचंद एवं पितामह मूलराज के पद चिन्हों का अनुसरण करते हुए किशनगढ़ दरबार को सुशोभित कर रहा था । उसने नागरीदास एवं उसकी प्रेयसी बनी-ठनी को कृष्ण एवं राधा के रूप में चित्रित किया । निहालचन्द के समय के चित्रों में भावात्मकता की सूक्ष्मता, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, दृष्टि का पैनापन व मानवरूप की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है । श्रीमद् भागवत, रसिकप्रिया, बिहारी सतसई के चित्रित ग्रंथ, पशु-पक्षियो, वृक्षों, झीलो, कृष्ण लीलाओ, सूरदास एवं केशवदास की अभिव्यक्तियों का चित्रित स्वरूप वस्तुत: देखते ही बनता है ।[59] सावंतसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराजा सरदारसिंह (1764-1766 ई.) ने निहालचन्द को दरबार में काफी उच्च स्थान प्रदान किया और उसे चित्र बनाने के लिये दरबार मे स्वर्ण वर्क मिलते थे ।

18 वीं शताब्दी के चित्रकारो में निहालचन्द का नाम तो सर्वाधिक प्रसिद्ध है ही किन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई प्रसिद्ध चित्रकारों के नाम मिलते हैं जिन्होने सैकड़ों चित्र बनाकर चित्रकला के क्षेत्र मे किशनगढ़ शैली

---

59 कार्ल खंडालवाला, किशनगढ़ पेन्टिंग, पृ. 14

का अनुपम स्थान सुरक्षित किया। अमरचन्द, भैंवराज, सीताराम, बदनसिंह, कल्याणदास, अमरु, सूरजमल, नानगराम, सूरतराम, रामनाथ, सवाईराम आदि किशनगढ़ कला-केन्द्र के प्रसिद्ध चित्रकार थे। महाराजा कल्याणसिंह के शासनकाल में 'गीत गोविन्द' 1820 ई. में लाडलीदास द्वारा चित्रित किया गया था।[60] 1820 ई. के पश्चात् पुरुष आकृतियां लम्बी और पतली के स्थान पर पौरुष युक्त, बड़ी मूँछों वाली बनाई गई हैं। 1817 ई. में चित्रित एक विज्ञप्ति पत्र (देहलाणा उपाश्रय अहमदाबाद) में किशनगढ़ शैली का सुन्दर अंकन हुआ है। यह विज्ञप्ति पत्र किशनगढ़ से प. रूप विजयजी के पास अहमदाबाद भेजा गया था। इसमें प्रकृति प्रेम, रंगो का संयोजन आदि किशनगढ़ की शैलीगत विशेषतायें हैं किन्तु पुरुष आकृतियों में परिवर्तन दिखाई देता है।[61]

निहालचन्द एवं अन्य चित्रकारों द्वारा चित्रित चित्रों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि किशनगढ़ शैली के चित्रों में हमें संगमरमर के घने मंडप, घने हरे वृक्षों से आच्छादित वृंदावन के जंगल, आम्र वृक्षों पर फुदकते बन्दर, कदली एवं आम्रकुंज, आकाश में छिटके तारे एवं चन्द्रमा, बाग, बगीचों में विचरण करते राधा-कृष्ण, यमुना में नौका विहार, ग्रीष्मकालीन चादनी रात में नहाती हुई स्त्रियां, पानी के विभिन्न प्रकार के कुण्डों में जल क्रीड़ा करती स्त्रियां दिखाई गई हैं।

किशनगढ़ शैली के चित्रों की यह विशेषता है कि इनमें त्रि-परिकोणात्मक प्रभाव (Three dimensional effect) नजर आता है। पशु पक्षियों का हृदयग्राही विचरण भी चित्रों में देखते ही बनता है। मयूर, काले पीले परों वाले पक्षी, हरे और लाल तोते, हिरण के जोड़े बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित किये गये हैं। जी. एन. शर्मा का मत ठीक ही है कि कला, प्रेम और भक्ति का सर्वांगीण सामंजस्य हमें किशनगढ़ शैली में देखने को मिलता है।

स्त्री चित्रण में लम्बा कद, लम्बा चेहरा एवं लम्बी वेणी, नुकीली नाक, पतले ओंट, लम्बी विशाल फांकों की-सी आंखें, उत्तुंग वक्षस्थल पर गहन कंचुकी एवं बारीक ओढनी दिखाई गई है। इस संदर्भ में निहालचन्द द्वारा चित्रित राधा का चित्र विशेष उल्लेखनीय है। रंगों की दृष्टि से प्राय: हरा, नीला, गुलाबी, भूरा, सफेद, सुनहरा रंग अधिक काम में लिये जाते थे। आकाश नीला, फर्श हरा और मंडप अथवा इमारतें सफेद दिखाई गई हैं।

---

60 वही, पृ. 16-18

61 रामवल्लभ सोमानी, राजस्थान की चित्रकला (शोध निबन्ध), पृ. 182

पीले, गहरे हरे एवं नारंगी रंगों की बाहुल्यता भी दिखाई देती है। वाचस्पति गैरोला के अनुसार "किशनगढ़ शैली के चित्रों में रंगों की सुयोजना, वस्त्रों की सज्जा, परिधानों और मोती-हीरों के चित्रण का अनुपम सौंदर्य दर्शित हैं।" मोतियों का भव्य चित्रण किशनगढ़ शैली की एक अन्य विशेषता है।

निहालचन्द एवं सावन्तसिंह द्वारा प्रारम्भ की गई किशनगढ़ शैली की उपर्युक्त उन्नत परम्परा बाद में भी चलती रही जिसे हम 'पिछवाई' पर देख सकते हैं किन्तु उस महान युग की-सी समृद्धता एवं सुन्दरता दृष्टिगत नहीं होती है।

अलवर—अलवर शैली कोई विशेष पुरानी नहीं है। यहां की शैली पर मुगल प्रभाव एवं जयपुर कलम का प्रभाव काफी दृष्टिगत होने पर भी चित्रांकन परम्परा में एक विशिष्ट स्थान सुरक्षित रखती है। इस राज्य के संस्थापक प्रतापसिंह नरुका के काल में ही चित्रकला को संरक्षता नजर आती है। इसके बाद बख्तावरसिंह के काल में भी चित्रकला को पूर्ण प्रोत्साहन मिला। इन दोनों के शासन काल के महान चित्रकारों में डालचन्द, बलदेव और सालिगराम के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डालचन्द जितना राजपूत शैली में पारंगत था उतना ही बलदेव मुगल शैली में। विजयसिंह के समय में चित्रांकन परम्परा के क्षेत्र में सर्वाधिक उन्नति हुई। बलदेव चित्रकार के प्रति इसकी इतनी श्रद्धा थी कि उसे दरबार में एक सामन्त की तरह सम्मान दिया गया। गुलामअलीखां एवं बलदेव ने इसी काल में शेखसादी की गुलिस्तां को चित्रित किया था जिसमें वेनी गुप्ता के मतानुसार इण्डो-पर्शियन शैली का सहारा लिया गया। तिजारा ठिकाने का जागीरदार बलदेवसिंह भी चित्रकला का बड़ा शौकीन था। इसके प्रश्रय में जमनादास, छोटाराम, बलेशराम, नन्दराम आदि चित्रकार थे। तिजारा में चित्रित दुर्गासप्तशती एवं अन्य महत्वपूर्ण चित्र अलवर म्यूजियम में सुरक्षित हैं। शिवदानसिंह एवं मंगलसिंह के समय भी चित्रकला बड़ी उन्नत दशा में थी। इस काल के चित्रकारों में मगलसेन, बुद्धराम, नन्दराम के नाम विशेष स्मरणीय हैं। विभिन्न भाव-भंगिमाओं के नृत्य चित्र, शिकार चित्र, पशुओं के चित्र आदि तैयार किये गये थे।[62] घुटाई फ्रेस्को में भित्ति चित्र भी बनाये गये थे। सोने के रंग का प्रयोग बहुतायत के साथ करते थे। आज भी अलवर में कई निजी हवेलियों में स्वर्ण-पॉलिश चित्रांकन को देखा जा सकता है।

---

62 जनरल ऑफ दी राजस्थान हिस्टोरिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जि. 14, अंक 3, पृ. 7-8

यों राजस्थान के विभिन्न राज्यों में पुष्पित एवं पल्लवित चित्रकला ने अपनी शैलीगत विशेषताओं के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर न केवल राजस्थानी चित्रांकन परम्परा में अपितु भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान सुरक्षित कर लिया।

शिक्षा एवं साहित्य—हमारी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में शिक्षा का पूर्ण हाथ रहा है। शिक्षा मनुष्य को अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने में सहायक होती है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत राजस्थान की संस्कृति अपना विशिष्ट महत्व संजोये हुए है जिसका श्रेय यहां की शिक्षा को ही दिया जा सकता है। वस्तुत: राजस्थान में वैदिक कालीन परम्परा के अनुसार ही शिक्षा दी जाती थी जिसमें पढने लिखने के साथ-साथ धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण स्थान होता था ताकि विद्यार्थी अपने स्वयं के हित के साथ-साथ अपने समाज एवं देश के प्रति भी भक्ति-भाव रखते थे।

शिक्षा के विभिन्न केन्द्र—शिक्षा का प्रारम्भिक केन्द्र परिवार था जहां पिता अपने पुत्र को शिक्षा दिया करता था। वह स्वयं अपने पुत्रों के लिए पुस्तकों की प्रतिलिपियां तैयार करता था। व्यावसायिक क्षेत्र में भी पिता का पूर्ण प्रयत्न अपने पुत्र को वंशानुगत धन्धे में दक्ष कराने से रहता था।

शिक्षा का अन्य केन्द्र आश्रम थे जहां शिष्य गुरु के पास रह कर विद्या-र्जन करता था। एकलिंग महात्म्य में सोम शर्मा का वर्णन आया है जो अपने घर पर ही शिष्यों को विद्या देता था। इसी मे भृगु आश्रम का जिक्र भी मिलता है। जोधपुर के महाराजा गजसिंह का पुत्र भी आश्रम में ही पढ़ा था।[63]

राजा-महाराजाओं ने कुछ ब्राह्मण-पण्डितों को गांव भी दे रखे थे जो पढ़ने एवं पढाने के स्थान बन जाते थे। जैनियों के उपासरे भी विद्या के केन्द्र थे जहां अधिकतर धार्मिक एवं सदाचार की शिक्षा दी जाती थी। इसी तरह से मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे। जयानक के वर्णन से ज्ञात होता है कि 12 वीं शताब्दी के अन्त तक अजमेर के हर कोने में मठ या पाठशालायें थीं।[64] उदयपुर का सवीना खेडा का मठ व जैसलमेर का कौशिकराम-मठ शिक्षा प्रचार के केन्द्र रूप मे प्रसिद्ध थे। राज्य में प्रारम्भिक शिक्षा के लिए कुछ स्थानीय संस्थाओं के रूप मे जो शिक्षणालय थे उन्हें पाठशाला, पोसाल, नेसाल, चोकी आदि नामो से प्रयुक्त किया जाता था। सोमकवि ने राणकपुर

---

63 जो. एन. शर्मा, सो. ला. इ. मे. रा., पृ. 268

64 दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ. 290

में तथा मानकवि ने राजनगर में इस प्रकार की पाठशाला का वर्णन किया है।

महाविद्यालय स्तर की शिक्षा का बड़ा केन्द्र चौहान शासकों के काल में अजमेर था। विग्रहराज चतुर्थ ने इस सरस्वती मन्दिर की स्थापना की जिसे कुतुबुद्दीन ने तोड़ कर मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया। जैन ग्रन्थों से पता चलता है कि तब चित्तौड़ भी शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसी तरह से भीनमाल ब्राह्मणों शिक्षा का तथा आबू तान्त्रिक विद्या का केन्द्र था।

पोशाक, आयु एवं छुट्टियाँ—विद्यार्थी सादी पोशाक पहिनते थे। प्राय: पांच वर्ष की अवस्था मे विद्यार्थी पढ़ाई शुरू कर के 15 अथवा 18 वर्ष की आयु तक पूर्ण कर लेते थे। शिक्षा के लिए छात्र की भर्ती में कोई निश्चित नियमावली नहीं थी। तब प्राय: छुट्टियाँ नहीं के बराबर होती थी। राष्ट्रीय पर्वों, पूर्णिमा और अमावस्या की छुट्टी होती थी। अष्टमी के दिन पहले के पढ़े अध्यायों का दोहरान कराते थे।

परीक्षा प्रणाली—दशरथ शर्मा ने बताया है कि तब आज की भांति परीक्षा नहीं ली जाती थी। गुरु अपने शिष्य को पारंगत करने के बाद उसे राजदरबार में शास्त्रार्थ हेतु भेजता था। शास्त्रार्थ के दौरान यदि वह शिष्य जीत जाता तो उसे सफल माना जाता था और उसे जयपत्र मिलता अन्यथा हारने पर उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था। शिष्य के शास्त्रार्थ में विजयी होने पर गुरु को अपने परिश्रम की सार्थकता पर अपार प्रसन्नता होती थी। समय समय पर गोष्ठियों मे विद्वता की परीक्षा होती रहती थी। अत: लोग अपने अध्ययन में निरन्तर रत रहते थे ताकि कभी भी किसी भी समय शास्त्रार्थ करना पड़ जाय तो उसमे वे विजयी रहें। विद्वान लोग तो इतना गहन अध्ययन करते थे कि एक ही विषय का ज्ञान प्राप्त करने में अपना पूरा जीवन होम देते थे। इस प्रकार से तत्कालीन परीक्षा-प्रणाली व्यक्ति को बराबर विषय से जोड़े रखती थी।

शिक्षा के विषय एवं उपाधियां—शिक्षा के निर्धारित विषयों में यों तो साधारणतया भाषा पढ़ना-लिखना तथा गणित सीखना था किन्तु इनके अतिरिक्त विशिष्ट विषय भी थे यथा—वेद, शास्त्र नीति, ज्योतिष, मीमांसा, पुराण, कर्मकाण्ड, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा आदि। राजकुमारों को वेद, तर्कशास्त्र, धर्म-शास्त्र, राजनीति एवं संगीत से अभिहित कराया जाता था। इन्हें शस्त्र विद्या भी सिखाई जाती थी। पढ़ना व पढ़ाना प्राय: व्याख्यान, वाद-विवाद, तर्क-वितर्क द्वारा होता था। लिखने मे लकड़ी की तख्ती का उपयोग किया जाता था जिस पर विद्यार्थी काजल की स्याही के

घोल अथवा खड़ी के घोल से लिखने का अभ्यास करते थे। पुस्तकें कागज पर लिखी जाती थीं। पंडित, उपाध्याय, महामहोपाध्याय, आचार्य आदि उपाधियां दी जाने का उल्लेख भी मिलता है। ये उपाधियां उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों को उनकी योग्यता के अनुरूप दी जाती थी। इसी तरह कविता करने वाले को कवि, प्रतिष्ठा प्राप्त कवि को कविराज तथा कोटा में विद्वानों को गुणीजन की उपाधि दी जाती थी। वास्तव मे उपाधियां अद्वितीय प्रतिभावान छात्रों को ही प्रदान की जाती थी, जैसे आचार्य उपाधि हजारों में एक को मिलती थी। इस प्रकार से विद्वानो को उनकी विद्वता के अनुरूप उपाधि प्रदान कर उनकी महानता को स्वीकार किया जाता था।

स्त्री शिक्षा—जहां तक स्त्री शिक्षा का प्रश्न है राजस्थान पिछड़ा हुआ ही था। प्राय: उच्च घराने की लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी, उन्हें वृद्ध पुरुष प्राय: उनके घर अथवा महलों पर ही पढ़ाने जाते थे। मध्यकालीन राजस्थान की शिक्षित लड़कियों में देलवाड़ा की राजकुमारी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। पुराअभिलेखागारीय सामग्री, शाहपुरा राज्य की ख्यात (अप्रकाशित) खण्ड 2-3 एव बनेड़ा अभिलेखागार के पत्रो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उच्च कुलोत्पन्न स्त्रियों द्वारा लिखित कई पत्र प्राप्त होते हैं जिससे स्पष्ट है कि 18 वी शताब्दी में स्त्री शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था थी। किन्तु साधारण स्त्रियां प्राय: निरक्षर ही थी। मध्यमवर्ग की कुछ बालाएं लड़कों के साथ पढ़ने जाती थी किन्तु उनकी पढ़ाई शीघ्र ही छुड़ा दी जाती थी। कारण यह था कि स्त्री शिक्षा के लिये तब कोई अलग व्यवस्था नहीं थी। स्त्रियां प्राय: पर्दे मे रहती थी। इसके अतिरिक्त पुस्तकों की कमी भी इस मार्ग में बाधा उपस्थित करती थी।

शिक्षक एवं शिष्य के सम्बन्ध—शिक्षक एवं शिष्य के सम्बन्ध बड़े पवित्र थे। पिता अपने पुत्र को गुरु के पास शिक्षा ग्रहण करने हेतु समर्पित कर देता था। तब शिष्य अपने गुरु के चरणों में निष्ठापूर्वक बैठकर ज्ञानार्जन किया करता था। शिष्य को गुरु का पूरा सम्मान करना पड़ता था, वह गुरु के आसन तक का पूर्ण आदर करता था। दशरथ शर्मा ने बताया है कि शिष्य गुरु के आसन पर बैठना पाप मानता था। गुरु-शिष्य के बीच पिता-पुत्र के-से सम्बन्ध होते थे। नैतिक आचरण के नियमो का पालन करते हुए शिष्य गुरु-आज्ञा को सदैव शिरोधार्य रखते थे।

मुस्लिम शिक्षा—मुस्लिम शिक्षा के संदर्भ में गोपीनाथ शर्मा ने दरगाह रिकार्ड्स के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि अजमेर में

ख्वाजा साहब की दरगाह शरीफ के खादियों के बच्चों के लिये एक 'मकतब' खोला गया जहा एक मौलवी होता था जो बच्चों को पढ़ना-लिखना सिखाने के साथ-साथ कुरान शरीफ भी पढ़ाता था। उच्च शिक्षा के लिये 'मदरसा' होता था। बच्चो को उर्दू, फारसी एवं अरबी भाषा सिखाई जाती थी तथा कुछ गणित का ज्ञान भी कराया जाता था। कई प्रतिभाशाली छात्र कुरान शरीफ की आयतें कंठस्थ कर लेते थे, उन्हें कुरान-ए-हिफ्ज कहा जाता था। 1856 ई मे अजमेर-मदरसे के एक पण्डित देवदत्त को जयपुर के महाराजा ने पुरस्कृत किया था। कायस्थों ने राजकीय नौकरी प्राप्त करने हेतु फारसी पढना शुरू कर दिया। भटनागर एवं पचोली जाति के कायस्थ जयपुर, बीकानेर, कोटा एवं उदयपुर में राजकीय सेवा मे अपनी फारसी की पढाई के कारण लगे हुए थे।

पुस्तकालय व्यवस्था—शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालय का बड़ा महत्व है। अच्छी पुस्तको के बिना सुशिक्षा की आशा करना दुराशा मात्र है। अतः राजस्थान भी इस क्षेत्र मे अपवाद नही था। और यहां पर पुस्तकालयो की समुचित व्यवस्था भी देखने को मिलती है। तब हस्तलिखित ग्रन्थों की ही बहुतायत थी। अतः उन ग्रन्थो को बस्तो या बण्डलो मे बांध कर सुरक्षित रखा जाता था। राजदरबारो, मठों, उपासरों, सामन्तों या सेठो के निजी संग्रहों मे इन ग्रन्थो को रखा जाता था। अतः ये ही पुस्तकालयों के रूप में थे। उदयपुर का सरस्वती भंडार, जिसके हस्तलिखित ग्रन्थ अब प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर मे सग्रहीत है। कोटा का सरस्वती भंडार, जोधपुर का पुस्तक प्रकाश, बीकानेर की अनूप संस्कृत लायब्रेरी तथा जयपुर का पोथीखाना इस क्षेत्र में प्रसिद्ध रहे हैं।

इस प्रकार से मध्यकालीन राजस्थान में व्यक्तिगत प्रयासो के फलस्वरूप शिक्षा का विकास हो रहा था। राज्य की ओर से भले ही समुचित ध्यान नहीं दिया गया हो फिर भी पूर्ण उपेक्षा की गई हो ऐसी बात नही है। मध्यकाल में राजस्थान ने साहित्य संरचना के क्षेत्र में आशातीत प्रगति की। अतः यह तो निश्चित है कि कई नरेशों ने इसमे दिलचस्पी लेकर शिक्षा के कार्य को आगे बढ़ाने का प्रयास तो किया किन्तु काल एवं परिस्थिति के अनुरूप वे खुलकर इस ओर सहयोग नही कर सके। फिर भी मध्यकाल के बाद राजस्थान में शिक्षा ने एक नई करवट ली।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली—19 वी शताब्दी में एक ओर शिक्षा का पारम्परिक स्वरूप नजर आता है तो दूसरी ओर अंग्रेजी राज्य के जमाने में राजस्थानी शिक्षा में कुछ नवीनता दृष्टिगत होती है अर्थात् आधुनिकयुगीन

शिक्षा का प्रारम्भिक रूप तब से ही निश्चित हो गया था।

लार्ड हेस्टिग्ज के काल मे इस शिक्षा-प्रणाली को शुरू करने का प्रावधान किया गया। उसकी अंग्रेजी शिक्षा के प्रति बडी दिलचस्पी थी। अतः उसी के प्रयत्नों से 1819 ई. मे सबसे पहला आधुनिक स्कूल अजमेर मे खोला गया। सीरामपुर का बैप्टिस्ट प्रचारक विलियम केरी का पुत्र जेवज केरी इस कार्य के लिए राजस्थान में आया और उसने आक्टरलोनी, जो कि रेजीडेन्ट था, की सहायता से अजमेर में यह स्कूल खोला। इसके बाद पुष्कर, भिनाय एवं केकड़ी में भी स्कूल खोले गये किन्तु यहां पर ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती तथा बाइबल पढाई जाती थी। अतः लोगों ने विरोध करना शुरू किया, परिणाम स्वरूप अजमेर के अतिरिक्त ये तीनों ही स्कूल 1827 ई. में बन्द कर दिये गये। अंततः काफी विरोध के कारण 1831 ई में अजमेर का स्कूल भी बन्द कर दिया गया। स्थानीय अंग्रेज अफसरों का मानना है कि धन का अभाव, अच्छे शिक्षकों की कमी तथा उच्च जातियों की रूढ़िवादिता की वजह से ये स्कूल बंद हुए थे। किन्तु इन स्कूलों की असफलता के लिए बताये गये ये कारण तर्क संगत नही हैं। हेस्टिग्ज को भी इस संदर्भ में सन्देह था कि केरी ने राजपूताना क्षेत्र में जो ईसाई शिक्षा प्रारम्भ की है उससे स्थानीय जनता में अंग्रेजी सरकार के प्रति संदेह उत्पन्न हो जावेगा। केरी भी इस बात को भली-भांति समझ गया था कि उसकी इस नीति के कारण ही जनता अपना विरोध प्रकट कर रही है। क्योंकि उसने अजमेर-मेरवाड़ा के सुपरिण्टेण्डेण्ट विल्डर को लिखा कि लोगो को शंका है कि कहीं उनके बच्चो को कलकत्ता ले जाकर ईसाई धर्म की दीक्षा न दिलादें।[65] स्पष्ट है कि राजस्थानी जनता के हृदय में ईसाई-शिक्षा के प्रति अनुराग नहीं था।

उधर 1835 ई. मे अंग्रेजी भाषा को राजकीय भाषा बना दी गई। अतः अब अंग्रेजी-शिक्षा प्रणाली का महत्व बढ जाना स्वाभाविक ही था। 1836 ई. मे ईस्ट इंडिया कपनी प्रशासन ने अजमेर मे एक स्कूल खोला किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि छात्रो की उपस्थिति तब नगण्य-सी रही तथा आर्थिक भार अत्यधिक था ऐसी दशा में 1843 ई में इसे बन्द करना पडा। फिर भी इसे खोलने के प्रयास जारी रहे और 1851 ई. में इसे पुनः खोला गया जो 1861 ई. में उच्च माध्यमिक परीक्षा हेतु कलकत्ता विश्व विद्यालय से सम्बद्ध हो गया। सम्भवतया शुरू से छात्रों की संख्या बढ़ाने के लिए उनसे

65 कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 136-37

किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। किन्तु कालान्तर में चार आना से एक रुपया तक प्रवेश शुल्क के रूप में लिया जाने लगा। 1868 ई. में यह इण्टरमीडिएट कालेज बना दिया गया और 1869 ई. मे इसे डिग्री कालेज बना दिया गया। यह राजस्थान का पहला डिग्री कालेज था। वीर-विनोद से ज्ञात होता है कि 1842 ई. में पंडित रूपनारायण की सहायता से अलवर मे एक स्कूल स्थापित किया गया। कालूराम शर्मा का मानना है कि "राजस्थान के राज्यों मे अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत का पहला प्रयत्न अलवर के महाराजा बन्नेसिंह ने किया।" बन्नेसिंह ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी रुचि प्रदर्शित की। उसने छात्रवृत्तियां देने एवं पुस्तकें खरीदने के लिए पर्याप्त धन दिया। महाराजा शिवदान सिंह ने भी शिक्षा के लिए अनुदान दिया। 1870 ई. में अलवर का यह स्कूल हाईस्कूल बना दिया गया। वास्तव में अलवर ने शिक्षा के क्षेत्र मे काफी प्रगति की। 1842 ई. में ही भरतपुर मे भी एक अंग्रेजी स्कूल खोला गया। 1844 ई. मे जयपुर मे 'महाराजा स्कूल' खोला गया जो आगे जाकर 1873 ई में महाराजा कालेज बना। 1847 ई. मे इस स्कूल में प्रथम बार आधुनिक परीक्षा प्रणाली लागू की गई। 1866-67 में यहां पर कोई 800 विद्यार्थी पढ़ रहे थे, जिन्हें कुल 26 शिक्षक शिक्षा देने का कार्य कर रहे थे। इन्टरमीडिएट कालेज के बाद 1888 ई. मे इसे डिग्री कालेज बनाया गया और 1900 ई. में पोस्ट डिग्री कालेज बना दिया गया। तब राजस्थान मे यही एक पोस्ट डिग्री कालेज था। इसी तरह जोधपुर एवं उदयपुर मे भी स्कूल खोले गये। जोधपुर में 1867 ई. में जनता के सहयोग से स्कूल खोला गया किन्तु दो वर्ष बाद ही इस पर सरकारी नियन्त्रण हो गया और इसका नाम 'दरबार स्कूल' रखा गया। धीरे-धीरे यह हाईस्कूल बना और 1893 ई. में यह 'जसवन्त कालेज' बना जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संबद्ध किया गया। राजस्थानी राज्यों मे आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रचार-प्रसार का आद्योपान्त अध्ययन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि जोधपुर के लोग अंग्रेजी से विशेष प्रेम रखते थे। यही कारण है कि यहां पर कुछ निजी जातीय स्कूल भी खोले गये जिनमे कायस्थों, ओसवालों तथा क्षत्रिय मालियों के स्कूल विशेष उल्लेखनीय थे। इन्हें राज्य की ओर से आर्थिक सहायता भी मिलती रहती थी। उदयपुर में महाराणा शंभूसिंह के समय 'शंभू रत्न पाठशाला' की स्थापना की गई जहां हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी की पढ़ाई होती थी। महाराणा सज्जनसिंह ने इसे 1885 ई. में हाईस्कूल बनाकर 'महाराणा हाईस्कूल' नाम रखा तथा यह स्कूल इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध किया गया।

महाराणा फतहसिंह के समय से इसे इन्टरमीडिएट कालेज बना दिया गया।[66] जहां तक उदयपुर का प्रश्न है यहां के महाराणा एवं सामन्त-सरदार अंग्रेजी शिक्षा से घृणा करते थे। फिर भी उस समय के एजेण्ट ईडन ने निरन्तर प्रयास कर महाराणा शंभूसिंह (1861-74 ई.) की बाल्यावस्था का लाभ उठाते हुये रीजेन्सी कौंसिल की प्राज्ञा से एक बड़ा स्कूल 'शभू पाठशाला' खोला। यहां पर हिन्दी, उर्दू, गणित, भूगोल के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा की शिक्षा भी दी जाती थी। 1885 ई. में इसे 'महाराणा हाईस्कूल' बना कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय से जोड दिया गया। बूंदी एवं झालावाड़ में भी वहां के शासक रामसिंह (1821-89 ई.) तथा पृथ्वीसिंह (1845-75 ई) ने अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोले किन्तु कोटा के शासक रामसिंह (1827-66 ई) ने आर्थिक कठिनाइयों के कारण स्कूल नही खोला। 1827 ई. में बीकानेर में तथा 1890 ई. मे जैसलमेर में स्कूल खोला गया। 1901 ई. तक जैसलमेर के स्कूलों में पढने वाले छात्रों की संख्या 70 से अधिक नही हुई। 19 वी शताब्दी के अन्त तक डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ में भी अंग्रेजी शिक्षा के स्कूल खोले गये।[67]

शिक्षा व्यवस्था—अब अंग्रेजों द्वारा स्थापित इन स्कूलों में निश्चित पाठ्यक्रम निर्धारित कर, परीक्षा-प्रणाली की व्यवस्था की गई जिसमे छात्र को उसकी योग्यता के अनुरूप उत्तीर्ण अथवा अनुत्तीर्ण किया जाता था। प्रमाण-पत्र देने भी शुरू किये गये। कक्षा में उपस्थिति का प्रतिशत भी निश्चित किया गया ताकि विद्यार्थी नियमित रूप से कक्षा मे उपस्थित रहें। साप्ताहिक अवकाश के साथ-साथ सत्र के मध्य एवं अन्त मे छुट्टिया रखने की प्रथा भी शुरू की गई।

विषय—19 वीं शताब्दी के इन स्कूलों में हिन्दी, फारसी, उर्दू, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा पढ़ाई जाती थी। संस्कृत, फारसी की शिक्षा प्रायः विभिन्न सम्प्रदाय के लोगो में दी जाती थी। गणित, इतिहास, भूगोल एवं विज्ञान की शिक्षा भी दी जाती थी। स्त्रियों को विशेषतः सिलाई सिखाने का कार्य किया जाता था। व्यवसाय-प्रधान स्कूलों मे तकनीकी शिक्षा देने का भी समुचित प्रबन्ध था। इस तरह विभिन्न विषयों से सम्बन्धित शिक्षा दी जा रही थी।

---

66 ओझा : उदयपुर, जि. 1, पृ. 16-17

67 कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 138-42

शिक्षा के प्रति राजपूतों का रुख—प्रारम्भ से ही राजपूत शासकों की दिलचस्पी शिक्षा के प्रति कम ही रही है। कविराजा श्यामलदास के अनुसार "राजपूत लोग इल्म एवं हुनर सीखना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे और इसे ब्राह्मण बनिये का काम मानते थे।" कालूराम शर्मा का मानना है कि "सम्भवत. अंग्रेजी शिक्षा को आजीविका का साधन मात्र समझते से उनमे इसके प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न न हुआ हो। साथ ही उनके लिये अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने की पृथक् व्यवस्था नहीं की गई थी और सार्वजनिक स्कूलो मे वे अपने पुत्रो को अपने मे निम्न स्तर की जातियों के लड़कों के साथ पढ़ाने को तैयार न थे।" ऐसी स्थिति मे अंग्रेजी अधिकारियों के लिये यह आवश्यक हो गया था कि वे सामन्त पुत्रों की शिक्षा हेतु विशेष स्कूल खोलें। इसी प्रयास में जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर एवं अलवर के नरेशो ने अपने यहां सामन्त-पुत्रो की शिक्षा हेतु विशेष स्कूल खोले।

अंग्रेजों द्वारा राजस्थानी नरेशों को शिक्षा—इतना ही नहीं राजस्थानी नरेशों को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए भी अंग्रेजों ने भरसक प्रयास किये। इस सन्दर्भ मे उन्होंनें अपने विश्वसनीय शिक्षको को नियुक्त किया जैसे 1830 ई. मे भरतपुर के शासक बलवन्तसिंह की शिक्षा हेतु पोलिटिकल एजेन्ट को नियुक्त किया, जयपुर-महाराजा रामसिंह के लिये पं. शिवदीन को शिक्षक नियुक्त किया। इसी भांति उदयपुर के शम्भूसिंह एवं सज्जनसिंह,[68] अलवर के शिवदानसिंह, भरतपुर के जसवन्तसिंह के लिये विशेष शिक्षकों की नियुक्ति की गई। ये राजपूत शासक अंग्रेजों के प्रति सहानुभूति रखने लगे और राजस्थान ने अंग्रेजो के मार्ग मे कठिनाई उत्पन्न नहीं की। जिसका ज्वलत उदाहरण 1857 की घटनाओं से सुस्पष्ट है। अब अंग्रेजो ने राजस्थानी नरेशो का और अधिक विश्वास प्राप्त करने के लिए मेयो कालेज खोलना चाहा। 1870 ई. में अजमेर मे एक विशिष्ट दरबार लगा। उसी मे लार्ड मेयो ने राजस्थानी शासको एवं सामंत-सरदारों की शिक्षा हेतु एक विशेष कालेज खोलने की बात रखी जिसे राजस्थानी शासको ने स्वीकार करते हुए इसके निर्माण हेतु चन्दा भी दिया। अतः 1885 ई. मे मेयो कालेज खोला गया।[69]

---

68 ओझा : उदयपुर, जि. 2, पृ. 787-809

69 कालूराम शर्मा : उन्नीसवीं सदी के राजस्थान का सामाजिक एवं आर्थिक जीवन, पृ. 144-46

स्त्री शिक्षा—कालूराम शर्मा का मानना है कि 1866 ई. के पूर्व तक स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध मे राजस्थान के किसी भी राज्य में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया गया। 1866 ई. में सबसे पहले उदयपुर, जयपुर एवं भरतपुर मे स्त्री शिक्षा हेतु सरकार द्वारा स्कूल खोले गये। इन स्कूलो में साधारण अक्षर ज्ञान के साथ-साथ प्रारम्भिक गणित एवं सिलाई भी सिखाई जाती थी। उच्च शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। 19 वी शताब्दी के अन्त में जोधपुर राज्य की ओर से आगरा मेडिकल कालेज में अध्ययन हेतु दो विशिष्ट छात्रवृत्तियां प्रदान कर लड़कियो को भेजना चाहा किन्तु किसी ने भी इस सुअवसर का लाभ नही उठाया। यों स्त्री शिक्षा के क्षेत्र मे आशातीत प्रगति नही हुई जिसके निम्नांकित कारण हो सकते है[70]—

1 समाज में प्रचलित बाल-विवाह,

2 योग्य अध्यापिकाओ का अभाव,

3 स्त्री शिक्षा के प्रति सार्वजनिक रुचि का अभाव,

4 स्त्रियों में पर्दे की प्रथा,

5 लडकियों के अभिभावक उन्हें स्कूल अथवा घर से कही भी बाहर भेजने को तैयार नही थे।

तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा—समय के साथ-साथ राजस्थान के जयपुर, जोधपुर, करौली, अलवर मे तकनीकी या व्यावसायिक शिक्षा के केन्द्र भी खोले गये जहा व्यवसाय प्रधान शिक्षा दी जाने लगी। उदाहरणार्थ—1866 ई. में जयपुर में 'महाराजा स्कूल आफ आर्टस् एण्ड क्रॉफ्टस्' स्थापित कर ललित एवं शिल्प कला सिखाई जाने लगी। तब पटवारियों के प्रशिक्षण हेतु 'पटवार स्कूल' की भी स्थापना की गई। बाद मे 1893 ई. मे करौली में भी एक पटवार स्कूल खोला गया। 19 वी शताब्दी की अन्तिम दशाब्दी में जोधपुर के दरबार हाई स्कूल में तार-सचार की शिक्षा दी जाने लगी। अजमेर, अलवर एवं उदयपुर मे टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल भी खोले गये। इस तरह राजस्थान में तकनीकी या व्यावसायिक शिक्षा की ओर भी समुचित ध्यान दिया जाने लगा।

ईसाई मिशन स्कूल—राजस्थान मे ईसाई धर्म प्रचारको ने मिशन स्कूल भी खोले। सबसे पहले 1860 ई. में ब्यावर में मिशन स्कूल खोला गया, तत्पश्चात् नसीराबाद, देवली, जयपुर, सांभर, जोधपुर, उदयपुर आदि कई

---

70 वही, पृ. 147

स्थानों पर भी ये स्कूल खोले गये। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी मिशन स्कूलों का पूरा योगदान रहा।

थामोपा के शब्दों में "19 वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में अकाल तथा महामारी के कारण कई स्कूल बन्द हो गए, जो 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुनः खोले गये। 1905 ई. की उपलब्ध संख्या के अनुसार कुल मिलाकर 647 नये आधुनिक स्कूल थे जिनमें से 510 राजाओं द्वारा राजकीय व्यय से चलाये जाते थे, *103* व्यक्तिगत स्कूल थे जो व्यक्तियों, सम्प्रदायों अथवा जातियों द्वारा चलाये जाते और 34 ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाये गये स्कूल थे। सर्वाधिक साक्षर लोग सिरोही की छोटी रियासत में थे जहां 12.4 प्रतिशत लोग साक्षर थे।" यों हम राजस्थान में समय के साथ-साथ शिक्षा की व्यवस्था एवं प्रसार को समझ सकते हैं।

राजस्थानी भाषा एवं लिपि—राजपूताना प्रदेश के लिए सर्वप्रथम कर्नल जेम्स टॉड ने 'राजस्थान' शब्द का प्रयोग किया था। देव कोठारी का मानना है कि "संभवतः इसी से प्रभावित होकर ग्रियर्सन ने अपने भाषा सर्वेक्षण के आधार पर इस प्रदेश की भाषा के लिए भी 'राजस्थानी' का प्रयोग किया जिसे बाद में एल. पी. तेस्सितोरी व अन्य विद्वानों ने क्रमशः अपनाया।" आज यह शब्द इस भाषा के लिए सर्वमान्य हो गया है।

राजस्थानी भारोपीय परिवार की भाषा है तथा क्षेत्र विस्तार की दृष्टि से हिन्दी को छोड़कर देश की अन्य सभी भाषाओं से अधिक विस्तृत है। राजस्थानी भाषा का प्रदेश उत्तर में पंजाब, उत्तर-पूर्व में हरियाणा, पूर्व में उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश, पूर्व-दक्षिण में मध्य प्रदेश, दक्षिण में मध्य प्रदेश व गुजरात, दक्षिण-पश्चिम में गुजरात प्रान्तों और पश्चिम व पश्चिम उत्तर में पाकिस्तान से घिरा हुआ है। अतः इन स्थानों की भाषा का प्रभाव राजस्थानी भाषा पर पड़ना स्वाभाविक ही है। यह राजस्थान प्रदेश के बाहर भी अन्य प्रान्तों में जहां-जहां भी राजस्थानी निवास करते हैं, बराबर बोली जाती है। ग्रियर्सन ने राजस्थानी की विभिन्न बोलियों को दिशा-भेद के अनुसार पांच भागों में वर्गीकृत किया है किन्तु सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने उनके वर्गीकरण को उचित नहीं माना है तथा राजस्थानी के पश्चिमी और पूर्वी वर्ग को ही स्वीकार किया है। देव कोठारी ने विभिन्न बोलियों का वर्गीकरण दिशा-भेद से न करके राजस्थानी की प्रमुख बोलियों व उनकी उप-बोलियों के रूप में किया है जो अधिक ठीक प्रतीत होता है। राजस्थानी की प्रमुख बोलियां आठ हैं—मारवाड़ी, मेवाती, ढुंढाड़ी, हाड़ोती, मेवाड़ी, मालवी, बागड़ी और अन्य। अन्य बोलियों में बन्जारी, गूजरी आदि हैं।

यों राजस्थानी भाषा का प्राचीनतम आधार मरुभाषा या डिंगल रहा है। पिंगल ब्रजभाषा के व्याकरण से प्रभावित होने के कारण राजस्थानी की मूल प्रकृति से कुछ दूर है। डिंगल आभिजात्य साहित्य के क्षेत्र की भाषा रही है और राजस्थानी की विभिन्न बोलियां लोक साहित्य के क्षेत्र की। इस भांति राजस्थानी भाषा का स्वरूप मरु भाषा या डिंगल और राजस्थानी की विभिन्न बोलियों से निर्मित है।

राजकीय पुरा अभिलेखागार बीकानेर में संग्रहीत मध्यकालीन राजस्थान से सम्बन्धित मूल आधार सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रत्येक राज्य की भाषा पर एक दूसरे प्रदेश की भाषा का प्रभाव झलकता है। साथ ही राजस्थानी भाषा पर पड़ौसी प्रदेशों की भाषाओं का प्रभाव भी परिलक्षित होता है यथा—ब्रजभाषा, मालवी के साथ-साथ सिन्धी, उर्दू व फारसी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

राजस्थानी-लिपि देवनागरी है किन्तु यह महाजनी (बाणियावटी), कामदारी एवं शास्त्री नामक तीन रूपों में लिखी जाती है। लिखावट की दृष्टि से सीधी लकीर खींच कर उस पर महाजनी ढंग से या रेंगती हुई घसीट रूप में लिखी जाती थी। एक ही प्रकार के समान अक्षर लिखने व पढ़ने में अलग-अलग आते थे—य और थ, स और त, भ और म, व और ब आदि। लिखावट में ह्रस्व-दीर्घ शब्द या भाषा के जमाव पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। विराम चिह्न कहीं नहीं लगाया जाता था और न ही पैरा बदला जाता था। कामदारी लिपि राजकीय दफ्तरों में कामदारों द्वारा काम में लाई जाती है। यह महाजनी लिपि से मिलती है। शास्त्री लिपि, साहित्य में प्रयोग लाई जाती है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ इसी लिपि में मिलते हैं।

साहित्य[71]—राजस्थान की साहित्यिक परम्परा काफी प्राचीन समय से चली आ रही है। यहां के एक हिस्से में सरस्वती नदी बहती थी जहां रह कर ऋषि-मुनियों ने वेदों की ऋचाएँ लिखी। तदुपश्चात् बीकानेर राज्य के कोलायत नामक स्थान पर महर्षि कपिल हुए, जिनके सांख्य मत से कौन परिचित नहीं है। अगरचन्द नाहटा का विचार है कि "राजस्थान के साहित्य की परम्परा नियमित रूप से आठवीं शताब्दी से आगे बढ़ती है।" तब प्राकृत एवं संस्कृत इन दोनों भाषाओं में कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। 11 वीं से 13 वीं शताब्दी के मध्य काफी महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्य रचे गये। 13 वीं

---

71 देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य वि. सं. 1650-1750 (अप्रकाशित शोध प्रबंध) से विशेष सहायता ली गई है।

शताब्दी से तो राजस्थानी भाषा का साहित्य भी मिलने लगता है। 15 वी शताब्दी तक के राजस्थानी भाषा के साहित्य पर अपभ्रंश का प्रभाव सुस्पष्ट है।[72]

राजस्थान की साहित्य संरचना कभी किसी एक प्रवृत्ति पर आधारित नहीं रही है। वीरगाथा, भक्ति, रीति साहित्य जैसी प्रवृत्तियां यहां शुरू से ही रही है और यों भी देखा जाय तो यहां या तो राजाओं के आश्रय में साहित्य लिखा गया या किसी घटना विशेष से प्रभावित होकर साहित्य रचा गया। धर्म व मत के प्रचार-प्रसार के लिए यहा जैन एवं सन्त साहित्य लिखा गया। साहित्य संरचना के इस क्षेत्र में लोक साहित्य की भी यही स्थिति रही थी। यों 8 वी सदी से आज तक राजस्थानी साहित्य संरचना की परम्परा अक्षुण्ण बनी हुई है। किसी भी काल की तत्कालीन परिस्थितियाँ उस काल के साहित्य-निर्माण के प्रति जिम्मेदार होती है। यदि परिस्थितियां अनुकूल होती है तो सृजन-परम्परा गतिशील होकर समृद्ध होती है और विपरीत स्थिति मे साहित्य-सृजन की परम्परा अवरुद्ध हो जाती है। राजस्थानी राज्यों की स्थिति भी कुछ इसी भांति रही थी। किन्तु साहित्य सरचना हर काल एवं हर परिस्थिति में हुई अवश्य थी। मुगलो के आधिपत्य मे राजस्थान ने अपनी भाषा और साहित्य को और भी अधिक विकसित किया। यही कारण है कि मुगल काल की दो-तीन शताब्दियो मे राजस्थान में साहित्य का एवं विशेषत: राजस्थानी भाषा मे जितना विपुल साहित्य सृजन हुआ उतना और कभी नही।

विषय-वस्तु की दृष्टि से जब हम राजस्थान के साहित्य का अवलोकन करते हैं तो ज्ञात होता है कि यहा पर विविध विषयो पर साहित्य लिखा गया। न केवल इस लोक से सम्बन्धित अपितु पारलौकिक एवं आध्यात्मिक विषयों को भी काव्य का आधार बनाया जाता था। संतों, जैनियो आदि कवियों द्वारा धार्मिक एवं भक्ति मूलक काव्य भी विपुल मात्रा मे लिखा गया। इनके साथ-साथ उपदेश मूलक और नीति विषयक रचनाओ का प्राचुर्य भी देखने को मिलता है। इनके अतिरिक्त ज्योतिष विज्ञान, योग, गणित, आयुर्वेद, व्याकरण, मनोरजन, काव्य-शास्त्र, लोक-जीवन आदि विषयों को आधार बना कर भी विपुल मात्रा मे साहित्य संरचना हुई। राजस्थान के साहित्य को हम इस भांति समझ सकते हैं—

---

72 अगरचन्द नाहटा, राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा, पृ. 18

राजस्थान के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

भाषा की दृष्टि से वैविध्य—राजस्थान का साहित्य किसी एक भाषा विशेष मे न लिखा जाकर काल एवं परिस्थितियों के अनुरूप विविध भाषाओं मे रचा गया था। अतः हमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी (डिंगल), पिंगल आदि कई भाषाओं मे राजस्थान का साहित्य मिलता है जो शिलालेख, प्रशस्ति, विगत, पट्टा, परवाना, हकीकत, पीडियावली, इकरारनामा, तहकीकात, याददाश्त, वसीयतनामा, जन्मपत्रियां, वचनिका, बात, टीका, टब्बा, ख्यात, वशावली, रासो, वेलि, प्रवाड़ा, फागु, चर्चरी, छन्द, विलास, प्रकास, धमाल आदि हस्तलिखित ग्रन्थो के रूप में राजस्थान तथा इसके पड़ोसी राज्यों गुजरात, मध्य प्रदेश आदि के ग्रन्थ भंडारों, मन्दिरों, मठों, उपाश्रमो, राजकीय एवं निजी सग्रहो एवं पुस्तकालयो में सुरक्षित है।

2 साहित्य-रूप—राजस्थान में मौखिक एवं लिखित दोनो प्रकार का साहित्य मिलता है। मौखिक साहित्य भी उतना ही पर्याप्त मात्रा में मिलता है, जितना कि लिखित। मौखिक साहित्य को हम लौकिक साहित्य तथा लिखित साहित्य को शिष्ट साहित्य कह सकते हैं। साहित्य-रूप की यह विधा प्रायः पद्य एवं गद्य दोनों ही रूपो मे मिलती है।

3 संस्कृत-प्राकृत साहित्य—संस्कृत एवं प्राकृत सर्वाधिक प्राचीन भाषाएं हैं। इनमे साहित्य-संरचना समान रूप से देखने को मिलती है। यों तो प्राकृत भाषा मे जैनों एवं बौद्धो की रचनाएं पर्याप्त हैं किन्तु राजस्थान मे जैन धर्म का विशेष प्रचार-प्रसार होने से इस भाषा का साहित्य प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में रचना काल एवं रचना स्थल का नामोल्लेख एकाएक नही मिलता है। प्राकृत भाषा मे विरचित प्राचीन ग्रन्थ के नाम पर हमें स्थान उल्लेख से युक्त ग्रन्थ के रूप में आचार्य हरिभद्रसूरि कृत धुर्त्तख्यान मिलता है जो आठवीं शताब्दी मे चित्तौड़ मे लिखा गया था। जैन संत या विद्वान प्राकृत एवं संस्कृत दोनों भाषाओं मे लिखते थे। हरिभद्रसूरि विरचित दोनों भाषाओं की रचनाएं उपलब्ध होती हैं।

संस्कृत-साहित्य भी राजस्थान में खूब रचा गया किन्तु प्रारम्भिक रचनाओं में काल एवं स्थान का उल्लेख न होने से सबसे पहली रचना निर्धारित करने में बड़ी कठिनाई आती है। फिर भी राजस्थान मे संस्कृत भाषा की समृद्धता के संदर्भ में हमे ई. पू. से शिलालेखीय कृतिया उपलब्ध होती हैं। ई. पू. की दूसरी शताब्दी की 'घोसुन्डी प्रशस्ति' 7 वी शताब्दी का सामोली लेख, अपराजित का शिलालेख आदि मेवाड़ में संस्कृत भाषा की

समृद्धि के द्योतक है। शिला लेखों की यह प्रवृत्ति मारवाड़, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़ तथा हाड़ौती संभाग में भी मिलती है जो 19 वीं शताब्दी एवं बाद तक अविरल गति से प्रवाहित होती हुई नजर आती है।

संस्कृत-साहित्य की अभिवृद्धि मे ब्राह्मण एवं जैन विद्वानों का पर्याप्त योगदान रहा है। ब्राह्मण विद्वानो की रचनाओं में माघ कवि विरचित 8 वीं शताब्दी के 'शिशुपाल-वध' महाकाव्य को संस्कृत ग्रन्थ के रूप में लिया जा सकता है। संस्कृत-साहित्य मे जैन-विद्वानों ने जो लिखा है वह मात्र जैन धर्म से संबन्धित ही नहीं है अपितु व्याकरण, छन्द, कोश, अलंकार, न्याय, योग, ज्योतिष, वैद्यक, नाटक, ऐतिहासिक काव्य, रूपक काव्य आदि अनेक विधाएँ है। प्राकृत भाषा में ग्रन्थ रचने वाली एक ही कवयित्रि गुणसमृद्धि महत्तरा हुई है जिसने 'अंजना सुन्दरी चरित्र' ग्रन्थ रचा है। संस्कृत साहित्य की यह धारा 17 वी शताब्दी तक समृद्धि के कगार पर पहुँच गई थी। उपाध्याय गुणविनय, महाकवि समय सुन्दर, सहजकीर्ति आदि संस्कृत साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वान हुये हैं। 18 वीं शताब्दी के विद्वानो में लक्ष्मीवल्लभ, धर्मवर्द्धन, महाकवि दौलतराम कासलीवाल आदि उल्लेखनीय हैं किन्तु 19 वी शताब्दी मे संस्कृत रचना की यह धारा हमें मन्द पड़ती हुई-सी प्रतीत होती है।

संस्कृत साहित्य की इस विधा में जैन विद्वानों के अलावा ब्राह्मण एवं जैनेतर विद्वानो का सहयोग भी कोई कम नहीं रहा था। राजस्थान के नरेशो ने भी संस्कृत साहित्य को बड़ा प्रोत्साहन दिया। संस्कृत के विद्वान उनके आश्रय में पल्लवित हो रहे थे और अपनी साहित्य-सेवा के बदले में सम्मान, गाँव एवं जागीर आदि प्राप्त करते थे। कई राजा तो स्वयं संस्कृत के विद्वान एवं रचनाकार हुये हैं, जिनमे मेवाड़ का महाराणा कुम्भा, बीकानेर का रायसिंह, अनूपसिंह आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

4 अपभ्रंश साहित्य—राजस्थान में अधिकांशतः जैन विद्वानों एवं कवियों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना की थी। अपभ्रंश भाषा का साहित्य जैनियो के दिगम्बर कवियो द्वारा सबसे अधिक लिखा गया था जिसमें 987 ई मे कवि हरिसेण ने 'धम्म-परिक्खा', 12 वीं शताब्दी में सिंह कवि ने 'पज्जुन्न कहा' नामक अपभ्रंश काव्य की रचना की। श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाओं में 'नेमिनाह चरित्र' सबसे बड़ा ग्रन्थ है तथा 'विलासवई कहा' अपभ्रंश कथाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जिनदत्त सूरि विरचित तीन अपभ्रंश रचनाओंमें 'चर्चरी', 'उपदेश-रसायन रास' एवं 'काल-स्वरूप-कुलक' है।" मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि अपभ्रंश का प्राचीनतम रासो

ग्रन्थ अब्दुल रहमान का 'संदेश रासो' है। अगरचन्द नाहटा के मतानुसार "श्वेताम्बर अपभ्रंश रचनाएँ विविध शैलियो की हैं और उनका परवर्ती राजस्थानी, गुजराती व हिन्दी साहित्य पर काफी प्रभाव रहा है। जिनकी परम्परा अविच्छिन्न रूप से (राजस्थानी साहित्य में तो विशेष रूप से) चलती रही है।"[73] इधर 13वीं शताब्दी से राजस्थानी साहित्य का स्वतंत्र विकास सुस्पष्ट दिखाई देता है फिर भी कई शताब्दियो तक राजस्थानी कृतियों पर अपभ्रंश का प्रभाव रहा था। अतः अपभ्रंश के प्रभाव को एकाएक नकारा नहीं जा सकता है।

5 पद्य साहित्य—राजस्थानी पद्य साहित्य के दो रूप उपलब्ध होते हैं—प्रबन्ध काव्य एवं मुक्तक काव्य।

प्रबन्ध काव्य को निम्नांकित प्रकार से विभक्त किया जा सकता है—

नृत्य संगीत मूलक, चरित्र मूलक, मगल मूलक, प्रेम-व्यंजना मूलक तथा विज्ञान मूलक प्रबध काव्य।[74]

नृत्य संगीत मूलक प्रबंध काव्य नृत्य, ताल व गेय रूपक है। अतः इस दृष्टि से रचे गये काव्योंमे रास, फागु, धमाल व चर्चरीका विशिष्ट स्थान है। आरंभ में रास नृत्य व ताल प्रधान थे किन्तु बाद मे इनमें गीतों को भी स्थान मिलने लगा और समय के अनुरूप धीरे धीरे ये कथा प्रधान होते गये। यों तो राजस्थानी मे काफी रास मिलते है किन्तु देव कोठरी के अनुसार 1184 ई. मे लिखा गया शालिभद्र सूरि का 'भरतेश्वर-बाहुबल रास' राजस्थानी को प्रथम रास संज्ञक रचना मानी जा सकती है। फागु-काव्य मे बसन्त ऋतु की विविध क्रीड़ाओं एवं सौंदर्य का वर्णन किया जाता है। अगरचन्द नाहटा ने राजस्थानी भाषा का प्राचीनतम फागु-काव्य खरतरगच्छीय जिन प्रबोध सूरि कृत 'जिनचन्द सूरि फागु' (1284 ई.-19 ई.) को माना है। धमाल एवं फागु में वर्ण्य विषय की दृष्टि से कोई अन्तर नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि धमाल संज्ञक रचनाएँ फागु की तुलना में बाद की हैं। चर्चरी के सन्दर्भ में नाहटा का कहना है कि "रास की भांति ताल एव नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सव आदि में गाई जाने वाली रचना को चर्चरी कहते हैं।" चर्चरी रचनाएँ 14 वीं शताब्दी से मिलती है। इस दृष्टि से जिनदत्त सूरि कृत जिनवल्लभ सूरि की स्तुति मे 47 पद्यों की प्रथम चर्चरी रचना मिलती है।

---

73 वही, पृ. 42-43

74 देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य वि. सं 1650-1750 (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध), पृ. 69-78

चरित मूलक प्रबन्ध काव्य के अतर्गत किसी व्यक्ति विशेष (ऐतिहासिक, पौराणिक व लोक पुरुष) के संपूर्ण जीवन चरित्र को आधार बना कर काव्य लिखा जाता था जैसे राजरूपक, जगविलास, सूरजप्रकाश, जयसिंह चरित, हरिपिंगल प्रबन्ध आदि।

चौपाई नामक रचनाएं रासो रचनाओ से काफी मिलती जुलती है। पद्मिनी चरित चौपाई, चन्दराजा चौपाई आदि उल्लेखनीय चौपाई ग्रन्थ है। प्रवाड़ा किसी वीर या महापुरुष के विशेष कार्यों का वर्णन करने वाली रचनाए होती है। इस दृष्टि से पाबूजी के पवाड़े बड़े प्रसिद्ध हैं। चरितमूलक प्रबंध काव्यो मे 15 वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से वेलि या वेल नामान्त रचनाए मिलती हैं जैसे उदेसिघ री वेल, गुमानसिघ री वेल आदि प्रसिद्ध रचनाए हैं।

मगलमूलक प्रबंध काव्य मांगलिक अवसरो से सम्बन्धित काव्य है। विवाहलो, मगल और धवल संज्ञक रचनाएं मंगलमूलक काव्य में सम्मिलित की जा सकती हैं। मंगलमूलक प्रबन्ध काव्य 14 वी शताब्दी से ही मिलने लगते हैं जैसे रुक्मिणी विवाहलो मगल, रुक्मिणी मंगल आदि प्रमुख हैं।

प्रेम-व्यंजना मूलक प्रबन्ध काव्य मे मुख्य वर्ण्य-विषय प्रेम की व्यंजना या अभिव्यक्ति होता है। चौमासा एवं बारहमासा संज्ञक रचनाएं इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ये रचनायें 13 वी शताब्दी से मिलती है। चौमासा काव्य मे चतुर्मास का वर्णन होता है। कभी कभी दूहा, चौपाई, रास, वेलि, प्रबंध आदि नामो के अन्त वाली रचनायें भी प्रेम-व्यंजना मूलक भावो से युक्त होती थी जैसे—ढोला मारु रा दूहा, गोरा बादल चोपई, वीसलदेव रासो, नलदमयन्तो रास, महादेव पार्वती री वेलि, सदयवत्स वीर प्रबन्ध आदि रचनाओ मे प्रेम भाव की सफल अभिव्यंजना हुई है।

विज्ञान मूलक प्रबन्ध काव्य मे आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, योग, व्याकरण आदि विषयों से सम्बन्धित काव्य को लिया जा सकता है।

मुक्तक काव्य—मुक्तक काव्य राजस्थानी के अतिरिक्त अन्य भाषा व बोलियो में अधिक व्यापक रूपसे नही मिलता है। मुक्तक काव्य को भी विषय की विविधता की दृष्टि से देव कोठारी ने बारह भागों मे बांटा है—संख्यामूलक मुक्तक काव्य मे कुल पद्यों की संख्या की ओर संकेत करते हुए रचना का नामकरण किया जाता है जैसे पंचक, अष्टक, बीसी आदि। छंद विशेष मे लिखे गये मुक्तक काव्य को छन्दमूलक मुक्तक काव्य कहा जाता है। ऐसे काव्य छन्द के नाम से ही पुकारे जाते हैं जैसे नीसांणी, गजल, झूलणा, छप्पय आदि। जिस मुक्तक काव्य मे किसी देवी-देवता, साधु-संन्यासी, तीर्थ-

कर, ईश्वर की वन्दना की जाती है, उसे वन्दनामूलक मुक्तक काव्य कहते हैं जैसे स्तुति, स्तवन, पारणा आदि संज्ञक रचनायें वन्दनामूलक ही है। बुद्धि-परीक्षा मूलक मुक्तक काव्य विभिन्न प्रकार से बुद्धि की परीक्षा विकास या मनोरंजन के लिए लिखे जाते थे जिनमे हीयाली, गूढ़ा, समस्या आदि है। उपदेशमूलक मुक्तक काव्य उपदेश प्रधान होते थे। यों विविध विषयों पर मुक्तक रचनाओं का सृजन होता था।

6 गद्य साहित्य—14 वीं शताब्दी से ही गद्य साहित्य के लिखित प्रमाण मिलते हैं। हालांकि प्रारंभिक गद्य साहित्य जैन लेखकोंका ही है किन्तु कालएवं परिस्थिति के साथ चारणो व अन्य लेखको ने भी गद्य साहित्य का सृजन किया था। राजस्थानी गद्य साहित्य को मौलिक एवं अमौलिक गद्य में विभक्त कर सकते हैं। मौलिक गद्य के अन्तर्गत धार्मिक-पौराणिक गद्य, ऐतिहासिक गद्य, कलात्मक गद्य, विज्ञान मूलक गद्य एव अन्य रूपो के दर्शन होते हैं। राजस्थानी साहित्य में प्राचीनतम रूप धार्मिक, पौराणिक गद्य का ही मिलता है। पौराणिक गद्य साहित्य संस्कृत के पौराणिक ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया। ऐतिहासिक गद्य भी जैन व चारणी शैली मे लिखा गया है किन्तु चारणी शैली के विद्वानों ने ऐतिहासिक विषयो को व्यापक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जहां जैन शैली के ऐतिहासिक गद्य मे हमे पट्टावली, गुर्वावली आदि अभिलेखीय साहित्य मिलता है वहां चारणी शैली के गद्य में ख्यात, बात, हाल, हगीगत, याददाश्त, विगत, पट्टा-परवाना, वंशावली, इकरारनामा, फैसले, तहकीकात, वसीयतनामा, जन्म पत्रियां, ताम्र पत्र, शिलालेख व सुरह लेख के रूप में प्राप्त अभिलेखीय गद्य विशेष उल्लेखनीय है।

मौलिक गद्य का तीसरा रूप जो कलात्मक गद्य है, अन्य भाषाओं में प्राय: नही पाया जाता है। राजस्थानी साहित्य में तुकान्त व अतुकान्त गद्य मिलता है। ऐसे गद्य में गद्य व पद्य को एक साथ देखा जा सकता है जैसे—वचनिका, वात, दवावैत आदि। चारणी एव जैन साहित्य मे व वचनिकायें मिलती हैं किन्तु चारणी साहित्य की रचनाएं काफी प्रसिद्ध हैं यथा—अचलदास खीची री वचनिका आदि।

विज्ञान मूलक गद्य के अंतर्गत ज्योतिष, आयुर्वेद, गणित, योग आदि विषयों को रखा जाता था। इस प्रकार का गद्य, अनुवाद अथवा टीका रूप मे ही उपलब्ध हुआ है। राजस्थानी साहित्य मे व्याकरण से सम्बन्धित ग्रन्थ भी काफी मिले हैं जिन्हें औक्तिक ग्रन्थ कहा जाता है। 1279 ई. में रचित 'बालशिक्षा' औक्तिक ग्रन्थ रूप की सुप्रसिद्ध रचना है।[75]

---

75 वही, पृ. 970

पत्रात्मक गद्य की भी कोई कमी नही है। इस दृष्टि से राजस्थानी साहित्य मे तीन प्रकार का पत्रात्मक गद्य उपलब्ध होता है—जैनाचार्यों से सम्बन्ध रखने वाला पत्र-व्यवहार, राजकीय पत्र-व्यवहार और व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार।[76] इधर 19 वी शताब्दी मे आते-आते राजस्थानी साहित्य के अंतर्गत संस्मरणात्मक गद्य भी उपलब्ध होता है।

मौलिक गद्य की भांति अमौलिक गद्य के अंतर्गत हमें अधिकांशतः टीका मूलक एवं अनुदित गद्य साहित्य उपलब्ध होता है। टीका मूलक गद्य विशेषतः जैन आचार्यों ने लिखा। अमौलिक गद्य का एक अन्य रूप अनुदित गद्य साहित्य के रूप में मिलता है।

7 पिंगल साहित्य—मोतीलाल मेनारिया का यह मानना है कि "राजस्थान मे राजस्थानी व डिंगल की अपेक्षा पिंगल अर्थात् व्रज एवं हिन्दी भाषा साहित्य अधिक रचा गया था।" राजस्थान का पिंगल साहित्य विषय वैविध्य की दृष्टि मे चरित्र काव्य, पौराणिक काव्य और महाभारत काव्य, भक्ति काव्य, रीति काव्य, नीति काव्य तथा फुटकर काव्य के रूप मे विभक्त किया जा सकता है।

चरित्र काव्य के अंतर्गत रासो ग्रन्थ प्रमुख है। रासो लिखने की परिपाटी हमें जैन विद्वानों के द्वारा अपभ्रंश—गुजराती से प्राप्त हुई है। किन्तु जैन विद्वानों द्वारा रचे गये रासो ग्रन्थो एव राजस्थानी कवियो के पिंगल भाषा के रासो ग्रन्थो में मोतीलाल मेनारिया के अनुसार आकार-प्रकार, विषय-वस्तु, वर्णन शैली आदि की दृष्टि से बड़ी भिन्नता है। राजस्थानी कवियों के रासो ग्रन्थ अधिक बड़े हैं जिनमे 'पृथ्वीराज रासो' को महाकाव्य कहा जा सकता है। ये ग्रन्थ विभिन्न स्थान एवं समय में रचे जाने के बावजूद भी शैली की दृष्टि से समान प्रतीत होते हैं जैसे शुरू मे मंगलाचरण, प्रमुख देवी देवताओं एव गुरु की स्तुति के बाद राजवंशावली लिखते थे जिसमे ब्रह्मा से लेकर ग्रन्थ के नायक तक के राजाओं के नाम होते थे। इस बीच यदि कसी विशिष्ट राजा का वर्णन आता तो उसे कुछ विस्तृत कर दिया जाता था और ग्रन्थ के नायक का वर्णन उसके जन्म दिन से प्रारम्भ कर उमके जीवन भर के कार्यो का वर्णन करते हुये उसकी मृत्यु के साथ ही ग्रन्थ का समापन किया जाता था। यों तो इन ग्रन्थों में वीर रस की प्रधानता ही होती हैं किन्तु प्रसंगानुसार अन्य रसों का वर्णन भी देखा जा सकता है। विविध छंदों से युक्त इन ग्रन्थों

---

76 शिवस्वरूप शर्मा 'अचल', राजस्थानी गद्य साहित्य—उद्भव और विकास, पृ. 25-26

की भाषा बड़ी सजीव एवं सरस होती है। इनके अलावा ऐतिहासिक चरित्र काव्य भी लिखे गये जैसे राजविलास, राणारासो, जगविलास, वंशभास्कर आदि महत्वपूर्ण रचनायें हैं।[77]

पिंगल साहित्य की विषय सामग्री पौराणिक काव्यों में भी ली गई है। इस संदर्भ में अवतार चरित्र, चाराणसी विलास आदि महत्वपूर्ण रचनायें हैं। नरहरिदास प्रथम चारण कवि थे जिन्होंने 'अवतार चरित्र' लिख कर ब्रज भाषा में साहित्य सरचना की शुरुआत की। पिंगल में भक्ति काव्य भी प्रचुर मात्रा में लिखा गया जिसे तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है—राम-भक्ति काव्य, कृष्ण भक्ति काव्य और निर्गुण भक्ति काव्य। राम-भक्ति काव्य की दृष्टि से राजस्थान में जो पिंगल साहित्य लिखा गया उस पर गोस्वामी तुलसीदास का प्रभाव सर्वाधिक परिलक्षित होता है जैसे नरहरिदास कृत 'अवतार चरित्र', प्रताप कुँवरि विरचित 'रामगुणसागर' ग्रन्थ विशेष उल्लेख योग्य है।

राजस्थान में कृष्ण-भक्ति काव्य का शुभारम्भ पुष्टि मार्ग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के कारण हुआ। इन्हीं के द्वितीय पुत्र विट्ठलनाथ जब आचार्य बने तो उन्होंने ब्रज भाषा के आठ सर्वोत्तम कृष्ण भक्त कवियों को लेकर 'अष्ट छाप' की स्थापना की। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार, "इन प्रेमोन्मत्त भक्त कवियों ने कृष्ण भक्ति की एक विशाल सरिता ब्रज मंडल में बहा दी जिसकी एक धारा इस रेतीले राजस्थान में भी पहुंची जो अभी तक लहरा रही है।" राजस्थान के पिंगल भाषा के कवियों में मीरांबाई, कृष्णदास पैहारी, परशुराम देव, नागरीदास, हितवृन्दावनदास, सुन्दर कुँवरि, ब्रजनिधि, गौरीबाई आदि का नाम उल्लेखनीय है।

पिंगल साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग निर्गुण संत कवियों का रचा हुआ 'संत-साहित्य' है। इस साहित्य में शांत रस की प्रधानता है। राजस्थान में निर्गुण-भक्ति काव्य दादू, चरणदासी, रामस्नेही संप्रदाय आदि के संतों की 'वाणियों' के रूप में मिलता है। इसमें दादूपंथ के प्रवर्तक दादू दयाल, गरीबदास, बखनाजी, रज्जबजी आदि की वाणियाँ प्रमुख हैं। चरणदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक चरणदास विरचित 11 ग्रन्थ, दयाबाई विरचित दयाबोध, विनयमालिका, सहजोबाई कृत सहज-प्रकाश, रामस्नेही सम्प्रदाय के रामचरणजी की 'अणभैवाणी' एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। इन्होंने कई फुटकर पद एवं दोहे लिखे तथा 21 रचनायें भी मिलती हैं।

---

77 मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य, पृ. 25-26

जगन्नाथ, हरिरामदास, दयालदास, दरियावजी, निरंजनी संप्रदाय के हरिदास, लालदासी संप्रदाय के लालदास आदि की रचनायें वही महत्वपूर्ण हैं। कुछ सत किसी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित न होकर स्वतंत्र रूप से पिगल साहित्य सरचना में जो अभिवृद्धि कर रहे थे उनमे संतदास, बालकराम, संतमावजी, दीनदरवेश, गुमानसिह आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

रीति साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग पिंगल भाषा में मिलता है जो शृंगार रस से सराबोर है। इस क्षेत्र का प्रथम कवि जान था जिसने रस मजरी, रसकोष, भावशतक आदि लिखे। वास्तव मे रीति-साहित्य बहुत अधिक लिखा गया जिसमे बिहारी सतसई, जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह विरचित 'भाषा-भूषण', कुलपति मिश्र कृत 'अलंकाररत्नाकर', बूंदी के राव राजा बुधसिंह कृत 'नेह तरंग' तथा कविराजा मुरारीदान कृत 'जसवंत जसो भूषण', उदयचंद कृत 'अनूपरमाल', अमयराम कृत 'अनूपशृंगार', छत्रकुंवरि कृत 'प्रेम विनोद' विशेष उल्लेखनीय हैं।

पिंगल भाषा के कवियों ने नीति, ज्ञान, लोक व्यवहार व उपदेश विषयक साहित्य भी काफी लिखा है। वृन्द कवि की 'सतसई' इस विषय की प्रमुख कृति है। उमेदराम, प्रतापसिंह, बालाबक्श आदि कवि अपनी नीति विषयक सूक्तियो के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। इसके साथ ही पिंगल भाषा में सगीत कोष, शकुन, वैद्यक, वृष्टि विज्ञान, रमत, रत्न, परीक्षा, स्तोत्र, कथा आदि अन्य फुटकर विषयों पर भी ग्रन्थ रचे गये थे।[78]

8 लोक साहित्य—राजस्थानी लोक साहित्य की परम्परा अपभ्रंश साहित्य के काल मे ही मिलती है। इसके विविध रूप लोक-गीत, लोक-कथा, लोक-गाथा, लोक-नाट्य, प्रकीर्णक, पहेलियाँ, कहावतें, मुहावरे तथा चुटकले आदि हैं। सत्येन्द्र ने लोक-गीत को लोक मानस की अभिव्यक्ति बताया है जो 16 संस्कारों मे अभिव्यक्त हुये हैं। लोक कथा गद्यात्मक तथा दोनोंही के मिश्रित रूपमें मिलती है जिनके दो रूप हैं—लिपिवद्ध एवं मौखिक। राजस्थानी साहित्य मे लोक गाथाओं का भी बड़ा महत्व है। उदात्त चरित्र तथा उच्च आदर्श की लोक मानस में स्थापना करना लोक-गाथा का मुख्य उद्देश्य होता है। कृष्णकुमार शर्मा के अनुसार राजस्थानी में वीर कथात्मक (बगड़ावत लोक गाथा, पाबूजी) प्रेमकथात्मक (ढोला मारु लोक गाथा), रोमांचकथात्मक (निहालदे सुलतान लोक गाथा), निर्वेदात्मक लोक गाथा

78 मोतीलाल मेनारिया, राजस्थान का पिंगल साहित्य।

(गोपीचंद लोक गाथा) और पौराणिक (ग्रांबारस लोक गाथा) लोक-गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

राजस्थानी का लोक नाट्य स्वांग, लीला एवं ख्याल के रूप में मिलता है। देव कोठारी ने बताया है कि एक सर्वेक्षण के अनुसार राजस्थान में 42 प्रकार के लोक नाट्य रंगमंच पर खेले जाते हैं। ये सभी राजस्थान प्रदेश के क्षेत्रानुसार प्रसिद्ध एवं प्रचलित हैं जैसे, रास लीला, भवाई, गवरी, नारों का स्वांग, मेवाड़ी ख्याल आदि। राजस्थान के प्रकीर्णक लोक साहित्य में कहावतें, मुहावरे, पहेलियां, चुटकले आदि को लिया जा सकता है। विषय वैविध्य की दृष्टि से यह भी महत्वपूर्ण साहित्य है।

9 चारण साहित्य—चारण साहित्य अधिकांशतः वीर रस प्रधान तथा ऐतिहासिक है। इस वर्ग में चारणों के अतिरिक्त राव, ढाढी, ढोली, मोतीसर सेवग, ब्राह्मण, राजपूत आदि जातियो द्वारा लिखा गया साहित्य भी सम्मिलित किया जाता है।

चारण साहित्य पद्य एवं गद्य दोनों रूप मे मिलता है। चारण काव्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रबंध काव्य एवं मुक्तक काव्य। प्रबंध काव्य में भी महा काव्य एवं खंड काव्य दो रूप मिलते हैं। इनका नामकरण मुख्यतया नायक-नायिका के नाम के अनुरूप हुआ है। प्रबंध काव्य अधिकतर रासो एवं वेलि काव्य-रूप मे लिखे गये है। इनमें दोहा, गाहा, चौपाई, कवित्त, मोतीदाम, नीसाणी, झूलणा, त्रिभंग, भुजगप्रयात आदि छंदों का प्रयोग किया गया है। चारणी साहित्य में 'वयणसगाई' नामक मौलिक अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है। यह अलंकार डिंगल साहित्य की प्रमुख विशेषता है। 'वयणसगाई' एक शब्दालंकार है जिसमें वर्णों की सगाई (संबंध) होती है। इस अलंकार में किसी छन्द के प्रथम चरण के प्रथम शब्द के आदि में जो वर्ण आता है वही वर्ण उस चरण के अंतिम शब्द के आदि में भी आता है। भाषा एवं भाव की दृष्टि से ये प्रबंध काव्य राजस्थानी साहित्य मे विशेष महत्व के हैं। विषय-वैविध्य की दृष्टि से ये प्रबंध काव्य तीन प्रकार के है—पहला धार्मिक एव पौराणिक प्रबंध काव्य जो महादेव-पार्वती, राम-कृष्ण आदि अवतारो से सबंधित हैं। ये शांत एवं शृंगार रस पूर्ण काव्य हैं। किन्तु अन्य रसों का निरूपण भी प्रसंग के अनुसार हुआ है। सांया झूला (1596ई.-1646 ई.)कृत नागदमण, रुखमणी हरण, किसना आढा दुरसावत (1603ई.-1643 ई.) कृत महादेव-पार्वती री वेलि, माधोदास दधवाड़िया (1618 ई. के लगभग) कृत राम-

रासो, कल्याणदास भाट (1643 ई.) कृत गुणगोविन्द, आदि प्रमुख रचनायें है।[79]

दूसरा, ऐतिहासिक प्रबंध काव्य है जिसमें कवि ने समकालीन शासक या आश्रयदाता के जीवन से संबंधित घटनाओं का वर्णन किया है। ये वीर रस प्रधान काव्य होते हुये भी शृंगार, रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि अन्य रसों से युक्त है। ऐसे ग्रन्थ अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर, साहित्य संस्थान उदयपुर एवं प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर में हस्त लिखित रूप में सुरक्षित हैं। तीसरा, छन्द शास्त्रीय प्रबंध काव्य जो लक्षण ग्रन्थों में छन्दों के लक्षण के साथ साथ धार्मिक-पौराणिक या ऐतिहासिक कथा भी चलती रहती है। प्रा. वि. प्र. उदयपुर में सुरक्षित जोगीदास कुंभारिया (1614 ई.) विरचित हरिपिंगल प्रबंध इस दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

चारण मुक्तक काव्य—प्रबंध काव्यों के साथ-साथ चारणों द्वारा लिखे गये मुक्तक काव्य भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। भाषा एवं भाव की सुन्दरता तथा विषय वैविध्य की विपुलता के साथ-साथ इनमें राजस्थान की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा लोकमानस की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

यों तो दोहा, गाहा, कवित्त, नीसाणी, कुंडलिया एवं वेलियो आदि मुक्तक-रचनाओं के रूप में मिलते हैं किन्तु 'गीत' रूप के मुक्तक काव्य अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। देव कोठारी का मानना है कि "वास्तविक राजस्थानी साहित्य (अथवा डिंगल साहित्य) इन गीतों को ही कहना चाहिये। जिस प्रकार अपभ्रंश में दोहा प्रिय छंद है, उसी प्रकार राजस्थानी साहित्य की 'गीत' अपनी निजी संपत्ति है, जिस पर उसे गर्व है।" पं. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के अनुसार गीतों की परम्परा 9 वी शताब्दी से बताई जा सकती है। 'गीत' (एक ओर राजस्थानी योद्धाओं के लिये प्रेरणा के स्रोत रहे हैं तो दूसरी ओर इतिहास जानने में इनकी उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता है। कहा भी जाता है कि 'गीतड़ा या भीतड़ा' अर्थात् भीतड़ा (महल, किले, भवन, स्मारक आदि) तो फिर भी नष्ट हो सकते हैं, किन्तु गीत तो सदैव अमर रहते हैं। जैसे—

"भीतड़ा ढह जाय धरती मिलै,
गीतड़ा नह जाय कहै (राव) गांगो।"

यों हमारी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति का वास्तविक अध्ययन इन गीतों

---

79 देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य (अप्रकाशित), पृ. 159-60; प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर, ग्रन्थ सं. 569, पत्र सं. 123-62

से ही हो सकता है। विषय की विविधता की दृष्टि से सभी पहलुओं पर गीत साहित्य देखा जा सकता है। चारण साहित्यकारों मे दुरसा आढा, कल्याणदास मेहडू, केसोदास गाडण आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

10 जैन साहित्य—इसमें जैन साधुओं एवं श्रावकों द्वारा लिखा गया साहित्य आता है। यह पद्य एवं गद्य दोनों ही रूपो मे मिलता है। जैनी शैली का साहित्य संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा में मिलता है तथा दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य तत्कालीन हिन्दी भाषा में पाया जाता है। जैन काव्य, प्रबध एवं मुक्तक दोनों रूपों में पाया जाता है। जैन साहित्य का सबसे पहला प्रबन्ध काव्य बज्रसेन सूरि रचित 1168 ई. का 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' मिलता है। इसके बाद तो विविध रूप एवं विषयों के अनेक प्रबंध काव्य मिलने लगते हैं।[80] अगरचंद नाहटा के अनुसार 17 वी और 18 वी शताब्दी में जितना अधिक राजस्थानी जैन साहित्य का निर्माण हुआ उतना अन्य किसी शताब्दी में नहीं हुआ।

11 संत साहित्य—जैनियों के बाद के संतों द्वारा लिखा गया साहित्य संत साहित्य की श्रेणी मे आता है। मध्यकालीन राजस्थान मे विश्णोई, जसनाथी, निरंजनी, दादू, रामस्नेही आदि कई संप्रदाय प्रचलित थे। इन सम्प्रदायों के संतो एवं अनुयायियो ने 'सबद' एवं 'वाणियो' के रूप में कई पदों की रचनाएं की है। विश्णोई सम्प्रदाय, शिष्य परंपरा में कई संतों की रचनाएँ मिलती हैं जिसमे केसोदास गोदारी, सुरजनदास पूनिया आदि ने प्रमुख योगदान दिया। जसनाथी सप्रदाय के सतों का साहित्य 22 अखाड़ों या संग्रह खडों में पाया जाता है। इसी भांति निरंजनी, दादू सप्रदाय का साहित्य भी मिलता है। मीरांबाई संत कवियों की शृंखला में स्वतंत्र शैली की कवयित्री हुई है। इसी तरह स्वतंत्र शैली के लोक कवि भी हुये हैं जिनमे मेवाड़ के सत दीन दरवेश, मारवाड़ मे चन्द्रसखी तथा संत कवि काजी महमद का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

12 साहित्य संरक्षण की परम्परा—राजस्थान के नरेशों की साहित्य के प्रति बडी दिलचस्पी रही है। अतएव उन्होने कवियो, साहित्यकारों, लिपिकारों एव विविध विद्वानों को प्रश्रय देकर साहित्य की अभिवृद्धि में पूर्ण रुचि दर्शायी है। कुछेक शासक तो स्वयं प्रकाण्ड विद्वान थे जिनमे मेवाड़ के कुम्भा, राजसिंह, भीमसिंह; जोधपुर का महाराजा जसवंतसिंह, अजीतसिंह, मानसिंह; बीकानेर का रायसिंह, अनूपसिंह, जोरावरसिंह; आमेर

80 देव कोठारी, राजस्थानी साहित्य (अप्रकाशित) पृ. 104-5

का मिर्जा राजा जयसिंह, प्रतापसिंह के साथ-साथ कोटा-बून्दी के नरेश भी साहित्यानुरागी एवं रचयिता रहे है। सूर्यमल्ल मिश्रण कृत 'वंशभास्कर' काव्यमय अनुपम इतिहास है। मराठों के सम्पर्क मे आने के बाद कोटा में मराठी साहित्य का उत्थान भी हुआ। इस संदर्भ में कोटा के 'गुलगुले दफ्तर' के रिकॉर्ड्स को हम ले सकते हैं। बांसवाड़ाके महाराव कुशालसिंह के समय भी साहित्य की अच्छी प्रगति हुई थी।

इस प्रकार से राजस्थान में साहित्यिक प्रगति की दृष्टि से विविध विषयों से संबधित विविध विधाएँ चल रही थीं जो समयानुरूप विकसित होती जा रही थी।